साधना पथ

प्रवचन-क्रम

1. साधना की भूमिका...3
2. ध्यान में कैसे होना..7
3. धर्म, संन्यास, अमूर्च्छा और ध्यान..14
4. रुको, देखो और होओ...18
5. नीति नहीं, धर्म-साधना...23
6. नीति, समाज और धर्म...29
7. "स्व" की अग्नि परीक्षा...36
8. सत्यः स्वानुभव की साधना..44
9. मन का अतिक्रमण...51 10..ध्यान, जीवन और सत्य
.... 55
11...निर्विषय-चेतना का जागरण
.... 58
12...सत्य-अनुभूति में बाधाएं
.... 69
13...साधक का पाथेय
.... 74
14...साधना और संकल्प
.... 79
15...पथ की खोज
.... 82
16..साधना की पहली सीढ़ी: शरीर
.... 119
17...मस्तिष्क से हृदय, हृदय से नाभि की ओर
.... 133
18..नाभि-यात्रा: सम्यक आहार-श्रम-निद्रा
.... 148
19...मन-साक्षात्कार के सूत्र
.... 166
20..ज्ञान के भ्रम से छुटकारा
.... 181
21...विश्वास-मात्र से छुटकारा
.... 195
22...हृदय-वीणा के सूत्र
.... 209

23.."मैं" से मुक्ति 224

24..वर्तमान में जीएं; मौन, नासाग्र-दृष्टि 238

25..प्रभु-मंदिर का पहला द्वार: करुणा 252

26..मौन, उपेक्षा, करुणा और ध्यान 265

27..प्रभु-मंदिर का दूसरा द्वारः मैत्री 280

28..हिंसा, अहंकार; प्रेम और ध्यान 293

29..प्रभु-मंदिर का तीसरा द्वार: मुदिता 306

30..प्रभु-मंदिर का चौथा द्वार: उपेक्षा 319

2

साधना पथ
पहला प्रवचन

साधना की भूमिका

चिदात्मन्!
सबसे पहले मेरा प्रेम स्वीकार करें। इस पर्वतीय निर्जन में, मैं उससे
ही आपका स्वागत कर सकता हूं। यूं इसके अतिरिक्त मेरे पास देने को कुछ है भी नहीं।
प्रभु के सान्निध्य ने जिस अनंत प्रेम को मेरे भीतर जन्म दिया है उसे बांटना चाहता हूं, उसे उलीचना चाहता हूं। और आश्चर्य तो यही है कि जितना उसे बांटता हूं, वह उतना ही बढ़ता जाता है।
शायद, वास्तविक संपत्ति वही है जो बांटने से बढ़ती है। जो बांटने से कम हो, वह संपति वास्तविक नहीं है।
क्या आप मेरे इस प्रेम को स्वीकार करेंगे?
आपकी आंखों में मैं स्वीकृति देख रहा हूं, और वे भी प्रत्युत्तर में प्रेम से भर आयी हैं। प्रेम प्रेम को जगाता है। घृणा घृणा को जगा देती है। हम जो देते हैं, वही हम पर वापिस लौट आता है। यही शाश्वत नियम है।
इसलिए, जो चाहते हों कि आपको मिले, वही जगत को देना आवश्यक है। कांटे देकर कोई फूल वापसी में नहीं पा सकता है।
मैं आपकी आंखों में खिले शांति और प्रेम के फूल देख रहा हूं। इससे बहुत अनुगृहीत हुआ। यहां अब हम अनेक नहीं हैं। प्रेम जोड़ देता है और अनेक को एक कर देता है। शरीर तो भिन्न हैं और भिन्न ही रहते हैं, पर उनके पीछे कोई है जिससे प्रेम में मिलन हो जाता है और जिससे प्रेम में एकता हो जाती है।
उस एकता के बाद ही कुछ कहा और कुछ समझा जा सकता है।
प्रेम में और केवल प्रेम में ही संवाद, कम्युनिकेशन संभव होता है।
इस निर्जन में हम इकट्ठे हुए हैं ताकि मैं आपसे कुछ कह सकूं और आप मुझे सुन सकें। यह कहना और सुनना प्रेम की भूमिका के अतिरिक्त संभव नहीं है। हृदय के द्वार केवल प्रेम के लिए ही खुलते हैं। और स्मरण रहे कि जब मस्तिष्क से नहीं, हृदय से सुना जाता है, तभी वस्तुतः सुना जाता है।
आप कहेंगे कि क्या हृदय भी सुनता है? मैं कहूंगा कि जब भी सुनना संभव होता है, हृदय ही सुनता है। मस्तिष्क ने आज तक कुछ भी नहीं सुना है। मस्तिष्क बिल्कुल बहरा है।
और, वही बोलने के संबंध में भी सच है। बोल जब हृदय से आते हैं, तभी वे सार्थक हैं। हृदय से आकर ही उनमें वह गंध होती है जो ताजा फूलों की है, अन्यथा वे बासे ही नहीं, कागज के ही फूल होते हैं।
मैं अपने हृदय को उंडेलूंगा और यदि आपके हृदय ने द्वार दिया तो मिलन
और संवाद हो सकेगा। और, तब उस मिलन के क्षण में वह भी संवादित हो जाता है जिसे कि शब्द कहने में समर्थ नहीं हैं। बहुत सा अनकहा भी उस भांति सुना जाता है। और, वह सब जो पंक्तियों में नहीं, वरन पंक्तियों के बीच के अंतराल में होता है, वह भी संप्रेषित हो जाता है।
शब्द बहुत असमर्थ संकेत हैं, पर यदि उन्हें चित्त की परिपूर्ण शांति
और मौन में सुना जा सके तो वे समर्थ हो जाते हैं। इसे ही मैं "हृदय से सुनना" कहता हूं।
पर, हम तो किसी को सुनते समय भी स्वयं के ही विचारों से भरे रहते हैं।
वह श्रवण झूठा है। वैसी स्थिति में आप "श्रावक" नहीं हैं। आपको भ्रम ही है कि आप सुन रहे हैं, पर आप सुन नहीं रहे हैं।
सम्यक श्रवण के लिए चित्त का बिल्कुल मौन-सजगता, सायलेंट वाचफुलनेस में होना आवश्यक है। आप बस सुन ही रहे हैं और कुछ भी नहीं कर रहे हैं तब ही आप सुन पाते हैं, और समझ पाते हैं, और वह समझ, अंडरस्टेंडिंग आपके भीतर एक परिवर्तन और प्रकाश बन जाती है।
यदि ऐसा नहीं है, तो आप किसी और को नहीं, अपने को ही सुनते रहते हैं। आपके भीतर का कोलाहल ही आपको घेरे रहता है। उस घिराव में कुछ भी आपमें

संप्रेषित नहीं होता है। तब आप देखते मालूम होते हैं, पर देखते नहीं हैं और सुनते प्रतीत होते हैं, पर सुनते नहीं हैं।
क्राइस्ट ने कभी कहा था, "जिनके पास आंखें हों, वे देखें और जिनके पास कान हों, वे सुनें।" क्या जिनसे उन्होंने यह कहा था, उनके पास कान और आंखें नहीं थीं? उनके पास आंख और कान तो जरूर थे, पर आंख और कान का होना ही देखने और सुनने के लिए पर्याप्त नहीं है। कुछ और भी चाहिए। जिसके बिना कि उनका होना और न होना बराबर है।
वह कुछ "और" है, आंतरिक मौन, इनर सायलेंस और सजग जिज्ञासा। उस स्थिति में ही चित्त के द्वार खुले हुए होते हैं और कुछ कहा और सुना जा सकता है। साधना-शिविर की अवधि में मैं ऐसे श्रवण की अपेक्षा करता हूं। और वह एक बार आ जावे तो सारे जीवन का साथी हो जाता है, क्योंकि उसके माध्यम से ही हम अपनी क्षुद्र व्यस्तता से मुक्त होते हैं, और बाहर जो विराट रहस्य का जगत है उसके प्रति जाग पाते हैं और चित्त के कोलाहल के पीछे जो चेतना का अनादि, अनंत प्रकाश है, उसे अनुभव कर पाते हैं।
सम्यक दर्शन या सम्यक श्रवण केवल साधना-शिविर की आवश्यकता नहीं है,
वह पूरे सम्यक जीवन का आधार है। शांत, सोयी हुई लहरों वाली झील में जैसे सब प्रतिबिंबित होता है, ऐसे ही आप बनें तो वह आप में प्रतिबिंबित होगा जो कि सत्य है, जो कि प्रभु है।
मैं वैसे मौन को आप में आते देख रहा हूं और आपकी आंखें और आपकी सजग प्यास मुझे कह रही है कि मैं वह कहूं जो कि मुझे कहना है। और उन सत्यों को जिनके दर्शन ने मुझे, मेरी आत्मा को आंदोलित किया है, आपके समक्ष रखूं क्योंकि आपके हृदय उन्हें समझने को उत्सुक और आतुर हैं।
आप तैयार हैं, यह देखकर मेरा हृदय भी आपके प्रति प्रवाहित होने को तैयार हो रहा है।
इस शांत परिस्थिति में और आपकी इस शांत मनःस्थिति में मैं अवश्य ही
वह कह सकूंगा जो मैं चाहता हूं कि सबको कह दूं, लेकिन बहरे हृदयों को देखकर अपने को रोक लेना पड़ता है। क्या आपके घर के द्वार बंद देख प्रकाश बाहर ही नहीं रुक जाता है? ऐसे ही अनेक घरों के सामने मुझे रुक जाना पड़ता है।
पर, आपके द्वार खुले हैं और यह शुभ है। यह शुभारंभ है।

कल प्रभात से हम साधना का पंच दिवसीय जीवन प्रारंभ करेंगे। उसकी भूमिका के तौर पर कुछ बातें आपसे कह देनी जरूरी हैं।
सत्य की साधना के लिए चित्त की भूमि वैसे ही तैयार करनी होती है, जैसे फूलों को बोने के लिए पहले भूमि को तैयार किया जाता है।
कुछ सूत्र समझ लें।
पहला सूत्र है--वर्तमान में जीना, लिविंग इन द प्रेजेंट। अतीत और भविष्य के चिंतन की यांत्रिक धारा में इन दिनों न बहें। उसके कारण वर्तमान का जीवित क्षण, लिविंग मोमेंट व्यर्थ ही निकल जाता है जबकि केवल वही वास्तविक है। न अतीत की कोई सत्ता है, न भविष्य की। एक स्मृति में है, एक कल्पना में। वास्तविक और जीवित क्षण केवल वर्तमान है। सत्य को यदि जाना जा सकता है तो केवल वर्तमान में होकर ही जाना जा सकता है। साधना के इन दिनों में स्मरणपूर्वक अतीत और भविष्य से अपने को मुक्त रखें। समझें कि वे हैं ही नहीं। जो क्षण पास है--जिसमें आप हैं, बस वही है। उसमें और उसे परिपूर्णता से जी लेना है।
आज की रात्रि ऐसे सोयें जैसे सारा अतीत छोड़कर सो रहे हैं। अतीत के प्रति मर जावें। और सुबह--एक नयी सुबह में और एक नये मनुष्य की भांति उठें। जो सोया था वह न उठे। वह सो ही जावे। उसे उठने दें जो कि नित नया है और अभिनव है। इस वर्तमान में जीने को सतत, चौबीस घंटे स्मरण रखें और होश रखें कि कहीं अतीत और भविष्य-चिंतन की यांत्रिक आदतें पुनः सक्रिय तो नहीं हो गयी हैं। उनके प्रति सजग, वाचफुल रहना ही पर्याप्त है। उनकी जागरूकता हो तो वे सक्रिय नहीं हो पाती हैं। अमूर्च्छा उन्हें तोड़ देती है।
दूसरा सूत्र है--सहजता से जीना। मनुष्य का सारा व्यवहार कृत्रिम और औपचारिक है। एक मिथ्या आवरण हम अपने पर सदा ओढ़े रहते हैं। और इस आवरण के

कारण हमें अपनी वास्तविकता धीरे-धीरे विस्मृत ही हो जाती है। इस झूठी खाल को निकालकर अलग रख देना है। नाटक करने नहीं, स्वयं को जानने और देखने हम यहां एकत्रित हुए हैं। नाटक के बाद नाटक के पात्र जैसे अपनी नाटकीय वेशभूषा को उतारकर रख देते हैं, ऐसे ही आप भी इन दिनों में अपने मिथ्या चेहरों को उतारकर रख दें। वह जो आप में मौलिक है और सहज है--उसे प्रकट होने दें और उसमें जियें। सरल और सहज जीवन में ही साधना विकसित होती है।
साधना के इन दिनों में जानें कि न आपका कोई पद है, न कोई वैशिष्ट्य है,
न प्रतिष्ठा है। उन सारी नकाबों को अलग कर दें। आप निपट आप हैं और अति साधारण मनुष्य हैं, जिसका न कोई नाम है, न कोई प्रतिष्ठा है, न कुल है, न वर्ग है, न जाति है। एक नामहीन व्यक्ति--एक अति-साधारण इकाई मात्र--ऐसे हमें जीना है। स्मरण रहे कि वही हमारी वास्तविकता भी है।
तीसरा सूत्र है--अकेले जीना। साधना का जीवन अत्यंत अकेलेपन में, एकाकीपन में जन्म पाता है। पर मनुष्य साधारणतः कभी भी अकेला नहीं होता है। वह सदा दूसरों से घिरा रहता है और बाहर भीड़ में न हो तो भीतर भीड़ में होता है। इस भीड़ को विसर्जित कर देना है। भीतर भीड़ को इकट्ठी न होने दें और बाहर भी ऐसे जीयें कि जैसे इस शिविर में आप अकेले ही हैं। किसी दूसरे से कोई संबंध नहीं रखना है।
संबंधों में हम उसे भूल गये हैं जो कि हम स्वयं हैं। आप किसी के मित्र हैं या कि शत्रु हैं, पिता हैं या कि पुत्र हैं, पति हैं या कि पत्नी हैं--ये संबंध आपको इतने घेरे हुए हैं कि आप स्वयं को अपनी निजता में नहीं जान पाते हैं। क्या आपने कभी कल्पना की है कि आप अपने संबंध से भिन्न कौन हैं? क्या आपने अपने आपको अपने संबंधों के वस्त्रों से भिन्न करके भी कभी देखा है? सब संबंधों, रिलेशनशिप्स से अपने को ऋण कर लें। समझें कि आप अपने मां- बाप के पुत्र नहीं हैं, अपनी पत्नी के पति नहीं हैं, अपने बच्चों के पिता नहीं हैं, मित्रों के मित्र नहीं हैं, शत्रुओं के शत्रु नहीं हैं और तब जो शेष बच रहता है, जानें कि वही आपका वास्तविक होना है। वह शेष सत्ता ही अपने-आप में आप, यू-इन योरसेल्फ हैं। उसमें ही हमें इन दिनों जीना है।
इन सूत्रों पर चलने से चित्त की वह स्थिति बनेगी जो कि शांति और सत्यानुभूति की साधना के लिए अत्यंत आवश्यक है।
इन सूत्रों के साथ ही मैं उन दो ध्यानों, मेडिटेशन्स के संबंध में भी आपको कुछ समझा दूं, जो कि हमें कल प्रातःकाल से ही प्रारंभ करने हैं। पहला ध्यानः प्रातःकाल के लिए। इस ध्यान में रीढ़ को सीधा रखकर आंखें बंद करके, गर्दन को सीधा रखना है। ओंठ बंद हों और जीभ तालु से लगी हो। श्वास धीमी पर गहरी लेना है। और ध्यान नाभि के पास रखना है। नाभि-केंद्र पर श्वास के कारण जो कंपन मालूम होता है, उसके प्रति जागे हुए रहना है। बस इतना ही करना है। यह प्रयोग चित्त को शांत करता है और विचारों को शून्य कर देता है। इस शून्य से अंततः स्वयं में प्रवेश हो जाता है।
दूसरा ध्यानः रात्रिकाल के लिए। आराम से शरीर को लिटा दें और सब अंगों को पूर्णतया शिथिल, रिलेक्स छोड़ दें। आंखें बंद कर लें और फिर दो मिनट तक शरीर शिथिल हो रहा है; ऐसा भाव, ऑटो सजेशन करते रहें। शरीर क्रमशः शिथिल हो जायेगा। फिर दो मिनट तक श्वास शांत हो रही है, ऐसा भाव करें। श्वांस भी शांत हो जायेगी। अंततः दो मिनट तक भाव करें कि विचार शून्य हो रहे हैं। ऐसी संकल्पपूर्वक भावना पूर्ण शिथिलता, शांति और शून्यता में ले जाती है। जब चित्त परिपूर्ण शांत हो जावे तब अंतस में पूर्णतया जागकर उस शांति के साक्षी, विटनेस बने रहें। वह साक्षी भाव स्वयं में ले जाता है। इन दो ध्यानों को ध्याना है। ये वस्तुतः कृत्रिम उपाय, आर्टिफिशीअल डिवाइस हैं। इन्हें पकड़ नहीं लेना है। इनके माध्यम से चित्त की अशांति विसर्जित हो जाती है। और जैसे जिस सीढ़ी को हम चढ़ जाते हैं, उसे छोड़ देते हैं, ऐसे ही एक दिन इन्हें भी छोड़ देना होता है।
उस दिन ध्यान पूर्ण होता है, जिस दिन कि वह अनावश्यक हो जाता है। उस अवस्था का नाम ही समाधि है।
अब रात्रि घनी हो गयी है और आकाश तारों से भर गया है। वृक्ष सो गये हैं। घाटियां सो गयी हैं। और अब हम भी सोवें। सब कितना शांत, निस्तब्ध है।

इस निस्तब्धता में हम भी मिल जावें। पूर्ण सुषुप्ति में--स्वप्नशून्य सुषुप्ति में, हम वहीं पहुंच जाते हैं, जहां परमात्मा है। वह प्रकृति से मिली सहज अबोध समाधि है। साधना से भी हम वहीं पहुंचते हैं, पर उस समय हम प्रबुद्ध और जागे हुए होते हैं। वही भेद है। वह बहुत बड़ा भेद है। एक में हम सोते हैं, दूसरे में जाग जाते हैं।
अभी तो हम सुषुप्ति में चलें और आशा रखें कि समाधि में भी चलना हो सकेगा। संकल्प और श्रम के साथ आशा हो तो वह अवश्य फलवती होती है।
प्रभु मार्ग दे, यही मेरी कामना है।

साधना पथ
दूसरा प्रवचन

ध्यान में कैसे होना

चिदात्मन्!
मैं आपको देखकर अत्यंत आनंदित हूं। ईश्वर को, सत्य को, स्वयं को पाने
को आप इस निर्जन में इकट्ठे हुए हैं। लेकिन क्या मैं आपसे पूछूं कि जिसे आप खोज रहे हैं, क्या वह आपसे दूर है? जो दूर हो उसे खोजा जा सकता है, पर जो स्वयं आप हो, उसे कैसे खोजा जा सकता है?
जिस अर्थ में शेष सब खोजा जा सकता है, स्व उसी अर्थ में नहीं खोजा जा सकता है। वहां जो खोज रहा है, और जिसे खोज रहा है, उन दोनों में दूरी जो नहीं है। संसार की खोज होती है, स्वयं की खोज नहीं होती है। और जो स्वयं को ही खोजने निकल पड़ते हैं, वे स्वयं से और दूर ही निकल जाते हैं।
यह सत्य ठीक से समझ लेना आवश्यक है, तो खोज हो भी सकती है। संसार को पाना हो तो बाहर खोजना पड़ता है और यदि स्वयं को पाना हो तो सब खोज छोड़कर अनुद्विग्न और स्थिर होना प.ड़ता है। उस पूर्ण शांति और शून्य में ही उसका दर्शन होता है, जो कि "मैं हूं"।
स्मरण रखें कि खोज भी एक उद्विग्नता है, और एक तनाव है। वह भी एक चाह
और वासना है। और वासना से आत्मा को नहीं पाया जा सकता है। वही तो बाधा है। वासना का अर्थ है कि मैं कुछ होना चाहता हूं या कि कुछ पाना चाहता हूं। और आत्मा वह है जो कि मुझे उपलब्ध ही है, जो कि मैं हूं ही।
वासना और आत्मा की दिशायें विपरीत हैं। वे विरोधी आयाम, डायमेंशन हैं। इसलिए, यह ठीक से समझ लें कि आत्मा को पाया तो जा सकता है, पर चाहा नहीं जा सकता है। आत्मा की कोई चाह नहीं हो सकती है। सब चाह सांसारिक है, और कोई चाह आध्यात्मिक नहीं है।
वासना ही तो संसार है। फिर यह वासना धन की हो या धर्म की, पद की हो या प्रभु की, मद की हो या मोक्ष की, उसमें कुछ भेद नहीं है। वासना वासना है और सब वासना अज्ञान है और बंधन है।
मैं आत्मा को चाहने को नहीं कहता हूं। मैं तो चाह को समझने को कहता हूं। वासना का ज्ञान वासना से मुक्त कर देता है, क्योंकि वासना का ज्ञान उसके दुःखस्वरूप को प्रकट कर देता है। दुःख का बोध दुःख से मुक्ति है, क्योंकि दुःख को जानकर कोई दुःख को नहीं चाह सकता है। और उस क्षण जब कोई चाह नहीं होती है और चित्त वासना से विक्षुब्ध नहीं होता है, और हम कुछ खोज नहीं रहे होते हैं--उसी क्षण, उस शांत और अकंप क्षण में ही उसका अनुभव होता है, जो कि हमारा वास्तविक होना है, आथेंटिक बीइंग है। वासना जब नहीं होती है, तब आत्मा प्रकट होती है। इसलिए मित्र! मैं कहूंगा कि आत्मा को मत चाहो, चाह को जानो और उससे मुक्त हो जाओ, तो तुम उसे जान लोगे और पा लोगे जो कि आत्मा है।
धर्म क्या है? धर्म का विचार से, चिंतन, थिंकिंग से कोई संबंध नहीं है। उसका संबंध निर्विचारणा से है। विचारणा तत्व-मीमांसा, फिलॉसफी है। उससे निष्पत्तियां तो आती हैं, पर समाधान नहीं आता है।
धर्म समाधान है। विचार का द्वार तर्कणा है। समाधान का द्वार समाधि है; समाधि शून्य चैतन्य, कान्टेंटलेस कांशियसनेस। चित्त शून्य हो पर जाग्रत, वाचफुल हो, उस शांत स्थिति में सत्य के द्वार खुलते हैं। शून्य में ही सत्य का साक्षात होता है, और परिणामस्वरूप सारा जीवन परिवर्तित हो जाता है। शून्य तक, समाधि तक ध्यान से पहुंचते हैं। पर साधारणतः जिसे ध्यान समझा जाता है, वह ध्यान नहीं है। वह भी चिंतन ही है। हो सकता है कि वे विचार आत्मा के हों या परमात्मा के हों, पर वे भी विचार ही हैं। इससे भेद नहीं पड़ता है कि विचार किसके हैं।
विचार मात्र वस्तुतः पर का, अन्य का, बाह्य का होता है। विचार मात्र अनात्म का होता है। "स्व" का कोई विचार नहीं हो सकता है। विचार के लिए दो का होना जरूरी है।

विचार, इसलिए द्वैत के बाहर नहीं ले जाता है। अद्वैत में, स्व में चलना है, और उसे जानना है, तो विचार नहीं, ध्यान मार्ग है। विचार और ध्यान बिल्कुल विपरीत दिशाएं हैं--एक बहिर्गामी है, एक अंतर्मुखी है। विचार "पर" को जानने का मार्ग है, ध्यान "स्व" को जानने का। पर साधारणतः विचार को ही ध्यान समझ लिया गया है। यह भूल बहुत गहरी और बड़ी है। मैं इस आधारभूत भूल के प्रति आपको सजग करना चाहता हूं।
ध्यान का अर्थ है क्रियाहीन होना। ध्यान क्रिया नहीं, अवस्था है। वह अपने स्वरूप में होने की स्थिति है। क्रिया में हम अपने से बाहर के जगत से संबंधित होते हैं। अक्रिया में स्वयं से संबंधित होते हैं। जब हम कुछ भी नहीं कर रहे हैं, तब हमें उसका बोध होता है जो कि हम हैं। अन्यथा, क्रियाओं में व्यस्त हम स्वयं से ही अपरिचित रह जाते हैं।
यह स्मरण भी नहीं हो पाता है कि हम भी हैं। हमारी व्यस्तता बहुत सघन है। शरीर तो विश्राम भी कर ले, मन तो विश्राम करता ही नहीं है। जागते हम सोचते हैं, सोते स्वप्न देखते हैं। इस सतत व्यस्तता और क्रिया से घिरे हुए, हम स्वयं को भूल ही जाते हैं। अपनी ही क्रियाओं की भीड़ में अपना ही खोना हो जाता है। यह कैसा आश्चर्यजनक है?
पर यही हमारी वस्तुस्थिति है। हम खो गये हैं--किन्हीं अन्य लोगों की भीड़ में नहीं; अपने ही विचारों, अपने ही स्वप्नों, अपनी ही व्यस्तताओं और अपनी ही क्रियाओं में। हम अपने ही भीतर खो गये हैं।
ध्यान इस स्व-निर्मित भीड़ से, इस कल्पित भटकन से बाहर होने को मार्ग है। निश्चित ही वह स्वयं कोई क्रिया नहीं हो सकता है। वह कोई व्यस्तता नहीं है। वह अव्यस्त मन, अनऑक्युपाइड माइंड का नाम है। मैं यही सिखाता हूं। यह कैसा अजीब सा लगता है कहना कि मैं अक्रिया सिखाता हूं। मैं यही सिखाता हूं। और यह भी कि यहां हम अक्रिया करने को इकट्ठे हुए हैं।
मनुष्य की भाषा बहुत कमजोर है और बहुत सीमित है। वह क्रियाओं को ही प्रकट करने को बनी है, इसलिए आत्मा को प्रकट करने में सदा असमर्थ हो जाती है। निश्चित ही जो वाणी के लिए निर्मित है, वह मौन को कैसे अभिव्यक्त कर सकती है।
"ध्यान" शब्द से प्रतीत होता है कि वह कोई क्रिया है, पर वह क्रिया बिल्कुल भी नहीं है। मैं कहूं कि "मैं ध्यान करता था" तो गलत होगा, उचित होगा कि मैं कहूं कि "मैं ध्यान में था"। वह बात प्रेम जैसी ही है। मैं प्रेम में होता हूं। प्रेम किया नहीं जाता है। इसलिए मैंने कहा कि ध्यान एक चित्त-अवस्था, स्टेट आफ माइंड है।
यह प्रारंभ में ही समझ लेना बहुत जरूरी है। हम यहां कुछ करने को नहीं, वरन उस स्थिति को अनुभव करने आये हैं, जब बस केवल हम होते हैं, और कोई क्रिया हममें नहीं होती है। क्रिया का कोई धुआं नहीं होता है और केवल सत्ता की अग्निशिखा ही रह जाती है। बस, "मैं" ही रह जाता हूं। यह विचार भी नहीं रह जाता है कि "मैं हूं"। बस "होना" मात्र ही रह जाता है। इसे ही शून्य समझें।
यही वह बिंदु है जहां से संसार का नहीं, सत्य का दर्शन होता है। इस शून्य में ही वह दीवार गिर जाती है, जो मुझे स्वयं को जानने से रोके हुए है। विचार के पर्दे उठ जाते हैं और प्रज्ञा का आविर्भाव होता है। इस सीमा में विचारा नहीं, जाना जाता है। दर्शन है यहां, साक्षात है यहां।
यद्यपि न दर्शन शब्द ठीक है, न साक्षात शब्द ठीक है। क्योंकि, यहां ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है, क्योंकि यहां दृश्य, आब्जेक्ट और द्रष्टा, सब्जेक्ट का भेद नहीं है। यहां न ज्ञेय, नोन है; न ज्ञाता, नोअर है। यहां तो केवल ज्ञान, नोइंग ही है।
यहां तो कोई भी शब्द ठीक नहीं है। यहां निशब्द ही ठीक है। उस संबंध में कोई पूछता है तो मैं मौन ही रह जाता हूं, या कि कहूं कि मौन से ही कहता हूं।
ध्यान अक्रिया है। क्रिया हम उसे कहते हैं जिसको हम चाहें तो करें, चाहें तो न करें। स्वभाव क्रिया नहीं है। वह हमारा करना--न करना, नहीं है।

उदाहरण के लिए ज्ञान और दर्शन स्वभाव के अंग हैं। वे हमारी सत्ता हैं। हम कुछ भी न करें, तब भी वे होंगे ही।
स्वभाव की उपस्थिति हममें अविच्छिन्न है। जो सतत और अविच्छिन्न है, उसे ही स्वभाव कहा जाता है। वह हमारा निर्माण नहीं, हमारा आधार है। वही हम हैं। हम उसे नहीं बनाते हैं, वही हमें धारण किये हुए है, इसलिए उसे धर्म कहा है। धर्म यानी स्वभाव, धर्म यानी शुद्ध सत्ता, एक्जिस्टेंस। यह अविच्छिन्न स्वभाव क्रियाओं के विच्छिन्न प्रवाह में दब जाता है।
सागर को जैसे लहरें ढांक लेती हैं, सूरज को जैसे बदलियां ढांक लेती हैं, ऐसे ही हम अपनी ही क्रियाओं से ढंक जाते हैं। सतह पर क्रियाओं का आवरण, जो गहरे में है उसे छिपा लेता है।
क्षुद्र लहरें सागर की असीम गहराई पर आवरण बन जाती हैं। कैसा आश्चर्य
है कि क्षुद्र से विराट दब जाता है? आंख में गिरा छोटा-सा तिनका पर्वतों को ओझल कर देता है। पर सागर लहरों में मिटता नहीं है। लहरों का भी प्राण वही है और लहरों में भी वह उपस्थित है। जो जानते हैं, वे उसे लहरों में भी जानते हैं, पर जो नहीं जानते हैं, उन्हें लहरों के शांत होने तक प्रतीक्षा करनी होती है। लहरों के न हो जाने पर उन्हें सागर के दर्शन होते हैं। इस स्वभाव में ही चलना है। लहरों को छोड़कर सागर में चलना है। अपनी उस गहराई को जानना है, जहां सत्ता है, सागर है, पर तरंगें नहीं हैं; जहां आत्मा, बीइंग है, पर वासना, बिकमिंग नहीं है। वह निस्तरंग, निष्कंप प्रज्ञा का जगत प्रतिक्षण हममें उपस्थित है, पर हम उसकी ओर उपस्थित नहीं हैं।
हम उसकी ओर उन्मुख नहीं हैं। हम बाहर देख रहे हैं। हम वस्तुओं को देख रहे हैं। हम संसार को देख रहे हैं। पर एक बात को देखें कि "हम देख" रहे हैं। जो दिखाई पड़ता है वह संसार है, पर जो देख रहा है, वह तो संसार नहीं है। वह तो स्व है।
दृष्टि दृश्य से बंधी हो तो विचार हैः दृष्टि दृश्य से मुक्त हो, द्रष्टा पर आ जाये तो ध्यान है।
विचार और ध्यान का मेरा भेद समझ रहे हैं न? दर्शन, देखना तो दोनों में उपस्थित है, पर एक में वह विषयगत, आब्जेक्टिव है, दूसरे में आत्मगत, सब्जेक्टिव है। पर हम विचार में हों या ध्यान में हों, दर्शन तो दोनों में ही उपस्थित होता है।
हम क्रिया में हों या अक्रिया में "दर्शन" तो दोनों में ही उपस्थित रहता है। जागृति में संसार को देखते हैं, निद्रा में स्वप्न को देखते हैं, समाधि में स्वयं को देखते हैं, पर देखना हर स्थिति में साथ होता है। यह "देखना" हममें अविच्छिन्न है।
यह हमारा स्वभाव है, यह किसी भी स्थिति में अनुपस्थित नहीं होता है। मूर्च्छा और सुषुप्ति में भी वह होता है। मूर्च्छा के बाद हम कहते हैं कि मैं कहां था, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसे अज्ञान न समझ लें। यह भी ज्ञान है। यदि दर्शन बिल्कुल मिट गया होता तो "मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है"--यह बोध भी नहीं हो सकता था। उस स्थिति में वह समय ही मेरे लिए "नहीं" हो जाता, जो मूर्च्छा में बीता है। वह मेरे जीवन का ही हिस्सा नहीं हो सकता था और मेरी स्मृति में उसका कोई भी अंकन नहीं होता।
हम जानते हैं कि हम किसी ऐसी स्थिति में थे कि कुछ भी नहीं जान रहे थे।
यह ज्ञान ही है और दर्शन इसमें भी उपस्थित रहा है। स्मृति ने निश्चित ही इस बीच कोई अंतर या बाह्य घटना अंकित नहीं की है, लेकिन दर्शन ने इस अंतराल, इंटरवल को, इस रिक्त स्थान, गेप को अवश्य देखा है, अनुभव किया है। और अंतराल का यही अनुभव, घटनाओं के अंकन के बीच में छूटा यही रिक्त स्थान, बाद में स्मृति भी जान लेती है।
ऐसे ही सुषुप्ति में भी, जब कोई स्वप्न भी नहीं होता है, तब भी दर्शन उपस्थित रहता है। सुबह जागकर हम कह पाते हैं कि रात्रि बड़ी गहरी नींद थी, इतनी कि कोई स्वप्न भी नहीं था। यह स्थिति भी देखी गयी है। इससे समझें कि स्थितियां बदलती हैं, चेतना-विषय, कन्टेंट बदलते हैं, पर दर्शन नहीं बदलता है। हमारे अनुभव में सब बदल जाता है। सब प्रवाह है, केवल वही एक नित्य उपस्थिति है। वह अकेला ही सारे परिर्वतन, सारे प्रवाह का साक्षी, विटेनस

है। इस नित्य को ही जानना स्व को जानना है। वही अकेला केवल स्वभाव है। शेष सब अन्य है, पर है। शेष सब संसार है।
इस साक्षी को किसी क्रिया, किसी पूजा, किसी आराधना, किसी मंत्र, किसी तंत्र से नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि वह उन सबका भी साक्षी है। वह उन सबसे भी अन्य और पृथक है। जो भी दृश्य है, जो भी कर्म है, वह उससे अन्य और भिन्न है।
वह तो क्रिया नहीं, अक्रिया से मिलेगा। वह तो कर्म से नहीं, शून्य से मिलेगा। वह तो उस समय मिलेगा जब न तो कोई कर्म है, न कोई दृश्य है, जब केवल साक्षी मात्र ही शेष रह गया है, जब केवल दर्शन मात्र ही शेष रह गया है। जब हम देख तो रहे हैं, पर दिखाई कुछ नहीं पड़ रहा है, जब हम जान तो रहे हैं, पर जान कुछ भी नहीं रहे हैं--इस विषयशून्य चैतन्य, कान्टेंटलेस कान्शियसनेस में वह जाना जाता है, जो कि सबको जानने वाला है। दृश्य जब नहीं है, तब दृष्टा के आवरण गिरते हैं। और जब ज्ञेय कुछ भी नहीं है तब ज्ञान जाग्रत होता है। तरंगें जब नहीं होती हैं, तब सागर के दर्शन होते हैं। और बदलियां जब नहीं होती हैं तो नीलाकाश के दर्शन होते हैं।
यह सागर प्रत्येक के भीतर है, और यह आकाश, स्पेस प्रत्येक के भीतर है।
हम इस आकाश को जानना चाहते हैं, तो निश्चय ही जान सकते हैं। इस आकाश तक पहुंचने का रास्ता भी है। वह भी प्रत्येक के ही पास है और हममें से प्रत्येक उस पर चलना भी जानता है। पर हम केवल एक ही दिशा, डायरेक्शन में चलना जानते हैं। क्या आपने इस सत्य पर कभी विचार किया है कि कोई भी रास्ता केवल एक दिशागामी नहीं हो सकता है?
प्रत्येक राह अनिवार्यतः दो दिशाओं में, दो विपरीत दिशाओं में सत्ता रखती है। उसके होने के लिए ही यह अनिवार्य है कि वह एक ही साथ दो विपरीत दिशाओं में हो, अन्यथा वह हो ही नहीं सकती है। जो मार्ग आपको यहां इस पहाड़ी निर्जनता तक ले आया है, वही आपको वापस भी ले जायेगा। आने का और जाने का मार्ग एक ही है। वही मार्ग दोनों काम करेगा।
मार्ग तो वही होगा, केवल दिशा वही नहीं होगी। "संसार" और "स्व" का मार्ग तो एक ही है। जो संसार में लाता है, वही स्वयं में भी ले जायेगा। केवल दिशा विपरीत होगी। अभी तक जो सामने था, वही अब पीछे होगा। और जो पीठ की ओर था, उस पर आंखें करनी होंगी। रास्ता वही है, केवल हमें विपरीत मुड़ जाना है। सन्मुख से विमुख और विमुख से सन्मुख होना है।
हम अभी किसके सन्मुख हैं? इसका विचार करें। हम किसे देख रहे हैं? इसे अनुभव करें। हमारी दर्शन की, चैतन्य की धारा अभी किस दिशा में प्रवाहित हो रही है?
इसका निरीक्षण, आब्जर्वेशन करें। आप क्या पाते हैं? पाते हैं कि बाहर
को बहे जाते हैं। सब विचार बाहर के संबंध में चल रहे हैं। चौबीस घंटे बाहर के लिए सोच रहे हैं। बाहर को सोच रहे हैं। आंख खुलती है तो बाहर देखते हैं, आंख बंद होती है तो बाहर देखते हैं, क्योंकि बाहर से अंकित रूप और चित्र, इमेजेस आंख बंद होने पर जाग जाते हैं, और हमें घेर लेते हैं। एक वस्तुओं का जगत बाहर है और भीतर भी बाहर से प्रतिध्वनित एक विचारों का जगत है। वह भीतर होकर भी बाहर है, क्योंकि "मैं" साक्षी की भांति उसके बाहर ही होता हूं।
उसे भी मैं देखता हूं। इसलिए वह भी बाहर ही है। वस्तुएं घेरे हैं और विचार घेरे हैं। पर गहरा निरीक्षण करेंगे तो ज्ञात होगा कि वस्तुओं का घेरा आत्मज्ञान के लिए बाधा नहीं है। बाधा विचार का घेरा है। वस्तुएं आत्मा को घेर भी कैसे सकती हैं? पदार्थ केवल पदार्थ को घेरता है। आत्मा विचार से घिरी है। दर्शन की, चैतन्य की धारा विचार की ओर बह रही है। विचार और विचार और केवल विचार हमारे सन्मुख है। दर्शन उनसे ही आच्छादित है। विचार से विमुख और निर्विचार, थॉटलेसनेस के सन्मुख होना है। यही दिशा क्रांति है। यह कैसे होगा? विचार कैसे पैदा होते हैं? यह जानना जरूरी है, तभी उन्हें जन्मने से रोका जा सकता है।
साधारणतया उनकी उत्पत्ति के सत्य को जाने बिना ही तथाकथित साधक उनके दमन, सप्रेशन में लग जाते हैं। इससे विक्षिप्त तो कोई हो सकता है, विमुक्त

नहीं हो सकता है। विचार के दमन से कोई अंतर नहीं पड़ता है, क्योंकि वे प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न हो जाते हैं। वे पौराणिक कथाओं के उन राक्षसों की भांति हैं, जिनके एक सिर को काटने पर दस सिर पैदा हो जाते थे।
मैं विचारों को मारने को नहीं कहता हूं। वे स्वयं ही प्रतिक्षण मरते रहते हैं। कौन-सा विचार बहुत देर टिकता है? विचार बहुत अल्पजीवी है। कोई भी विचार कहां ज्यादा जीता है? विचार तो नहीं टिकता, पर विचार-प्रक्रिया, थॉट-प्रोसेस टिकती है।
एक-एक विचार तो अपने आप मर जाता है, पर विचार-प्रवाह नहीं मरता है। एक विचार मर भी नहीं पाता है कि दूसरा उसका स्थान ले लेता है। यह स्थानपूर्ति बहुत त्वरित है।
यही समस्या है। विचार की मृत्यु नहीं, उसकी त्वरित उत्पत्ति वास्तविक समस्या है। विचार को इसलिए मैं मारने को नहीं कहता हूं। मैं उसके गर्भाधान को समझने और उससे मुक्त होने को कहता हूं। जो विचार के गर्भाधान के विज्ञान को समझ लेता है, वह उससे मुक्त होने का मार्ग सहज ही पा जाता है।
और जो यह नहीं समझता है, वह स्वयं ही एक ओर विचार पैदा किये जाता है और दूसरी ओर उनसे लड़ता भी है। इससे विचार तो नहीं टूटते, विपरीत वह स्वयं ही टूट जाता है।
मैं पुनः दोहराता हूं कि विचार समस्या नहीं, विचार की उत्पत्ति समस्या है।
वह कैसे पैदा होता है, यह सवाल है। उसकी उत्पत्ति पर विरोध हो या कहें
कि विचार का जन्म-निरोध हो तो पूर्व से जन्मे विचार तो क्षण में विलीन हो जाते हैं। उनकी निर्जरा तो प्रतिक्षण हो रही है, पर निर्जरा हो नहीं पाती है, क्योंकि नयों का आस्रव और आगमन होता चला जाता है। मैं कहना चाहता हूं कि निर्जरा नहीं करनी है, केवल आस्रव-निरोध करना है। आस्रव-निरोध ही निर्जरा है।
यह हम सब जानते हैं कि चित्त चंचल है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है
कि कोई भी विचार दीर्घजीवी नहीं है। विचार पलजीवी है। वह तो जन्मता है और मर जाता है। उसके जन्म को रोक लें तो उसकी हत्या की हिंसा से भी बच जायेंगे और वह अपने आप विलीन भी हो जाता है।
विचार की उत्पत्ति कैसे होती है?
विचार की उत्पत्ति, उसका गर्भाधान, बाह्य जगत के प्रति हमारी प्रतिक्रिया, रिएक्शन से होता है। बाहर घटनाओं और वस्तुओं का जगत है। इस जगत के प्रति हमारी प्रतिक्रिया ही हमारे विचारों की जन्मदात्री है। मैं एक फूल को देखता हूं-- "देखना" कोई विचार नहीं है और यदि मैं देखता
ही रहूं तो कोई विचार पैदा नहीं होगा। पर मैं देखते ही कहता हूं कि "फूल बहुत सुंदर है" और विचार का जन्म हो जाता है। मैं यदि मात्र देखूं तो सौंदर्य की अनुभूति तो होगी, पर विचार का जन्म नहीं होगा। पर अनुभूति होते ही हम उसे शब्द देने में लग जाते हैं।
अनुभूति को शब्द देते ही विचार का जन्म हो जाता है। यह प्रतिक्रिया,
यह शब्द देने की आदत, अनुभूति को, दर्शन को विचार से आच्छादित कर देती है। अनुभूति दब जाती है, दर्शन दब जाता है। और शब्द चित्त में तैरते रह जाते हैं। ये शब्द ही विचार हैं।
ये विचार अत्यन्त अल्पजीवी हैं। और इसके पहले कि एक विचार मरे हम दूसरी अनुभूति को विचार में परिणत कर लेते हैं। फिर यह प्रक्रिया जीवन-भर चलती रहती है। और हम शब्दों से इतने भर जाते और दब जाते हैं कि स्वयं को ही उनमें खो देते हैं। दर्शन को शब्द देने की आदत छोड़ना विचार का जन्म-निरोध है। इसे समझें।
मैं आपको देख रहा हूं और मैं आपको मात्र देखता, जस्ट सीइंग ही रहूं और
इस दर्शन को कोई शब्द न दूं, तो क्या होगा? आप कभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि क्या होगा? इतनी बड़ी क्रांति होगी कि जीवन में उससे बड़ी कोई क्रांति, रिवोल्यूशन नहीं होती है। शब्द बीच में आकर उस क्रांति को रोक लेते हैं। विचार का जन्म उस क्रांति में अवरोध हो जाता है।

यदि मैं आपको देखता ही रहूं और कोई शब्द इस दर्शन को न दूं--मात्र देखता ही रहूं तो आपको देखते-देखते मैं पाऊंगा कि एक अलौकिक शांति मेरे भीतर अवतरित हो रही है, एक शून्य परिव्याप्त हो रहा है, क्योंकि शब्द का न होना ही शून्य है, और इस शून्य में चेतना की दिशा परिवर्तित होती है, फिर आप ही नहीं दीखते हैं, वरन क्रमशः वह भी उभरने लगता है जो कि आपको देख रहा है। चेतना-क्षितिज पर एक नया जागरण होता है, जैसे कि हम किसी स्वप्न से जाग उठे हों और एक निर्मल आलोक से और एक अपरिसीम शांति से चित्त भर जाता है। इस आलोक में स्वयं का दर्शन होता है।
इस शून्य में सत्य का अनुभव होता है।
मैं अंत में यही कहूंगा कि इस साधना-शिविर में "दर्शन" शब्द से आच्छादित न हों, यही प्रयोग हमें करना है। इस प्रयोग को मैं "सम्यक स्मृति", राइट माइंडफुलनेस कहता हूं। यह स्मृति रखनी है, यह होश, अवेअरनेस रखना है कि शब्द का संगठन न हो। शब्द बीच में न आये। यह हो सकता है, क्योंकि शब्द केवल हमारी आदत है।
एक नवजात शिशु जगत को बिना शब्द के देखता है। वह शुद्ध प्रत्यक्षीकरण है। फिर धीरे-धीरे वह शब्द की आदत सीखता है, क्योंकि बाह्य जगत और बाह्य जीवन के लिए वह सहयोगी और उपयोगी है।
पर जो बाह्य जीवन के लिए सहयोगी है, वही अंतस जीवन को जानने में बाधा
हो जाता है। और इसलिए एक बार फिर वृद्धों को भी नवजात शिशु के शुद्ध दर्शन को जगाना पड़ता है, ताकि वे स्वयं को जान सकें। शब्द से जगत को जाना, फिर शून्य से स्वयं को जानना होता है।
इस प्रयोग में हम क्या करेंगे? शांत बैठेंगे। शरीर को शिथिल, रिलेक्स्ड और रीढ़ को सीधा रखेंगे। शरीर के सारे हलन-चलन, मूवमेंट को छोड़ देंगे। शांत, धीमी, पर गहरी श्वास लेंगे। और मौन, अपनी श्वास को देखते रहेंगे और बाहर की जो ध्वनियां सुनाई पड़ें, उन्हें सुनते रहेंगे। कोई प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। उन पर कोई विचार नहीं करेंगे। शब्द न हों और हम केवल साक्षी हैं, जो भी हो रहा है, हम केवल उसे दूर खड़े जान रहे हैं, ऐसे भाव में अपने को छोड़ देंगे। कहीं कोई एकाग्रता, कन्सन्ट्रेशन नहीं करनी है। बस चुप जो भी हो रहा है, उसके प्रति जागरूक बने रहना है।
सुनो! आंखें बंद कर लो और सुनो। चुपचाप मौन में सुनो। चिड़ियों की टी-- वी--टुट; हवाओं के वृक्षों को हिलाते थपेड़े, किसी बच्चे का रोना और पास के कुएं पर चलती हुई रेंट की आवाज--और बस सुनते रहो, अपने भीतर श्वास का स्पंदन और हृदय की धड़कन और फिर एक अभिनव शांति और सन्नाटा उतरेगा और आप पाओगे कि बाहर ध्वनि है पर भीतर निस्तब्धता है। और आप पाओगे कि एक नये शांति के आयाम में प्रवेश हुआ है।
तब विचार नहीं रह जाते हैं, केवल चेतना रह जाती है। और इस शून्य के माध्यम में ध्यान, अटेंशन उस ओर मुड़ता है जहां हमारा आवास है। हम बाहर से घर की ओर मुड़ते हैं।
दर्शन बाहर लाया है, दर्शन ही भीतर ले जाता है। केवल देखते रहो--देखते रहो--विचार को, श्वास को, नाभि-स्पंदन को। और कोई प्रतिक्रिया मत करो। और फिर कुछ होता है, जो हमारे चित्त की सृष्टि नहीं है, जो हमारी सृष्टि नहीं है; वरन जो हमारा होना है, हमारी सत्ता है, जो धर्म है, जिसने हमें धारण किया है वह उदघाटित हो जाता है और हम आश्चर्यों के आश्चर्य स्वयं के समक्ष खड़े हो जाते हैं।
मैं याद करता हूंः एक पहाड़ी पर एक साधु खड़ा था। अभी सुबह ही थी और सूरज
की किरणों का जाल फैलना शुरू ही हुआ था। कुछ मित्र घूमने निकले थे। उन्होंने एकांत में खड़े उस साधु को देखा। उन्होंने आपस में सोचा, वह वहां क्या करता होगा? किसी ने कहा, "कभी-कभी उसकी गाय वन में खो जाती है, शायद वह ऊंचाई पर खड़ा होकर उसे ही खोजता है।"
पर दूसरे मित्र सहमत न हुए। एक ने कहाः "उसे देख ऐसा नहीं लगता कि वह कुछ खोजता है। उसे देख लगता है कि वह किसी की प्रतीक्षा में है। कोई मित्र साथ आया होगा और वह पीछे छूट गया है, वह उसी की प्रतीक्षा कर रहा है।"

पर दूसरे इससे भी सहमत न हुए। तीसरे ने कहाः "न वह कुछ खोज रहा है, न प्रतीक्षा कर रहा है। वह प्रभु के चिंतन में लीन है।" उनमें सहमति न हो सकी। वे निर्णय के लिए साधु के पास गये। प्रथम ने साधु से पूछाः "क्या आप अपनी गाय खोज रहे हैं?" उस निर्जन में खड़े व्यक्ति ने कहाः "नहीं।" दूसरे ने पूछाः "क्या आप किसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं?" उस एकाकी खड़े व्यक्ति ने कहाः "नहीं।" तीसरे ने पूछाः "क्या आप प्रभु का चिंतन कर रहे हैं?" वह फिर भी बोलाः "नहीं।" वे तीनों हैरान हुए। उन्होंने सम्मिलित ही पूछाः "फिर आप क्या कर रहे हैं?" वह साधु बोलाः "कर कुछ भी नहीं रहा हूं। मैं केवल खड़ा ही हूं, आइ एम जस्ट स्टेंडिंग, मैं बस हूं ही, आइ एम जस्ट एक्जिस्टिंग।" ऐसे ही बस होना है। कुछ भी नहीं करना है। सब छोड़ देना है और रह जाना है। फिर कुछ होगा जिसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता है। वह अनुभूति ही, जो शब्दों में नहीं आती है, सत्य की, स्वयं की, परमात्मा की अनुभूति है।

साधना पथ
तीसरा प्रवचन

धर्म, संन्यास, अमूर्च्छा और ध्यान

प्रश्नः क्या धर्म और विज्ञान में विरोध है?

--नहीं। विज्ञान को जानना अधूरा ज्ञान है। वह ऐसा ही है कि सारे जगत में तो प्रकाश हो और मेरे अपने ही घर में अंधेरा हो। ऐसे अधूरे ज्ञान से-- अपने को ही न जानने से जीवन दुख में परिणत हो जाता है। जीवन शांति, संतोष और कृतार्थता से भरे, इसके लिए वस्तुओं को जानना ही पर्याप्त नहीं है। उस तरह समृद्धि आ सकती है, पर धन्यता नहीं आती है। उस तरह परिग्रह आ सकता है, पर प्रकाश नहीं आता है। और प्रकाश न हो तो परिग्रह बंधन हो जाता है। वह अपने ही हाथों लगायी फांसी हो जाती है। जो संसार को ही जानता है, वह अधूरा है और इस अधूरेपन से दुख पैदा होते हैं।
संसार को जानने से शक्ति उपलब्ध होती है। विज्ञान, साइंस उसी की खोज है। क्या नहीं देख रहे हैं कि विज्ञान ने अपरिसीम शक्तियों की रहस्य-कुंजियां मनुष्य के हाथों में दे दी हैं? पर उस शक्ति-उपलब्धि से कुछ भी शुभ नहीं हुआ है। शक्ति आयी है, पर शांति नहीं आयी है। शांति पदार्थ को नहीं, परमात्मा को जानने से आती है। उसका अन्वेषण धर्म, रिलीजन है। अकेली शक्ति शांति के अभाव में आत्म-घातक है। पदार्थ का ज्ञान, आत्म-ज्ञान के अभाव में अज्ञान के हाथों में शक्ति है। उससे शुभ फलित नहीं हो सकता है। अब तक विज्ञान और धर्म में, संसार और अध्यात्म में जो विरोध रहा है, उसका परिणाम अशुभ हुआ है। जिन्होंने मात्र विज्ञान की खोज की है, वे शक्तिशाली हो गये हैं, पर अशांत और संतापग्रस्त हैं और जिन्होंने मात्र धर्म का अनुसंधान किया है वे शांत हो गये हैं; पर अशक्त और दरिद्र हैं। यह अब तक की साधना खंडित रही है। अब तक सत्य की पूरी और अखंडित साधना नहीं हुई है। मैं शक्ति और शांति को अखंडित रूप में देखना चाहता हूं। मैं विज्ञान और धर्म में सम्मिलन को चाहता हूं।
उससे पूर्ण मनुष्य का जन्म होगा और एक पूर्ण संस्कृति का भी, जो अंतर बाह्य, दोनों रूपों में समृद्ध होगी। मनुष्य न तो मात्र शरीर ही है, न मात्र आत्मा ही। वह दोनों का सम्मिलन है। इसलिए उसका जीवन किसी एक पर ही आधारित हो, तो अधूरा हो जाता है।

प्रश्नः संसार और संन्यास के संबंध में आपके क्या विचार हैं? क्या संन्यास संसार को छोड़ने से ही आता है?

संसार और संन्यास का विरोध नहीं है। संसार नहीं, अज्ञान छोड़ना होता है। संसार-त्याग का नाम संन्यास नहीं है। ज्ञान का जागरण, आत्मज्ञान का जागरण संन्यास है। उस जागरण में संसार नहीं, आसक्ति छूट जाती है। संसार तो जहां है, जैसा है, वही होता है, पर हम परिवर्तित हो जाते हैं। और हमारी दृष्टि परिवर्तित हो जाती है। वह परिवर्तन बहुत मौलिक है। उस ज्ञान-जागरण में कुछ छोड़ना नहीं होता है, जो व्यर्थ है वह अपने आप ही पके पत्तों की भांति झड़ जाता है।
प्रकाश के आगमन पर अंधेरा चला जाता है। ऐसे ही ज्ञान के आगमन पर जीवन में जो भी कलुषित है, वह बह जाता है और तब जो शेष रह जाता है, वह संन्यास है। संन्यास का संबंध संसार से बिल्कुल भी नहीं, स्व से है। वह स्व-शुद्धि है, जैसे स्वर्ण अशुद्ध से शुद्ध हो जावे। अशुद्ध स्वर्ण में और शुद्ध स्वर्ण में विरोध नहीं, विकास है।
जीवन को आत्म-अज्ञान के बिंदु से देखना संसार है; आत्मज्ञान के बिंदु
से देखना संन्यास है।
इसलिए जब कोई कहता है कि मैंने संन्यास लिया है, तो मुझे बात बड़ी असत्य मालूम होती है। यह लिया हुआ संन्यास ही संसार के विरोध की भ्रांति

पैदा कर देता है। संन्यास भी क्या लिया जा सकता है? क्या कोई कहेगा कि ज्ञान मैंने लिया है? लिया हुआ ज्ञान भी क्या कोई ज्ञान होगा?
ऐसा ही लिया हुआ संन्यास भी, संन्यास नहीं होता है। सत्य ओढ़े नहीं जाते हैं। उन्हें जगाना होता है। संन्यास का जन्म होता है। वह ज्ञान से आता है। उस ज्ञान में हम परिवर्तित होते चले जाते हैं। हमारा ज्ञान बदलता है, दृष्टि बदलती है और अनायास ही आचरण भी बदल जाता है। संसार जहां का तहां होता है, पर हमारे भीतर संन्यास का जन्म होता जाता है।
संन्यास का अर्थ हैः यह बोध कि मैं शरीर ही नहीं हूं, आत्मा हूं। इस बोध के साथ ही भीतर आसक्ति और मोह नहीं रह जाता है। संसार बाहर था, अब भी वह बाहर होगा, पर भीतर उसके प्रति राग-शून्यता होगी, या यूं कहे कि संसार अब भीतर नहीं होगा।
बाहर जो संसार है, उसे पकड़ना भी अज्ञान है, उसे छोड़ना भी अज्ञान है; क्योंकि दोनों ही स्थितियों में हम उससे संबंधित होते हैं। संसार-राग भी अज्ञान है, संसार-विराग भी अज्ञान है। वे दोनों ही संबंध हैं। असंबंध तो वीतरागता है। वीतरागता विराग नहीं है। वह राग और विराग दोनों का अभाव है। इसी अभाव को मैं संन्यास कहता हूं।
राग-विराग का अभाव ज्ञान से आता है। राग एक अज्ञान है। उस अज्ञान में
ही उससे ऊबकर जो प्रतिक्रिया होती है, वह विराग है। वह प्रतिक्रिया भी अज्ञान है। एक में व्यक्ति संसार की ओर भागता है, दूसरे में संसार से दूर भागता है। पर दोनों ही भागते हैं और नहीं जानते कि जो उनके भीतर बैठा है, उसका आनंद न संसार में है, न संसार से दूर जाने में। उसका आनंद तो स्वयं में प्रतिष्ठित होने में है। न संसार में जाना है, न संसार के विरोध में जाना है--विपरीत अपने में आना है।
स्मरण रखें कि अपने में आना है। यह आना न राग से होता है, न विराग से होता है। यह तो राग-विराग के अंतर्द्वंन्द्व के साक्षी बनने में संभव होता है। कोई हमारे भीतर, हमारे रागों और विरागों--दोनों का ही साक्षी है। उसे ही जानना है। जो मात्र साक्षी है, उसे ही जानने से वीतरागता अपने आप फलित होती है। वह आत्म-ज्ञान का सहज परिणाम है।

प्रश्नः आपकी दृष्टि से तो घर-द्वार छोड़ना व्यर्थ है?

मैं महावीर का एक सूत्र याद करता हूं। महावीर ने कहा हैः मूर्च्छा परिग्रह है। उन्होंने परिग्रह मूर्च्छा है, ऐसा क्यों नहीं कहा? हमारे अज्ञान के कारण, हमारी अंतस-मूर्च्छा के कारण, हममें वस्तुओं के प्रति आसक्ति है। हम भीतर तो खाली और दरिद्र हैं और इसलिए बाहर की वस्तुओं से ही अपने को भर लेना चाहते हैं। उस भांति ही हम अपने को भ्रम देते हैं कि हम कुछ हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई आसक्ति छोड़ेगा और भीतर अज्ञान बना ही रहा तो क्या आसक्ति छूट सकेगी?
वस्तुएं छूट जायेंगी पर आसक्ति नहीं छूटेगी। घर छूट जायेगा तो आश्रम में आसक्ति आ जायेगी। परिवार छूट जायेगा तो संप्रदाय में आसक्ति आ जायेगी। आसक्ति भीतर है तो वह नयी स्थितियों में अपना प्रकाशन बना लेगी। इसलिए जो जानते हैं उन्होंने वस्तुएं छोड़ने को नहीं, मूर्च्छा छोड़ने को कहा है, अज्ञान छोड़ने को कहा है। ज्ञान के आगमन पर जो व्यर्थ है, वह छोड़ना नहीं होता है, अपने आप छूट जाता है।

प्रश्नः विचार-शून्यता के लिए क्या हम चित्त को एकाग्र करें?

मैं चित्त को एकाग्र, कन्सन्ट्रेट करने के लिए नहीं कह रहा हूं। वह एक तरह की जबरदस्ती और तनाव, टेंशन है। किसी विचार, किसी रूप, किसी प्रतिमा, किसी शब्द पर यदि एकाग्रता की जाये तो उसके परिणाम में विचार-शून्यता तो नहीं, चैतन्य का जागरण तो नहीं, वरन मूर्च्छा और आत्म-सम्मोहन की एक जड़ अवस्था उत्पन्न होती है।

एकाग्रता के हठाग्रह से बेहोशी आ जाती है। इस बेहोशी को समाधि समझना भूल है। समाधि का अर्थ जड़ता या मूर्च्छा नहीं है। समाधि का अर्थ है परिपूर्ण चैतन्य का अनुभव।
समाधि हैःविचार शून्यता, थॉटलेसनेस (धन) पूर्ण चैतन्य, कान्शसनेस।

प्रश्नः ध्यान में श्वास-प्रश्वास को हम किस भांति देखें?

रीढ़ को सीधी रखें। रीढ़ झुकी हुई न हो। रीढ़ की सीधी स्थिति में शरीर सहज साम्यावस्था में होता है। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण, ग्रेवीटेशन उस पर सम प्रभाव डालता है और उसके भार से मुक्त होने में आसानी होती है। गुरुत्वाकर्षण का भार कम से कम हो तो शरीर शून्य होने में बाधा नहीं देता है।
रीढ़ को सीधी रखें पर शरीर पर कोई तनाव या अकड़ाव नहीं। शरीर सहज शिथिल
हो, जैसे किसी खूंटी पर कोई वस्त्र टंगा हो, ऐसा ही वह भी रीढ़ पर टंगा हो।
शरीर को ढीला छोड़ दें।
फिर गहरी और धीमी श्वास लें। श्वास का आना नाभि-केंद्र को ऊपर नीचे आंदोलित करेगा। उस आंदोलन को देखते रहें। उस पर एकाग्रता नहीं करनी है। उसे केवल देखते रहना है। उसका मात्र साक्षी होना है। स्मरण रखें--मैं एकाग्रता को नहीं कह रहा हूं। मैं केवल होश, वाचफुलनेस, सजगता के लिए कह रहा हूं।
श्वास भी ऐसे लें, जैसे छोटे बच्चे लेते हैं। उनका वक्षस्थल तो नहीं कंपता, पर पेट कंपता है। यही विधि नैसर्गिक श्वास-प्रश्वास की है। इसके परिणाम में शांति अपने आप सघन होती जाती है। चित्त-अशांति और तनावों के कारण हम श्वास पूरी लेना धीरे-धीरे भूल ही जाते हैं। युवा होते-होते कृत्रिम श्वास-प्रश्वास हमें पकड़ लेता है। यह तो आपने अनुभव किया ही होगा कि आपका मन जितना अशांत होता है, उतनी ही श्वास-प्रक्रिया अपनी सहजता और गतिबद्धता को खो देती है।
श्वास को नैसर्गिक रूप से लें--लयबद्ध और सहज। उसके संगीत से चित्त-अशांति विलीन होने में सहायता मिलती है।

प्रश्नः आप श्वास-प्रश्वास के दर्शन को क्यों कहते हैं?

इसलिए कहता हूं कि श्वास-प्रश्वास, प्राण ही शरीर और आत्मा के बीच सेतु है। उसी माध्यम से आत्मा शरीर में है। उसके प्रति जागने से, श्वास-प्रश्वास के प्रत्यक्ष से धीरे-धीरे यह अनुभव होगा कि मैं शरीर नहीं हूं-- शरीर में हूं, पर शरीर ही नहीं हूं। वह मेरा आवास है, मेरा आधार नहीं। श्वास-प्रश्वास का प्रत्यक्ष जैसे-जैसे गहरायेगा, वैसे-वैसे ही उसकी निकटता अनुभव होगी जो कि देह नहीं है। एक क्षण स्पष्ट दर्शन होगा--शरीर का और स्वयं की पृथकता का। तब तीन पर्तें व्यक्तित्व की ज्ञात होंगी--शरीर की, प्राण की व आत्मा की। शरीर आवरण है, प्राण जोड़ है, आत्मा आधार है। साधना में प्राण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह मध्य बिंदु है। उसके इस पार शरीर है, उस पार आत्मा है। शरीर पर तो हम हैं ही। आत्मा में होना है। पर उसके पूर्व प्राण पर होना जरूरी है। इसी में संक्रमण हो सकता है।
प्राण पर जाग्रत होकर दोनों ओर देखा जा सकता है। रास्ता वहां पहुंचकर दोनों ओर का स्पष्ट हो जाता है। एक ही मार्ग है, पर दोनों दिशाएं स्पष्ट हो जाती हैं। फिर प्राण के पीछे जाना सुगम हो जाता है। मैं समझता हूं कि आप समझें होंगे कि मैं श्वास-प्रश्वास पर जोर क्यों देता हूं?

प्रश्नः आप ध्यान को अक्रिया क्यों कहते हैं? क्या वह भी एक क्रिया ही नहीं है?

देखें। यह मैं मुट्ठी बांधे हुए हूं। बांधने में मुझे कुछ करना पड़ रहा है। बांधना क्रिया है। लेकिन, यदि मैं मुट्ठी खोलना चाहूं तो मुझे क्या करना होगा? खोलने के लिए मुझे कुछ भी नहीं करना होगा। केवल, बांधने के लिए जो प्रयास कर रहा हूं, वह न करूं तो मुट्ठी अपने आप खुल जायेगी। वह अपनी स्वरूप स्थिति में पहुंच जायेगी। इसलिए मैं मुट्ठी खोलने को क्रिया नहीं कहूंगा। वह अक्रिया है या कि चाहे तो कहें कि नकारात्मक क्रिया, निगेटिव एक्शन है पर उससे भेद नहीं पड़ता है। वह एक ही बात है।
शब्दों से मुझे आग्रह नहीं है। मेरी बात--मेरा भाव भर समझ लें। ध्यान
को अक्रिया कहने का मेरा अर्थ है कि उसे आप काम न समझें--उसे व्यस्तता न समझें। वह अव्यस्तता है। वह सहजता है और आपको उसे कोई मानसिक तनाव नहीं बनाना है। वह भी एक मानसिक तनाव हो, वह भी एक क्रिया हो तो वह शांति में और स्वभाव में नहीं ले जाती है। तनाव तो स्वयं अशांति है। और शांति में जाने के लिए प्रथम ही शांत होना आवश्यक है। शांति यदि प्रथम चरण में नहीं है, तो वह अंत में भी नहीं होगी। अंतिम प्रथम का ही विकास है।
मैं लोगों को मंदिर जाते देखता हूं, मैं उनको पूजा-आराधना करते देखता हूं, मैं उन्हें ध्यान में बैठे देखता हूं--पर यह सब उनके लिए क्रिया है-- एक तनाव है--एक अशांति है, और फिर वे इस अशांति में शांति के फूल लगने की आशा करते हैं, तो भूल में हैं।
शांति चाहते हैं, शांत होना चाहते हैं, तो इसी क्षण शांति से प्रारंभ करना आवश्यक है।

साधना पथ
चौथा प्रवचन

रुको, देखो और होओ

सत्य को खोजें नहीं। खोजने में अहंकार, इगो है। और अहंकार ही तो बाधा है। अपने को खो दें। मिट जावें। जब "मैं" शून्य होता है, तब उसके दर्शन होते हैं, जो कि वस्तुतः मैं हूं। "मैं-भाव" मिटता है, तब "मैं-सत्ता" मिलती है। अपने को खोकर ही "स्व" को पाना होता है। जैसे बीज जब अपने को तोड़ देता है और मिटा देता है, तभी उसमें नव-जीवन अंकुरित होता है। वैसे ही "मैं" बीज है, वह आत्मा का बाह्य आवरण और खोल है, वह तब मिट जाता है जब अमृत जीवन के अंकुर का जन्म होता है।
इस सूत्र को स्मरण रखेंः पाना है तो मिटना होता है। मृत्यु के मूल्य
पर अमृत मिलता है। बूंद जब स्वयं को सागर में खो देती है, तो वह सागर हो जाती है।
मैं आत्मा हूं पर अपने में खोजूं तो सिवाय वासना के और कुछ भी नहीं मिलता है। हमारा पूरा जीवन ही वासना है। वासना यानी कुछ होने की--कुछ पाने की अभीप्सा। प्रत्येक कुछ होना चाहता है--कुछ पाना चाहता है। प्रतिक्षण यह दौड़ चल रही है। जो जहां है, वहां नहीं होना चाहता है। और जो जहां नहीं है, वहां होना चाहता है। वासना यानी "जो है" उससे एक अंधी-अतृप्ति और "जो नहीं है" उसकी अंधी-आकांक्षा।
इस दौड़ का कोई अंत नहीं है, क्योंकि जैसे ही "जो उपलब्ध होगा" वह व्यर्थ हो जायेगा, और आकांक्षा पुनः अनुपलब्ध पर केंद्रित हो जायेगी। वह सदा ही अनुपलब्ध के लिए है।
वासना आकाश-क्षितिज की भांति है--आप जितने उसके निकट पहुंचें, वह ठीक उतना ही पुनः आपसे दूर हो जाता है। यह इसलिए ही संभव है, क्योंकि वह है ही नहीं। वह केवल प्रतीति, एपीअरेन्स है, भ्रांति है, सत्य नहीं है। सत्य हो तो आपको उसके पास जाने से वह निकट होता है। असत्य हो तो मिट जाता है। न सत्य हो, न असत्य हो; भ्रांति हो, स्वप्न हो, माया हो, कल्पना हो, तो आप उसके कितने ही निकट जायें, उसकी दूरी वही बनी रहती है।
असत्य, सत्य का विरोध है। भ्रांति, माया--विरोध नहीं, आवरण है। वासना आत्मा का विरोध नहीं, आवरण है, वह कुहासा है, धुआं है जिसमें हमारी सत्ता छिपी है।
हम "जो नहीं हैं" उसके लिए दौड़ते रहते हैं और इसलिए "जो है" उसे नहीं देख पाते हैं।
वासना आत्मा पर पर्दा है और उसके कारण आत्मा का दर्शन नहीं हो पाता है। मैं कुछ होना चाहता हूं और इसलिए उसे देखता ही नहीं, "जो मैं हूं।" एक क्षण को भी, यह होने की दौड़ और अभीप्सा न हो, तो "जो है" वह प्रकट हो जाता है। एक क्षण को भी आकाश में बदलियां न हों, तो सूरज प्रकट हो जाता है।
मैं इस "होने की दौड़ के अभाव" को ही ध्यान कहता हूं।
और उस क्षण कितना आश्चर्य होता है, जब हम उसे जानते हैं, "जो है, दैट व्हिच इ.ज।" क्योंकि, उसमें वह सब मिल जाता है जिसके लिए कि अभीप्सा थी। आत्मा का दर्शन वासना की पूर्ण तृप्ति है, क्योंकि वहां कोई अभाव नहीं है।
विचार, अज्ञान का लक्षण है। ज्ञान में विचार नहीं होता है--दर्शन होता है। इसलिए विचार का मार्ग ज्ञान तक नहीं ले जाता है। निर्विचार-चैतन्य ज्ञान का द्वार है।
ज्ञान उपलब्धि नहीं, अनावरण, डिस्कवरी है। उसे पाना नहीं, उघाड़ना है।
वह हममें नित्य उपस्थित है। उसे खोदना है। जैसे कोई कुआं खोदता है, वैसे ही उसे भी खोदना है। जल-स्रोत मिट्टी, कंकड़-पत्थरों में दबे हैं। इन आवरणों को हटाते ही वे फूट पड़ेंगे।
ज्ञान के जल-स्रोतों पर मैं विचारों के कंकड़-पत्थरों को जमा हुआ देखता हूं। इन्हें हटाते ही चैतन्य की अपरिसीम धारा उपलब्ध हो जाती है।

अपने में कुआं खोदो--विचारों की पर्तों को अलग करो--"ध्यान" की कुदाली से। सम्यक स्मृति और सजग जागरूकता, अवेअरनेस से विचार को निष्प्राण करो-- विचार की निर्जरा करो--और फिर आप जो जानोगे वह ज्ञान है।
विचार जहां नहीं है उस निर्धूम चेतना में ज्ञान है।
मैं एकांत में जाने को नहीं कहता हूं। मैं कहता हूं अपने में एकांत लाने को। स्थान बदलने से कुछ नहीं होता है। परिवर्तन स्थिति में लाना है। परिस्थिति नहीं, मनःस्थिति केंद्रीय और महत्वपूर्ण है।
कोई एकांत में जा सकता है, पर यदि उसके भीतर एकांत नहीं है, तो एकांत में भी वह भीड़ में होगा, क्योंकि उसके भीतर भीड़ होगी। मित्र! भीड़ बाहर नहीं है, वह भीतर है। हम भीतर भीड़ से घिरे हैं, इसलिए भीड़ से भागने से क्या होगा! जो साथ हैं वे साथ ही चले जावेंगे। भीड़ से भागना व्यर्थ है--भीड़ को ही भीतर से विसर्जित करना सार्थक है।
इसलिए, एकांत मत खोजो, एकांत बनो। निर्जन में मत जाओ, अपने को निर्जन करो। जिस क्षण तुम अपने को भीतर, अपने निकट अकेलेपन में अनुभव करोगे, उस दिन जानोगे कि बाहर कोई भीड़ कभी भी नहीं थी, बाहर कोई संसार ही नहीं था, वह सब भीतर था।
शांति और शून्य से, एकांत से देखने पर संसार परमात्मा में परिणत हो जाता है, और जो कल तक मुझे घेरे थे वह सब मैं ही हो जाता हूं। मैं सबमें हो जाता हूं।
किसी ऐसे ही क्षण में कोई बोला होगाः "अहं ब्रह्मास्मि।"
सदियों की धूल हमारे मन पर है। परंपराओं और रूढ़ियों और अंध-विश्वासों
ने हमें वैसे ही घेर रखा है, जैसे किसी खंडहर को, जैसे किसी अवासित भवन को अंधेरे के वासी पक्षी घेर लेते हैं और मकड़े-मकड़ियां अपने जालों से भर देते हैं। हम ऐसे ही उन विचारों से भरे हैं, जो दूसरे हमें दे देते हैं। ये दूसरों के द्वारा सत्य के, परमात्मा के संबंध में विचार बहुत बड़ी बाधाएं हैं। इनके कारण हम स्वयं जानने से वंचित रह जाते हैं, और स्वयं की खोज का वह आंदोलन जो हमारे प्रसुप्त चेतन को जगा दे, हममें कभी प्रवर्तित नहीं हो पाता है।
इससे पूर्व कि कोई सत्य को स्वयं जाने, उसे दूसरों से लिये उधार ज्ञान
से मुक्त हो जाना जरूरी है। दूसरों से पाये, परंपरा से पाये ज्ञान को धूल की भांति दूर हटा दें--उससे एक निर्मलता का उदय होगा और सत्य और स्वयं के बीच कोई परदा नहीं रह जायेगा। विचारों की भीड़ दीवार की भांति बीच में खड़ी रहती है।
सत्य के संबंध में जानना और सत्य को जानने में जमीन-आसमान का भेद है।
एक उधार और मृत-ज्ञान का बंधन है, दूसरा स्व-अनुभूति का मुक्त आकाश है। एक उड़ान की सारी क्षमता छीन लेता है, दूसरा वे पंख देता है जो परमात्मा तक ले जा सकते हैं।
इसलिए, मैं शून्य की बात कहता हूं। वह विचार-भार को छीन लेता है, वैसे
ही जैसे कोई पर्वत पर चढ़ता है तो उसे अपना सारा भार नीचे मैदानों में छोड़ देना होता है। वैसी ही चढ़ाई सत्य की भी है।
पर्वतारोही जितना निर्भार होगा, उतने ही ऊंचे पर्वतों पर उसके चरण पहुंच सकते हैं। और सत्यारोही भी जितना शून्य होता है, जितना निर्भार होता है, उतनी ही ऊंचाइयां उसका आवास हो जाती हैं।
परमात्मा तक--उस अंतिम ऊंचाई तक, जिन्हें पहुंचना है, उन्हें उस अंतिम शून्य तक पहुंचना आवश्यक है, जहां उनका होना, बीइंग, न-होना, नान-बीइंग हो जाता है।
शून्य की गहराई में पूर्ण ऊंचाई का जन्म होता है और अ-सत्ता में सत्ता
के संगीत की उत्पत्ति होती है, और तब ज्ञात होता है कि निर्वाण ही ब्रह्मोपलब्धि है।
सत्य अज्ञात है, तो उसे उन विचारों से कैसे जाना जा सकता है जो कि ज्ञात हैं? यह चेष्टा तो बिल्कुल ही अर्थहीन है। ज्ञात, नोन से अज्ञात, अननोन तक कोई मार्ग नहीं है। ज्ञात अज्ञात में नहीं ले जा सकता। यह न तर्क्य है, न संभव है। ज्ञात, ज्ञात की परिधि में ही घूम सकता है। जो मुझे

ज्ञात है, उसके माध्यम से मैं कितना भी चिंतन करूं, उसके बाहर और उसके ऊपर नहीं उठ सकता हूं। वह कोल्हू के बैल की भांति गति तो है, पर चक्रीय गति है और उसी राह पर बार-बार घुमाती है, पर कहीं पहुंचाती नहीं है।
इसलिए आज तक विचार से कोई भी सत्य तक नहीं पहुंचा है। जो पहुंचे हैं,
वे किसी और द्वार से पहुंचे हैं। मैं महावीर, लाओत्से, बुद्ध या जीसस को विचारक नहीं कहता हूं। उनकी कोई भी उपलब्धि विचार से नहीं है। फिर वे कैसे पहुंचे? वे विचार से चलकर नहीं, विचार से छलांग लेकर पहुंचे।
ज्ञात की लीक पकड़कर अज्ञात पर नहीं जाया जा सकता है, पर ज्ञात से छलांग अज्ञात में ले जाती है। इस "छलांग" शब्द के अर्थ को समझ लें। इस "छलांग" को समझ लें। वह आपको भी लेनी है।
विचार पर हम हैं। उन पर हम खड़े हैं। उनमें हम जी रहे हैं। उनसे निर्विचार में कूदना है। उनसे "छलांग" लेनी है, उसमें--जहां बस मौन है।
शब्द, साऊंड से शून्य, सायलेंस में कूद जाना है।
क्या यह "छलांग" के संबंध में विचार करने से होगा? क्या आप सोचेंगे कि छलांग कैसे लें? नहीं, वह तो पुनः विचार के कोल्हू में ही जुत जाना है। उससे गति नहीं है।
सोचें नहीं, जागें। विचार-प्रक्रिया के प्रति जागें। विचार की चक्रीय गति को देखें। बस देखें, और देखते ही देखते अनायास किसी क्षण में छलांग लग जाती है, और आप अपने को अतल शून्य में पाते हैं। ज्ञात के किनारे से छूट भर जावें, फिर आपकी नौका सहज ही अज्ञात के सागर में अपने पालों को खोल लेती है।
और वह बहना--अज्ञात में बह जाना कैसा आनंद है? कैसे कहूं?
अशांति देखने नहीं देती है। उससे भरी आंखें देख नहीं पाती हैं--फिर चाहे वे आंसुओं से भरी हों, चाहे मुस्कुराहटों से। भरी आंख सत्य को नहीं देख सकती है। उसके लिए खाली और रिक्त आंख चाहिए--ऐसी आंख, जो दर्पण की भांति हो, जिसमें स्वयं में कुछ भी नहीं है--वह उसे देख लेती है, जो कि "सब-कुछ" है।
एक गांव की बात है। कोई मुझसे पूछता था कि प्रभु को कैसे खोजा जाये। मैंने कहा, क्या आपने स्वयं को पा लिया है जो आप अब परमात्मा को खोजने निकले हैं?
परमात्मा को हम जानना चाहते हैं और आत्मा को भी जानते नहीं हैं? जो सबसे निकट है, वह तक भी ज्ञात नहीं है!
स्वयं से अधिक निकट और कोई सत्ता नहीं है, इसलिए अज्ञान सर्वप्रथम वहीं टूट सकता और पराजित हो सकता है। और जो वहां अज्ञान में है, वह किसी भी तल पर ज्ञान में नहीं हो सकता है।
ज्ञान की प्रथम ज्योति अंतस में ही जागती है। वही ज्ञान की प्राची है, वहीं से ज्ञान का सूर्योदय होता है। वहां अंधेरा है तो स्मरण रहे कि प्रकाश कहीं भी नहीं हो सकता है।
परमात्मा को नहीं, स्वयं को जानो--वही ज्योति-कण अंत में सूर्य में परिणत हो जाता है। स्वयं को जानकर ही जाना जाता है कि वहां सत्ता तो है, चैतन्य तो है, आनंद तो है, सच्चिदानंद तो है, पर "मैं" नहीं है। यह अनुभव ही परमात्मा का अनुभव है।
"मैं" युक्त आत्मा जीव है--यही अज्ञान है।
"मैं" मुक्त आत्मा परमात्मा है--यही ज्ञान है।
आत्मा को खोजने कहां जा रहे हो? वह दसों दिशाओं में कहीं भी नहीं है।
पर एक ग्यारहवीं दिशा भी है। क्या आपको उसका पता है? मैं उस ग्यारहवीं दिशा को ही बताता हूं।
वह ग्यारहवीं दिशा आप स्वयं हो। दसों दिशायें छोड़ दी जावें तो उस ग्यारहवीं में पहुंचना होता है। वह ग्यारहवीं दिशा दस दिशाओं जैसी ही नहीं है। वस्तुतः तो वह दिशा, डायरेक्शन ही नहीं है। वह तो अ-दिशा है। वह कहीं ले जाती नहीं हैं, पर वहां पहुंचाती है, जहां से स्वयं का कभी भी कहीं जाना नहीं हुआ है। वह स्वरूप है। वह स्व-अवस्था है।

दसों दिशाएं बाहर जाती हैं। उनसे जो निर्मित है वही जगत है। दस दिशाएं ही जगत हैं। वे ही आकाश, स्पेस हैं।
पर इन दसों दिशाओं को जो जानता और दसों में जो गति करता है, वह इनसे निश्चित ही पृथक है, अन्यथा न वह इन्हें जान सकता था और न इनमें गतिवान हो सकता था।
वह गति करता है फिर भी गति नहीं करता है, क्योंकि यदि वह अपनी स्वयं- सत्ता में स्थिर न हो, तो गति भी नहीं कर सकता है। उसकी समस्त गति के केंद्र में अ-गति है। उसके समस्त परिवर्तन-चक्र के बीच में ध्रुवता है। गाड़ी के चाकों को देखा है? चाक घूम पाते हैं, क्योंकि उनकी कील नहीं घूमती है। सदा ही कोई ध्रुव अध्रुव को थामे हुए है।
अध्रुव जीवन है--ध्रुव आत्मा है।
यह आत्मा ग्यारहवीं दिशा है। इसे खोजने कहीं नहीं जाना है। इसे खोजने
ही नहीं जाना है। सब खोज, सब खोजना छोड़कर देखो कि भीतर कौन है? उसके प्रति जागो--"जो है।"
यह अ-खोज से ही होगा। यह दौड़ने से नहीं, रुकने से होगा। रुको और देखो, स्टाप एंड सी। इन दो शब्दों में ही सारा धर्म है--सारी साधना है--सारा योग है।
रुको और देखो। और ग्यारहवीं दिशा खुल जाती है। उससे आंतरिक आकाश में प्रवेश होता है। उस आंतरिक आकाश, इनर स्पेस का नाम ही आत्मा है। मैं देख रहा हूं कि आप दौड़े चले जा रहे हैं। और सब दौड़ के अंत में गिर पड़ने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। क्या रोज आप लोगों को गिर पड़ते नहीं देखते हैं? क्या सब दौड़ों का अंतिम परिणाम वही नहीं है? क्या हर दौड़ के अंत में मृत्यु नहीं लिखा हुआ है?
पर जो इस सत्य को पहले ही पढ़ लेते हैं वे उससे बच जाते हैं।
मैं चाहता हूं कि आप रुकें और देखें। क्या आप रुकेंगे और दखेंगे? क्या मेरी पुकार आपको अपनी दौड़ की मूर्च्छा में सुनायी पड़ती है?
रुकें--और देखें कि वह कौन है जो दौड़ रहा है? रुकें--और देखें कि वह कौन
है जो खोज रहा है? रुकें--और देखें कि वह कौन है जो मैं हूं!
और दौड़ के उत्ताप, फीवर के आते ही दसों दिशाएं विलीन हो जाती हैं और वह
एक ही दिशा रह जाती है, जो कि दिशा नहीं है। वह वहां ले जाती है जो कि मूल है, जो कि उदगम है, जो कि उत्स है।
कोई साधु लोगों से कहता था कि जन्म के पूर्व आप कैसे थे--बताइयेगा? वह साधु यदि आपको मिल जाये तो आप उसे क्या कहेंगे? जानते हैं कि जन्म के पूर्व कैसे थे? जानते हैं कि मृत्यु के बाद कैसे होंगे? पर यदि रुकना और देखना आ जावे तो आप वह जान सकते हैं, वह जो जन्म के पूर्व था और मृत्यु के पश्चात भी होगा--वह अभी इस क्षण भी भीतर है। बस थोड़ा मुड़कर देखने भर की बात है।
रुकिये और देखिये। मैं इस अदभुत लोक में चलने का आमंत्रण देता हूं।

साधना पथ
पांचवां प्रवचन

नीति नहीं, धर्म-साधना

चिदात्मन्!
मैं आपकी जिज्ञासा और उत्सुकता को समझ रहा हूं। आप सत्य को जानने और समझने को उत्सुक हैं। जीवन के रहस्य को आप खोलना चाहते हैं, ताकि जीवन उपलब्ध हो सके। अभी तो जिसे हम जीवन कहते हैं, वह कोई जीवन नहीं है। वह तो मृत्यु की एक लंबी क्रिया ही कही जा सकती है।
यह ठीक है कि जीवन को जाने बिना जीवन प्राप्त नहीं होता है। जन्म एक बात है, जीवन बिल्कुल दूसरी बात है। जन्म लेना और जीवन-उपलब्धि में बहुत भेद है। वह भेद उतना ही है, जितना कि मृत्यु और अमृत में है। जी लेने की परिसमाप्ति मृत्यु में है। जीवन की पूर्णता और पूर्ण जीवन--ब्रह्म जीवन, दिव्य जीवन में है।
दिव्य जीवन में जो उत्सुक होते हैं और जो सत्य और ईश्वर को जानना चाहते हैं, उनके लिए मेरी दृष्टि में साधना की दो दिशाएं प्रतीत होती हैं; दो मार्ग प्रतीत होते हैं। एक दिशा नीति की है, दूसरी दिशा धर्म की है। साधारणतः नीति और धर्म को दो मार्ग नहीं माना जाता है। वे एक ही मार्ग की दो सीढ़ियां समझी जाती हैं। नैतिक होकर ही व्यक्ति धार्मिक हो पाता है, ऐसा विश्वास है। पर मेरा ऐसा देखना नहीं है। जो मैंने जाना है, वह मैं आपसे कहना चाहता हूं।
मैं ऐसा तो नहीं देख पाता हूं कि नैतिक व्यक्ति धार्मिक होता है, यद्यपि यह जरूर सच है कि धार्मिक व्यक्ति अनिवार्यतः सहज ही नैतिक अवश्य होता है। नैतिक होने से ही कोई धार्मिक नहीं हो जाता है। और न ही नीति धार्मिक होने का प्रारंभ या भूमिका है। विपरीत वह तो धार्मिक होने का परिणाम, कानसीक्वेंस है। धार्मिक जीवन में नीति के फूल लगते हैं, वे धर्म-जीवन की अभिव्यक्तियां हैं।
मैं नीति और धर्म की दिशाओं को भिन्न मानता हूं; भिन्न ही नहीं, विपरीत मानता हूं--क्यों मानता हूं, उसे समझाना चाहता हूं। नीति-साधना का अर्थ है: आचरण-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि। वह व्यक्तित्व की परिधि--को बदलने का प्रयास है। व्यक्तित्व की परिधि मेरा दूसरों से जो संबंध है, उससे निर्मित होती है। वह दूसरों से मेरा व्यवहार है। मैं दूसरों के साथ कैसा हूं, वही मेरा आचरण है। आचरण यानी संबंध, रिलेशन।
मैं अकेला नहीं हूं। मैं अपने चारों ओर अन्य लोगों से घिरा हूं। मैं समाज में हूं और इसलिए प्रतिक्षण किसी न किसी से संबंधित हूं। यह अतर्संबंध ही जीवन मालूम होता है। मेरे संबंध शुभ हैं तो मेरा आचरण सद है, और मेरे संबंध अशुभ हैं तो मेरा आचरण असद है। सदाचरण की हमें शिक्षा दी जाती है। वह समाज के लिए आवश्यक है। वह एक सामाजिक आवश्यकता है।
समाज को आपसे, आपकी निपट निजता में कोई प्रयोजन नहीं है। उस दृष्टि से
आप न भी हों तो भी समाज को कोई अर्थ नहीं है। समाज के लिए आप उसी क्षण महत्वपूर्ण हैं, जब आप किसी से संबंधित होते हैं। समाज को आप नहीं, आपका व्यवहार ही मूल्यवान है। आप नहीं, आपका आचरण ही अर्थपूर्ण है। इसलिए समाज की शिक्षा सदाचरण की है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मनुष्य उसके लिए आचरण से ज्यादा नहीं है।
पर, समाज की सदाचरण की यह शिक्षा, नैतिक होने का आदेश, एक भ्रांति पैदा करता है। एक बहुत आधारभूत भ्रांति का इससे जन्म हुआ है। स्वाभाविक ही जो प्रभु में और धर्म में उत्सुक होते हैं, वे सोचते हैं कि सत्य को पाने को सद होना आवश्यक है। सदाचरण की भूमिका में ही प्रभु-अनुभूति संभव होगी। सत्य के आगमन के पूर्व शुभ होना होगा। धर्मानुभूति नैतिक जीवन से ही निकलेगी और विकसित होगी। नीति आधार है, धर्म शिखर होगा। नीति बीज है, धर्म फल होगा। नीति कारण, का.ज है, धर्म कार्य, इफेक्ट होगा। यह विचार-सरणी कैसी स्पष्ट और सम्यक प्रतीत होती है? पर मैं कहना चाहता हूं कि यह सरल और

सुस्पष्ट दीखने वाली विचार-सरणी बिल्कुल ही भ्रांत है। यह वस्तुस्थिति को बिल्कुल उलटा करके देखना है। सत्य कुछ और ही है।
नीति की दिशा किसी व्यक्ति को वस्तुतः तो नैतिक भी नहीं बना पाती है, धार्मिक बनाने का तो प्रश्न ही नहीं है। व्यक्ति उससे केवल सामाजिक बन सकता है। और सामाजिक को नैतिक समझ लिया जाता है। आचरण मात्र ठीक होने से कोई वस्तुतः नैतिक नहीं होता है। उस क्रांति के लिए अंतस का परिशुद्ध होना आवश्यक है।
अंतस को बदले बिना आचरण नहीं बदल सकता है।
केंद्र को, मूल को बदले बिना परिधि को बदलने का प्रयास केवल एक निरर्थक स्वप्न है। वह प्रयास मात्र व्यर्थ ही नहीं, घातक भी है। वह आत्म-हिंसा है। ऐसी चेष्टा अपने ऊपर जबरदस्ती आरोपण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस दमन में समाज की उपयोगिता तो सध जाती है, पर व्यक्ति टूट जाता और खंडित हो जाता है। उसके भीतर द्वैत पैदा हो जाता है। उसका व्यक्तित्व सहजता और सरलता खोकर एक अंतर्द्वंद्व, कान्फ्लिक्ट बन जाता है--एक सतत संघर्ष, एक अंतहीन अंतर्युद्ध--जिसके अंत में विजय कभी नहीं आती है। यह व्यक्ति के मूल्य पर सामाजिक उपयोगिता को पूरा कर लेना है। इसे मैं सामाजिक हिंसा कहता हूं।
मनुष्य के आचरण में जो कुछ प्रकट होता है, वह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण अंतस के वे कारण हैं, जिनकी वजह से वह प्रकट होता है। आचरण अंतस की सूचना है, मूल वह नहीं है। आचरण अंतस का बाह्य प्रकाशन है। और वे लोग नासमझ हैं, जो प्रकाशक को बदले बिना प्रकाशन को बदलने की आकांक्षा करते हैं।
उस तरह की साधना व्यर्थ है। वह कभी फलवती नहीं होगी। वह ऐसे ही है जैसे कोई किसी वृक्ष की शाखाओं को छांटकर उसे नष्ट करना चाहता हो। उससे वृक्ष नष्ट तो नहीं और सघन अवश्य हो सकता है। वृक्ष के प्राण शाखाओं में नही हैं, वे तो जड़ों में हैं, उन जड़ों में जो कि भूमि के अंतर्गत हैं और दिखायी नहीं पड़ती हैं। उस जड़ों की प्रसुप्त आकांक्षाएं ही वृक्ष के रूप में प्रकट हुई हैं। उन जड़ों की आकांक्षाओं और वासनाओं ने ही शाखाओं का रूप लिया है। शाखाओं के छांटने से क्या होगा? ... वस्तुतः ही यदि जीवन क्रांति चाहते हैं, तो जड़ों तक चलना जरूरी है।
मनुष्य के आचरण की जड़ें, रूट्स अंतस में हैं। आचरण अंतस का अनुगामी है, उसका अग्रगामी नहीं। इसलिए आचरण को बदलने का प्रयत्न दमन, सप्रेशन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? और दमन क्या कोई परिवर्तन ला सकता है? दमन का क्या अर्थ है? दमन का अर्थ है, जो हमारे अंतस से सहज उठता है उसे उठने न दें, और जो नहीं उठता है उसे बलपूर्वक उठावें और प्रकट करें।
जो हम दबा देंगे वह कहां जायेगा? क्या हम उससे मुक्त हो जायेंगे? दमन
से मुक्ति कैसे आयेगी? वह तो हमारे भीतर ही बना रहेगा! यद्यपि अब उसे अपने जीवन के लिए और गहरे अंधेरे और अचेतन, अनकांशस तल खोजने पड़ेंगे। वह और गहरी गहराइयों में प्रविष्ट हो जायेगा। वह वहां छिपा रहेगा जहां हमारी दमन की चेतन आंखें उसे खोज न पावें। पर, गहरी बैठ गयी इन जड़ों के अंकुर तो फूटते ही रहेंगे--शाखाएं तो पल्लवित होती ही रहेंगी--और तब हमारे चेतन, कांशस और अचेतन, अनकांशस के मध्य एक ऐसे संघर्ष की शुरुआत हो जायेगी, जिसकी परिसमाप्ति केवल विक्षिप्तता में ही हो सकती है।
विक्षिप्तता, हमारी तथाकथित और थोथी नैतिकता पर खड़ी सभ्यता का परिणाम है। इसलिए जितनी सभ्यता, सिविलाइजेशन बढ़ती है, उतनी ही विक्षिप्तता बढ़ती है। और यह हो सकता है कि एक दिन हमारी पूरी सभ्यता विक्षिप्तता में परिणत हो जावे। विगत दो महायुद्ध इसी तरह की विक्षिप्तताएं, मेडनेस थे, और अब तीसरे और अंतिम की तैयारी चल रही है।
मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में जो विस्फोट होते हैं वे--और सामूहिक जीवन में भी हिंसा, बलात्कार, अनैतिकता और पाश्विकता के जो विस्फोट होते हैं वे--सभी दमन के परिणाम हैं। दमन के कारण मनुष्य सहज और सरल नहीं हो पाता है। फिर दमन का तनाव एक दिन उसे तोड़ ही देता है।

हां, वे जरूर इस अंतर्द्वंद्व से बच जाते हैं, जो पाखंड, हिपोक्रेसी
को अंगीकार कर लेते हैं। जो होते कुछ हैं और दिखाते कुछ हैं। और जो अपने भीतर किसी संघर्ष में नहीं, केवल बाहर अभिनय में होते हैं। पाखंड का जन्म भी, दमन आधारित नैतिकता से होता है। वह भी तथाकथित नीति का ही पुत्र है। वह अंतर्द्वंद्व से बचने का उपाय है।
मैंने कहा कि इस तथाकथित नैतिक जीवन में जो अंतस से सहज उठता है उसे
हम उठने नहीं देते हैं और जो नहीं उठता उसे प्रकट करते हैं। इसमें पहली प्रक्रिया से दमन आता है और दूसरी प्रक्रिया से पाखंड आता है। पहली प्रक्रिया का अंतिम परिणाम पागल है और दूसरी प्रक्रिया का अंतिम परिणाम पाखंडी है। ये दोनों ही परिणाम अच्छे नहीं हैं और दोनों में से कोई भी चुनने जैसा नहीं है। पर हमारी सभ्यता ये दो ही विकल्प उपस्थित करती है। हां, एक तीसरा विकल्प भी है। वह है पशु जैसे होने का। अपराधी का जन्म
उस विकल्प से होता है। उससे हम बचना चाहते हैं। पशु होने से हम बचना चाहते हैं तो हमारी सभ्यता उपरोक्त दो विकल्प देती है।
पशु होने का अर्थ है अपने को अचेतन प्रवृत्तियों, इंस्टिंक्ट्स के हाथ में पूर्णतया सौंप देना। यह भी असंभव है, क्योंकि जो अंश मनुष्य में चेतन हो गया है, वह अचेतन नहीं हो सकता है।
नशे में हम उसी अचेतना को खोजते हैं। नशे की तलाश पशु होने की आकांक्षा का प्रतीक है। पूर्ण बेहोशी में ही मनुष्य प्रकृति के, पशु के बिल्कुल अनुकूल हो सकता है। पर वह तो मृत्यु के ही तुल्य है। यह सत्य विचारणीय है--बहुत विचारणीय है, मनुष्य बेहोशी में पशु कैसे हो जाता है? और उसे पशु होना हो तो बेहोशी की खोज क्यों करता है?
यह सत्य इस बात की सूचना है कि मनुष्य में जो चेतना है, वह पशु-जगत का अंश नहीं है, वह प्रकृति का अंश नही है। चेतना प्रभु का अंश है। वह आत्मा की भावी संभावना है। वह बीज है जिसे मिटाना नहीं, बढ़ाना है। उसकी पूर्णता पर ही पूर्ण स्वतंत्रता, मुक्ति और आनंद संभव है!
फिर हम क्या करें? हमारी सभ्यता तीन विकल्प देती हैः पशु का विकल्प, पागल का विकल्प, पाखंड का विकल्प। क्या कोई चौथा विकल्प भी है?
मैं उस चौथे विकल्प को ही धर्म कहता हूं। वह पशु का, पागल का, पाखंड का नहीं, प्रज्ञा का मार्ग है। वह भोग का, दमन का, मिथ्याभिनय का नहीं, वास्तविक जीवन और ज्ञान का मार्ग है। उसके परिणाम में सदाचरण के फूल लगते हैं। उसके परिणाम में व्यक्ति का पशु विसर्जित होता है। अचेतन वासनाओं का दमन नहीं, उनसे मुक्ति होती है। और सदाचरण का अभिनय नहीं, वास्तविक जीवन पैदा होता है। वह किसी आवरण को, आचरण को आ.ेढना नहीं है--वह अंतस की क्रांति है। वह समाज का नहीं, स्वयं का समाधान है। वह हमारे संबंधों को नहीं, स्वयं हमें बदल देता है। और तब संबंध तो अपने आप बदल जाते हैं। वह हमारी निपट निजता में--वह जो मैं अपने आप में हूं--वहां क्रांति ला देता है। और तब शेष सब अपने आप परिवर्तित हो जाता है।
नीति सामाजिक है; धर्म नितांत वैयक्तिक है।
नीति आचरण है; धर्म अंतस है।
नीति परिधि है; धर्म केंद्र है।
नीति व्यक्तित्व, पर्सनलिटि है; धर्म आत्मा है।
नीति के आने से तो धर्म नहीं आता है, पर धर्म के आने से नीति अवश्य आ जाती है। नीति के आने से नीति ही नहीं आती है, तो धर्म कैसे आ सकता है? नीति दमन से, आरोपण से प्रारंभ होती है। धर्म ज्ञान से प्रारंभ होता है।
जीवन में अशुभता है, अशुद्धि है, असद है--इस स्थिति की मूल जड़ों को जानना होता है। यह अशुभ कहां और कैसे जन्म पाता है? मेरे भीतर कौन-सा केंद्र है जहां से विष उठते हैं और मेरे आचरण को विषाक्त कर देते हैं? मैं शुभ का विचार करता हूं, पर मेरे सारे विचारों को हटाकर अशुभ मुझे, मेरे व्यवहार और जीवन को क्यों घेर लेता है? वह वासना-शक्ति मेरे विचारों को निरंतर क्यों पराजित कर देती है?

यह स्वयं ही निरीक्षण करना होता है। दूसरों के उधार निष्कर्ष किसी काम नहीं आते हैं क्योंकि निरीक्षण में ही--स्वयं के निरीक्षण में ही--उस शक्ति और ऊर्जा का जन्म होता है जो उस केंद्र को विघटित कर देती है, जहां से अशुभ जन्म और पोषण पाता है। यह सतत निरीक्षण स्वयं ही साधना होता है, क्योंकि यह अशुभ को जानने की विधि मात्र ही नहीं है, वह निराकरण भी है। मैं जो भीतर हूं--जो मेरा अचेतन अंतस है, उसके निरीक्षण से, उसके प्रति सजग और जागरूक होने से मेरे अंधेरे तलों में प्रकाश पहुंचता है। और वह प्रकाश मेरे आचरण के मूल केंद्रों और जड़ों को ही--मुझे नहीं दिखाता है--वह उन्हें परिवर्तित करने लगता है।
यह बहुत ध्यान देने का सूत्र है। निरीक्षण से ज्ञान ही नहीं होता है, परिवर्तन भी होता है। असल में निरीक्षण ज्ञान लाता है और ज्ञान से परिवर्तन आता है। ज्ञान की क्रांति--जीवन क्रांति है।
यह ऐसे ही है जैसे मैं किसी वृक्ष की जड़ों को जानने के लिए भूमि को खोदूं और सारी जड़ों को प्रकाश में ले जाऊं। इससे मैं जड़ों से तो परिचित हो ही जाऊंगा, लेकिन साथ ही भूमि के अंधेरे को छोड़ने और भूमि से पृथक होने के कारण वे जड़ें मर भी जायेंगी। यहां मैं उनका निरीक्षण करूंगा और वहां उनकी शाखाएं कुम्हला जायेंगी।
निरीक्षण वासना की जड़ों की मृत्यु बन सकता है। प्रकाश को वे नहीं सह पाती हैं। अशुभ ज्ञान को नहीं सह पाती हैं। शायद, सुकरात ने जो कहा है कि ज्ञान ही शुभ है, नालेज इ.ज वरच्यू--उसका कोई और अर्थ नहीं है।
मैं भी यही कहता हूं: ज्ञान शुभ है, अज्ञान अशुभ है। प्रकाश नीति है, अंधकार अनीति है। निरीक्षण--सतत निरीक्षण--स्वयं का, स्वयं की अचेतन वृत्तियों का, चैतन्य को जगाता है और चेतना को अचेतन मन में प्रवेश मिलता है। अचेतन, मूर्च्छा, बेहोशी, नशा, प्रमत्तता इनसे चेतन में प्रवेश और चेतन पर अधिकार करता है।
यह हमने देखा कि पशु-प्रवृत्तियां, एनीमल इंस्टिंक्ट्स मूर्च्छा में
ही संभव होती हैं। क्रोध या काम मूर्च्छा में ही हमें पकड़ते हैं, और इसीलिए पशु जैसी वृत्तियों की तृप्ति के लिए मादक द्रव्य सहयोगी हो जाते हैं।
चेतना अमूर्च्छा से, अप्रमत्तता से, सजगता और जागरूकता से अचेतन मन में प्रवेश और अधिकार करती है। जितनी जागरूकता आती है, होश आता है--अपनी वृत्तियों और क्रियाओं, वासनाओं और विकारों का निरीक्षण और सम्यक स्मरण आता है--उतने ही हम चैतन्य से भरते जाते हैं। और वे वेग, वे प्रभाव, वे अंधे-अचेतन धक्के हममें अपने आप कम होते जाते हैं जिनके जीवन और अस्तित्व के लिए मूर्च्छा, निद्रा और बेहोशी आवश्यक है--जो कि बेहोशी के अभाव में हो ही नहीं सकते हैं।
यह स्मरण रहे कि आज तक किसी मनुष्य ने होश में कुछ भी बुरा नहीं किया है। सब पाप मूर्च्छा है और मूर्च्छा में हैं। मेरी दृष्टि में तो केवल मूर्च्छा ही पाप है। निरीक्षण मूर्च्छा को तोड़ता है। और इसलिए हम समझें कि निरीक्षण क्या है और कैसे संभव है?
स्व-निरीक्षण, सेल्फ-आब्जर्वेशन क्या है?
मैं शांत बैठ जाऊं--जैसा मैंने सम्यक स्मृति के लिए कल ही समझाया है--
और अपने भीतर जो भी होता है, उसे देखूं। वासनाओं, विचारों का एक जगत भीतर है। मैं उसका निरीक्षण करूं। मैं उसे ऐसे ही देखूं, जैसे कोई सागर तट पर खड़ा हो, सागर की लहरों को देखता है। कृष्णमूर्ति ने इसे निर्विकल्प सजगता, च्वाइसलेस अवेअरनेस कहा है। यह बिल्कुल तटस्थ निरीक्षण है। तटस्थ होना बहुत जरूरी है। तटस्थ का अर्थ है कि मैं कोई चुनाव न करूं, न कोई निर्णय करूं। न किसी वासना को बुरा कहूं, न भला कहूं।
शुभ-अशुभ का निर्णय न करूं। बस देखूं। जो है, उसका मात्र साक्षी बनूं-- जैसे मैं दूर खड़ा हूं, पृथक हूं और जानने-देखने के अतिरिक्त मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे ही प्रयोजन आता है, चुनाव आता है, निर्णय आता है, वैसे ही निरीक्षण बंद हो जाता है। मैं फिर निरीक्षण नहीं, विचार करता हूं।
विचार और निरीक्षण का यह भेद समझ लें।

विचार नहीं करना है। विचार चेतन की, चेतन के भीतर ही क्रिया है। निरीक्षण चेतन के द्वारा अचेतन में प्रवेश है। और जैसे ही विचार आया, शुभ-अशुभ का भेद आया, सूक्ष्म दमन प्रारंभ हो जाता है। अचेतन तब अपने द्वार बंद कर लेता है और हम उसके रहस्यों से परिचित होने से वंचित हो जाते हैं। अचेतन अपने रहस्य विचार को नहीं, निरीक्षण को खोलता है, क्योंकि दमन
के अभाव में उसके वेग और वृत्तियां सहजता से ऊपर आ जाते हैं, अपनी पूरी नग्नता में और अपनी पूरी सचाई में। और उन वेगों अैर वृत्तियों और वासनाओं को वस्त्र पहनने की आवश्यकता नहीं रहती है। अचेतन, नग्न और निर्वस्त्र सामने आ जाता है। और तब कैसी घबड़ाहट होती है? अपने ही भीतर के इस रूप को देखकर कैसा डर लगता है? आंखें बंद कर लेने का मन होता है और गहराई के इस निरीक्षण को छोड़ फिर वापस सतह पर लौट जाने की आकांक्षा आती है।
इस समय धैर्य और शांति की परीक्षा होती है। मैं इस क्षण को ही तप का क्षण कहता हूं। जो इस क्षण को साहस और शांति से पार कर लेते हैं, वे एक अदभुत रहस्य के और ज्ञान के धनी हो जाते हैं। वे वासनाओं की जड़ों को देख लेते हैं, वे अचेतन केंद्र-भूमि में प्रविष्ट हो जाते हैं। और यह प्रवेश अपने साथ एक अलौकिक मुक्ति लाता है।
सम्यक ध्यान से--निरीक्षण, निरीक्षण से--ज्ञान, ज्ञान से--मुक्ति, यह मार्ग है। यह धर्म का मार्ग है। यह योग है। मैं चाहता हूं कि आप इसे समझें और इस मार्ग पर चलें। फिर आप अंतस-क्रांति से आचरण परिवर्तन की कीमिया को समझेंगे। तब आपको दीखेगा कि नीति प्रथम नहीं है। प्रथम धर्म और नीति उसका परिणाम है। नीति नहीं, धर्म साधना है। नीति धर्म के पीछे वैसे ही चली आती है, जैसे बैलगाड़ी के पीछे उसके चाकों के निशान बनते चले आते हैं।
यह दीख जाये तो एक बहुत बड़ा सत्य दीख जाता है और एक बहुत बड़ा भ्रम भंग
हो जाता है। मैं मनुष्य के जीवन-परिवर्तन को इस आंतरिक क्रांति--अचेतन में चैतन्य के प्रवेश से देखता हूं। इस विज्ञान पर एक नये मनुष्य को जन्म दिया जा सकता है और एक नयी मनुष्यता और संस्कृति के आधार रखे जा सकते हैं।
ऐसा मनुष्य--इस आत्म-बोध से जागा हुआ मनुष्य सहज ही नैतिक होता है। नैतिकता उसे साधनी नहीं पड़ती है। वह उसकी चेष्टा और प्रयास नहीं होती है। वह उससे वैसे ही विकीर्ण होती है जैसे दीये से प्रकाश होता है। उसका सदाचरण उसके अचेतन के विरोध पर खड़ा नहीं होता। उनका आचरण उसके अंतस की समग्रता से आता है। वह अपने प्रत्येक कार्य में पूरा उपस्थित होता है। उसमें अनेकता नहीं, एकता, यूनिटी होती है। ऐसा व्यक्ति अखंड, इंटीग्रेटेड होता है। ऐसा व्यक्ति द्वंद्वमुक्त होता है। और आंतरिक द्वंद्वमुक्ति से जो संगीत सुना जाता है, वह इस लोक का नहीं है, वह इस काल का नहीं है। एक कालातीत अमृत संगीत उस शांति में, उस निर्द्वंद्वता में, उस निर्दोषता, इनोसेंस में, हममें प्रवेश करता है और हम उसके साथ एक हो जाते हैं।
मैं इस अनुभूति को ही ईश्वर कहता हूं।

साधना पथ
छठवां प्रवचन

नीति, समाज और धर्म

प्रश्नः क्या आप नैतिक होना बुरा समझते हैं?

--नहीं। नैतिक होना बुरा नहीं समझता हूं, पर नैतिक होने के भ्रम को अवश्य ही बुरा समझता हूं। वह वास्तविक नैतिकता के आने में बाधा बन जाता है।
मिथ्या-नैतिकता बाह्य आरोपण, कल्टीवेशन होती है। उससे दंभ की तृप्ति
के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है, और मेरी दृष्टि में दंभ--अहंकार से अधिक अनैतिक चित्त-स्थिति और कोई भी नहीं है। मिथ्या-नैतिकता विनय और निरहंकारिता का भी आरोपण कर लेती है। पर उसके पीछे अहंकार ही पोषित होता और फलता-फूलता है। क्या तथाकथित साधुओं और सज्जनों में, जो मैं कह रहा हूं, उस सत्य के दर्शन नहीं होते हैं?
तथाकथित, आरोपित, इमपोस्ड, चेष्टित, प्रयत्न-साध्य नैतिकता को मैं अभिनय, एक्टिंग कहता हूं। उसके बिल्कुल ही विपरीत व्यक्ति का अंतस-- अंतःकरण होता है। जो ऊपर दीखता है, वह भीतर नहीं होता है।
ऊपर फूल, भीतर कांटे होते हैं। आचरण से विरोधी और सतत संघर्षरत अंतस-चेतना और अचेतन के बीच एक अलंघ्य खाई व्यक्ति को विभाजित और खंडित कर देती है। ऐसे व्यक्ति के भीतर संगीत नहीं होता है। और जहां संगीत, हार्मनी नहीं है, वहां आनंद नहीं है। मैं वास्तविक नैतिक जीवन को आनंद से आविर्भूत मानता हूं।
नीति आनंद की स्फुरणा है--वह सहज स्फुरणा, स्पॉन्टेनियस एक्सप्रेशन है। आनंद जब अंतस से प्रवाहित होता है, तो वह बाहर के जगत में सदाचरण बन जाता है। आनंद की जो सुगंध बाहर फैल जाती है, वही शुभ जीवन है।
इसलिए मैं संघर्ष पैदा करने को नहीं, संगीत पैदा करने को कहता हूं। इस सत्य को देखो। मेरी बातों को केवल सुनो ही मत, उन्हें जीओ और तब आपको ज्ञात होगा कि जो जीवन संगीत और सौंदर्य का अखंड नृत्य हो सकता है, उसे हमने कैसे अपने ही हाथों संघर्ष और अंतर्द्वंद्व की अराजकता, अनार्की बना रखा है। नीति आती है, वह लायी नहीं जाती है--वैसे ही जैसे वृक्षों में फूल आते हैं। ध्यान के बीज बोने होते हैं, नीति की फसल काटी जाती है। नीति नहीं साधी जाती है, साधा जाता है ध्यान। ध्यान से शांति और संगीत और सौंदर्य का जन्म होता है। और जिसके भीतर शांति है, वह दूसरे को अशांत करने में असमर्थ हो जाता है। और जिसके भीतर संगीत है, उसके सान्निध्य से दूसरे में भी संगीत के स्वर प्रतिध्वनित होने लगते हैं। और जिसके भीतर सौंदर्य है, उसके आचरण से सारी कुरूपता, अग्लीनेस विलीन हो जाती है। क्या यही हो जाना नैतिक हो जाना नहीं है?

प्रश्नः आप नैतिकता को एक सामाजिक उपयोगिता कह रहे हैं! क्या व्यक्ति
के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं है?

नीति-आचरण, मोरेलिटी समाज के लिए मात्र एक उपयोगिता, युटिलिटी ही है,
पर व्यक्ति के लिए वह उपयोगिता नहीं, आनंद है। इसलिए समाज का काम मिथ्या- नैतिकता से भी चल जाता है, पर व्यक्ति के लिए वह काफी नहीं है।
समाज के लिए इतना पर्याप्त है कि आप दूसरों के लिए शुभ हैं--आपके लिए
यह पर्याप्त नहीं है। आपके लिए यह भी विचारणीय है कि आप अपने में शुभ हैं या नहीं हैं!
समाज का आपके व्यक्तित्व, पर्सनलिटी से संबंध है, आपकी अंतरात्मा से नहीं। पर स्वयं आपके लिए तो व्यक्तित्व वस्त्रों से ज्यादा नहीं है। आपका, आपकी सत्ता का--प्रारंभ तो वहां से होता है, जहां ये वस्त्र समाप्त होते हैं। व्यक्तित्व की खोल के पीछे और पृथक आपका होना है। वास्तविक नीति का जन्म वहीं होता है।

मिथ्या-नैतिक आचरण से निर्मित समाज का नाम सभ्यता, सिविलाइजेशन है-- वास्तविक जीवन को उपलब्ध व्यक्तियों के समाज का नाम संस्कृति, कल्चर है।
सभ्यता और संस्कृति का यही भेद है।
सभ्यता उपयोगिता है, संस्कृति आंतरिक आनंद और संगीत है। आज सभ्यता तो है, पर संस्कृति नहीं है। पर हम सब चाहें तो संस्कृति को मिलकर जन्म दे सकते हैं।
सभ्यता का जन्म अपने व्यवहार को शुद्ध करने से होता है। संस्कृति का जन्म अपने को शुभ करने से होता है। सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा है। जो अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित होते हैं, वे संस्कृति को उपलब्ध होते हैं।

प्रश्नः क्या धर्म सामाजिक नहीं है, नितांत वैयक्तिक है?

हां, धर्म नितांत वैयक्तिक है। समाज के पास कोई आत्मा--कोई चेतना- केंद्र नहीं है। समाज तो केवल हमारे अंतर्संबंधों, इंटर-रिलेशनशिप का समूह है। आत्मा व्यक्ति के पास है, इसलिए धर्म भी वैयक्तिक, इंडीविजुअल है।
धर्म मेरा संबंध, रिलेशनशिप नहीं है, धर्म मेरी सत्ता है। मैं अपने स्वभाव में, अपने स्वरूप में क्या हूं--उसका उदघाटन, उसका आविष्कार धर्म है।
धर्म आत्मज्ञान है। धर्म तो स्वयं सामाजिक नहीं है, अर्थात धर्म की साधना समूह से संबंधित नहीं होती है। किंतु, धर्मानुभूति का प्रकाश जरूर समूह और समाज पर पड़ता है। धर्म की साधना वैयक्तिक है, पर परिणाम उसका सामाजिक भी होता है।
व्यक्ति अंतस-प्रकाश से भरता है तो उसका आचरण भी प्रकाश से भर जाता है। अंतस वैयक्तिक है, पर आचरण सामाजिक है।
साधना कभी भी सामूहिक नहीं हो सकती है, क्योंकि स्वयं को किसी के साथ नहीं, अकेले में और अकेले होकर ही जानना होता है। प्लोटिनस ने कहा हैः "वह अकेले ही अकेले के लिए उड़ान है, फ्लाइट आफ द अलोन टु द अलोन। सच ही, वह उड़ान बड़ी अकेली है--बड़ी असंग है। पर उस उड़ान से मिले आनंद से निश्चित ही दूसरे भी संक्रामित होते हैं और दूसरे भी आंदोलित होते हैं। जो एकांत में और अकेले में पाया जाता है, उसकी सुगंध जरूर दूर-दिगंत तक परिव्याप्त हो जाती है।

प्रश्नः ईश्वर क्या है?

ईश्वर व्यक्ति नहीं है, अनुभूति है। अहं-केंद्र के विसर्जन पर जो विश्व का दर्शन होता है, उस दर्शन, उस अनुभव को ही मैं ईश्वर कहता हूं। ईश्वर की कोई अनुभूति नहीं होती है, वरन सर्व-पूर्ण-प्रेम की उस अनुभूति का नाम ही ईश्वर है। जिसका कोई केंद्र नहीं है, जो कि समस्त सत्ता ही है--सर्वसत्ता ही जिसका केंद्र है।
ईश्वर की अनुभूति कहना ठीक नहीं, कहें कि पूर्ण प्रेम की अनुभूति का नाम ही ईश्वर है।
प्रेम, लव दो व्यक्तियों के बीच का संबंध है। वही संबंध जब मेरे और सर्व के बीच होता है, तो उसको मैं ईश्वर, गॉड कहता हूं।
प्रेम की चरम स्थिति--पूर्णता ही परमात्मा है।
क्राइस्ट का वचन मुझे याद आता हैः "प्रेम ही परमात्मा है, लव इ.ज गॉड।" "मैं" जब विसर्जित हो जाता है तब जो शेष रह जाता है, वह प्रेम है।
"मैं" की चार-दीवारी के गिर जाने पर जो बच रहता है, वह प्रेम है। वही ईश्वर भी है।
इसलिए ईश्वर को जाना तो नहीं जा सकता है, पर ईश्वर हुआ जा सकता है।

प्रश्नः आपने कहा, यह जीवन नहीं है यह तो मृत्यु की ही एक लंबी क्रिया है। आपका इससे क्या अर्थ अभिप्रेत है?

सच ही जिसे हम जीवन जानते हैं, वह जीवन नहीं है। वह जीवन हो तो उसकी परिसमाप्ति मृत्यु पर कैसे हो सकती है? जीवन और मृत्यु तो विरोधी सत्य हैं, फिर जीवन की पूर्णता मृत्यु कैसे हो सकती है? मृत्यु जीवन का नहीं, जन्म का अंत है। और वह अंत में आती है, इसलिए हम यह न समझें कि वह अंत में ही आती है। वह तो जन्म में ही उपस्थित है। वह तो उसी दिन से प्रारंभ हो जाती है, जिस दिन से जन्म होता है।
जन्म के बाद हम प्रतिक्षण मरते जाते हैं। यह मरण-प्रक्रिया जिस दिन पूर्ण हो जाती है, उसे हम मृत्यु कहते हैं। वह जो जन्म में बीज-रूप में उपस्थित थी, वही अंत में पूर्ण रूप में प्रकट होती है। इसलिए जन्म के बाद और कुछ भी निश्चित नहीं है, पर मृत्यु अवश्य निश्चित है। वह इसलिए निश्चित है, क्योंकि उसका तो आगमन जन्म के साथ ही हो गया है। जन्म उसका ही दूसरा नाम है, उसका ही बीजरूप है। इसे समझना। आप जिस दिन पैदा हुए, उसी दिन से निरंतर मर रहे हैं। इसलिए मैं कहता हूं कि जिसे हमने जीवन जाना है, वह जीवन नहीं, वरन क्रमिक और धीमी मृत्यु की एक लंबी प्रक्रिया है।
हम जीवन से नहीं, इस क्रमिक मृत्यु से ही परिचित होते हैं और इसलिए पूरे समय इससे बचाव में लगे रहते हैं। हमारे सारे आयोजन सुरक्षा, सिक्योरिटी और आत्मरक्षण, सेल्फ-डिफेन्स के हैं। हम क्या कर रहे हैं? क्या निरंतर मृत्यु से बचाव में ही नहीं लगे हुए हैं? मनुष्य इस बचाव के लिए ही धार्मिक भी हो जाता है। इसीलिए मृत्यु की सन्निकटता को अनुभव कर लोग धार्मिक होने लगते हैं। वृद्धों की धार्मिकता अधिकतर ऐसी ही होती है। इसे वास्तविक धार्मिकता नहीं कहता हूं, यह भी मृत्यु-भय का ही एक रूप है। यह सुरक्षा का अंतिम उपाय, सेफ्टी मे.जर है। वास्तविक धार्मिकता का जन्म मृत्यु भय से नहीं, जीवनानुभव से होता है।
यह जानना है कि अभी हम जो भी जान रहे हैं, वह सब मृत्यु है। इस मृत्यु
का ज्ञान अमृत में ले जाता है। शरीर मर जाता है-- प्रतिक्षण मर रहा है। इस देह के प्रति सजग होने से-- इस मरणधर्मा देह के प्रति जागने से उसका अनुभव प्रारंभ होता है जो कि देह नहीं है। उसे जान लेना जो कि देह नहीं है, वास्तविक जीवन को जान लेना है, क्योंकि उसका कोई जन्म नहीं हुआ है और इसलिए उसकी मृत्यु नहीं होती है। यह सत्य जन्म के पूर्व था और मृत्यु के बाद भी रहेेगा। वही जीवन है। वह जन्म और मृत्यु के बीच में नहीं है, वरन जन्म और मृत्यु उसके बीच में घटी घटनाएं हैं।
ध्यान की अवस्था में, जब चित्त शून्य और शांत होता है, तब देह से अन्य
और भिन्न तत्व का दर्शन होता है। चित्त की अशांति के कारण उसका दर्शन नहीं हो पाता है। जैसे किसी झील पर लहरें हों तो उसके कारण उसके भीतर झांकना असंभव होता है, वैसे ही चित्त पर विचार-तरंगों के सतत प्रवाह के कारण जो अंदर छिपा है, वह छिपा ही रह जाता है और हम अपनी सतह को ही सब सत्य समझ लेते हैं।
यह शरीर जो कि केवल मेरा आवास है, मेरा सब-कुछ प्रतीत होने लगता है। यही मेरी सत्ता और मेरे जीवन का भ्रम देने लगता है। मैं शरीर पर ही अपने को समाप्त मान लेता हूं। यह देह-तादात्म्य, आइडेंटिटी ही--देह के साथ एकात्मकता का यह आभास ही--वास्तविक जीवन को नहीं जानने देता है और हम देह की क्रमिक मृत्यु को, समय में घटित हो रही प्रक्रिया को ही जीवन समझ लेते हैं। अपने घर के बनने और मिटने को जैसे कोई अपना बनना और मिटना समझ ले, ऐसी ही यह भूल है।
यह अंधकार चित्त-शांति पर टूटता है। अशांति ने जो भ्रम दिया था, शांति उसे विसर्जित कर देती है। तरंगों ने जिसे छिपाया था, निस्तरंगता, वेवलेसनेस उसे उघाड़ देती है। और तब हम पहली बार इस देह-घर के निवासी को जानते हैं। उसे जानते ही मृत्यु पुराने वस्त्रों के बदलने से ज्यादा नहीं रह जाती है, और जन्म नये वस्त्रों का ग्रहण हो जाता है। और, तब वह जीवन जाना जाता है जो कि सब वस्त्रों से भिन्न है।
मैं उस व्यक्ति को ही जीवित कहता हूं जो ऐसे जीवन को जानता है; अन्यथा
हम सब मृत हैं। जिन्होंने देह को ही अपना होना जाना है, वे अभी मृत ही हैं।

अभी उनका वास्तविक जीवन प्रारंभ नहीं हुआ है। वे एक स्वप्न में हैं, और निद्रा में हैं, और एक मूर्च्छा में हैं। इस मूर्च्छा से जागे बिना--शरीर-मूर्च्छा से जागे बिना वे उसे नहीं जान सकेंगे जो वे स्वयं हैं, जो उनकी सत्ता है, जो कि उनका आधार है, जो कि उनका जीवन है।
यह संसार मृतकों से भरा है--जीवित-मृतकों, लिविंग डेड से भरा है। और उनमें से अधिक मृत ही मर जाते हैं। वे मृत्यु से अपनी रक्षा में ही व्यस्त हो जाते हैं। और इस व्यस्तता में उसे जान ही नहीं पाते हैं, जो कि उनके भीतर था, जो कि अमृत था, जिसकी कोई मृत्यु नहीं है।

प्रश्नः आपकी इस बात से मुझे दीख रहा है कि मैं मृत हूं, तब मैं जीवन
को पाने के लिए क्या करूं?

मित्र! मेरी बात से दीख रहा है तो उसका कोई भी मूल्य नहीं है, बातों को छोड़ दो--मेरी भी, औरों की भी! और फिर देखो।
आपको स्वयं दीखना चाहिए। वह दर्शन ही जीवन की ओर ले जाने का मार्ग बन जायेगा और तब आपको "जीवन पाने के लिए क्या करूं?" यह नहीं पूछना पड़ेगा। जिसे यह दर्शन होगा कि मैं मृत हूं, मेरा अब तक का होना--मेरा अब तक का व्यक्तित्व, यह सब मृत्यु ही है, तब उसे साथ ही साथ उसके भी दर्शन होने लगेंगे, जो कि मृत्यु नहीं है।
पर यह दीख सके उसके लिए चित्त की अशांति का विसर्जित होना आवश्यक है। चित्त शांत हो, शून्य हो, निर्विचार हो, तो दर्शन होता है। अभी सब विचार है, दर्शन कुछ भी नहीं है। मेरी बात ठीक लगी, यह भी एक विचार है। इस विचार से कुछ भी नहीं होगा। विचार सत्य को नहीं उघाड़ता है, क्योंकि सब विचार पराये हैं। वे तो सत्य को और भी ढंक लेते हैं।
क्या इस बात पर कभी दृष्टि गयी है कि आपके पास जितने विचार हैं, सब पराये और उधार हैं? यह पूंजी झूठी है। इस पर विश्वास मत कर लेना, क्योंकि यह कोई पूंजी ही नहीं है। इस पर खड़े किये भवन स्वप्न में बनाये गये भवनों जैसे हैं, वे ताश के पत्तों से बनाये गये घरों जितना भी सत्य नहीं हैं। मैं आपको कोई विचार नहीं देना चाहता हूं। मैं आपको उधारी से नहीं भरना चाहता हूं। मैं तो चहता हूं कि आप विचारें नहीं, जागें। मैं तो चाहता हूं कि आप विचार छोड़ें और फिर देखें--फिर देखें कि क्या होता है! विचार से दर्शन पर चलें, वही सत्य पर और उस सत्य-संपत्ति पर पहुंचाता है जो कि आपकी अपनी है।
विचार छोड़कर देखना, सीइंग विदाउट थिंकिंग--कैसे रहस्य के पर्दों को गिरा देता है, यह तो स्वयं बिना किये नहीं जाना जा सकता है। स्मरण रखें कि इस जगत में ऐसी कोई भी मूल्यवान अनुभूति नहीं है जो कोई दूसरा आपको दे सके, और जो भी दिया जा सकता है, वह न तो मूल्यवान होता है और न ही अनुभूति होती है।
बस वस्तुएं ही ली-दी जा सकती हैं। जीवित अनुभूतियों को लेने-देने का कोई उपाय नहीं है। न महावीर, न बुद्ध, न कृष्ण, न क्राइस्ट--कोई भी आपको कुछ भी नहीं दे सकते हैं। और जो उनके विचारों को पकड़ लेते हैं, और जो उनके विचारों को ही सत्य समझ लेते हैं, वे स्वयं सत्य को जानने से वंचित रह जाते हैं। दूसरे का सत्य नहीं, स्वयं का सत्य ही मुक्त करता है।
गीता को, कुरान को, बाइबिल को कंठस्थ कर लो, उससे कुछ भी नहीं होगा। उससे ज्ञान नहीं आयेगा, उल्टे वे विचार आपके स्व-ज्ञान की क्षमता को आवृत्त ही कर लेंगे और आप स्वयं सत्य के सामने सीधे नहीं खड़े हो सकेंगे और शास्त्रों से स्मृति में आ गये शब्द सदा ही बीच में खड़े हो जायेंगे। वे धुंध और कुहासा पैदा करेंगे और "जो है" उसका दर्शन असंभव हो जायेगा।
सत्य और अपने बीच से सब अलग कर लेना आवश्यक है। सत्य को जानने को किसी विचार के सहारे की जरूरत नहीं है। सब हटा दो, तब आप खुलोगे, तब द्वार, ओपनिंग मिलेगा कि सत्य आपमें आ सके और आपको परिवर्तित कर सके। विचार छोड़ो--और देखो; द्वार खोलो--और देखो। बस, इतना ही मेरा कुल कहना है।

प्रश्नः क्या शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक नहीं है?

शास्त्रों के अध्ययन से क्या होगा? उस तरह ज्ञान थोड़े ही आता है, केवल स्मृति प्रशिक्षित होती है। आप कुछ बातें सीख लेते हैं, पर क्या सीख लेना, लर्निंग और जान लेना, नोइंग एक ही बात है? ईश्वर, आत्मा, सत्य सब सीख लिया जा सकता है? आप बंधे बंधाये उत्तर देने में समर्थ हो जाते हो। पर इसमें और सुबह आपके घर का तोता जो बोलता है, उसमें क्या कोई भेद है?
शास्त्रों में सत्य नहीं, सत्य तो स्वयं में है। शास्त्रों में तो केवल शब्द हैं और स्वयं में उस सत्य को जान लिया जावे तो ही वे शब्द सार्थक हैं, अन्यथा निरर्थक ही नहीं, घातक भी हैं। शास्त्रों को जानकर सत्य नहीं जाना जाता है। हां, जानकर शास्त्र अवश्य जान लिये जाते हैं।
पर, मैं क्या देखता हूं कि सत्य की जगह शास्त्र जाने जा रहे हैं और उस जानकारी से तृप्ति भी पायी जा रही है। यह तृप्ति कितनी थोथी और मिथ्या है। क्या यह इस बात की सूचना नहीं है कि हम सत्य को तो नहीं जानना चाहते हैं, हम केवल इतना ही चाहते हैं कि लोग जानें कि हम सत्य को जानते हैं। यदि हम वस्तुतः सत्य को जानना चाहते तो मात्र शब्दों से तृप्ति नहीं हो सकती थी। क्या कभी सुना है कि मात्र "जल" शब्द से किसी की प्यास शांत हुई हो? और यदि शांत हो जावे तो क्या ज्ञात नहीं होगा कि प्यास थी ही नहीं?
शास्त्रों से एक ही बात ज्ञात हो जावे कि शास्त्रों से सत्य नहीं मिल सकता है, तो यही बस उनकी एकमात्र उपादेयता है। शब्द इतना बता दे कि शब्द व्यर्थ है तो पर्याप्त है। शास्त्र तृप्त नहीं, अतृप्त कर दें तो काफी है। उनसे ज्ञान तो न मिले, अपने अज्ञान का बोध हो तो वह बहुत है।
मैं भी शब्द ही बोल रहा हूं; ऐसे शास्त्र बन जाते हैं। इन शब्दों को पक.ड़ लें, तो सब व्यर्थ हो जायेंगे। इन्हें कितना भी याद कर लें तो कुछ भी न होगा। ये भी आपके मन पर कारागृह बन जायेंगे। और फिर आप जीवन भर उस स्वनिर्मित शब्द-कारा में ही भटकते रहेंगे। हम सब अपने ही हाथों से बनायी कैदों, प्रि.जन्स में बंद हैं। सत्य को जानना है तो शब्द की कैद को तोड़ दें। इन दीवारों को गिरा दें; जानकारी, इन्फरमेशन की घेराबंदी को राख हो जाने दें। उस राख पर ही ज्ञान, नालेज का जन्म होता है और उस कारा-मुक्त चैतन्य में ही सत्य का दर्शन होता है। सत्य तो आता है, पर वह आ सके इसके लिए अपने में जगह बनानी होती है। शब्दों को हटा दें तो उसी रिक्त स्थान, स्पेस में उसका पदार्पण होता है।

प्रश्नः क्या व्यक्ति स्वयं से संघर्ष और स्वयं का दमन करके कभी अपने
को नहीं जीत सकता है?

स्वयं से संघर्ष और स्वयं के दमन का अर्थ क्या है? क्या यही अर्थ नहीं
है कि व्यक्ति अपने आपको दो में तोड़ ले? वह अपने में ही लड़ेगा न? वही पक्ष होगा, वही विपक्ष होगा? शत्रु और मित्र वही होगा न? दोनों ही ओर उसकी शक्ति ही लगेगी। इससे जीत कभी नहीं हो सकती है; केवल उसकी शक्ति क्षीण और कम ही होगी। मैं जैसे अपने ही दोनों हाथों को लड़ाऊं तो क्या होगा? स्वयं से लड़ने से भी वही हो सकता है। इस तरह का संघर्ष एकदम ही अबुद्धिपूर्ण है।
मित्र! स्वयं से लड़ना नहीं, स्वयं को जानना है। स्व-अज्ञान के कारण जो असंगतियां और स्व-विरोध हममें पैदा हुए हैं, वे स्व-ज्ञान के प्रकाश में वैसे ही वाष्पीभूत हो जावेंगे, जैसे सुबह सूरज के निकलने पर दूब पर जमे ओसकण विलीन हो जाते हैं। आत्म-विजय संघर्ष से नहीं, ज्ञान से आती है। क्योंकि वहां कोई अन्य है ही नहीं, जिसे पराजित करना है। अन्य नहीं है, अज्ञान है। और अज्ञान को हराना क्या है, ज्ञान के आते ही वह नहीं पाया जाता है। वह केवल अभाव है, ज्ञान की अनुपस्थिति है। उससे जो लड़ता है, वह छाया से लड़ता है। वह प्रारंभ से ही असफल होने के मार्ग पर चल रहा है।
आत्म-विजय के लिए संघर्ष की यह धारणा बाहर के जगत में शत्रुओं से युद्ध की धारणा के आधार पर ही विकसित हुई है। बाहर जो हिंसा शत्रु के प्रति हम करते हैं, उसी आधार पर भीतर भी हम हिंसा करना चाहते हैं। कैसा

पागलपन है! हिंसा तो बाहर भी कभी किसी शत्रु को नहीं जीत सकी है। पराजित करना बिल्कुल दूसरी बात है। पर भीतर तो जिसे हम शत्रु मान रहे हैं, उसे हिंसा से पराजित भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वहां तो दूसरा कोई है ही नहीं जो पराजित भी हो सके। आत्म-विजय संघर्ष का परिणाम नहीं है, वह ज्ञान का परिणाम है।
मैं कहता हूंः लड़ो नहीं, जानो; युद्ध नहीं, ज्ञान। यही सूत्र समझो। अपने को उघाड़ो और जानो।
स्वयं के भीतर ऐसा कुछ भी न रहे जो कि अनजाना है। अपने भीतर ऐसा कोई कोना न रह जावे जो कि अंधेरा है और अपरिचित है। यदि इतने सारे अंतः कक्षों से परिचित हो जाऊं तो वही परिचय आत्म-विजय बन जाता है। अंधेरे घरों में, कोनों में और तलघरों में जहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता है और हवाओं के ताजे झोंके नहीं पहुंचते हैं, वहां सांप, बिच्छू और चमगादड़ अपना आवास बना लेते हैं। और ऐसे घरों के वासी यदि अपने भवनों के बाहर ही जीवन गुजार देते हों और कभी घरों में प्रवेश ही न करते हों, तो क्या उनके आवासों की यह दुर्दशा आश्चर्यजनक है या कि अस्वाभाविक है? यही हमारे साथ हुआ है।
हम भी ऐसे ही घरों के मालिक हैं जो कि अपने ही घरों में भीतर जाने का रास्ता भूल गये हैं, और जिनके घरों में प्रकाश के अभाव में और स्वयं की अनुपस्थिति के कारण उनके ही शत्रु अतिथि बने हुए हैं।

प्रश्नः आप कहते हैं कि असद वृत्तियों का दमन घातक है, तब क्या उनका भोग ठीक है?

मैं दमन को भी नहीं कहता हूं, मैं भोग को भी नहीं कहता हूं, मैं उनके ज्ञान को कहता हूं। भोग और दमन दोनों अज्ञान हैं, दोनों घातक हैं। दमन भोग की ही प्रतिक्रिया है व उसका ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। वह उससे बहुत भिन्न नहीं है। वह उल्टा होकर वही है।
किसी साधु के संबंध में कोई मुझे बताता था कि वे धन को देखकर दूसरी ओर मुंह कर लेते हैं। क्या यह धन को देखकर मुंह में पानी भर आने से बहुत भिन्न है? लोभ से भागने से यही होगा--लोभ मिटेगा नहीं, विपरीत रूप ले लेगा और सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि वह विपरीत रूप में भी उतना का उतना ही बना रहेगा और कहीं ज्यादा सुरक्षित रूप में, क्योंकि अब वह स्वयं को दीखना भी बंद हो जायेगा। वह तो रहेगा ही और अलोभ का भ्रम भी आ जायेगा। यह एक शत्रु को निकाले जाकर दो को आमंत्रण दे आने जैसा है।
मैं चाहता हूं कि हम लोग काम, क्रोध को जानें--उनसे लड़ें भी नहीं, उनका अंधानुकरण भी न करें। उनके प्रति होश से भरें--उनका निरीक्षण, उनकी पूरी यांत्रिक प्रक्रिया और रूप से परिचित हों।
क्या कभी देखा है कि क्रोध को देखें तो वह विलीन हो जाता है? पर हम या
तो भोग में लग जाते हैं, या दमन में लग जाते हैं। दोनों ही स्थितियों में, दोनों ही विकल्पों में उसे देख नहीं पाते हैं।
वह अनदीखा और अपरिचित ही रह जाता है। यही भूल है। और भोग या दमन दोनों
ही इस भूल में सहयोगी हैं।
उन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा विकल्प भी है। वही मैं सुझाना चाहता हूं। वह है वृत्तियों के दर्शन का--उन्हें देखने का। उनके साथ कुछ करने का नहीं, बस केवल उन्हें देखने का। इस भांति जब आंख उन पर स्थिर होती है, तो पाया जाता है कि वे विलीन और विसर्जित हो रही हैं। वे आंख को नहीं सह पाती हैं। वे केवल मूर्च्छा में ही संभव हैं। सजग चेतता में वे मर जाती हैं और निष्प्राण हो जाती हैं। हमारी मूर्च्छा ही, हमारा उन्हें न देखना ही उनका जीवन है। वे अंधेरे के कीड़े-मकोड़ों की तरह हैं। प्रकाश आते ही उनके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं।

साधना पथ
सातवां प्रवचन

"स्व" की अग्नि परीक्षा

मैं दूसरों की दृष्टि में क्या हूं, यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि मैं अपनी स्वयं की दृष्टि में क्या हूं! पर हम दूसरों की दृष्टि से ही स्वयं को भी देखने के आदी हो जाते हैं, और भूल जाते हैं कि स्वयं को सीधा, डायरेक्ट और प्रत्यक्ष, इमिजिएट देखने का भी एक रास्ता है और वही रास्ता वास्तविक भी है, क्योंकि वह परोक्ष नहीं है। पहले तो हम स्वयं ही दूसरों को दिखाने के लिए अपना एक रूप, एक आवरण बना लेते हैं और फिर दूसरों को जैसे दीखते हैं, उस पर ही स्वयं के संबंध में भी धारणा कर लेते हैं।
ऐसी आत्म-प्रवंचना, सेल्फ डिसेप्शन, मनुष्य जीवनभर करता रहता है। धार्मिक जीवन के प्रारंभ के लिए इस आत्म-प्रवंचना पर ही सबसे पहले आघात करना होता है।
मैं जैसा हूं और जो हूं उसे सारी आत्म-प्रवंचनाओं को तोड़कर, पूरी नग्नता, नेकेडनेस में जानना आवश्यक है, क्योंकि उसके बाद ही जीवन-साधना की किसी वास्तविक दिशा में चरण उठाये जा सकते हैं। स्वयं के संबंध में असत्य धारणाओं के रहते--स्वयं के अभिनय-व्यक्तित्व को वास्तविक समझने की भ्रांति के रहते--मनुष्य सत्य के जगत में प्रवेश नहीं कर सकता है।
इसके पूर्व कि हम परमात्मा को जानें या कि स्व-सत्ता को या कि सत्य को--हमें उस काल्पनिक व्यक्ति को अग्निसात कर ही देना होगा जो कि हमने स्वयं अपने ऊपर ओढ़ लिया है। यह धोखे की खाल हमें नाटकीय जीवन के ऊपर जो वास्तविक जीवन है, उस तक नहीं उठने देती है। सत्य में चलना है, तो इस नाटक से जागना आवश्यक है।
क्या आपको कभी ऐसा नहीं लगता है कि आप एक नाटक कर रहे हैं? क्या कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि आप भीतर कुछ हैं और बाहर कुछ हैं? क्या किसी अमूर्च्छित क्षण में इस वंचना का बोध आपको पीड़ा नहीं देता है? यदि आपमें इस संबंध में प्रश्न उठता है और पीड़ा उठती है तो वही संभावना है जो आपको नाटक के बाहर ले जा सकती है--रंगमंच से उस पृष्ठभूमि में जहां आप किसी अभिनय के पात्र नहीं, बल्कि स्वयं आप हैं।
मैं अपने आपको जो भी समझ रहा हूं कि मैं हूं, वह क्या वस्तुतः मैं हूं? --यह अपने से पूछना आवश्यक है। इस प्रश्न को हमारी गहराइयों में प्रतिध्वनित होना चाहिए। वह इतनी तीव्रता और सजगता से हमारे भीतर ख.ड़ा हो कि भ्रम की कोई संभावना न रहे। इस प्रश्न, इस जिज्ञासा, इस अंतर्खोज के परिणाम में एक अभूतपूर्व जागरण और चेतना आती है, जैसे किसी ने हमें नींद से जगा दिया हो। और तब दिखाई पड़ता है कि हमने जो महल खड़े किये थे वह स्वप्न में थे और हमने जो नावें चलायी थीं वे झूठी थीं।
सारा जीवन ही तब असत्य दिखता है, जैसे वह अपना नहीं किसी और का ही हो। वस्तुतः वह अपना है भी नहीं। वह कोई अभिनय है जो हम पूरा कर रहे हैं--ऐसा अभिनय जो हमारी शिक्षा, दीक्षा, संस्कार, परंपरा और समाज ने हमें सिखा दिया है, लेकिन जिसकी जड़ें हममें नहीं हैं।
यदि किसी गुलदस्ते में सजे फूल अनायास जाग जावें तो उन्हें जैसे ज्ञात हो कि उनकी कोई जड़ें नहीं हैं, ऐसा ही हमें भी जागने पर ज्ञात होना अवश्यम्भावी है। हम व्यक्ति नहीं, केवल धोखा हैं--जड़हीन, भूमिहीन, अधर में लटके हुए किसी कथा के पात्र हैं--किसी स्वप्न-कथा के, जिनका वस्तुतः कोई होना नहीं है।
मैं इस स्वप्न में आपको डूबा और चलता हुआ देखता हूं। आपके सारे कार्य निद्रित हो रहे हैं। आपकी सारी क्रियाएं सोयी हुई हैं। पर सोने से जागना हो सकता है। निद्रा और मृत्यु में यहीं तो भेद है। एक से जाग सकते हैं, दूसरे से जाग नहीं सकते हैं।
निद्रा कितनी भी गहरी हो, तो भी जागरण उसकी संभावना, पॉसिबिलिटी है--
वह उसमें प्रसुप्त बीज, पोटेंशियलिटी है।

मैं स्वयं के आमने-सामने हो सकूं तो बहुत से भ्रम भंग हो जाते हैं, जैसे किसी ने अपने आपको बहुत सुंदर मान रखा हो और वह पहली बार दर्पण के सामने आ जावे।
जैसे शरीर को देखने का दर्पण है, वैसे ही स्वयं को देखने का दर्पण भी है। मैं उसी दर्पण, मिरर की चर्चा कर रहा हूं। वह दर्पण स्व-निरीक्षण, सेल्फ आब्जर्वेशन का है।
क्या आप अपने आपके सत्य को देखना चाहते हैं? क्या उस व्यक्ति से मिलना चाहते हैं, जो कि आप हैं?
और क्या, इस संभावना को जानकर कि स्वयं के नग्न-रूप को जाना जा सकता है, आपको डर नहीं मालूम होता है? वह मालूम होना बहुत स्वाभाविक है। उसके कारण ही तो हम स्वयं के संबंध में नये-नये स्वप्न गढ़ते रहते हैं, और उसे भुलाये रहते हैं जो कि हमारी वास्तविकता है। पर ये स्वप्न साथी नहीं हो सकते हैं। उनके सहारे कहीं भी पहुंचना नहीं होता है। वे केवल उस समय को और उस अवसर को नष्ट करते हैं, जिससे कि कहीं पहुंचा जा सकता था।
आप सोचते होंगे कि मैं स्वयं की इस नग्नता, कुरूपता और रिक्तता को देखने के लिए क्यों इतना आग्रह कर रहा हूं? क्या यह अच्छा नहीं है कि जो देखने-योग्य नहीं है, उसे देखा ही न जावे? और क्या यह शुभ और सुंदर नहीं है कि जो कुरूप है उसे हम आभूषणों से ढांक दें और जो दर्शनीय नहीं है, उसे पर्दों में छिपा दें?
साधारणतः हम यही करते हैं। यही रिवाज है। यही प्रचलन है। पर यह प्रचलन बहुत आत्मघाती है, क्योंकि हम जिन घावों को छिपा लेते हैं, वे छिपाने से मिटते नहीं हैं, वरन और भी घातक हो जाते हैं। और हम जिन कुरूपताओं को ढांक लेते हैं, वे नष्ट नहीं होतीं, वरन हमारे समस्त व्यक्तित्व के अंतःस्रोतों में प्रविष्ट हो जाती हैं।
ऊपर झूठी सुगंधियां हम छिड़कते रहते हैं और भीतर दुर्गंध का राज्य हो जाता है। और फिर एक दिन कोई भी सुगंध काम नहीं देती है, और भीतर की दुर्गंध बाहर आने लगती है। और एक दिन कोई आभूषण काम नहीं देते हैं और कुरूपता उन्हें फोड़कर बाहर निकल आती है।
मैं सुगंध छिड़कने के नहीं, दुर्गर्ंध का अंत करने के पक्ष में हूं। मैं आभूषणों और फूलों से कुरूपता को ढांकने के पक्ष में नहीं, उसे आमूल नष्ट कर, सौंदर्य और संगीत को अंतस में जगाने के पक्ष में हूं। वह न हो, तब सब व्यर्थ है। सारी चेष्टाएं व्यर्थ हैं। सारा श्रम रेत से तेल निकालने जैसा है।
और इसलिए जो ढंका है, उसे मैं स्वयं के समक्ष उघाड़ने को कहता हूं। अपने को उघाड़ो और अपने को जानो। स्वयं से भागो मत। स्वयं से पलायन, एस्केप भी संभव नहीं है। भागकर जाओगे कहां? जो आप हो, वह तो साथ ही होगा। उसे बदला जा सकता है, पर उससे भागा नहीं जा सकता है।
इस परिवर्तन-शृंखला की प्राथमिक कड़ी स्व-निरीक्षण है।
और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि कुरूपता का जानना, कुरूपता से मुक्त हो जाना है। स्वयं के भय को जानना, भय से मुक्त हो जाना है। घृणा को जानना, घृणा से मुक्त हो जाना है।
उन पर दृष्टि नहीं है, इसलिए वे हैं। हम उनसे भाग रहे हैं, इसलिए वे हमारे पीछे हैं। हम रुकें तो वे रुक जावें, वैसे ही जैसे स्वयं के भागने के साथ स्वयं की छाया भागती है और रुकने के साथ रुक जाती है।
और यदि हम उनका निरीक्षण करें तो सारा दृश्य ही बदल जाता है। जिन्हें हमने भूत-प्रेत समझा था, वे हमारी छायाएं मात्र थीं! हम भागते थे, इसलिए वे भूत-प्रेत हमारा पीछा करते और हमें भगाते थे। उनके प्राण उनमें नहीं, हमारे भागने में थे! रुकते ही वे निष्प्राण हैं, निरीक्षण करते ही वे भूत-प्रेत भी नहीं हैं, वे मात्र छायाएं हैं। और निश्चय ही छायाएं, शेडो.ज तो कुछ भी नहीं कर सकती हैं।
कुरूपता की छाया थी, उसे ढांकने को फूलों के वस्त्र पहनाये थे--ऐसे एक भ्रांति को जन्म दिया था। अब जब दिखता है कि वहां केवल छाया ही है, और वस्त्र पहनाने अनावश्यक हो जाते हैं, तो छाया से मुक्ति होती है और उसका

बोध होता है, जिसकी कि वह छाया थी। यही बोध सुंदर के, परम सुंदर के दर्शन को जन्म देता है।
यह दर्शन मुझे हुआ। छायाओं से भागने से रुका, तो छायाओं के पीछे देखने
की क्षमता आयी। और जो वहां दिखाई पड़ा उसने--उस सत्य ने सब कुछ बदल डाला।
सत्य सब बदल डालता है, उसकी उपस्थिति ही क्रांति है।
इसलिये कहता हूं, डरो मत। जो है, उसे देखो और कल्पनाओं में, स्वप्नों में शरण मत लो। उस शरण से जो बचने का साहस करता है, सत्य उसे अपनी शरण में ले लेता है।
सुबह कोई पूछता था कि स्वयं को सीधा जानने का क्या अर्थ है? सीधा जानने का अर्थ है कि अपने संबंध में दूसरों के मतों, ओपिनिएंस को ग्रहण मत करो। खुद देखो कि आपके भीतर क्या है--आपके विचारों में, आपकी वासनाओं में, आपकी क्रियाओं में, आपकी आकांक्षाओं-अभीप्साओं में क्या छिपा है? क्या गुप्त, हिडन है? इसका सीधा साक्षात करो जैसे कोई बिल्कुल अभिनव भूमि में पहुंचकर निरीक्षण करता है। ऐसे ही स्वयं को देखो; वैसे ही जैसे कोई अपरिचित को और अजनबी, स्ट्रेंजर को देखता है। इससे बहुत हित होगा। सबसे बड़ा तो यह कि आपने अपनी ही आंखों में अपनी जो दिव्य मूर्ति बना रखी होगी, वह भग्न और खंडित हो जावेगी। यह मूर्ति-भंजन आवश्यक है, क्योंकि इस कल्पना-मूर्ति के गिरने के बाद ही हम स्वप्न-भूमि से वास्तविक भूमि पर चरण रखते हैं।
इसके पूर्व कि हम सत्य और शुभ हों, सत्य और शुभ होने के भ्रम टूट जाने जरूरी हैं, जिन्हें कि हमने अपने असत्य और अशुभ को छिपाने के लिए आविष्कृत किया था, जो कि हमारी आत्मवंचनाएं थीं।
प्रत्येक व्यक्ति अपना एक कल्पित रूप और व्यक्तित्व व्यर्थ ही नहीं बना लेता है। वह भी किसी आवश्यकता से ही होता है। वह होता है, स्वयं के समक्ष अपमान से बचने के लिए। भीतर पशु दिखता है। इस पशु की उपस्थिति पीड़ा देती है और स्वयं के समक्ष ही स्वयं को अपमानित करती है। इससे बचने के दो उपाय हैं। या तो पशु विलीन हो या फिर पशु भूल जावे। विलीन करना तो एक साधना से गुजरना है पर विस्मृत करना बहुत आसान है। वह बड़ी सरल बात है। कल्पना ही उसके लिए पर्याप्त है। स्वयं के समक्ष हम स्वयं ही एक कल्पना-मूर्ति खड़ी कर लेते हैं। इस मूर्ति से वह पशु दब जाता है। पर वह दबता ही है, मिटता नहीं है। और हमारी मूर्ति के पीछे सक्रिय बना रहता है। वस्तुतः दिखने में ही वह मूर्ति होती है, पीछे पशु ही होता है।
इस मूर्ति को क्या वास्तविक जीवन में, वास्तविक परिस्थतियों में रोज
ही हारते और पराजित होते हुए नहीं देखते हैं? वह स्वाभाविक ही है। जो पशु भीतर है, वही वास्तविक है। और इसलिए वह हमारे सारे उपायों को व्यर्थ करता रहता है। काल्पनिक व्यक्तित्व उसके समक्ष प्रतिदिन ही हारता है। फिर भी हम उसे बनाये और सजाये रहते हैं। और स्वयं को और अन्यों को इसकी उपादेयता के प्रमाण देने के अनेक उपाय भी करते रहते हैं।
हमारे दान, हमारे त्याग, हमारी दया, हमारी सेवा--हमारी सारी तथाकथित नैतिकता क्या ऐसे ही प्रमाणों की तलाश नहीं है! पर, इस सबसे कुछ भी नहीं होता है, और जो मूर्ति हमने गढ़ी है वह मृत ही रहती है, उसमें प्राण नहीं आते हैं, नहीं आ सकते हैं।
इस मृत-बोझ से मैं मुक्त होने को कहता हूं। इस झूठे साथी को, मुर्दा साथी को छोड़ें और जो वास्तविक है, उसे समझें और जानें। इससे नहीं, उसी से मार्ग है, जिससे बचने को हमने इस मिथ्या प्रवंचना को गढ़ा है।
मैं कल रात्रि खेतों के करीब से निकलता था। वहां मैंने खेतों में खड़े झूठे आदमी देखे। डंडों पर हंडियां रखी हैं, और उन डंडों को कुर्ते पहना दिये हैं। अंधेरे में वे पशु-पक्षियों को रखवालों के होने का धोखा दे देते हैं। मैं उन्हें देखता रहा और जो मेरे साथ थे, उन्हें भी देखता रहा। फिर मैंने कहा, "हम अपने में देखें कि कहीं हम भी तो झूठे आदमी ही नहीं हैं?" मेरे साथ जो थे, सुनकर हंसने लगे। पर मैंने देखा कि उनकी हंसी बिल्कुल झूठी थी।

हमारा सब झूठा हो गया है। हमारा सारा जीवन, सारा व्यवहार, हमारी हंसी, हमारा रुदन सब झूठ हो गया है। इस झूठ को हम खींचते-खींचते थक जाते हैं। यह झूठ बहुत बोझिल है, पर फिर भी हम इसे उतारते नहीं हैं, क्योंकि जो इस झूठ के पीछे है, उससे हमें और भी भय होता है। वहां प्रवेश करते डर लगता है, क्योंकि जो हमने सदा अपने को माना है, वह वहां कहीं भी नहीं है, और जिसकी हमने सदा दूसरों से निंदा की है, वह सब बहुत प्रगाढ़ रूप में वहां उपस्थित है। यह भय हमें स्वयं को नहीं उघाड़ने देता है।
साधना के जीवन में अभय, फीअरलेसनेस पहली शर्त है। जो उसका साहस नहीं
कर सकता है; वह अपने भीतर भी नहीं जा सकता है।
अंधेरी रातों में, अंधेरे और अनजान और बीहड़ रास्तों पर अकेले जाने में जिस साहस, करेज की जरूरत है, उससे भी कहीं ज्यादा साहस स्वयं के भीतर जाने के लिए करना होता है, क्योंकि इस प्रवेश से स्वयं के संबंध में ही खड़े किये हुए मधुर स्वप्न टूटते हैं, और ऐसी कुरूपताओं और घिनौने पापों का साक्षात करना होता है, जिनकी कि मैंने स्वयं से बिल्कुल निवृत्ति ही मान ली थी।
पर साहस से जो अपने को उघाड़ता है, और उन अंधी गलियों और अंधेरे गलियारों में प्रवेश करता है, जो उसके ही भीतर है; पर जिन पर उसने जाना बंद कर दिया है, तो एक अभिनव जीवन का प्रारंभ हो जाता है। एक ऐसी यात्रा इस अंधेरे में जाने के साहस से प्रारंभ होती है, जिसकी अंतिम परिणति पर वह आलोक उपलब्ध होता है जिसकी कि हम जन्म-जन्म से खोज में थे, पर अंधेरे में जाने के साहस के अभाव के कारण जिससे वंचित थे।
अंधेरा आलोक को छिपाये हुए है, जैसे राख अंगारे को छिपाये हो। अंधेरे
को चीरते ही उसके दर्शन होंगे, जो कि अंधेरा नहीं है।
इससे कहता हूं कि यदि आलोक को पाना है, तो अंधेरे से मत डरो। जो अंधेरे
से डरता है, वह आलोक को कभी भी नहीं पा सकता है।
आलोक का मार्ग अंधेरे से होकर जाता है। अंधेरे में प्रवेश का साहस ही वस्तुतः भीतर आलोक बन जाता है। उस साहस से ही वह जागता है, जो कि सोया है। मैं देखता हूं कि आप आत्मज्ञान के लिए तो आकांक्षी हैं, पर अपने आपको जैसे आप हैं, उसे जानने से डरते हैं। आत्मा सच्चिदानंद है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध है, ऐसी बातें सुनकर आपको अच्छा लगता है। यह भी इसलिए कि इस भांति आप जो हैं--सच्चिदानंद, शुद्ध-बुद्ध स्थिति के बिल्कुल विपरीत, और दूसरे छोर पर उसे विस्मृत करने में और अपने अहंकार को परिपुष्ट करने में आपको सुविधा और सहायता मिलती है।
साधुओं के पास पापियों की भीड़ इसीलिए इकट्ठी हो जाती है, क्योंकि वहां आत्मा की शुद्धता और स्वयं के ब्रह्म होने की बातें उन्हें बहुत प्रीतिकर लगती हैं। उन बातों को सुनकर उनका पश्चात्ताप कम हो जाता है, और हीनता दब जाती है और वे स्वयं के समक्ष फिर सीधे खड़े हो जाने में समर्थ हो जाते हैं। इसका एक ही परिणाम होता है कि वे पाते हैं कि पाप करना आसान होता जाता है, क्योंकि आत्मा तो शुद्ध है!
आत्मा को शुद्ध-बुद्ध मान लेने से पापों का अंत नहीं होता है। वह बहुत गहरी आत्म-वंचना है। वह मनुष्य-बुद्धि की अंतिम तरकीब है।
अंधकार है ही नहीं, ऐसा मानने से आलोक नहीं हो जाता है।
पाप है ही नहीं, आत्मा कुछ करती ही नहीं है, ऐसी विचार-सरणि बहुत धोखे
की है। वह स्वयं की पाप-स्थिति को विस्मरण करने का उपाय है। उससे पाप मिटते नहीं, केवल विस्मृत हो जाते हैं, जो कि पाप के होने से भी बुरा है।
उनका दिखना, उनका बोध शुभ है; उनका न दिखना, उनके प्रति मूर्च्छा अशुभ है। क्योंकि वे दिखते हैं तो चुभते हैं, सालते हैं और स्वयं के परिवर्तन की प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। पाप का बोध परिवर्तन लाता है, और उसका पूर्ण बोध तो तत्क्षण क्रांति पैदा कर देता है।
इसलिए, आत्मा शुद्ध-बुद्ध है, इन बातों में मत पड़ जाना। वह मानने की बात ही नहीं है। वह तो जब पाप-व्यक्तित्व विसर्जित हो जाता है और अंधकार की पर्तों को तोड़कर साधक स्वयं के निगूढ़ और गुप्त आलोक केंद्र में प्रवेश करता है, तब अनुभव में आया हुआ साक्षात है। वह साक्षात है, उसकी धारणा नहीं

बनानी है। उसकी धारणा बहुत घातक हो सकती है। वह आलोक तक पहुंचने में बाधा हो सकती है। क्योंकि यदि अंधकार है ही नहीं, तो जो नहीं है उसे दूर करने का प्रश्न ही कहां उठता है? आत्मा यदि पाप-पुण्य करती ही नहीं है, तो पाप-पुण्य के ऊपर उठने का सवाल ही नहीं उठता है। इन तथाकथित तत्वज्ञान की थोथी बातों ने बहुतों को बेहोश किया हुआ है। यह जहर बहुत दूर तक प्रभावी हो गया है, और यही वजह है कि हम परमात्मा भी बने हुए हैं और हम जैसे पापी भी जमीन पर खोज लेना असंभव है!
यह स्मरण रहे कि आत्मा की शुद्धता की ये बातें और उनका प्रभाव पाप को विस्मरण करने के लिए है। इन बातों के जाल में जो गिर जाते हैं उनका उबरना मुश्किल हो जाता है। पाप से उबरना आसान है, पर इस घातक तत्वज्ञान से उबरना बहुत कठिन है।
आत्मा शुद्ध है, यह सिद्धांत नहीं साक्षात है। उसकी चर्चा व्यर्थ है, क्योंकि वह बीमारों के सामने यह भ्रम पैदा करने जैसा है कि बीमारियां हैं ही नहीं, और यदि बीमारों ने मान लिया तो परिणाम स्वास्थ्य नहीं, केवल मृत्यु ही हो सकता है! जो जानते हैं, वे उसकी चर्चा नहीं करते हैं। वे तो उस साधना की चर्चा करते हैं जो कि उस साक्षात तक पहुंचा देती है।
साक्षात नहीं, साधना विचारणीय है।
साधना के बाद साक्षात तो होगा ही। उसे विचार में लेना व्यर्थ है। उसे यदि किसी ने मान लिया तो साधना असंभव हो जायेगी। और साक्षात को बिना साधना के मान लेना कितना आसान और सुखद है। उस भांति पाप से बिना मुक्त हुए ही, मुक्ति का रस आ जाता है। और धोखे की एक गहरी धुंध में भिखमंगे बादशाह होने का मजा ले लेते हैं!
आह! भिखमंगों को यह बताना कितना आनंद देता होगा कि वे भिखमंगे नहीं हैं, सम्राट हैं! और जो उन्हें ऐसा बताते हैं, वे यदि उन्हें बहुत श्रद्धा देते हों और उनके चरणों में सिर रखते हों तो आश्चर्य नहीं है! पाप से, दरिद्रता से, इससे सस्ती और कोई मुक्ति नहीं हो सकती है। थोथा तत्वज्ञान, सूडो फिलासफी बड़ी सस्ती मुक्ति दे देता है, जब कि साधना श्रम मांगती है। आप भी तो ऐसे ही किसी तत्वज्ञान या तत्वज्ञानी के चक्कर में तो नहीं हैं? कोई संक्षिप्त और सस्ता रास्ता, शार्ट-कट आपने भी तो नहीं पकड़ लिया है? सबसे सस्ता यही है कि आत्मा शुद्ध-बुद्ध है, वह स्वयं ब्रह्म है और इसलिये फिर कुछ करने जैसा नहीं है; अर्थात जो आप कर रहे हैं वह सब करने जैसा है, क्योंकि छोड़ने जैसा कुछ भी नहीं है।
स्मरण रहे कि सत्य का भी दुरुपयोग हो सकता है। और श्रेष्ठ सत्य भी निकृष्ट असत्यों को छिपाने के काम में लाये जा सकते हैं।
ऐसा हुआ है और नित्य होता है। कायरता अहिंसा में छिपायी जा सकती है,
और पाप आत्मा की शुद्ध-बुद्धता के सिद्धांत में ढांके जा सकते हैं, और अकर्मण्यता संन्यास बन सकती है!
मैं आपको इन धोखों से सावधान करना चाहता हूं। जो इनसे सचेत नहीं है,
वह स्वयं में बहुत प्रगति नहीं कर सकता है। पाप का, अंधकार का, जो घेरा हम पर है, उससे बचने को, उससे पलायन करने को किसी सिद्धांत-जाल की शरण न खोजें। उसे जानें और उससे परिचित हों। वह है। उसके होने को विस्मरण नहीं करना है। वह स्वप्नवत है, तो भी है। "वह नहीं है"--ऐसा नहीं है। स्वप्न की भी अपनी सत्ता है। वह भी घेर लेता है और वह भी हममें आंदोलन करता है। उसे स्वप्न कहकर और मानकर ही कोई गति नहीं है। उससे जागे बिना कोई रास्ता नहीं है।
पर कोई चाहे तो बिना जागे भी, स्वप्न में ही जागने का स्वप्न देख सकता है। थोथा तत्वज्ञान, साधना-शून्य तत्वज्ञान यही करता है। वह जगाता नहीं है, स्वप्न में ही जगाने का स्वप्न पैदा कर देता है।
यह स्वप्न के भीतर स्वप्न है। ऐसे स्वप्न आपने नहीं देखे हैं क्या, जिनमें आप देख रहे हों कि आप जागे हुए हैं? पाप नहीं है, अंधकार नहीं है, ऐसा कहने और विश्वास करने से कुछ भी नहीं होता है। इससे सत्य नहीं, केवल हमारी आकांक्षा की ही घोषणा होती है। हम चाहते हैं कि पाप न हो, अंधकार न हो। पर चाहना ही काफी नहीं है। अकेली चाह नपुंसक, इंपोटेंट है। और तब धीरे-

धीरे जैसे भिखमंगा सम्राट होने की चाह करते-करते अंततः स्वप्न ही देखने लगे कि वह सम्राट हो गया है, ऐसी ही तत्वज्ञानियों की गति हो जाती है। वे चाहते-चाहते उसे मान ही लेते हैं, जो कि केवल उन्होंने चाहा था, और जो उन्हें मिला नहीं है। पराजय को इस भांति भूलना आसान हो जाता है। और जो सत्य में नहीं मिला, उसे स्वप्न में मिला जानकर वे तृप्ति की सांस ले पाते हैं!
आपके इरादे तो इस भांति तृप्त होने के नहीं हैं? अन्यथा आप एक गलत व्यक्ति के पास पहुंच गये हैं! मैं आपको कोई भी स्वप्न नहीं दे सकता हूं, और आत्म-वंचना के लिए भी कोई सहारा नहीं दे सकता हूं। मैं तो स्वप्न-भंजक हूं और आपकी निद्रा को तोड़ना चाहता हूं। इससे पीड़ा भी हो, तो मुझे क्षमा करना। जागरण सच ही पीड़ा है, क्योंकि वही एकमात्र तपश्चर्या है।
इस पीड़ा, इस तप का प्रारंभ स्वयं की वास्तविक पाप-स्थिति, स्वयं की वास्तविकता को जानने से होता है। कोई भ्रम, इल्यू.जन नहीं पालना है, और जो है और जैसा है, उसे वैसा ही जानना है। इससे दुःख होगा, पीड़ा होगी, क्योंकि वे स्वप्न टूटेंगे जो कि मधुर थे और जिनमें कि हम सम्राट थे। सम्राट तो मिटेगा, भिखमंगा प्रकट होगा। सौंदर्य मिटेगा और कुरूपता प्रकट होगी। शुभ वाष्पीभूत हो जायेगा और अशुभ के दर्शन होंगे। वह पशु अपनी नग्नता में हमारे सामने होगा जो कि हममें छिपा है। यह आवश्यक है, अत्यंत आवश्यक है। इस पीड़ा से गुजरना अनिवार्य और अपरिहार्य, इनएविटेबल है, क्योंकि यह प्रसव-पीड़ा है और इसके बाद ही--इस पशु से मिलन के बाद ही, हममें उसका बोध स्पष्ट होना शुरू होता है जो कि पशु नहीं है।
पशु का जिसे साक्षात होता है, वह इस साक्षात के कारण ही पशु से भिन्न
और अन्य हो जाता है। यह जागरण, अपने पशु के प्रति--हमारे उससे तादात्म्य, आइडेंटिटी को तोड़ देता है। यह निरीक्षण, आब्जर्वेशन निरीक्षित, आब्जर्व्ड से निरीक्षक, आब्जर्वर को अलग कर देता है। और उस बिंदु का हममें जन्म हो जाता है, जिसकी पूर्णता पर आत्मा अनुभव होती है।
इसलिए पाप से, पशु से, अंधकार से भागना साधना नहीं, पलायन है। वह शुतुरमुर्ग के तर्क की भांति है जो शत्रु को देख रेत में मुंह छिपाकर निश्चिंत खड़ा हो जाता है, यह सोचकर कि जो अब उसे नहीं दिखाई दे रहा है, वह अब नहीं है। काश, ऐसा ही होता! पर ऐसा नहीं है, शत्रु का न दिखाई पड़ना, उसका न हो जाना नहीं है। इस भांति तो वह और भी घातक हो जायेगा। आपकी आंखें बंद करने पर उसके और भी आसान शिकार हो जावेंगे! शत्रु है यदि तो आंखें और भी खुली चाहिये। उसका पूरा ज्ञान हमारे हित में है। अज्ञान से अहित के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता है। मैं इसलिए ही स्वयं की समग्र अंधकार-स्थिति को उघाड़कर देखने को कह रहा हूं।
अपने सारे वस्त्रों को अलग करके देखो कि आप क्या हैं?
अपने सारे सिद्धांतों को दूर रखकर देखो कि आप क्या हैं?
रेत से मुंह बाहर निकालो और देखो। वह आंख का खोलना ही, उस भांति देखना ही, एक परिवर्तन है--एक नये जीवन की शुरुआत है। आंख खुलते ही एक बदलाहट शुरू हो जाती है, और उसके बाद ही जो हम करते हैं, वह सत्य तक ले जाता है। अंधकार की पर्तों को उघाड़कर प्रकाश तक चलना है। पाप की पर्तों को उघाड़कर प्रभु तक चलना है। अज्ञान के विनाश से आत्मा को उपलब्ध करना है। साधना का यही सम्यक पथ है। और उसके पूर्व स्वप्न नहीं देखने हैं--आत्मा और परमात्मा के स्वप्न नहीं देखने हैं। सच्चिदानंद ब्रह्म-स्वरूप के स्वप्न नहीं देखने हैं। वे सब शुतुरमुर्ग के रेत में मुंह छिपाने के उपाय हैं। वह पुरुषार्थ का मार्ग नहीं, पुरुषार्थहीनों की मिथ्या तृप्ति है।
रात्रि कोई पूछता था कि "सत्संग" क्या है? मैंने कहा, सत्संग यानी स्वयं का संग। सत्य बाहर नहीं है। कोई गुरु, कोई शास्त्र उसे आपको नहीं दे सकता है। वह भीतर है और उसे पाना है तो अपना साथ करो। अपने साथ होओ। पर हम सबके साथ तो हैं, अपने साथ बिल्कुल भी नहीं हैं।

इक्हार्ट एक बार अकेले में था। किसी वृक्ष-कुंज के एकांत कोने में बैठा था। उसका कोई परिचित वहां से निकला। वह इक्हार्ट को अकेला देख उसके

पास गया और बोला, "आपको अकेला देख मैंने सोचा कि चलूं आपको साथ दूं।" ज्ञात है, आपको कि इक्हार्ट ने क्या उत्तर दिया? उसने कहा, "मैं अपने साथ था, आपने आकर मुझे अकेला कर दिया है।"
क्या इस भांति कभी आप अपने साथ होते हैं? वही सत्संग है, वही प्रार्थना है, वही ध्यान है।
मैं जब अपने भीतर बिल्कुल अकेला, अलोन ही हूं और कोई विचार, किसी का विचार वहां नहीं है, तब स्वयं का साथ होता है। संसार जब भीतर अनुपस्थित होता है, तब स्वयं का साथ होता है। उस तनहाई और अकेलेपन में, उस अपनी निपट निजता में सत्य का अनुभव होता है। क्योंकि आप अपनी आत्यंतिक सत्ता में स्वयं सत्य हैं।
धार्मिक होने का सवाल है, धार्मिक दीखने का सवाल नहीं है। कोई मुझसे धार्मिक होने के लिए पूछता है तो उससे मैं सबसे पहले यही जिज्ञासा करता हूं--उससे पूछता हूं कि आप धार्मिक दीखना चाहते हैं, या कि धार्मिक होना चाहते हैं? ये दोनों दिशाएं बिल्कुल ही भिन्न हैं।
धार्मिक होना साधना है, धार्मिक दीखना अपने को सजाना है! साधुओं के वेश--उनके बंधे-बंधाये रूप-रंग, टीका-तिलक, वस्त्र, उपकरण--यह सब धार्मिक दीखने के उपाय हैं। आप भी ऐसे ही दीखना चाहें, तो दीखना बहुत सरल है!
पर स्मरण रहे कि दीखना दूसरों के लिए है, होना अपने लिए है। मैं वह नहीं हूं, जो मुझे बाहर से जाना जाता है। मैं वह हूं, जो स्वयं मैं अपने को अपने भीतर से जानता हूं।
मैं आपको स्वस्थ दीखता हूं, क्या इसका कोई मूल्य है? नहीं। मूल्य तो मैं स्वस्थ हूं, इसका है।
धार्मिक वेशभूषाओं की भांति धार्मिक गुण भी आ.ेढ लिये जाते हैं।
उन्हें भी लोग आभूषणों की भांति पहन लेते हैं। वह धोखा और भी गहरा है।
मनुष्य का आचरण दो भांति से हो सकता है--असली फूलों की भांति या कागज के फूलों की भांति। एक का वृक्षों के प्राण से आना होता है, दूसरे में कोई प्राण ही नहीं होते हैं; इसलिए वे आते नहीं, उन्हें चिपकाना होता है।
सत्याचरण आता है, मिथ्या-आचरण चिपकाना होता है।
मनुष्य का आचरण लाक्षणिक, सिम्बालिक है। वह उसके अंतस को प्रकट करता है। उसे नहीं, अंतस को बदलना ही अर्थपूर्ण है।
शरीर उत्तप्त हो, ज्वरग्रस्त हो, तो हम उत्ताप कम करके बीमारी ठीक करने की नहीं सोचते हैं। हम ज्वर को कम करके उत्ताप कम करते हैं। उत्ताप तो ज्वर की सूचना मात्र है, वह स्वयं बीमारी नहीं है। वह तो संकेत है। वह शत्रु नहीं है। और जो उससे ही लड़ने लगें, उन्हें क्या कहियेगा? धार्मिक जीवन के लिए, नैतिक जीवन के लिए इसी तरह की नासमझी चलती है। संकेतों को ही शत्रु मान लिया जाता है और लक्षणों को ही बीमारी समझ उनसे हम संघर्ष शुरू कर देते हैं। इस भांति बीमारी तो नहीं मिटती है, हां बीमार अवश्य मिट सकता है!
अहंकार, हिंसा, असत्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह--सब लक्षण हैं, उत्ताप हैं, संकेत हैं। वे बीमारियां नहीं हैं। उनसे ही सीधे नहीं लड़ना है। उनसे तो जानना है कि भीतर शत्रु है। वह शत्रु आत्म-अज्ञान है।
आत्म-अज्ञान ही बहुविध रूपों में--अहंकार, हिंसा, असत्य, भय, काम, क्रोध आदि में अभिव्यक्त होता है। इसलिये मिटाने से वह नहीं मिट सकता है, क्योंकि वह तो मूल है, ये तो मात्र उसकी अभिव्यक्तियां हैं। और न ही इन्हें मिटाने से इन्हें मिटाया जा सकता है। बस, असत्य के ऊपर सत्य के, और हिंसा के ऊपर अहिंसा के, और भय के ऊपर अभय के कागजी फूल ही चिपकाये जा सकते हैं। आपने भी ऐसे कुछ फूल जरूर ही चिपका लिये होंगे, पर उनसे दूसरे धोखे में आ जावें; आप तो स्वयं धोखे में नहीं हैं न?
असत्य, हिंसा और भय को दूर करने का सवाल नहीं है, सवाल आत्म-अज्ञान को दूर करने का है। वही समस्या है। उसके कारण इनका होना है, उसके न होने पर इनकी कोई सत्ता नहीं रह जाती है। वह न हो तो इनकी अपने आप निर्जरा हो जाती है। और इनकी जगह निरहंकारिता, सत्य, अकाम, अक्रोध, अहिंसा, अपरिग्रह का सहज ही आविर्भाव हो जाता है। वे भी लक्षण हैं। वे आत्मज्ञान के लक्षण हैं।

आठवां प्रवचन

सत्यः स्वानुभव की साधना

चिदात्मन् !

मैं आपको सत्य देने में असमर्थ हूं। और कोई कहे समर्थ है तो वह प्रारंभ से ही असत्य दे रहा है ! सत्य देने में कोई भी समर्थ नहीं है। यह देने वाले की असमर्थता का नहीं, सत्य के जीवंत होने का संकेत है। वह वस्तु नहीं है कि उसे लिया-दिया जा सके। वह जीवंत अनुभूति है और अनुभूति स्वयं ही पानी होती है।

मृत वस्तुएं ली-दी जा सकती हैं, अनुभूतियां नहीं। क्या वह प्रेम--प्रेम की वह अनुभूति जो मैंने जानी है, मैं आपके हाथों में रख सकता हूं? क्या वह सौंदर्य और संगीत जो मुझे अनुभव हुआ है, मैं आपको दान कर सकता हूं? उस आनंद को मैं कितना चाहता हूं कि आपको दे दूं, जो मेरी इस साधारण-सी दीखती देह में असाधारण रूप से घटित हुआ है, पर कोई रास्ता उसे देने का नहीं है ! मैं तड़पकर ही रह जाता हूं--कितनी असमर्थता है !

एक मेरे मित्र थे, उनके पास जन्म से ही आंखें नहीं थीं। मैंने कितना चाहा कि मेरी दृष्टि उन्हें मिल जावे, पर क्या वह हो सकता था? शायद एक दिन वह हो भी जावे, क्योंकि आंखें शरीर की अंग हैं, और हस्तांतरित हो सकती हैं, पर वह दृष्टि जिसे सत्य उपलब्ध होता है, उसे तो कुछ भी चाहकर नहीं दिया जा सकता--वह शरीर की नहीं आत्मा की शक्ति है।

आत्मा के जगत में जो भी पाया जाता है, वह स्वयं ही पाया जाता है। आत्मा के जगत में कोई ऋण संभव नहीं है। वहां कोई पर-निर्भरता संभव नहीं है। किसी दूसरों के पैरों पर वहां नहीं चला जा सकता है। स्वयं के अतिरिक्त वहां कोई भी शरण नहीं है।

सत्य को पाना है तो स्व-शरण बनना आवश्यक है। वह शर्त अनिवार्य है। इसलिए, मैंने कहा कि मैं सत्य नहीं दे सकता हूं। हस्तांतरण में केवल शब्द ही संवादित होते हैं--निर्जीव और निष्प्राण--और सत्य सदा पीछे ही छूट जाता है। और निश्चय ही मात्र शब्दों का संवादित होना, कोई संवाद नहीं है। वह जो जीवित है--वह अर्थ, वह अनुभूति, जो कि उनका प्राण है, वह उनके साथ नहीं जाता है। वे खाली कारतूसों की तरह हैं, या मृत देहों, लाशों की भांति, जो आपके ऊपर बोझ तो बन सकते हैं, पर आपको मुक्त नहीं करते। शब्दों में सत्य की लाश ही हमारे हाथों पड़ती है, जिसमें सत्य के हृदय की धड़कन बिल्कुल भी नहीं होती है।

सत्य तो नहीं दिया जा सकता, पर मैं आपके इस बोझ को उतारने में अवश्य सहयोगी हो सकता हूं जो सदियों ने आपके ऊपर घना और भारी कर दिया है। शब्दों के बोझ से मुक्त हो जाना आवश्यक है। यात्रियों पर रास्ते की धूल इकट्ठी हो जाती है। जीवन की यात्रा में भी शब्दों और विचारों की धूल इकट्ठी हो जाती है। यह सहज ही है। इस धूल को झाड़ देना आवश्यक है।

शब्द मृत हैं, वे सत्य नहीं हैं। किसी के भी शब्द सत्य नहीं हैं। उन्हें इकट्ठा न करें। उनका परिग्रह घातक है। उनके बोझ के नीचे दबकर फिर सत्य की यात्रा नहीं हो सकती है।

पहाड़ों पर चढ़ने को, ऊंचाइयां छूने को पर्वतारोही को निर्भार होना होता है। ऐसे ही सत्य की यात्रा पर जो निकले हैं, अच्छा है कि वे शब्दों से निर्भार हो जावें। शब्द से स्वतंत्र चेतना सत्य की ऊंचाइयां छूने में समर्थ हो जाती है।

मैं एक ही अपरिग्रह सिखाता हूंः शब्द और विचार का अपरिग्रह। उनका मृत बोझ आपकी यात्रा को बहुत दुर्गम कर रहा है।

च्वांगत्सु ने कहा है, "जाल मछलियां पकड़ने को है। कृपा कर मछलियां पकड़ लें और जाल को फेंक दें।" पर हम ऐसे मछुए हैं कि हमने जालों को पकड़ लिया है और मछलियों को भूल गये हैं। अपने सिर पर देखें। नावों को आप सिर पर लिये हैं, और उन पर यात्रा करना भूल गये हैं !

शब्द संकेत है। वह इशारा है। वह स्वयं सत्य नहीं है। इशारा समझ लें और उसे फेंक दें। उसे इकट्ठा करना लाशें इकट्ठी करने से भिन्न नहीं है। शब्द चांद को इशारा करती हुई अंगुलियों की भांति हैं, फिंगर्स प्वाइंटिंग टु दि मून। जो इन अंगुलियों पर ही ध्यान केंद्रित कर लेता है, वह लक्ष्य से चूक जाता है।
अंगुलियों की सार्थकता यही है कि वे आपको अपने से दूर ले जा सकें। वे आपको अपने में ही उलझा लें तो व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी हो जाती हैं।
सत्य के संबंध में जो शब्द आपने सीख लिये हैं, क्या वे ऐसे ही अनर्थ नहीं हो गये हैं? क्या उन्होंने ही आपको एक-दूसरे से--मनुष्य को मनुष्य से नहीं तोड़ दिया है? क्या तथाकथित धर्मों के नाम पर हुई समस्त मूढ़ताएं और क्रूरताएं किन्हीं शब्दों के कारण ही नहीं हुई हैं? क्या धर्मों के रूप में खड़े सारे संप्रदाय शब्द-भेद पर ही नहीं खड़े हुए हैं?
सत्य तो एक ही है और एक ही हो सकता है। पर शब्द अनेक हैं। जैसे चांद तो
एक है, पर इशारा करती अंगुलियां अनंत हो सकती हैं।
सत्य को इंगित करते इन अनेक शब्दों को जिन्होंने पकड़ लिया है, उन्होंने धार्मिक संप्रदायों को जन्म दिया है। धर्मों का जन्म सत्य से नहीं, शब्दों से हुआ है।
सत्य एक है। धर्म भी एक ही है। और जो शब्दों को छोड़ने में समर्थ हैं,
वे इस अद्वय धर्म को, अद्वय सत्य को जान पाते हैं।
इसलिए, मैं आपके शब्द-भार को और शब्दों से भारी नहीं करना चाहता हूं। शब्दों के नीचे तो आपकी कमर टूटी जा रही है, आपकी झुकी हुई गर्दनों को मैं भली-भांति अनुभव कर रहा हूं।
सत्य को जिन्होंने जाना है, उनके ओंठ बिल्कुल बंद हैं, उसके संबंध में उनसे कोई भी शब्द आता हुआ नहीं मालूम होता है। क्या इससे वे काफी नहीं कह रहे हैं! क्या वे नहीं कह रहे हैं कि निःशब्दता में ही सत्य है, या कि निःशब्दता ही सत्य है? पर हम इसे नहीं समझ पाते हैं। हम शब्द के बिना कुछ भी नहीं समझ पाते हैं। हमारी सब समझ शब्द की है और तब वे शब्द से बोलते हैं। उसे शब्द से बोलते हैं, जो कि शब्द से बोला ही नहीं जा सकता है! उनकी करुणा शब्दों के द्वारा एक असंभव चेष्टा करती है और हमारा अज्ञान उन शब्दों को ही पकड़ लेता है।

शब्द और अज्ञान मिलकर संप्रदाय बन जाते हैं।
शब्द धन अज्ञान=संप्रदाय।
और इस भांति हम पुनः सत्य से वंचित रह जाते हैं। और धर्म जितना दूर था, उतना ही दूर रह जाता है। शब्द से ऊपर उठना आवश्यक है, तभी शब्द के पीछे जो है, उसका बोध होता है।
शब्द स्मृति को ही भरते हैं; ज्ञान स्वयं उनसे नहीं आता है। और स्मृति, मेमोरी को ज्ञान, नॉलेज न समझ लेना। जानना कि जो स्मृति है, वह मात्र स्मृति ही है। वह जानकारी, लर्निंग है, वह ज्ञान नहीं है।
रमण को कोई पूछता था कि मैं सत्य को जानने को क्या करूं? उन्होंने कहा, "जो जानते हो, वह सब भूल जाओ।"
काश! जो आप जानते हैं, उस सबको भूल सकें तो उस भूलने से, उस निर्दोषता, इनोसेंस और सरल चित्तता, सिम्प्लिसिटी का जन्म होगा, जिसमें स्वयं को और सत्य को जाना जाता है। शब्द और शब्दों से निर्मित विचार जब आपकी चेतना पर भीड़ की भांति नहीं छाये होते हैं, तब उस मुक्त क्षण में प्रकाश के लिए द्वार मिलता है और आप ज्ञान से संयुक्त होते हैं।
चेतना के द्वार और खिड़कियां खोलनी हैं। वस्तुतः चेतना को घेरने वाली दीवारें ही तोड़ देनी हैं, तब उस प्रकाश से मिलन होता है, जो कि हमारा स्वरूप है।
निश्चय ही, आकाश से मिलने के लिए आकाश जैसा होना ही जरूरी है--उतना ही रिक्त और शून्य, उतना ही मुक्त और असीम। विचार यह नहीं होने देते। वे बदलियों की भांति हमें घेरे हैं। इन बदलियों को विसर्जित करना है, तो मैं आपके चित्त पर विचारों के और बादल कैसे छोडूं?

मैं जो कह रहा हूं या जो कि कहना चाहता हूं और नहीं कह पा रहा हूं--वह कोई विचार, कोई प्रत्यय, आइडिया नहीं है। वह एक अनुभव है, एक साक्षात है। विचार ही होता तो कहा भी जा सकता था और अनुभव भी बाहर का होता तो कोई न कोई शब्द उसकी सूचना दे ही देते, लेकिन वह अनुभव बाहर का नहीं है। वह उसका है जो कि सब अनुभव करता है। वह ज्ञाता का ज्ञान है, इससे कठिनाई है। साधारणतः ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न होते हैं--साक्षात और साक्षी भिन्न होते हैं, पर स्वयं के साक्षात में वे भिन्न नहीं हैं। वहां ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय एक ही है। इससे शब्द एकदम ही व्यर्थ हो जाते हैं। वे उस संदर्भ के लिए निर्मित ही नहीं हैं। उस सीमा में उनका प्रयोग--उनकी सामर्थ्य और संभावना के बाहर उन्हें खींचना है। इस खींचतान में वे बिल्कुल अपंग और निष्प्राण हो जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। और तब वे सत्य के शरीर की सूचना तो दे देते हैं, उसकी आत्मा का स्पर्श उनसे नहीं होता।
सत्य तब जाना जाता है, जब शब्द उपस्थित नहीं होते हैं, तो वे उसे प्रकट कैसे कर सकते हैं? जो निर्विचारणा में उपलब्ध होता है, वह विचार में नहीं बांधा जा सकता है।
क्या आकाश को बांधने का कोई उपाय है? और क्या जो बंध सके उसे हम आकाश
कह सकेंगे?
पर हम सत्य के संबंध में यही क्यों नहीं सोचते? सत्य क्या आकाश से कम असीम है, या कम अनंत है?
आकाश गठरियों में बंधा हुआ बाजार में बिकता हो तो कोई भी नहीं खरीदेगा, पर सत्य को हम खरीद लेते हैं।
सत्य, परमात्मा, मोक्ष सब बाजार में बिकते हैं। इसमें बेचने वालों का दोष नहीं है। वे तो केवल खरीददारों की मांग की पूर्ति करते हैं।
और जब तक सत्य के खरीददार हैं, ग्राहक हैं, तब तक सत्य की दुकानें भी उठायी नहीं जा सकतीं।
धर्म के नाम पर चलने वाले सारे संगठन, सारे संप्रदाय, दुकानों में परिणत हो गये हैं। वहां बना-बनाया, रेडिमेड सत्य आपको मिल जाता है। वस्त्र ही बने-बनाये नहीं मिलते हैं, सत्य भी मिल जाते हैं।
मैं आपको बना-बनाया सत्य नहीं दे सकता हूं, क्योंकि "बना-बनाया सत्य" जैसी कोई चीज होती ही नहीं है!
एक कथा मुझे स्मरण आ रही है। एक सदगुरु ने अपने शिष्य से कभी कोई प्रश्न पूछा था--सत्य के संबंध में कुछ पूछा था। उसने कोई उत्तर दिया। गुरु ने कहा, "ठीक है। ठीक है।"
पर दूसरे दिन गुरु ने फिर वही प्रश्न पूछा। शिष्य ने कहा, "कल तो मैंने आपको उत्तर दिया था?" गुरु ने कहा, "आज फिर दो।" शिष्य ने वही उत्तर दोहरा दिया था, तो गुरु ने कहा था, "नहीं, नहीं।" शिष्य हैरान हुआ। उसने पूछा, कल आपने कहा "हां" आज "नहीं"; ऐसा क्यों कहते हैं?
गुरु ने क्या कहा, जानते हैं? कहा, "कल "हां" था, आज "नहीं" है!"
इस कथा का अर्थ क्या है? आप समझे? अर्थ ही है कि उत्तर बंधा हुआ हो गया,
वह एक ढांचे, पैटर्न में कैद हो गया। वह एक धारणा, कॉनसेप्ट में आबद्ध हो गया, इसलिए वह उत्तर जीवित न रहा, मर गया। वह स्मृति का ही हिस्सा था, वह ज्ञान नहीं था। हमारी स्मृति ऐसे ही मृत उत्तरों से भरी हुई है और इसलिए जो जीवित है, उसका इन मुर्दों के कारण आविर्भाव नहीं हो पाता।
मित्र! स्मृति नहीं, अनुभव को, अनुभूति को जगाना है। स्मृति मृत-भार है, अनुभूति जीवित मुक्ति है।
सत्य के अनुभव को पूर्व निश्चित नहीं किया जा सकता है। उसे किसी भी दर्शन, किसी भी धर्म और किसी भी विचार-प्रणाली की बंधी-बंधायी शब्दावली और परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। वह किसी भी विचारसरणी या विचारसूत्र, फॉरमूला के अनुकूल ही सिद्ध हो, यह आकांक्षा भी नहीं की जा सकती है। उसे बांधने के सब उपाय व्यर्थ हैं। उसे नहीं बांधना है, विपरीत अपने को ही खोलना है। उसे पाने का उपाय उसे बांधना नहीं, वरन स्वयं को ही खोलना है।

सत्य को मत बांधो, अपने को खोलो। यही एकमात्र राह उसे पा लेने की है।
सत्य का अनुभव, अनुभव से ही उपलब्ध होता है। स्वानुभव के पूर्व उसे किसी और भांति नहीं जाना जा सकता है। केवल अनुभव और केवल अनुभव ही निर्णायक है।
मैं एक पर्वतीय झरने के करीब था। उसके जल को मैंने पिया और जाना कि वह मीठा था। ऐसा ही सत्य के संबंध में भी है। पियो और जानो। वह एक ऐसा स्वाद है, जो बस केवल लेकर ही जाना जा सकता है।
सत्य आपके ज्ञान की उत्पत्ति नहीं है, वह आपका सृजन नहीं है। उसे आप बनाते नहीं हैं। कोई भी नहीं बनाता, न बना सकता है। वह तो है। इसलिए वह बना बनाया नहीं मिल सकता। वह तो सदा से है। आप आंख खोलते हैं तो वह दीखता है, आप आंख बंद रखते हैं तो वह नहीं दीखता। वह प्रकाश की ही भांति है।
उसे खरीदना नहीं है, बंद आंख ही खोलनी है। और तब सत्य अपनी पूर्ण मौलिकता में, अपनी पूर्ण शुद्धता में, अपनी पूर्ण सत्ता में उठता है और आपको परिवर्तित कर देता है। यह हो सके, इसके लिए जरूरी है कि अपने को बासी और उधार विचारों से विकृत मत करो और किसी की जूठन और उतारे हुए वस्त्रों को ग्रहण मत करो।
क्या आपको ज्ञात नहीं है कि जीवन किसी भी बासी और मृत चीज को स्वीकार नहीं करता है?
फिर मैं आप से क्या कहूं? सत्य के संबंध में तो नहीं कहूंगा, फिर किस संबंध में कहूं?
सत्य को कैसे जाना जा सकता है, इस संबंध में मैं आपसे कहूंगा। प्रकाश
के संबंध में तो नहीं, पर आंखें कैसे प्रकाश के प्रति खोली जा सकती हैं, इस संबंध में मैं कहूंगा। मैं जो देख रहा हूं वह तो नहीं, लेकिन कैसे मैं देख रहा हूं, वह कहूंगा। वही कहा जा सकता है। और यह भी सौभाग्य है कि कम से कम उतना तो कहा जा सकता है।
धर्म का संबंध--वास्तविक धर्म का संबंध सत्य के सिद्धांत, डॉक्ट्रिन
से नहीं, सत्य को जानने की विधि, मेथड से है।
मैं इसलिए सत्य के संबंध में तो कुछ भी नहीं कहूंगा। मैं उसे आपको, जानने से पहले जाना हुआ नहीं बनना चाहता। मैं तो आपको उस स्थान तक ले चलना चाहता हूं, जहां आप स्वयं उसे जान सकेंगे--उस बिंदु तक जहां से उसके दर्शन संभव हैं--उत्ताप के उस क्षण तक जहां आपका अज्ञान वाष्पीभूत हो जाता है और उस अग्नि-शिखा से मिलन होता है जो कि आप स्वयं हैं।
इसलिए अब हम उस विधि की बात करें।
सत्य के मार्ग पर जाने वालों को दो द्वार मालूम होते हैं। एक मार्ग है सत्य के विचार का, एक है सत्य की साधना का। एक है तर्कणा का, एक है योग का। एक है तत्व-चिंतन का, एक है तत्व-साधना का। ऐसे दो द्वार मालूम होते हैं, पर मेरे देखे तो द्वार एक ही है। दूसरा है नहीं, केवल प्रतीत ही होता है। वह दूसरा आभास ही है। सत्य के विचार का द्वार वास्तविक द्वार नहीं है। वह आभास-द्वार है और अनेक उस भ्रम में खो जाते हैं।
सत्य पर विचार से--विचार के द्वार से कहीं पहुंचते नहीं हैं। वह ले जाता है, पर कहीं पहुंचाता नहीं है। उस पर बहुत चलकर भी पाया जाता है कि आप वहीं खड़े हैं, जहां से प्रारंभ किया है। वह प्रारंभ ही है, अंत उसमें नहीं है और जिसका अंत नहीं है, उसका प्रारंभ केवल आभास ही हो सकता है।
विचार में क्या करेंगे? सत्य को विचारेंगे कैसे? जो ज्ञात नहीं है, वह विचारा नहीं जा सकता। विचार अज्ञात को कैसे विचारेगा? उसकी तो ज्ञात के भीतर ही गति है।
विचार समस्याएं दे सकता है, समाधान उससे नहीं आता। जो उसके ही पीछे चलेगा वह एक अराजकता, एनारकी में खो सकता है--एक विक्षिप्तता में उसकी चित्त की परिणति हो सकती है। अनेक विचारकों का विक्षिप्त हो जाना आकस्मिक और अनायास नहीं है। वह विचार का अंतिम निष्कर्ष है। वह विचार की चरम गति है।
सत्य के साक्षात के लिए विचार का मार्ग कोई मार्ग ही नहीं है।

एक अदभुत कथा कहूं। एक आदमी दुनिया के अंतिम छोर की तलाश में निकला। बहुत यात्रा के बाद वह एक ऐसे मंदिर के पास पहुंचा, जहां लिखा हुआ थाः "यहां दुनिया समाप्त होती है!" दिस इ.ज द एंड आफ दी वर्ल्ड। वह हैरान हुआ, पर विश्वास नहीं कर सका। बात भी कितनी अविश्वसनीय! वह और भी आगे बढ़ता गया और अन्ततः जल्दी ही उस जगह पहुंच गया, जहां कि विश्व का अंत था। एक अनंत खड्ड और अनंत शून्य सामने था। उसने झांका। वहां तो कुछ भी नहीं था, लेकिन उसकी सांसें बंद सी हो गयीं और उसका सिर चकरा गया। वह लौटकर भागा और फिर वह पीछे लौटकर नहीं देख सका था।
यह कथा विचार के अंत की कथा है। हम यदि सत्य के संबंध में सोच रहे हैं
तो हम सोचेंगे, सोचेंगे और तब हम एक ऐसी जगह पहुंचेंगे जहां और नहीं सोचा जा सकता। वही अंत है--विचार का अंत। एक अनंत खड्ड सामने होगा और हमारा मन और आगे कदम लेने से इनकार कर देगा। विचार में यह घड़ी आती है। यदि हम अंत तक उसका अनुसरण करें तो वह अपरिहार्य, इनएवीटेबल है। और यदि आपको लगता हो कि अभी कुछ और विचार करने को शेष है तो आप समझें कि अभी वास्तविक अंत नहीं आया है। जब कुछ भी विचार करने को शेष नहीं है और एक भी कदम आगे नहीं उठाया जा सकता, तब यह वास्तविक अंत है और आप उस मंदिर के करीब पहुंच गये हैं जहां कि दुनिया समाप्त होती है!
वही आदमी जो कि दुनिया के अंत पर पहुंच गया था, यदि मुझसे पूछता कि अब
वह क्या करे, तो मैं उसे भागने की सलाह नहीं देता! जानते हैं कि मैं उसे क्या सलाह देता? मैं उसे कहता कि इतनी यात्रा की है तो अब एक कदम और उठा लो--अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण कदम। वह खड्ड, वह शून्य जो सामने है, उसको साहसपूर्वक कूद जाओ। एक ही कदम की और आवश्यकता है और स्मरण रहे कि जहां जगत का अंत होता है, वहीं से प्रभु का प्रारंभ होता है।
वह बिंदु जो कि जगत के अंत का है, उससे महत्वपूर्ण बिंदु और कोई भी नहीं है, क्योंकि वही प्रभु के प्रारंभ का बिंदु भी है।
विचार जहां समाप्त होता है, वहीं दर्शन प्रारंभ होता है।
विचार जहां समाप्त होता है, वहीं सत्य का साक्षात है।
विचार से निर्विचार में कूदना है, शब्द से शून्य में कूदना है--यही विधि है, यही साहस है, यही तप है, यही साधना है।
इस जगह यदि आपको ब्रह्मा-विष्णु-महेश दिखाई पड़ते हों तो जानना कि आप अभी भी सोच रहे हैं। यदि महावीर, बुद्ध या कृष्ण दिखायी पड़ें तो जानना कि आप अभी भी स्वप्न देख रहे हैं। फिर, यह वास्तविक अंत नहीं है। वास्तविक अंत तब है जब कि सोचने को कुछ भी नहीं है, देखने को कुछ भी नहीं है, जानने को कुछ भी नहीं है। आप हैं और शून्य है--आप भी कहां हैं? शून्य ही है!
दुनिया के अंत पर खड़े हैं। चित्त लौटना चाहेगा--पूरी शक्ति से लौटना चाहेगा। इसी समय साहस की अपेक्षा है और एक और कदम उठाने की जरूरत है। एक कदम और--एक छलांग ही बस अपेक्षित है और फिर सब बदल जाता है। फिर विचार नहीं है, दर्शन है।
फिर आप जानते हैं। सब जानना छोड़ते हैं, तब जान पाते हैं। सब देखना छोड़ते हैं, तब देख पाते हैं। और सब भांति जब मिट जाते हैं, तब हो पाते हैं। साधना मृत्यु में कूदना है पर उसके द्वारा ही अमृत का साक्षात होता है।
विचार नहीं, विचार से छलांग विधि है। विचार से छलांग ध्यान, मेडिटेशन है। मैं रोज उसकी ही बात कर रहा हूं। विचार चैतन्य के सागर पर उठी तरंगें हैं--क्षण-भंगुर बुदबुदे जो कि बन भी नहीं पाते कि मिट जाते हैं। उनसे विक्षुब्ध और अशांत सतह की सूचना मिलती है। उनमें जो है, वह गहराई में नहीं हो सकता। उसमें होना ही उथले में होना है। विचारमात्र उथले हैं। कोई विचार गहरा नहीं हो सकता है, क्योंकि कोई लहर गहरे में नहीं हो सकती है-- लहर सतह की ही संभावना है। विचार भी चेतना की सतह के खेल हैं। लहरों में झील नहीं है, झील में लहरें हैं। लहरें बिना झील के नहीं होंगी, पर झील बिना लहरों के हो सकती है।
विचार बिना चेतना के नहीं हो सकते हैं, पर चेतना निर्विचार हो सकती है। वह मूल है, आधार है। उसे जानना है तो लहरों के पीछे चलना होगा, लहरों का

अतिक्रमण करना होगा। सागर के किनारे नहीं बैठे रहना है। कबीर ने कहा है, "मैं बौरी खोजन गयी, रही किनारे बैठ!" ऐसे आप भी मत बैठ जाना। किनारे पर कुछ भी नहीं है, जिसका किनारा है, उसमें चलना है। किनारा केवल उसमें कूद जाने के लिए ही उपयोगी है!
पर, यह भी हो सकता है कि कोई किनारे पर तो न हो, पर लहरों में तैरे। मेरी दृष्टि में वह भी किनारा ही है। जो डूबने से रोके वही किनारा है। विचार में तैरते हुए लोग ऐसे ही हैं। वे किनारा छोड़ने के भ्रम में हैं, पर उन्होंने किनारा छोड़ा नहीं है।
महावीर का निर्वाण हुआ तो उन्होंने बाहर गये अपने प्रिय गौतम के लिए
एक दिशा-सूचक सूत्र छोड़ा था। उन्होंने कहा था, "गौतम को कह देना कि तू सारी नदी तो पार कर गया है, पर अब किनारे को क्यों पकड़े है, उसे भी छोड़ दे।" वे किस किनारे की ओर इशारा कर रहे थे? मैं भी उसी की बात कह रहा हूं। वह विचार का किनारा है। वह विचार में तैरने का किनारा है।
सत्य तैरने से नहीं, डूबने से मिलता है। तैरना सतह पर है, डूबना उन गहराइयों में ले जाता है जिनका कि कोई अंत नहीं है।
विचार के किनारे से शून्य की गहराई में कूदना है।
बिहारी की एक मीठी पंक्ति है, "अनबूड़े, बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग।" जो अधूरे डूबे थे, वे डूब ही गये और जो संपूर्ण डूब गये थे वे तर गये! आपके क्या इरादे हैं? पार होना है तो डूबने का साहस आवश्यक है!
मैं वही डूबना, वही मिटना सिखा रहा हूं, ताकि आप पार हो सकें; ताकि आप
वह हो सकें, जो कि आप हैं।

साधना पथ
नौवां प्रवचन

मन का अतिक्रमण

प्रश्नः सत्य देने में कोई भी समर्थ नहीं है, पर क्या आपकी बातें सत्य नहीं हैं?

मैं जो कह रहा हूं, वह केवल इशारा है। उसे ही सत्य नहीं समझ लेना है। सत्य उस इशारे से बहुत दूर है। उस इशारे को नहीं, जिस तरफ इशारा है वहां देखना है। उस तरफ देखने पर जो स्वयं दीखेगा वह सत्य है। उस सत्य को कहने का मार्ग नहीं है। वह कहते ही असत्य हो जाता है। वह अनुभव तो बनता है, पर अभिव्यक्ति नहीं बनता है।

प्रश्नः पूर्णतया डूबने को आप कहते हैं; वह हम कैसे करें?

मैं जैसा देखता हूं, उस अनुभव के आधार पर आपसे कहता हूं कि डूबने से-- स्वयं में डूबने से ज्यादा सरल और सुगम और कोई बात नहीं है। उसके लिए इतना ही करना है कि चित्त की सतह पर कोई भी सहारा न पकड़ें। विचार को पकड़ने से डूबना नहीं हो पाता है। उसके सहारे ही फिर हम सतह पर रह जाते हैं।
विचार को पकड़ने की हमारी आदत है। एक विचार छूटता है तो हम दूसरा पकड़ लेते हैं। पर दो विचारों के बीच में जो अंतराल, इंटर्वल है, उसमें हम कभी नहीं जाते हैं। वह अंतराल ही गहराई में डूबने की राह है। विचारों में नहीं, उसमें चलें जो कि विचारों के बीच में है।
यह कैसे होगा?
यह होगा, विचार-प्रवाह के प्रति जागने से। जैसे कोई चलते राही को किनारे से खड़े होकर देखता है, ऐसे ही अपने भीतर मन की राह पर चलते विचार-यात्रियों को देखें। उन्हें देखें मात्र। उनमें से किसी का चुनाव न करें। किसी को चुनें नहीं और न किसी के प्रति कोई निर्णय लें।
असंग और अलिप्त भाव से उनके दर्शन से, उन पर बंधी हमारी मुट्ठियां खुल जाती हैं और हम विचारों पर नहीं, विचारों के बीच में जो अंतराल है, उसमें खड़े हो जाते हैं। पर अंतराल तो आधारहीन है, इसलिए उसमें खड़े होना संभव नहीं है। उसमें तो खड़े होने से ही डूबना हो जाता है। यह डूब जाना ही वास्तविक आधार को पा लेना है, क्योंकि इस भांति ही वह सत्ता मिलती है जो कि हम स्वयं हैं।
विचारों के जगत में जो आधार खोज रहा है, वह निराधार में लटका हुआ है और
जो वहां स्वयं को निराधार कर लेता है, वह स्वयं के आधार को पा जाता है।

प्रश्नः मैं मन को जीतना चाहता हूं, पर वह तो एक असंभावना मालूम होती है; पर आप कहते हैं कि वह बहुत सरल बात है?

मैं जीत के विचार में ही जीत की असंभावना के बीज देखता हूं। वह भूल ही जीतने नहीं देती है। यदि आप अपनी ही छाया को जीतना चाहेंगे तो क्या उसे जीत सकते हैं? छाया तो यह जानते ही कि छाया है, जीत ली जाती है। छाया को जीतना नहीं, जानना ही होता है। और छाया के संबंध में जो सच है, वही मन के संबंध में भी सच है।
मैं, आपको मन को जीतने को नहीं, जानने को कहता हूं।
बोधिधर्म से किसी ने पूछा था, प्रार्थना की थीः "मेरा मन बहुत अशांत है, कृपा करके उसे शांत करने का उपाय बता दें!" बोधिधर्म ने कहा, "कहां है तुम्हारा मन? लाओ, मैं उसे शांत कर दूं।"
वह प्रार्थी बोला, "यही तो मुश्किल है कि वह पकड़ में नहीं आता है।"
मैं होता तो कहता कि उसे पकड़ो ही मत और जाने दो। पकड़ना चाहते हो यही अशांति है। छाया को क्या पकड़ा जा सकता है?
बोधिधर्म ने क्या कहा? उसने कहा, "लो, मैंने शांत कर दिया न?"

हम यदि अपने मन को केवल देखें और पकड़ने और जीतने में न लगें तो वह पाया
ही नहीं जाता है!
पहले पूछा जाता था कि क्या आप अश्व को वशीभूत करने के लिए उसे थकाना चाहते हैं, या कि लगाम को मजबूत करना चाहते हैं! मन को जीतने की ये दो पद्धतियां रही हैं। पर मैं इन दोनों में से कोई भी उत्तर नहीं देता हूं। मैं कहता हूं पहले देखो भी कि अश्व है या नहीं? जो है ही नहीं, उसे हम थकाने और बांधने लगे हैं! वे दोनों ही प्रयास असत्य हैं, क्योंकि अश्व है ही नहीं! अश्व हमारी मूर्च्छा की छाया है। मैं जाग जाऊं तो कोई अश्व नहीं है। कोई मन नहीं है, जिसे जीतना है या कि जिससे हारना है।

प्रश्नः विचार के अपरिग्रह को आप कहते हैं; क्या शुभ विचार भी संग्रह योग्य नहीं है?

यदि उसे जानना है, जो कि आपका स्वरूप है, तो शुभ-अशुभ दोनों से शून्य
और रिक्त हो जाना जरूरी है। शुभ-अशुभ विचार सब परिग्रह हैं। उनका आगमन बाहर से हुआ है। वे आस्रव हैं। उनके आच्छादन और आवरण में ही स्वरूप छिपा हुआ है।
विचार मात्र आच्छादन है। उनकी जंजीरों को तोड़ना आवश्यक है।
फिर जंजीरें लोहे की हैं या स्वर्ण की, इससे भेद नहीं पड़ता है।
जो भी बाहर से आया है, वह सब परिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ है--चेतना
की वह शुद्ध अवस्था जहां बाहर आया कोई भी प्रभाव, इंप्रेशन अनुपस्थित है।
संस्कारों, कंडिशनिंग्स के अभाव में ही आत्मा का उदघाटन संभव होता है। उसके लिए संस्कार-शून्यता, अनकंडिशंड माइंड की भूमिका चाहिए। पर हम सब तो विचारों से भरे हैं। और जो धार्मिक हैं वे तो धार्मिक विचारों से अत्याधिक भरे हुए हैं। धार्मिक होने का यही अर्थ समझा जाता है। धर्म-ग्रंथों से भर जाना धार्मिक होना समझा जाता है। यह बिल्कुल ही भूल की बात है।
एक सदगुरु ने अपने एक विद्वान शिष्य से कभी कहा था, "और सब तो बिल्कुल ठीक है, केवल एक भूल ही और तुममें रह गयी है।" वह शिष्य बहुत दिन तक सोचता रहा, पर उसे अपने आचरण में तो कोई भूल नहीं दिखायी पड़ती थी। उसने गुरु से पूछा। तब गुरु ने कहा, "धर्म तुममें बहुत ज्यादा भरा हुआ है, उससे तुम बहुत भरे हुए हो! यू हैव ऑल टुगेदर टू मच ऑफ रिलिजन, यही एक भूल और शेष रह गयी है। और यह कोई छोटी भूल नहीं है।"
धर्म तो क्या ज्यादा हो सकता है, धर्म-शास्त्र ज्यादा हो सकते हैं। धार्मिक विचार ज्यादा भरे हुए हो सकते हैं। उनसे भरा हुआ चित्त इतना भारी होता है कि सत्य के आकाश में उड़ान नहीं भर सकता है! इसलिए मैं खाली हो जाने को कहता हूं। विचार मात्र से अपने को खाली कर लो--संस्कार मात्र से अपने को शून्य कर लो और फिर देखो कि उस शून्य में क्या घटित होता है? उस शून्य में जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार, मिरेकल घटित होता है। वह शून्य आपको स्वयं के आमने-सामने कर देता है। इससे बड़ा कोई चमत्कार नहीं है, क्योंकि आप स्वयं के सामने होते ही परमात्मा के सामने हो जाते हैं।

प्रश्नः मैं मूर्ति-पूजक हूं, पर आपके विचारों से ज्ञात होता है कि मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या मैं मूर्ति-पूजा छोड़ दूं?

मैं कुछ भी छोड़ने या पकड़ने को नहीं कहता। मैं तो आप जागें, इसके लिए पुकार रहा हूं। जाग जाने पर स्वप्न छूट जावे तो बात दूसरी है। चेतना के तल के साथ ही सब व्यवहार बदल जाता है। बच्चे बड़े हो जाते हैं, तो उनके गुड्डा- गुड्डियों के खेल अपने आप ही छूट जाते हैं। उन्हें छोड़ना नहीं पड़ता है, वे छूट ही जाते हैं।
एक गांव के अंत पर एक साधु रहता था। अकेला एक झोपड़े में, जिसमें कि द्वार भी नहीं थे और कुछ भी नहीं था, जिसके लिए कि द्वारों की आवश्यकता हो! एक दिन कुछ सैनिक उधर आये। वे उस झोपड़े में जल मांगने गये। उनमें से किसी

ने साधु से पूछा, "आप कैसे साधु हैं? आपके पास भगवान की कोई मूर्ति भी नहीं दिखाई पड़ती है।" वह साधु बोला, "यह झोपड़ा देखते हैं कि बहुत छोटा है। इसमें दो के रहने के योग्य स्थान कहां है?" उसकी यह बात सुनकर वे सैनिक हंसे और दूसरे दिन भगवान की एक मूर्ति लेकर उसे भेंट करने लगे। पर उस साधु ने कहा, "मुझे भगवान की मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि बहुत दिन हुए तब से वे ही यहां रहते हैं, "मैं" तो मिट गया हूं। देखते नहीं हैं कि यहां दो के रहने योग्य स्थान नहीं है?" और उन सैनिकों ने देखा कि वह अपने हृदय की ओर इशारा कर रहा था। वही उसका झोपड़ा था।
परमात्मा अमूर्त है। शक्ति अमूर्त ही हो सकती है। वह निराकार है। चेतना का आकार नहीं हो सकता। वह असीम है। सर्व, टोटेलिटी की कोई सीमा नहीं हो सकती है। वह अनादि है, अनंत है, क्योंकि "जो है" उसका आदि-अंत तक नहीं हो सकता है।
और हम कैसे बच्चे हैं कि उसकी भी मूर्तियां बना लेते हैं? और फिर इन स्व-निर्मित मूर्तियों की पूजा करते हैं।
मनुष्य ने अपनी ही शकल में परमात्मा को गढ़ लिया है और फिर इस भांति अपनी ही पूजा स्वयं ही किया करता है। आत्मवंचना, अहंकार और अज्ञान की यह अति है।
भगवान की पूजा नहीं करनी होती है, भगवान को जीना होता है। उसकी मंदिर में नहीं, जीवन में प्रतिष्ठा करनी होती है। वह हृदय में विराजमान हो और श्वास-श्वास में परिव्याप्त हो जावे ऐसी साधना करनी होती है। और इसके लिए जरूरी है कि "मैं" विलीन हो! उसके रहते प्रभु-प्रवेश नहीं हो सकता है। कबीर ने कहा है न कि प्रेम की वह गली "अति सांकरी" है और इसलिए उसमें दो नहीं बन सकते!
एक रात्रि मैं देर तक दीया जलाये पढ़ता था। फिर दीया बुझाया तो हैरान
हो गया। बाहर पूरा चांद था। पर मेरे दिये के टिमटिमाते प्रकाश के कारण उसकी चांदनी भीतर नहीं आ पा रही थी। यहां दीया बुझा ही था कि चांद ने अपने अमृत-प्रकाश से मेरे कक्ष को आलोकित कर दिया था। उस दिन जाना था कि "मैं" का दीया जब तक जलता रहता है, तब तक प्रभु-प्रकाश द्वार पर ही प्रतीक्षा करता है। और उसके बुझते ही वह प्रविष्ट हो जाता है। उसका--"मैं" का बुझना, निर्वाण ही, प्रभु-प्रकाश का--प्रभु का आना भी है।
भगवान की मूर्ति मत बनाओ, "मैं" की मूर्ति तोड़ दो। उसका अभाव ही भगवान
का सदभाव है।

साधना पथ
दसवां प्रवचन

ध्यान, जीवन और सत्य

सत्य का दर्शन कितनी सरल बात है, लेकिन सरलतम को ही देख पाना सदा कठिनतम रहा है।
यह इसलिए कि जो सरल है और निकट है, वह सरल और निकट होने के कारण ही भूल जाता है। हम दूर में उलझे रहते हैं और इसलिए निकट दृष्टि से ओझल हो जाता है, और हम "पर" में व्यस्त, ऑकुपाइड होते हैं, इसलिए "स्व" की विस्मृति हो जाती है।
नाटक में क्या ऐसा नहीं होता है कि देखने वाले दृश्यों में इतने खो जाते हैं कि स्वयं को भूल ही जावें? ऐसा ही जीवन में भी हुआ है। वह भी एक बड़ी नाट्यशाला है और हमने दृश्यों की तल्लीनता में द्रष्टा को, स्वयं को खो ही दिया है।
सत्य को, स्वयं को पाने को कुछ और नहीं करना है, बस दृश्यों से, नाटक से जागना भर है।
मैं देखता हूं कि आपके आसपास निरंतर एक अशांति का घेरा बना रहता है। आपके उठते-बैठते, चलते-सोते वह प्रकट होता रहता है। वह आपकी प्रत्येक छोटी-बड़ी प्रक्रिया में उपस्थित होता है। क्या आप भी यह अनुभव नहीं करते हैं? क्या आपने कभी देखा है कि आप जो भी कर रहे हैं, सब अशांति में कर रहे हैं?
इस अशांति के घेरे को तोड़ना है और एक शांति का घेरा, .जोन आफ सायलेंस पैदा करना है। उस भूमिका में ही आप उस आनंद को और उस संगीत को अनुभव कर सकेंगे जो कि निरंतर आपके ही भीतर मौजूद है, पर अपने ही आतंरिक कोलाहल के कारण जिसे सुन पाना और जी पाना संभव नहीं हो रहा है।
मित्र! बाहर का कोलाहल कोई बाधा, डिस्टरबेंस नहीं है। हम भीतर शांत हों तो वह है ही नहीं। हम भीतर अशांत हैं, यही एकमात्र बाधा है।
सुबह कोई मुझसे पूछता था, "भीतर शांत होने के लिए क्या करें?" मैंने कहा, "फूलों को देखो, उनके खिलने को देखो। पहाड़ के झरनों को देखो और उनके बहने को देखो। क्या वहां कोई अशांति दिखाई देती है? सब कितना शांति से हो रहा है। मनुष्य को छोड़कर कहीं भी अशांति नहीं है। इस भांति हम भी जी सकते हैं। इस तरह जीओ और अनुभव करो कि आप भी निसर्ग के एक अंग हो। "मैं" की पृथकता ने सब अशांति और तनाव पैदा कर दिया है!"
"मैं-शून्य" होकर कार्य करो। और आप पाओगे कि एक अलौकिक शांति भीतर अवतरित हो रही है।
हवाओं में समझो कि आप भी हवा हो, और वर्षा में समझो कि आप भी वर्षा हो।
और फिर देखो कैसी शांति क्रमशः घनी होने लगती है।
आकाश के साथ आकाश हो जाओ, और अंधकार के साथ अंधकार, और प्रकाश के साथ प्रकाश। अपने को अलग न रखो और अपनी बूंद को सागर में गिरने दो, फिर वह जाना जाता है जो कि संगीत है, जो कि सौंदर्य है, जो कि सत्य है।
मैं चलूं तो मुझे स्मरण होना चाहिए कि मैं चल रहा हूं। मैं उठूं तो मुझे होश होना चाहिए कि मैं उठ रहा हूं। कोई भी क्रिया शरीर से या मन से मूर्च्छित और बेहोशी में नहीं होनी चाहिए। इस भांति जागकर अप्रमाद से जीवनाचरण करने से चित्त अत्यंत निर्मल और निर्दोष और पारदर्शी हो जाता है। इस भांति के अप्रमत्त जीवन आचरण से ध्यान हमारे समग्र जीवन व्यवहार पर परिव्याप्त हो जाता है। उसकी अंतःधारा अहर्निश हमारे साथ बनी रहती है। वह हमें शांत करती है और हमारे व्यवहार को शुद्ध और सात्विक बनाती है।
यह स्मरणीय है कि जो व्यक्ति अपनी प्रत्येक शारीरिक अैर मानसिक क्रिया में सजग और जागृत है, उससे किसी दूसरे के प्रति कोई दुर्व्यवहार असंभव है। दोषों के लिए मूर्च्छा आवश्यक है। इसलिए अमूर्च्छा में उनका परिहार सहज ही हो जाता है।
समाधि को मैं महामृत्यु, ग्रेट डैथ कहता हूं--वह है भी। साधारण मृत्यु
से मैं मिटूंगा, पर पुनः हो जाऊंगा, क्योंकि मेरा "मैं" उसमें नहीं

मिटेगा। वह "मैं" नये जन्म लेगा और नयी मृत्युओं से गुजरेगा। साधारण मृत्यु वास्तविक मृत्यु नहीं है, क्योंकि उसके बाद फिर जन्म है और फिर मृत्यु है। और यह चक्रीय गति उस समय तक है जब तक कि समाधि की महामृत्यु आकर जन्मों और मृत्युओं से छुटकारा नहीं दे देती। समाधि महामृत्यु है, क्योंकि उसमें "मैं" मिट जाता है और उसके साथ ही जन्म और मृत्यु भी मिट जाता है। और जो शेष रह जाता है वही जीवन है।
समाधि की महामृत्यु से अमृत-जीवन उपलब्ध होता है। उसका न जन्म है, न मृत्यु है। उसका न तो आदि है, न अंत है। इस महामृत्यु को ही मोक्ष कहते हैं, निर्वाण कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं।
मेरी सलाह है कि ध्यान को काम नहीं, विश्राम समझना है। अक्रिया का यही अर्थ है। वह पूर्ण विश्राम है--समस्त क्रियाओं का पूर्ण विराम है। और जब समस्त क्रियाएं शून्य होती हैं और चित्त के सब स्पंदन विलीन हो जाते हैं, तब जो सारे धर्म मिलकर भी नहीं सिखा सकते हैं वह उस विश्राम में उभरना शुरू हो जाता है। क्रियाएं जब नहीं हैं, तब उसका दर्शन होता है जो कि क्रिया नहीं वरन सब क्रियाओं का केंद्र और प्राण है, कर्त्ता है।
सरहपाद ने कहा हैः
"जेहि मण पवण न संचरई, रवि ससि णाहि पवेस।
तहि बढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिय उवेस।।"
-- "ऐ चित्त! उस मन में चलकर विश्राम करें जहां पवन तक की गति नहीं होती है, और जहां सूरज और चांद का भी प्रवेश नहीं है। ऐसा एक केंद्र हमारे भीतर है, जहां हमारे अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं है। वही हमारी आत्मा है। और जहां तक किसी का प्रवेश है, वहां तक ही हमारा शरीर है।"
संसार जिस सीमा तक हममें प्रविष्ट हो सकता है, वही हमारी देह है। संसार उसमें प्रवेश कर सकता है, क्योंकि वह संसार का ही अंग है। इंद्रियां इस प्रवेश के द्वार हैं। और मन इस भांति प्रविष्ट संस्कारों का संग्रह है।
शरीर, इंद्रियों और मन के अतीत जो है, वह हमारी आत्मा है। उस आत्मा को पाये बिना जीवन व्यर्थ है। क्योंकि उसे जाने और जीते बिना हमारी कोई जीत नहीं है और हमारी कोई उपलब्धि, उपलब्धि नहीं है।
मैं संसार को और निर्वाण को भिन्न नहीं देखता हूं। उसमें जो भेद है,
वह सत्ता-भेद नहीं है। वह भेद उनमें नहीं, मेरी दृष्टि में है। संसार और निर्वाण ऐसी दो सत्ताएं नहीं हैं। वे "जो है" उसे देखने की मेरी दो दृष्टियां हैं। सत्ता तो एक ही है। पर देखना दो प्रकार का है। ज्ञान की दृष्टि से वही सत्ता कुछ दिखती है और अज्ञान की दृष्टि से कुछ और दिखती है।
अज्ञान में जो संसार है, ज्ञान में वही निर्वाण हो जाता है। न जानने
पर जो जगत है, जानने पर वही ईश्वर है। इसलिए प्रश्न वहां बाहर का नहीं, यहां भीतर परिवर्तन का है। मैं बदलता हूं तो सब बदल जाता है। मैं ही संसार हूं, मैं ही निर्वाण हूं।
सत्य को किसी मूल्य पर नहीं पाया जाता। उसे किसी अन्य से पाया नहीं जा सकता। वह तो आत्म-विकास का फल है।
सम्राट बिंबीसार ने एक बार महावीर से जाकर कहा था, "मैं सत्य पाना चाहता हूं। मेरे पास जो कुछ है, वह मैं सब देने को राजी हूं, पर मैं वह सत्य चाहता हूं जो कि मनुष्य को दुख से मुक्त कर देता है।"
महावीर ने देखा कि जगत को जीतने वाला सम्राट सत्य को भी उसी भांति जीतना चाहता है। सत्य को भी वह खरीदने के विचार में है। उसके अहंकार ने ही यह रूप भी धरा है। उन्होंने बिंबीसार से कहाः
"सम्राट, अपने राज्य के पुण्य-श्रावक से पहले एक सामायिक का, एक ध्यान
का फल प्राप्त करो। उससे सत्य और मोक्ष-प्राप्ति का तुम्हारा मार्ग प्रशस्त होगा।"
बिंबीसार पुण्य-श्रावक के पास गये। उन्होंने कहा, "श्रावक श्रेष्ठ, मैं याचना करने आया हूं। मूल्य जो मांगोगे, दूंगा।"

सम्राट की मांग सुनकर श्रावक ने कहा, "महाराज, सामायिक तो समता का नाम है। राग-द्वेष की विषमता को चित्त से दूर कर स्वयं में ठहरना ही सामायिक है। यह कोई किसी को कैसे दे सकता है? आप उसे खरीदना चाहते हैं, यह तो असंभव है। उसे तो आपको स्वयं ही पाना होगा। उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।"
सत्य को खरीदा नहीं जा सकता है। न उसे दान में, भिक्षा में ही पाया जा सकता है और न उसे आक्रमण करके ही जीता जा सकता है।
उसे पाने का मार्ग आक्रमण नहीं है। आक्रमण अहंकार की वृत्ति है। और अहंकार जहां है, वहां सत्य नहीं है।
सत्य को पाने के लिए स्वयं को शून्य होना पड़ता है। शून्य के द्वार से उसका आगमन होता है, अहंकार के आक्रमण से नहीं, शून्य की ग्रहणशीलता से, सेंसटिविटी से वह आता है। सत्य पर आक्रमण नहीं करना है, उसके लिए स्वयं में द्वार, ओपनिंग देना है।
हुईनेंग ने कहा, "सत्य को पाने का मार्ग है--अनभ्यास के द्वारा अभ्यास, कल्टीवेशन बाई मीन्स ऑफ नॉॅन-कल्टीवेशन। अभ्यास में भी आक्रमण न हो, इसलिए उसमें अनभ्यास की शर्त रखी है। वह क्रिया नहीं अक्रिया है, अभ्यास नहीं अनभ्यास है, पाना नहीं खोना है। पर, यही उसे पाने का मार्ग भी है। मैं जितना अपने को रिक्त और खाली कर लेता हूं, वह उतना ही मुझे उपलब्ध हो जाता है।
वर्षा में पानी कहां पहुंच जाता है! भरे हुए टीलों पर नहीं, खाली गड्ढों में उसका आगमन होता है। सत्य की प्रकृति भी वही है जो जल की है। यदि सत्य को चाहते हैं, तो अपने को बिल्कुल खाली और शून्य कर लें। शून्य होते ही पूर्ण उसे भर देता है।

साधना पथ
ग्यारहवां प्रवचन

निर्विषय-चेतना का जागरण

चिदात्मन्!
मैं आपको देखकर कितना आनंदित हूं! सत्य के लिए आपकी जिज्ञासा और प्यास कितनी गहरी है। उसे मैं आपकी आंखों में देख रहा हूं, उसे मैं आपकी श्वास-श्वास में अनुभव कर रहा हूं। और सत्य के लिए आंदोलित आपके हृदय मेरे हृदय को भी आंदोलित कर रहे हैं। और सत्य के लिए आपकी प्यास मुझे भी छू रही है। यह कितना आनंदपूर्ण है, और यह सब कितना रसमय और सुंदर है!
सत्य के लिए अभीप्सा से सुंदर, मधुर और प्रिय इस धरा पर कुछ भी नहीं है।
आनंद के इस अभूतपूर्व क्षण में मैं क्या आपसे कहूं! आपकी प्यास और प्रतीक्षा के इस क्षण में मैं क्या आपसे कहूं!
शब्द कितने ओछे, पार्थिव और अपारदर्शी हैं, यह ऐसे क्षणों में ही बोध होता है। शब्द कितने व्यर्थ और असमर्थ हैं और कितने शक्तिहीन, यह ऐसे क्षणों में ही ज्ञात होता है। कुछ कहने जैसा यदि न हो तो वे अवश्य कह पाते हैं, पर कुछ कहने जैसा हो तो एकदम अपर्याप्त पड़ जाते हैं।
यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सत्य का बोध या आनंद की अनुभूति या सुंदर
का साक्षात इतनी अपार्थिव घटनाएं हैं कि उन्हें कोई भी पार्थिव रूप देना संभव नहीं है। और पार्थिव रूप देने से ही वे अनुभूतियां मृत हो जाती हैं। फिर हमारे हाथों में वह जीवित नहीं आता है जो कि जाना और जीया गया था, आती है केवल उसकी मृत देह। आत्मा पीछे ही छूट जाती है और शब्द जिसे संवादित करते हैं, वह सत्य नहीं रह जाता है।
फिर मैं क्या कहूं?
क्या इस समय यह अच्छा नहीं था कि हम न कुछ बोलते, न कुछ सुनते, और चुप
और मौन हो जाते--बिल्कुल निःशब्द हो जाते--और उस मौन में, उस शून्य, साइलेंस में जागते और देखते--केवल जागते और देखते, वाचफुल एंड सीइंग और उसे अनुभव करते--"जो है" तो शायद जो मैं कहना चाहता हूं, वह बिना कहे ही कह दिया जाता, और मैं कहने से बच जाता और आप सुनने से बच जाते, और सत्य भी कह दिया जाता; क्योंकि वह तो प्रत्येक के भीतर ही है।
यह संगीत, जिसकी कि हम खोज में हैं, प्रतिक्षण स्वयं की ही गहराइयों में निनादित हो रहा है।
सत्य की प्यास के क्षण यदि मौन के क्षण भी हों, तो वे प्रार्थना, स्टेट
आफ प्रेयर की स्थिति में परिणत हो जाते हैं। प्रभु-प्यास और निःशब्द प्रतीक्षा ही--प्रार्थना है।
मनुष्य जिसकी खोज में है, वह उसके भीतर ही है। आप जिसे मुझसे पूछने और जानने आये हैं, वह सदा आपके साथ ही है। उसे न कभी आपने खोया है, न कभी खो सकते हैं, क्योंकि वही तो आपका अस्तित्व और होना, बीइंग है।
वह अकेली ही ऐसी संपदा है, जो कि खोई नहीं जा सकती है, क्योंकि वह आप स्वयं ही हैं। पर हम सब उसे ही खोज रहे हैं, जो खो नहीं सकता है, उसे ही खोज रहे हैं! कैसा मजा है, कैसी लीला है।
एक अदभुत प्रवचन मुझे याद आ रहा है। कब दिया, किसने दिया, यह कुछ भी मुझे याद नहीं। एक संध्या किसी मंदिर में बहुत भीड़ थी। बहुत से भिक्षु इकट्ठे थे। बड़ी प्रतीक्षा के बाद बोलनेवाले का आना हुआ।
वह बोलने उठा। और तभी किसी ने खड़े होकर पूछा, "सत्य क्या है?" एक अत्यंत जीवित और प्रतीक्षातुर सन्नाटा छा गया। जिससे पूछा गया था, वह जानता था, इसलिए उसके एक-एक शब्द का मूल्य था। पर जानते हैं, उसने क्या कहा? उसने बहुत जोर से कहा, "ओ, भिक्षुओ, ओ मॉन्क्स!" और उस अपूर्व शांति में उसके वे दो शब्द गूंजे और सभी आंखें उसकी ओर उठीं, और सभी ने उसकी ओर देखा।
सभी मौन थे, निस्तब्ध थे और सजग, वाचफुल थे। फिर बोलनेवाला और कुछ नहीं बोला। उसकी बात पूरी हो गयी थी। उसे जो कहना था, उसने कह दिया था। आप

समझे कि उसने क्या कहा? कुछ भी तो नहीं कहा न! पर मेरे देखे उसने सब कह दिया। जो कहने जैसा है, उसके कहने में सब आ गया है। मैं भी वही कहना चाहता हूं। वही कहूंगा। वही केवल कहने जैसा है। जो शब्द नहीं कह पाते हैं, वही केवल कहने जैसा है।
उसने क्या कहा? उसने कहा था, सत्य को और कहीं मत खोजो और किसी से मत पूछो, वह है तो तुम्हारे भीतर है, अन्यथा कहीं भी नहीं है।
इसलिए, यद्यपि सत्य के संबंध में उससे पूछा गया था, पर सत्य के संबंध में तो उसने कुछ भी नहीं कहा, बल्कि पूछने वालों को ही उसने पुकारा था।
उसने वैसे ही उन्हें पुकारा था, जैसे कोई किसी को निद्रा से पुकारता है। सत्य की खोज के लिए यही उत्तर है। नींद से जागना ही उसे पाना है, अन्यथा कोई मार्ग नहीं है।
हम निद्रा में हैं, इसलिए जो स्वयं के पास है, वह दिखायी नहीं पड़ता--जो
हम स्वयं हैं, उसका दर्शन नहीं होता है। और हम स्वप्न में दूर-दूर उसकी ही खोज करते हैं--जो खोजने वाले में ही है, उसकी ही खोज करते हैं। जैसे कस्तूरीमृग कस्तूरी की खोज में भटकता है, ऐसी ही हमारी भटकन और तलाश है। पर कितना ही हम खोजें जो स्वयं में है, वह किसी भी खोज से नहीं मिलेगा, क्योंकि खोज से वह मिल सकता है जो बाहर है। स्वयं को उसी भांति की खोज से नहीं पाया जा सकता है।
वह खोजने से नहीं, जागने से मिलता है। इसलिए, उसने पुकारा था। इसलिए महावीर पुकारते हैं, बुद्ध पुकारते हैं, कृष्ण पुकारते हैं, क्राइस्ट पुकारते हैं। वह बोलना नहीं, पुकारना है। वह शिक्षा नहीं, संबोधन है।
मैं भी बोलना नहीं, पुकारना चाहता हूं।
क्या आप सुनेंगे? क्या आप आज्ञा देंगे कि मैं आपकी नींद को तोडूं, और आपके स्वप्नों को खंडित करूं? यह भी हो सकता है कि जो स्वप्न आप देख रहे हों, वे बहुत सुखद हों, पर जो स्वप्न सुखद होते हैं वे ही घातक होते हैं; क्योंकि वे जागने नहीं देते हैं, और नींद की मादकता को और घना करते हैं। मैं स्वयं जागकर जो आनंद अनुभव कर रहा हूं, उसमें आपको भी साझीदार बनाना चाहता हूं। इसलिए तय किया है कि आपको पुकारूंगा। आपसे बोलूंगा ही नहीं, आपको बुलाऊंगा भी। यह पुकार आपकी तंद्रा तोड़ दे और आपके स्वप्नों के धुएं को तितर-बितर कर दे, तो मुझे क्षमा करना।
मैं असमर्थ हूं। स्वप्न तोड़े बिना सत्य के संबंध में कुछ भी नहीं कहा
जा सकता है। एक निद्रा हमें घेरे हुए है। इस निद्रा के बने रहते हमारा कुछ भी करना सार्थक नहीं है। उसके बने रहते हम जो भी करें, वह सब करना, वह सब जानना स्वप्न में है। सर्वप्रथम बात निद्रा से जागना है। शेष सब उसके बाद है। उसके पूर्व कुछ भी नहीं है। इस निद्रा में उपलब्ध किये विचार और साधे गये आचार, किन्हीं का भी कोई मूल्य मत मानना। वह सब समझना कि जैसे स्वप्न में ही हो रहा है।
मैं स्वयं ही अभी जब स्वयं को अज्ञात हूं, तो मुझसे अभी कुछ भी सम्यक होना संभव नहीं है। मेरा ज्ञान, मेरा आचरण, अभी सभी मिथ्या होने को आबद्ध है। मेरी श्रद्धा, मेरी आस्था, मेरे विश्वास, सभी अभी अंधे होंगे।
मैं अभी किसी भी रास्ते पर चलूं, वह मुझे सत्य तक नहीं ले जा सकेगा।
अभी तो चलने का सवाल ही नहीं है। निद्रा में क्या कोई चलता है? वहां तो केवल चलने का स्वप्न ही होता है।
आत्म-अज्ञान ही वह निद्रा है जिसके संबंध में मैं आपसे कह रहा हूं। उससे जागना आवश्यक है। उससे जागने के लिए वह सब समझना जरूरी है जो कि आपको नहीं जागने दे रहा है। और धर्म को जानने के पहले उससे परिचित होना आवश्यक है जो कि धर्म नहीं है, और जिसे आप धर्म समझकर पकड़े हुए हैं, और जो जागने की विधि की जगह, कहीं नींद लाने की ही दवा ज्यादा है!
मार्क्स ने धर्म को अफीम का नशा कहा है। धर्म तो नशा नहीं है, पर साधारणतः जिसे धर्म समझा जाता है, वह नशा ही है। मार्क्स भूल में था, क्योंकि उसने धर्म को नशा समझ लिया था। और आप भी भूल में हैं क्योंकि आपने नशे को ही धर्म समझ लिया है।
यह समझना जरूरी है कि क्या नशा है? और क्या धर्म है?

सबसे पहले उसका विचार करें जो कि धर्म नहीं है, और फिर उसका अनुभव करेंगे जो कि धर्म है। अधर्म का विचार ही काफी है। वह उतने से ही समाप्त हो जाता है। पर धर्म के लिए विचार पर्याप्त नहीं है। वह साधना से आता है। मैं आपको एक बात कहूं कि अगर धार्मिक जीवन में, सच ही कहीं पहुंचना हो,
तो कोई भी मान्यता लेकर नहीं चलना चाहिए। अगर सत्य को जानना हो तो कोई भी पूर्व-धारणा नहीं बनानी चाहिए। सत्य के पास हमें बिल्कुल शांत और शून्य और बिना किसी धारणा, कनसेप्शन के पहुंचना चाहिए।
पूर्व-धारणाएं और पक्ष, दृष्टि को विकृत और धूमिल कर देते हैं। जो हम जानते हैं वह सत्य नहीं, अपने ही विचार का प्रक्षेपण, प्रोजेक्शन होता है। उस भांति सत्य हम पर अवतरित नहीं होता, विपरीत हम ही उस पर आरोपित हो जाते हैं। सत्य के और हमारे बीच में कोई पक्ष, कोई सिद्धांत न हो तो ही हम जो जानेंगे वह सत्य होगा। अन्यथा हम अपने चित्त-घेरे के बाहर नहीं हो पाते हैं, और वही जानते रहते हैं, जो कि जानना चाहते हैं। यह ज्ञान, नॉलेज नहीं है; कल्पना, इमेजिनेशन है।
मनुष्य में कल्पना की असीम शक्ति है। सत्य और उसके बीच यही दीवार है। सत्य, आत्मा, परमात्मा--इनके बाबत अगर पूर्व से कोई निर्णय ले लें, तो हमारा चित्त उस निर्णय को परिकल्पित कर लेगा, और हम जानेंगे कि हमने कुछ जाना है, जब कि हमने कुछ भी नहीं जाना है, और हम केवल कल्पना मात्र में विचरण किये हैं। यह सत्य का नहीं, स्वप्न का दर्शन है।
यह तो आप जानते ही हैं कि मन स्वप्न देखने में अपूर्वरूप से समर्थ है।
जो नहीं है, उसे भी कामना दिखा देती है। वह मृग-मरीचिकाएं पैदा कर देती है और जो है वह छिप जाता है, और जो नहीं है वह प्रत्यक्ष बन जाता है। पर आप कहेंगे कि स्वप्न तो निद्रा में होते हैं। निश्चय ही स्वप्न निद्रा में होते हैं। पर निद्रा साधी जा सकती है, और एक अर्थ में जागते हुए भी आप सोये हुए हो सकते हैं।
दिवास्वप्न भी तो हम देखते हैं। फिर यदि कोई निरंतर सत्य की या परमात्मा की किसी धारणा को करे और सोते-जागते उसकी कल्पना-स्मृति से भरा हुआ हो, तो निश्चय ही प्रक्षेप हो जाता है और साक्षात भी होता है, जो कि दिवास्वप्न का ही प्रगाढ़ रूप है। आंखों के सामने तो कुछ भी नहीं होता है, पर जिसे आंखों के पीछे बहुत दिन पोषित किया है, वही सामने आ जाता है। यही प्रक्षेपण है। स्वप्न इसी भांति दिखते हैं, तथाकथित पूर्व-धारणा आधारित सत्य के साक्षात भी ऐसे ही संभव होते हैं।
क्राइस्ट का भक्त क्राइस्ट को देख लेता है, कृष्ण का भक्त कृष्ण को देख लेता है, और किसी का भक्त और किसी को देख लेता है। यह सत्य का या परमात्मा का अनुभव नहीं है। यह अपनी ही कल्पनाओं का विस्तार है, क्योंकि सत्य और परमात्मा दो नहीं हो सकते हैं।
सत्य एक है, उसकी अनुभूति भी एक है। और जो इस एक को जानना चाहता है, उसे अनेक धारणाओं और कल्पनाओं को छोड़ना होता है। मैं किसी एक धारणा के पक्ष में अन्य धारणाओं को छोड़ने को नहीं कह रहा हूं। मैं तो धारणा मात्र को छोड़ने को कह रहा हूं। ये धारणाएं ही धर्म के नाम पर प्रचलित और प्रतिष्ठित संप्रदायों के प्राण हैं, और इनके कारण ही संप्रदाय तो बहुत हैं, पर धर्म का होना असंभव हो गया है।
सत्य को जानना है, तो सत्य के संबंध में सब सिद्धांतों को छोड़ना आवश्यक है, क्योंकि उस निष्पक्ष, पूर्वाग्रह मुक्त, प्रिज्युडिस-मुक्त और अतएव, निर्दोष स्थिति में ही जो है, उसे जाना जा सकता है। जहां पूर्व धारणा नहीं है, जहां पूर्व कल्पना नहीं है, जहां पूर्व अपेक्षा, एक्सपेक्टेशन नहीं है, वहां स्वप्न निर्मित नहीं होते, वहां सत्य का दर्शन होता है। सत्य-दर्शन की साधना वस्तुतः, सत्य-दर्शन की साधना न होकर, केवल स्वप्न मुक्ति की साधना है। सत्य को क्या जानना है, बस स्वप्न से ही मुक्त होना है। वह मुक्ति ही सत्य-दर्शन है। स्वप्नों में खोये हैं, इसलिए जो है, वह निरंतर उपस्थित होकर भी, अनुपस्थित जैसा है। सत्य तो है, क्योंकि जो है, उसी का नाम तो सत्य है। उसे कहीं से लाना नहीं है। वह तो नित्य उपस्थित ही है, पर स्वप्नों में खोये होने के कारण हम उसके प्रति उपस्थित नहीं हैं।

सत्य को नहीं, स्वयं को लाना है। यह लाना परमात्मा के प्रति और नये स्वप्न देखने से नहीं होगा। यह होगा सब स्वप्न छोड़ देने से--जागने से। इसलिए मैंने कहा कि सत्य की कोई कल्पना नहीं करनी है, वरन जानना है कि चित्त जब किसी भी कल्पना में नहीं होता है, तब वह सत्य में होता है।
संसार सविकल्प चित्त का साक्षात है। सत्य निर्विकल्प चित्त का साक्षात है। सब धारणाएं, सब मान्यताएं, बिलीफ्स विकल्प हैं, इसलिए वे सत्य का द्वार नहीं हैं। वे बाधाएं हैं और कहीं पहुंचाती नहीं, विपरीत अटकाती हैं। उनमें होकर नहीं, उनसे उठकर सत्य का मार्ग जाता है।
इसलिए कोई विचार, कोई रूप, कोई आकार, कोई आस्था सत्य की मत बनाइये। जो आस्था बनायेगा, वह अनुभव हो जायेगी। पर वह अनुभव वास्तविक नहीं, मानसिक ही होता है। ऐसे अनुभव आत्मिक नहीं हैं। सत्य को जानने को अज्ञान में बतायी गयी सब मान्यताएं गलत हैं।
यह मत विचारिये कि सत्य क्या है, और कैसा है? ऐसा सब चिंतन अंधा है। वह वैसा ही है, जैसे कोई च्रुहीन प्रकाश की कोई कल्पना करे। वह बेचारा क्या कल्पना करेगा? जब आंख ही नहीं है, तो प्रकाश के संबंध में कुछ भी सोच-विचार संभव नहीं है।
वह जो भी सोचेगा, आधार से ही गलत होगा। प्रकाश तो दूर, अंधेरे तक की कल्पना वह सही नहीं कर सकता है, क्योंकि उसे भी देखने को आंखें जो चाहिए। फिर च्रुहीन क्या करे? मैं कहूंगा--प्रकाश का विचार न करे, आंख का उपचार करे। विचार नहीं, उपचार ही सहायक और सार्थक हो सकता है। पर मैं क्या देखता हूं कि उसे उपदेश दिये जा रहे हैं, प्रकाश का तत्वज्ञान समझाया जा रहा है, पर उपचार की किसी को कोई चिंता नहीं है।
और, यह देखकर जो और भी आश्चर्य होता है कि जो उपदेश में संलग्न हैं, प्रकाश के दर्शन उन्हें भी नहीं हुए हैं, और उन्होंने भी प्रकाश के संबंध में ही जाना है, प्रकाश को नहीं जाना है। यह मैं इसलिए कहता हूं कि यदि उन्होंने प्रकाश को जाना होता तो वे अवश्य ही उपदेश की व्यर्थता को समझ गये होते, और उनकी चिंता और हृदयता उपचार पर केंद्रित होती। आंख ठीक हो जाये तो प्रकाश का अपने आप अनुभव हो जाता है। वह तो निरंतर मौजूद है। केवल आंख की ही जरूरत है। स्मरण रहे कि यदि आंख नहीं हैं तो प्रकाश होकर भी नहीं हो जाता है।
यह कहना चाहूंगा कि आंख है तो प्रकाश है। आंख और प्रकाश ये दो शब्द बड़ी भिन्न दिशाओं में ले जाने में समर्थ हैं। प्रकाश की चिंतना तत्वमीमांसा, फिलॉसफी में ले जाती है। वह दिशा मात्र चिंतन की है। उसकी निष्पत्ति में अनुभूति नहीं आती है। वह कोरा विचार है।
उसमें चलना तो बहुत है, पर पहुंचना कहीं भी नहीं होता है। निष्कर्ष तो बहुत आते हैं, पर अंतिम निष्कर्ष नहीं आता है। ऐसा निष्कर्ष नहीं आता है जो समाधान हो। यह स्वाभाविक ही है। पानी का पूर्णतम विचार भी अल्पतम प्यास को कैसे मिटा सकता है? प्यास की परितृप्ति का रास्ता कुछ दूसरा है। वह प्रकाश के विचार का नहीं, आंख की साधना का है। मैंने कहा, प्रकाश की चिंतना तत्व-मीमांसा, फिलॉसफी है, और अब मैं कहना चाहूंगा कि आंख की साधना धर्म, रिलिजन है। विचार से बौद्धिक निष्पत्तियां हाथ आती हैं, साधना से आत्मिक अनुभूतियां उपलब्ध होती हैं। एक पानी का विचार है, एक प्यास की परितृप्ति है। एक समस्या ही है, एक समाधान है।
मैं प्रत्येक से यही पूछता हूं--प्रकाश जानना चाहते हैं, या कि प्रकाश
के संबंध में जानना चाहते हैं? सत्य को जानना है, या कि सत्य के संबंध में जानना है? पानी के संबंध में जानना है, या कि प्यास को मिटाना है? और आपके उत्तर पर निर्भर करेगा कि आप ज्ञान, नॉलेज के पिपासु हैं या कि मात्र जानकारी, इनफॉर्मेशन के।
यह स्मरण रहे कि ये दोनों दिशाएं बिल्कुल विपरीत हैं; एक अहंकार-विसर्जन पर ले जाती है और दूसरी अहंकार-संवर्धन पर। एक से आप सरल होते हैं और दूसरी से और जटिल हो जाते हैं। ज्ञान "मैं" को मिटा देता है, जानकारी उसे और भर देती है। सब संग्रह, सब परिग्रह "मैं" को भरते हैं, इसलिए अहं को

उनकी आकांक्षा और लालसा होती है। विचार भी सूक्ष्म परिग्रह है। वह भी अहंकार का खाद्य है।
पंडितों में जो दंभ परिलक्षित होता है, वह अनायास और आकस्मिक नहीं है। वह विचार का सहज परिणाम है। विचार संगृहीत होते हैं। वे बाहर से आते हैं, वे अंतस से जाग्रत नहीं होते। इसलिए वे आवरण ही हैं, आत्मा नहीं हैं।
अंधे व्यक्ति को प्रकाश की जानकारी बाहर से दी जा सकती है, पर दृष्टि की संवेदना उसमें भीतर से जगानी होती है। एक संग्रह है, दूसरी शक्ति है।
जानकारी, इनफॉर्मेशन और ज्ञान, नॉलेज में संग्रह और शक्ति का भेद है।
संग्रह बाहर से आता, शक्ति भीतर से आती है। संग्रह शक्ति का भ्रम देता है।
वह भ्रम बहुत प्रबल है। उस भ्रम से ही अहंकार परिपुष्ट होता है।
अहंकार शक्ति नहीं है, शक्ति का भ्रम है। वह अशक्ति ही है, क्योंकि सत्य की एक किरणमात्र उसे वाष्पीभूत कर देती है। इसलिए ही वास्तविक शक्ति सदा ही निरहंकार देखी जाती है।
मैं समझता हूं कि आप पांडित्य और प्रज्ञा के भेद को समझे होंगे? वह समझना बहुत जरूरी है। अज्ञान से भी बड़ी बाधा सत्य-साधक के मार्ग में मिथ्या-ज्ञान की है। पांडित्य मिथ्या-ज्ञान है। मिथ्या-ज्ञान का अर्थ है कि न जानते हुए भी जानना कि मैं जान रहा हूं।
दूसरों के विचार-संग्रह से यह भ्रांति सहज ही पैदा हो जाती है। शास्त्र-ज्ञान, शब्द-ज्ञान, इस भ्रांति को पैदा कर देता है। शब्द जानते- जानते लगता है कि सत्य जान लिया। शब्द स्मृति के हिस्से हो जाते हैं, और प्रत्येक प्रश्न का उत्तर ज्ञात मालूम होने लगता है। विवेक उधार विचारों से दब जाता है, और इसके पूर्व कि कोई समाधान अंतस में खोजा जा सके, विचारों का आवरण उत्तर दे देता है। इस भांति हम समस्या को जीने से बच जाते हैं और परिणामतः समाधान से वंचित हो जाते हैं।
समस्या मेरी है तो किसी दूसरे का उधार मांगा समाधान काम नहीं दे सकता है। समस्या मेरी है तो समाधान भी मेरा ही चाहना होगा। जीवन उधार नहीं मांगा जा सकता है, न ही जीवन का समाधान मांगा जा सकता है। समस्या के बाहर से समाधान नहीं आता है। वह समस्या के भीतर से ही विकसित होता है। समस्या अंतस में है, तो सत्य बाहर नहीं हो सकता है।
वह इसलिए सीखा नहीं जा सकता है। उसे तो उघाड़ना होगा, आविष्कृत करना होगा। वह शिक्षा से नहीं, साधना से आता है। शास्त्रविद होने और आत्मविद होने में यही मौलिक अंतर है। संसार के संबंध में शास्त्रविद होना पर्याप्त है। स्वयं के संबंध में वह प्रारंभ भी नहीं है।
संसार की, पदार्थ की, पर की, केवल जानकारी ही हो सकती है। जो बाहर है, उसका ज्ञान नहीं हो सकता। जो भी हमसे बाहर है, उसे हम बाहर से ही जान सकते हैं। हम उसके कितने ही निकट हों, तब भी दूर ही होंगे। उससे दूरी कितनी ही कम हो, पर समाप्त नहीं होगी। तब हम जो "स्व" नहीं है, उससे परिचित ही हो सकते हैं। उसका ज्ञान हमें नहीं हो सकता है। हम उसके संबंध में जान सकते हैं, उसे ही नहीं जान सकते हैं।
ज्ञान के लिए दूरी का न होना जरूरी है, तभी अंतःसत्ता में प्रवेश होता है। पर जिससे दूरी है, उससे दूरी मिट नहीं सकती है। दूरी जिससे नहीं है उससे ही मिट सकती है। दूरी भ्रम हो तो मिट सकती है; वास्तविक हो तो मिटना असंभव है। एक ही सत्ता है जिससे मेरी दूरी नहीं है, जिससे मेरी दूरी होनी असंभव भी है। वह सत्ता मैं स्वयं हूं। इस सत्ता का ही केवल ज्ञान हो सकता है। इस सत्ता से जो दूरी है, वह निश्चय ही भ्रम है, क्योंकि स्वयं से ही दूरी हो कैसे सकती है? मैं ही मेरे लिए एकमात्र केंद्र हूं, जिसमें आत्यंतिक रूप से मेरा आंतरिक प्रवेश है, आंतरिक निवास और प्रतिष्ठा है। इस बिंदु को ही केवल जाना जा सकता है। मात्र इसका ही ज्ञान हो सकता है।
यह भी आपको स्मरण दिला दूं कि जिस भांति संसार ज्ञान का नहीं हो सकता
है, केवल परिचय, एक्वेन्टेंस और जानकारी ही हो सकती है--और ज्ञान केवल स्वयं का ही हो सकता है--उसी भांति आत्मा की कोई जानकारी नहीं हो सकती है, उसका केवल ज्ञान, नॉलेज ही हो सकता है। यही कारण है कि संसार के, पदार्थ के संबंध में शास्त्रविद होना ही पर्याप्त है, स्वयं के संबंध में नहीं है।

विज्ञान, साइंस शास्त्र है। धर्म शास्त्र नहीं है। क्योंकि विज्ञान पदार्थ की जानकारी है, धर्म स्वयं का ज्ञान है। विज्ञान शास्त्र है, धर्म साधना है। मैं उपदेश नहीं देता हूं, वह दिशा ही निरर्थक है। उपदेश नहीं, उपचार का प्रश्न है। सत्य के संबंध में सिद्धांत नहीं देने हैं। उनका कोई भी मूल्य नहीं है। मूल्य उस विधि का है, जिससे सत्य का दर्शन होता है। विधि से उपचार होता है और आंख खुलती है। फिर प्रकाश को सोचना नहीं पड़ता है, उसका दर्शन होता है। आंख न हो तो सोचना पड़ता है, आंख हो तो सोचने की बात ही नहीं है। विचारणा, थिंकिंग अंधेपन में, आंख की जगह काम करती है। आंख के आते ही वह व्यर्थ हो जाती है।
इससे मेरे देखे--विचार ज्ञान का नहीं, अज्ञान का लक्षण है। ज्ञान निर्विचार होता है। वह सोचना नहीं, अंतर्दृष्टि है।
सत्य के संबंध में कोई भी सिद्धांत यह अंतर्दृष्टि, इनसाइट नहीं दे सकता है। वह बौद्धिक परिग्रह होकर ही रह जाता है। वह स्मृति का अंश बन जाता है, ज्ञान नहीं बन सकता। सिद्धांत सिखाये जा सकते हैं, पर उनसे किसी का व्यक्तित्व परिवर्तित नहीं होता। वस्त्रों की भांति वह ऊपर से भेद ला देते हैं, पर भीतर जो था वह वैसा का वैसा ही बना रहता है। अंतस उनसे अछूता ही रह जाता है, केवल आवरण नये रूप-रंग ले लेता है। इसी भांति व्यक्ति प्रज्ञा में तो जाग्रत नहीं होता, उल्टे पाखंड, हिपोक्रेसी में पतित हो जाता है। उसके "होने" और "जानने" में एक खाई बन जाती है। वह होता कुछ है, जानता कुछ है। उसके दो व्यक्तित्व हो जाते हैं। अंतस और आवरण में विरोध और द्वैत आ जाता है। इसकी स्वाभाविक परिणति ही पाखंड है। ऐसा व्यक्ति जो उसके अंतस में नहीं है उसे दिखाने में लग जाता है, और जो है उसे छिपाने में लग जाता है। यह अभिनय धार्मिकता नहीं है। और इससे दूसरों का नहीं, स्वयं का ही जीवन नष्ट होता है।
यह आत्म-वंचना है। पर इसे ही धार्मिकता समझा और समझाया जाता है। सिद्धांतों की कोरी बौद्धिक शिक्षा केवल इतना ही कर सकती है। उससे आवरण परिवर्तन हो सकता है। आत्म-क्रांति के लिए कुछ और दिशा चाहिए। वह दिशा सिद्धांत की नहीं, साधना की है। वह दिशा उपदेश की नहीं, उपचार की है। वह दिशा सत्य के संबंध में विचारणा की नहीं, सत्य के प्रति आंख खोलने की है। धर्म आंख खोलने की विधि है। आंख खुल जावे तो "जो है" उसका दर्शन सहज है। पर सिद्धांतों से आंखें नहीं खुलती हैं, विपरीत जो उनकी मूर्च्छा में पड़े रहते हैं, वे भूल ही जाते हैं कि उनकी स्वयं की आंखें अभी बंद हैं और वे जिन सत्यों की चर्चा कर रहे हैं, वे उनकी स्वयं की नहीं, किन्हीं अन्य की आंखों से देखे गये हैं।
पर, दूसरे की आंख से देखा गया सत्य वैसा ही है जैसे दूसरे के द्वारा किया गया भोजन। उसकी सार्थकता किसी दूसरे के लिए कुछ भी नहीं है। सत्य की अनुभूति अत्यंत वैयक्तिक और निजी है और उसे कोई भी किसी दूसरे को हस्तांतरित नहीं कर सकता है।
वह ली-दी नहीं जा सकती है। उसे तो स्वयं ही पाना होता है। उसकी चोरी का
या उसे दान में पाने का कोई मार्ग नहीं है। वह संपत्ति नहीं है, स्वत्व है। सत्य संपत्ति नहीं, स्वत्व है, इसलिए अहस्तांतरणीय, अनट्रांसफरेबल है। आज तक उसे किसी ने भी किसी को नहीं दिया है और न भविष्य में ही कोई कभी उसे किसी को दे सकेगा। क्योंकि जिस दिन भी वह दिया जायेगा, उसी दिन सत्य नहीं, वस्तु हो जायेगा। वस्तु ली-दी जा सकती है। सत्य को स्वयं में और स्वयं से ही पाना होता है।
वह वस्तुतः "पाना" भी नहीं है, वह "होना" है। वह हमारी स्व-सत्ता है। उसे सीखने का प्रश्न कहां है? उसे तो उघाड़ना है। सीखने, लर्निंग से तो और पर्तें बनती हैं, और स्व आच्छादित होता है। बाहर से जो भी सीख, टीचिंग मिलती है, वह आवृत्त ही करती है। बाहर से जो भी आयेगा वह आवृत्त ही करेगा।
बाहर से आवरण ही हो सकता है।
विचारों के वस्त्र, "स्व" को ढांकते जाते हैं। इन सब वस्त्रों को छोड़कर नग्न होना होता है। स्वयं को जानने को सब वस्त्र छोड़ देने होते हैं।
सीखना नहीं, अनसीखना, अनलर्निंग करना होता है। बाहर से आये हुए अतिथि जब

नहीं होते हैं, तब वह जाना जाता है, जो कि अतिथि, गेस्ट नहीं, आतिथेय, होस्ट है।
सत्य तो नहीं सिखाया जा सकता, पर सत्य को जानने की विधि सिखायी जा सकती है। आज इस विधि की कोई चर्चा नहीं है। सत्य की चर्चा तो बहुत है, पर सत्य-दर्शन की विधि की चर्चा नहीं है।
इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती है।
यह तो प्राण को छोड़ देह को पकड़ लेने जैसा ही है। इसके परिणाम स्वरूप
ही धर्म तो बहुत हैं, धर्म नहीं है। आज जो संप्रदाय धर्म के नाम पर चलते दीख रहे हैं, वे धर्म नहीं हैं। धर्म तो एक ही हो सकता है। उसमें विशेष नहीं लग सकता। वह तो विशेषण-शून्य है।
धर्म--"यह" धर्म और "वह" धर्म नहीं हो सकता है। जहां "यह" और "वह" है, वहां धर्म नहीं है।
सत्य के संबंध में सिद्धांतों के कारण, इन संप्रदायों का जन्म हुआ है। सिद्धांतों पर जब तक जोर और आग्रह है, तब तक संप्रदाय भी बने ही रहेंगे। सिद्धांत शब्द-आग्रह है। इन्हीं शब्दों के केंद्र पर संप्रदाय बनते हैं। इन शब्दों पर संघर्ष चलता है और वैमनस्य और विद्वेष पलता है। ये शब्द मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देते हैं। और कैसा आश्चर्य है कि विश्वास किया जाता है कि जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ रहा है, वह मनुष्य को परमात्मा से नहीं जोड़ सकेगा?
जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ता है, वह न तो उसे स्वयं से जोड़ सकता है और
न सत्य से जोड़ सकता है। धर्म का सिद्धांतों में यह विघटन सिद्धांतों के कारण हुआ है, शब्दों के कारण हुआ है, विश्वासों और मान्यताओं के कारण हुआ है।
यह विघटन ज्ञान पर नहीं, अज्ञान पर आधारित है। सत्य का कोई संप्रदाय नहीं है; सब संप्रदाय सिद्धांतों के हैं। सत्य-बोध--संप्रदाय-मुक्ति बन जाता है। उसी क्षण धर्म में प्रवेश होता है--उस धर्म में, जो न हिंदू है, न जैन है, न ईसाई है, जो मात्र धर्म है, जो मात्र प्रकाश है, जो मात्र चैतन्य है।
धर्म स्वरूप-साक्षात है। संप्रदाय धार्मिक नहीं हैं। धर्म का संगठन
से क्या वास्ता? सब संगठन, ऑर्गनाइजेशन राजनैतिक और सामाजिक हैं। संगठन मात्र सांसारिक हैं। वे एक दूसरे के भय पर खड़े होते हैं। और जहां भय है, वहां घृणा है। उसका जन्म सत्य से नहीं, सुरक्षा के लिए होता है। राष्ट्र हों, समाज हों, या संप्रदाय हों, वे सब भय से उत्पन्न होते हैं। और जो भय से उत्पन्न होता है, उसकी सार्थकता यही है कि वह दूसरों में भय उत्पन्न करे। सारे संप्रदाय यही करते हैं। वे किसी को धार्मिक नहीं बनाना चाहते हैं। वे सब अपनी संख्या बढ़ाना चाहते हैं क्योंकि संख्या शक्ति है और सुरक्षा का आश्वासन है। वह आत्मरक्षा भी है और आक्रमण की क्षमता भी है। संप्रदाय यही करते रहे हैं, कर रहे हैं, और करते रहेंगे। उन्होंने मनुष्य को धर्म से जोड़ा नहीं, तोड़ा है। धर्म एक सामाजिक घटना नहीं, एक अत्यंत वैयक्तिक क्रांति है। उसका दूसरों से कोई संबंध नहीं, स्वयं से ही संबंध है। व्यक्ति दूसरों के साथ क्या करता है इससे नहीं, उसका संबंध इस बात से है कि व्यक्ति स्वयं अपने साथ क्या करता है?
"मैं" अपने निपट अकेलेपन में, अपने साथ क्या करता हूं--इस बात का संबंध धर्म से है।
मैं अपने निपट अकेलेपन में क्या हूं, यह जानना है। मैं क्या हूं, यह जानना है। मेरी सत्ता का बोध ही मुझे धर्म में ले जायेगा। और कोई मार्ग धर्म में नहीं ले जाता है। कोई मंदिर, कोई मस्जिद, कोई शिवालय, कोई चर्च मुझे वहां नहीं पहुंचाते, जहां मैं हूं। वहां जाने के लिए बाहर की कोई सीढ़ियां पार नहीं करनी हैं। सब शिवालय बाहर हैं, सब मंदिर संसार के हिस्से हैं। उनके द्वार "स्व" तक पहुंचाने में समर्थ नहीं हैं। बाहर की गयी कोई भी यात्रा, तीर्थयात्रा नहीं है। वह तीर्थ तो भीतर है जहां धर्म का अनुभव होता है और उस रहस्य का, उस आनंद का, उस सौंदर्य का, उस जीवन का उदघाटन होता है, जिसे पाये बिना सब दुख है, सब व्यर्थ है और सब अर्थहीन, मीनिंगलेस है।

"मैं" को जानने को बाहर नहीं, भीतर चलना है। पर, मनुष्य की सारी इंद्रियां उसे बाहर ले जाती हैं। वे सब बहिर्गामी हैं। उसकी आंखें बाहर देखती हैं, उसके हाथ बाहर फैलते हैं, उसके चरण बाहर चलते हैं। उसका मन भी बाहर को ही प्रतिबिंबित और प्रतिध्वनित करता है। और यही कारण है कि उसने भगवान की मूर्तियां बना ली हैं, और सत्य के मंदिर खड़े कर लिये हैं। ताकि उसकी आंखें भगवान के दर्शन कर सकें और उसके चरण सत्य की यात्रा कर सकें! यह आत्म-वंचना स्वयं हमने कर ली है। और यह विष स्वयं हमने अपने हाथों पी लिया है और इस वंचना और इस विष की मूर्च्छा में हम अपना सारा जीवन व्यय और व्यतीत कर देते हैं। इंद्रियों की सुविधा के लिए हमने धर्म की, बाहर ही कल्पना और सृष्टि कर ली है, जब कि धर्म को जानने को हमें इंद्रियों के पीछे जाना जरूरी है। जो ज्ञान, जो चेतना इंद्रियों के माध्यम से जगत को जानती है, उसे ही स्वयं जानना हो तो इंद्रियां माध्यम नहीं हो सकतीं। जो जान रहा है, जो ज्ञान है, वह स्वयं ही ज्ञेय की भांति नहीं जाना जा सकता।
जो द्रष्टा है, जो दर्शन की शक्ति है, उसका स्वयं दृश्य की भांति दर्शन नहीं हो सकता है। विषय, सब्जेक्ट कभी भी विषयी, ऑब्जेक्ट में परिणत और पतित नहीं हो सकता। यह सरल-सी, सीधी-सी बात ध्यान में न आने से सारी भूल हो गयी है। परमात्मा की खोज होती है, जैसे वह कोई बाह्य वस्तु है। उसे पाने के लिए पर्वतों और वनों की यात्राएं होती हैं, जैसे वह कोई बाह्य व्यक्ति है। यह सब कैसा पागलपन है? उसे खोजना नहीं है। जो खोज रहा है, उसे ही जानने से वह मिल जाता है। वह वहीं है। खोज में नहीं, खोजने वाले में ही वह छिपा है।
सत्य आपके भीतर है। सत्य मेरे भीतर है। वह कल आपके भीतर नहीं होगा, वह इसी क्षण अभी और यहीं आपके भीतर है। "मैं हूं" यह होना ही मेरा सत्य है। और जो भी मैं देख रहा हूं, वह हो सकता है कि सत्य न हो, हो सकता है कि वह सब स्वप्न ही हो, क्योंकि मैं स्वप्न भी देखता हूं और देखते समय वे सब सत्य ही ज्ञात होते हैं। यह सब दिखाई पड़ रहा संसार भी स्वप्न ही हो सकता है। आप मेरे लिए स्वप्न हो सकते हैं। हो सकता है कि मैं स्वप्न में हूं और आप उपस्थित नहीं हैं। लेकिन देखने वाला द्रष्टा असत्य नहीं हो सकता है। वह स्वप्न नहीं हो सकता है, अन्यथा स्वप्न देखना उसे संभव नहीं हो सकता था। स्वप्न ही स्वप्न को नहीं देख सकता है। असत्य ही असत्य को नहीं जान सकता है। स्वप्न देखने को कोई चाहिए जो कि स्वप्न न हो। असत्य दर्शन को भी सत्य द्रष्टा अपरिहार्य है। इसलिए मैं कहता हूं कि मैं सत्य हूं। सत्य ही मेरा होना, बीइंग है। इसे खोजने कहीं नहीं जाना है। इसे अपने में ही खोज लेना है। कुआं खोदते हैं न? वैसे ही इसे भी खोद लेना है। मिट्टी की कुछ पर्तें जल-स्रोत को दबाये रहती हैं, उन पर्तों को हटाना भर है और जल-स्रोत उपलब्ध हो जाते हैं। स्वयं को कुछ "पर" की, अन्य की पर्तों ने दबा रखा है। उन्हें तोड़ना भर है--और वह उपलब्ध हो जाता है जिसकी कि जन्म-जन्म से खोज थी। और जिसका पाना नहीं हो सका है, क्योंकि उसे हम दूर खोजते रहे हैं जब कि वह निकट ही है--जब कि वह वही है, जो कि खोज रहा है।
आत्मा का कुआं खोदना है। उस खुदाई का उपकरण ध्यान, मेडिटेशन है। ध्यान की कुदाली से स्वभाव पर बैठी "पर-भाव" की मिट्टी की पर्तें खोदनी होती हैं। यही उपचार है। इसकी ही मैं चर्चा करना चहता हूं। स्वभाव पर, मेरी स्व-सत्ता पर किसका आच्छादन है, यह जानना सबसे पहले जरूरी है। वह क्या है जो मुझे मुझसे ही छिपाये हुए है?
क्या आपको दीखता है? क्या आच्छादन समझ में नहीं आता है? जब भीतर जाते हैं तो किसे पाते हैं? ह्यूम ने कहा है, "जब भी मैं भीतर गया तो विचारों और विचारों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाया।" उसे कोई आत्मा नहीं मिली। ऐसे तो आपको भी नहीं मिलेगी। वह आच्छादन से ही लौट आया था। वह उस खोल से ही लौट आया, जिसे तोड़कर ही भीतर जो है उसके दर्शन किये जा सकते हैं।
जैसे कोई किसी झील पर जाये और उसकी सतह पर आच्छादित काई और पत्तों को देखकर लौट आवे और कहे कि वहां तो कोई झील ही नहीं है--साधारणतः ऐसा ही होता है। भीतर तो हम रोज आते हैं पर उन विचार-वस्त्रों को देखकर ही लौट आते हैं जो कि सतत ही वहां मौजूद हैं। विचार के अतिरिक्त आप कुछ नहीं जानते हैं।

वही आपका संसार है। और जो केवल विचारों में ही जीता है, वही संसारी है। विचारों के पार किसी को जानना, धार्मिक होने का प्रारंभ है।
निर्विचार को जानना धर्म में प्रवेश है। यह हो सकता है कि आपके विचार संसार के न हों--आत्मा के हों, परमात्मा के हों, और आप भ्रम में हों कि आप धार्मिक हैं। मैं आपके इस भ्रम को तोड़ देना चाहता हूं। विचार मात्र आच्छादन है। विचार मात्र विकार है, क्योंकि विचार मात्र बाह्य है। कोई विचार स्व का नहीं होता है। स्व का विचार नहीं होता, ज्ञान होता है। विचार का आच्छादन है--निर्विचार से उदघाटन हो सकता है। निर्विचारणा ध्यान है। जब कोई विचार नहीं होता है, तब हम उसे जानते हैं जो कि विचारों में छिपा हुआ था। बदलियां जब नहीं होती हैं, तब नीलाकाश प्रकट होता है। मित्र! एक आकाश भीतर भी है--विचार की बदलियों को विदा करना है, ताकि वह जाना जा सके। यह हो सकता है, जब आंख शांत होती है और उसमें कोई विचार नहीं होता है, तभी उस मौन में, उस प्रगाढ़ निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था में सत्य का दर्शन होता है।
क्या करें कि यह हो? एक बहुत सरल-सी बात करनी है, पर वह बहुत कठिन मालूम होगी, क्योंकि हम बहुत जटिल हैं। एक अभी-अभी जन्मे बच्चे को जो संभव है, वही हमें असंभव हो गया है। फिर से जगत को और स्वयं को वैसे देखना है जैसा कि अभी-अभी जन्मा बच्चा देखता है। वह केवल देखता है और सोचता नहीं है। वह केवल देखता है। यह "केवल देखना", जस्ट सीइंग अदभुत है। यह वह रहस्य-कुंजी है जिससे सत्य का द्वार खोला जा सकता है।
मैं आपको देख रहा हूं। मैं बस देख रहा हूं। देखते हैं--मैं सोच नहीं रहा हूं। और तब एक अपूर्व सन्नाटा, एक जीवित शांति भीतर अवतरित हो जाती है। तब सब देखा जाता है, तब सुना जाता है। पर भीतर कुछ कंपित नहीं होता है और भीतर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। विचार नहीं होते हैं और केवल दर्शन होता है।
सम्यक दर्शन, राइट अवेयरनेस ध्यान की विधि, मेथड आफ मेडिटेशन है। देखना है, मात्र देखना है, जो बाहर है उसे और जो भीतर है उसे भी। बाहर वस्तुएं हैं, भीतर विचार हैं। इन्हें देखना है, ऐसे ही जैसे हम सब निष्प्रयोजन उन्हें देख रहे हैं। कोई प्रयोजन नहीं है, बस देख रहे हैं। एक साक्षी, विटनेस मात्र हैं--तटस्थ साक्षी हैं। और देख रहे हैं। निरीक्षण, यह सजगता क्रमशः शांति में, शून्य में, निर्विचार में ले जाती है। करें और जानें।
विचार जैसे-जैसे विलीन होते हैं, वैसे-वैसे चेतना जागती और जीवित होती है। कहीं भी, कभी भी--अनायास दो क्षण को रुक जायें और देखें--सुनें-- साक्षी हों--जगत के और स्वयं के। सोचें नहीं, साक्षी हों। और फिर देखें कि क्या होता है? फिर इस साक्षी-भाव को फैलने दें। वह आपकी सारी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में उपस्थित हो। वह सतत साथ हो--वह होगा तो आप मिट जावेंगे और उसका दर्शन होगा जो कि वस्ततुः आप हैं। "मैं" तो मिट जाता है। और मैं मिल जाता है।
साक्षी-साधना में, तटस्थ द्रष्टा के निरीक्षण में, उस पर से जिसके कि
हम साक्षी हैं, उस पर अनायास संक्रमण, ट्रांसफॉर्मेशन, परिवर्तन हो जाता है जो कि साक्षी है। विचारों को देखते-देखते ही उसकी झलकें आने लगती हैं जो कि उन्हें देख रहा है--और फिर जब एक दिन वह अपनी पूरी गौरव गरिमा में प्रकट होता है तो हमारी सारी दरिद्रता और दीनता मिट जाती है।
यह साधना ऐसी नहीं है कि कभी की--और मुक्त हुए। इसे तो सतत और अहर्निश साधना है। वह क्रमशः सारे समय पर व्याप्त हो जाती है। साक्षी-भाव को करते- करते--उस भाव में जाते-जाते वह भाव थिर हो जाता है--वह भाव निरंतर उपस्थित रहने लगता है। उठते-बैठते, चलते-रुकते वह मौजूद रहता है। धीरे-धीरे जागते- सोते भी रहने लगता है। निद्रा में भी वह बना रहता है--और जब वह निद्रा में भी बना रहने लगे तो जानना चाहिए कि वह प्रगाढ़ हुआ है--और उसने भीतर प्रवेश किया है। अभी तो हम जागे हुए भी सोये हैं--तब सोये हुए भी जागे रहते हैं। साक्षी-भाव की साधना जागरण से विचार और निद्रा से स्वप्न को विसर्जित
कर देती है। विचार और स्वप्न-शून्य चित्त अपनी तरंगें खो देता है। वह

निस्तरंग होता है और निष्कंप--जैसे किसी सागर पर लहरें न हों और वह निस्तरंग, वेवलेस होता है और जैसे किसी ऐसे गृह में जहां हवा के झोंके नहीं होते हैं तो दीये की लौ निष्कंप होती है। इस स्थिति में जाना जाता है--जो स्व है, जो मैं हूं, जो सत्य है। और प्रभु के भवन के द्वार खुलते हैं। शास्त्रों में, शब्दों में नहीं, स्वयं में यह द्वार है। इसलिए मैंने कहा कि कहीं और न खोजें वरन अपने में ही खोजें। कहीं न जावें, स्वयं में जावें। इस जाने के लिए मैंने विधि को समझाया है।
आपकी आंखों में आयी शांति और चमक से मैं समझता हूं कि आप समझे हैं। पर इतनी समझ ही काफी नहीं है। बौद्धिक समझ, अंडरस्टेंडिंग पर्याप्त नहीं है-- वह नहीं, आत्मिक अनुभूति, एक्सपीरियन्स ही सत्य जीवन का आधार बनती है। जो मैंने कहा है, उस दिशा में थोड़ा चलकर देखें--उस दिशा में थोड़ा होकर देखें। आप थोड़ा ही चलें तो बहुत पहुंच जावेंगे, क्योंकि सत्य की ओर चलने पर जैसे- जैसे हम उसके निकट होते हैं वैसे-वैसे उसका गुरुत्वाकर्षण, ग्रेविटेशन भी प्रभावी होता जाता है, और हम चलते ही नहीं, खींच भी लिये जाते हैं।
और अंत में इतना स्मरण रखें कि जो चलते हैं वे अवश्य पहुंच जाते हैं। परमात्मा की ओर उठाया कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता है। मैं इस सत्य की गवाही दे रहा हूं।
मैं चाहता हूं कि एक क्षण भी उस सत्य को जानें और गवाही दे सकें। वह निकट ही है--केवल आपके जागने भर की बात है। सूरज तो निकला ही हुआ है--केवल आप आंख भर खोल लें! इस आंख खोलने के लिए ही मैं आमंत्रण दे रहा हूं--क्या आप मेरी पुकार सुनेंगे और आंख खोलेंगे? यह निर्णय और संकल्प आप पर और केवल आप पर ही निर्भर है।

साधना पथ
बारहवां प्रवचन

सत्य-अनुभूति में बाधाएं

प्रश्नः क्या आप तत्वदर्शन का कोई मूल्य नहीं मानते हैं? क्या सत्य
को जानने के लिए सत्य के संबंध में जानना आवश्यक नहीं है?

सत्य को जानने के पूर्व सत्य को नहीं जाना जा सकता है। और सत्य के संबंध में जानना, सत्य को जानना नहीं है। वह सब असत्य है। वह इसलिए असत्य है, क्योंकि स्वानुभव के अभाव में उसे समझा ही नहीं जा सकता है।
वह कहने वाले की ओर से नहीं, सुनने वाले की ओर से असत्य है।
मैं सत्य के संबंध में जो कहूंगा, क्या आप वही समझेंगे?
यह तो संभव नहीं है। क्योंकि वही समझने के लिए आपका वही और वहीं होना जरूरी है जो मैं हूं और जहां मैं हूं। अन्यथा वह आप तक पहुंचते-पहुंचते ही असत्य हो जाता है।
ऐसा ही होता है। क्योंकि मैं तो शब्द ही दूंगा, पर उनका अर्थ आपके भीतर से आयेगा। वह अर्थ आपसे होगा पैदा और वह आपसे अन्यथा नहीं होगा। शब्द मेरे होंगे, अर्थ आपका होगा। वह अर्थ आपसे ज्यादा और आपकी अनुभूति से ऊपर नहीं हो सकता है।
क्या आप सोचते हैं कि जब आप गीता पढ़ते हैं तब आप कृष्ण को पढ़ते हैं, ऐसा सोचते हों तो बड़ी भूल में हैं, मित्र! गीता में आप अपने को ही पढ़ते हैं, अन्यथा गीता के इतने अर्थ और टीकाएं क्या संभव थीं? प्रत्येक शास्त्र में हम अपनी ही शकल देख लेते हैं, और प्रत्येक धर्म हमारे लिए दर्पण से भिन्न नहीं है।
सत्य को जानने के पूर्व सत्य नहीं, शब्द ही जाने जा सकते हैं, वे शब्द दूसरों के होंगे, पवित्र ग्रंथों और अवतारों, तीर्थंकरों के होंगे, पर उनमें अर्थ हमारा ही होगा, उनके भीतर मैं ही रहूंगा। क्या तथाकथित धर्मों में जो भेद और वैमनस्य है, उसका कारण यही नहीं है?
क्या बुद्ध और क्राइस्ट में विरोध और वैमनस्य संभव है? वह मेरा और आपका वैमनस्य है, वह मेरा और आपका अर्थ है, वह मेरा और आपका विरोध है, जो हम उनके नाम से चला रहे हैं।
सत्य को जो जानते हैं, उनसे धर्म प्रकट होता है, पर जो सत्य को सुनते
और मानते हैं, उनसे धर्म नहीं, संप्रदाय बनते और संगठित होते हैं। इसलिए धर्म तो एक ही है, पर संप्रदाय अनेक हैं, क्योंकि सत्य को "जानना" तो एक ही अनुभूति है पर सत्य को "मानना" एक ही नहीं है। ज्ञान एक ही है, पर मान्यताएं उतनी ही हैं जितने कि मानने वाले हैं।
धर्म, रिलिजन का जन्म तो सत्य-दर्शन से होता है, पर धर्मों, रिलिजन्स
का जन्म सत्य-अदर्शन से होता है।
धर्म-चक्र का प्रवर्तन तो वे करते हैं, जो जानते हैं, पर धर्म-संगठन वे करते हैं जो नहीं जानते हैं, और उनके सदप्रयासों में ही धर्म अधर्म हो जाता है। मनुष्य का पूरा इतिहास इस दुर्भाग्य से पीड़ित रहा है।

प्रश्नः सत्य की कोई धारणा बिना बनाये तो हम उनके संबंध में कुछ सोच
ही नहीं सकते हैं?

मैं सोचने को कह भी नहीं रहा हूं। सोचना आपके जानने से ऊपर कभी नहीं जाता है। और यदि आप सत्य को नहीं जानते हैं, तो इस संबंध में सोच ही कैसे सकते हैं? सोचना, थिंकिंग सदा जानने की सीमा में ही होता है। वह उसी की जुगाली है।
सोचना-विचारना सृजनात्मक, क्रिएटिव कभी नहीं है, वह केवल पुनर्वृत्यात्मक, रिपिटीटिव है। जो अज्ञात है, वह उससे नहीं जाना जा सकता है। उसे जानना है तो जो हम जानते ही हैं, उसके बाहर चलना जरूरी है। अज्ञात में प्रवेश के लिए ज्ञात तटों को छोड़ना ही होता है।

इसलिए अच्छा है कि सत्य की कोई धारणा न बनावें। वह धारणा एकदम ही असत्य होगी। वह निष्प्राण शब्द ही होगी, जीवित अर्थ नहीं। वह शब्द परंपरा से आदृत हो सकता है, हजारों लोगों से पूज्य हो सकता है, उसके समर्थन में धर्म-शास्त्र हो सकते हैं, पर उसका आपके लिए कोई मूल्य नहीं है। सत्य-साधक के लिए वह निर्मूल्य ही नहीं, घातक भी है।
उस शब्द के घेरे में से, उस शब्द की चौखट में से--सत्य के खंडित आकाश को देखना एक बात है और सारे घेरों और चौखटों के बाहर आकर अखंड आकाश के दर्शन करना बिल्कुल ही दूसरी बात है। आकाश किसी घेरे में नहीं है, सत्य भी किसी घेरे में नहीं है। सब घेरे मनुष्य-निर्मित हैं। सब धारणाएं मनुष्य-निर्मित हैं। सब शब्द मनुष्य द्वारा दिये गये हैं। सत्य वह है जो मनुष्य-निर्मित नहीं है।
उस सत्य को जानना है तो चलें, थोड़ा अपने घरों से बाहर चलें--शब्दों, विचारों और अपने तथाकथित ज्ञान के बाहर चलें। ज्ञात को छोड़ें ताकि अज्ञात आ सके और मनुष्य-सृष्ट धारणाओं को छोड़ें ताकि उसका साक्षात हो सके जो कि सृष्ट नहीं है, बल्कि समस्त सृष्टि का आधार है।

प्रश्नः शास्त्रों के बिना हम सत्य को जान ही कैसे सकते हैं? सत्य का ज्ञान तो उन्हीं से होता है!

क्या आप सोचते हैं कि समस्त शास्त्र नष्ट हो जावें तो सत्य नष्ट हो जायेगा? क्या सत्य शास्त्र-निर्भर है या कि शास्त्र ही सत्य-निर्भर है? मित्र! शास्त्रों से सत्य कभी नहीं पाया गया है, विपरीत सत्य को पाने
से ही शास्त्र पाये गये हैं। शास्त्रों का मूल्य नहीं, मूल्य सत्य का है, क्योंकि मूल शास्त्र नहीं, मूल सत्य है।
और यदि शास्त्रों से सत्य मिल सकता तो बहुत सस्ती बात होती, वह स्वयं
को बदले बिना ही हो जाता। पर शास्त्र स्मृति को ही भर सकते हैं, स्वयं एक बोध नहीं दे सकते हैं। और सत्य की दिशा में स्मृति-प्रशिक्षण, मेमोरी ट्रेनिंग से कुछ भी नहीं होता है। उसके लिए तो स्वपरिवर्तन, सेल्फ ट्रांसफॉर्मेशन का मूल्य चुकाना होता है।
शास्त्र आपको पंडित बना सकते हैं। ज्ञान का उनसे जन्म नहीं होता है। शास्त्रों से और शास्त्रों का जन्म हो सकता है। यह स्वाभाविक ही है; पार्थिव से पार्थिव ही पैदा हो सकता है। पर ज्ञान उनसे कैसे आविर्भूत होगा?
वह तो चैतन्य का स्वरूप है। यह जड़ से नहीं आ सकता है।
शास्त्र जड़ है, सत्य जड़ नहीं है। उनसे जड़ स्मृति समृद्ध हो सकती है। चेतन ज्ञान उनमें गति से नहीं, स्वयं में गति से उपलब्ध होता है।
मैं कहूंगा कि शास्त्रों के बीच में रहते आप सत्य को कैसे जान सकते हैं?
यह मिथ्या धारणा कि सत्य कहीं से मिल सकता है--शास्त्र से या गुरु से-- आपको स्वयं में नहीं खोजने देती है। यह धारणा बहुत बाधा है। यह भी संसार में ही तलाश है। स्मरण रहे कि शास्त्र भी संसार के ही हिस्से हैं। जो भी बाहर है, वही संसार है। सत्य वहां है, जहां बाहर नहीं है, क्योंकि स्व वहां है।
स्व ही वास्तविक शास्त्र है और स्व ही वास्तविक गुरु है--उसमें प्रवेश से ही सत्य उपलब्ध होता है।

प्रश्नः बुद्धि जो बताती है कि सत्य है, क्या वह सत्य नहीं है?

बुद्धि, इंटेलेक्ट विचार करती है। ज्ञान उसे नहीं होता। विचार अंधेरे में टटोलना है, वह जानना नहीं है। सत्य विचारा नहीं जाता, उसका दर्शन होता है, उसका साक्षात होता है। यह बुद्धि से नहीं होता, वरन जब बुद्धि शांत और शून्य होती है, तब होता है। वह अंतर्बोध की स्थिति, बुद्धि नहीं, प्रज्ञा, इनट्यूशन है।

प्रज्ञा विचार नहीं, आंख है। जैसे अंधे व्यक्ति को आंख मिल जावे ऐसे
ही वह सत्य के लिए आंख है।
विचार से कोई कभी कहीं पहुंचता नहीं है। वह अंतहीन टटोलना है। जैसे अंधा व्यक्ति अनंत तक टटोलता रहे तो भी क्या वह टटोलने से प्रकाश को पा सकेगा? टटोलने और प्रकाश में जैसे कोई संबंध नहीं है, वैसे ही विचारने और सत्य में भी नहीं है। वे दोनों बिल्कुल भिन्न आयाम, डायमेंशन हैं।

प्रश्नः क्या कृष्ण या क्राइस्ट के साक्षात को आप आत्मिक अनुभव नहीं मानते हैं?

नहीं, वे आत्मिक अनुभव नहीं हैं। किसी का भी अनुभव आत्मिक अनुभव नहीं है। उस तल पर सब अनुभव मानसिक, साइकोलाजिकल हैं।
जब तक "किसी" का साक्षात है, तब तक "अपना" साक्षात नहीं है। उस तरह के अनुभवों में भी हम अपने से बाहर ही हैं और हमारा स्वयं में आना नहीं हुआ है।
वह आना तो तब होता है, जब बाहर कोई भी अनुभव नहीं होता है। जब कोई विषय, आब्जेक्ट होकर चेतना के समक्ष नहीं होता है, तब वह सहज ही स्वयं में प्रतिष्ठित होता है। निर्विषय, आब्जेक्टलेस ही चेतना स्वाधार होती है। मैं अपने से बाहर दो जगतों से घिरा हूं--एक पदार्थ, मैटर का, एक मन, माइंड का। वे दोनों ही मुझसे बाहर हैं। पदार्थ तो बाहर है ही, मन भी बाहर है। मन देह के भीतर होने से, भीतर होने का भ्रम देता है। वह भी "भीतर" नहीं है। "मैं" उसके भी पीछे हूं और उसके भी पार हूं।
पदार्थानुभवों को हम आत्मिक समझने की भूल नहीं करते हैं, पर मानसिक अनुभवों को आत्मिक समझने की भ्रांति इसलिए ही हो जाती है, क्योंकि वे पदार्थ जगत से भिन्न मालूम होते हैं और आंख बंद करने पर दिखाई पड़ते हैं। पर मानसिक अनुभवों में स्वप्न आदि को हम आत्मिक नहीं समझते, क्योंकि उनकी सत्ता आंख बंद करने पर ही होती है, और जागरण, बाहर के जगत से संपर्क उन्हें खंडित कर देता है। उन मानसिक अनुभवों का ही आत्मिक और वास्तविक होने का भ्रम होता है, जिन्हें मानसिक प्रक्षेप, मेंटल प्रोजेक्शन कहा जाता है। मन की यह क्षमता है कि वह स्वयं को इतना सम्मोहित, हिप्नोटाइज कर सकता है कि जिन स्वप्नों को उसने केवल आंख बंद करके देखा है, उन्हें आंख खोलकर भी देख सके। यह एक तरह की जाग्रत सुषुप्ति, वेकिंग स्लीप में होता है। भगवान के मनोनुकूल दर्शन ऐसे ही होते हैं। ऐसे साक्षात मानसिक प्रक्षेप हैं। जो है, वह नहीं; जो हमने देखना चाहा है, वही हम उनमें देखते हैं। ये अनुभव न तो आत्मिक हैं, न भगवान के हैं। ये केवल मानसिक हैं और आत्म-सम्मोहन जनित हैं।

प्रश्नः फिर भगवान के दर्शन कैसे होते हैं?

यह "दर्शन" शब्द भ्रामक है। इससे ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि जैसे भगवान कोई व्यक्ति है, जिसका कि साक्षात होगा और ऐसे ही "भगवान" शब्द ही व्यक्ति का भी भ्रम देता है। भगवान कोई नहीं है, केवल भगवत्ता है। व्यक्ति नहीं है, शक्ति है।
शक्ति का अनंत सागर है। चैतन्य का अनंत सागर है। वही सब रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। वह भगवान स्रष्टा, क्रिएटर की भांति अलग नहीं है। वही है सृष्टि, वही है सृजनात्मकता, क्रिएटिविटी, वही है जीवन।
"अहम्", इगो से घिरकर हम इस "जीवन", लाइफ से भिन्न होने का आभास कर लेते हैं। वही प्रभु से हमारी दूरी है; यूं वस्तुतः दूरी असंभव है। अहम से, "मैं" से पैदा हुआ आभास ही दूरी है। यह दूरी अज्ञान है। वस्तुतः दूरी नहीं है, अज्ञान ही दूरी है।
"मैं" मिट जाये तो अनंत, अपरिसीम सृजनात्मक जीवन शक्ति का अनुभव होता है। वही भगवान है।
"मैं" की शून्यता पर जो अनुभव है, वही "भगवान" का दर्शन है।

मैं क्या देख रहा हूं कि "मैं" कहीं भी नहीं है और जो सागर की लहरों में है वही मुझमें है; जो स्वयं बसंत में नयी फूटती कोपलों में है, वही मुझमें है; जो पतझर में गिरे पत्तों में है, वही मुझमें है। मैं विश्वसत्ता से कहीं भी टूटा और पृथक नहीं हूं, उसमें हूं, वही हूं--यही अनुभव प्रभु-साक्षात है।
ऋषि ने कहा हैः "तत्वमसि श्वेतकेतु।" श्वेतकेतु, वह तू ही है, दैट आर्ट दाउ। ऐसा ही जिस दिन आपको दीखे, उस दिन जानना कि प्रभु-साक्षात हुआ है। इससे नीचे और इससे भिन्न सब कल्पना, इमेजिनेशन है।
प्रभु का दर्शन क्या होना है? स्वयं ही प्रभु हो जाना है। बूंद सागर
का दर्शन क्या करती होगी! मिट सकती है, तो सागर ही हो जाती है। बूंद होकर सागर उससे अनंत दूरी पर है, मिटकर वह स्वयं ही सागर है।
भगवान को मत खोजो, भगवान होने को खोजो। और खोजने का मार्ग वही है जो बूंद का सागर को खोजने का है।
प्रश्नः मैं ईश्वर पर विश्वास करता हूं। पर आप कहते हैं कि विश्वास घातक है, तो क्या मैं अपना विश्वास छोड़ दूं?
क्या आपके प्रश्न में ही उत्तर नहीं छिपा हुआ है? जो विश्वास पकड़ा और छोड़ा जा सकता है, क्या वह भी कोई विश्वास है? वह तो मात्र एक अंध मानसिक धारणा है, जिसका कि स्पष्ट ही कोई भी मूल्य नहीं है। वह अंधविश्वास है। और अंधापन तो जीवन में जितना कम हो, उतना अच्छा है।
मैं विश्वास करने को नहीं, जानने को कहता हूं।
ज्ञान से, साक्षात से, जानने से, जो चित्त-स्थिति आती है, उसका मूल्य है, चाहें तो उसे सम्यक श्रद्धा कहें--पर वह श्रद्धा नहीं है, ज्ञान ही है। सत्य पर श्रद्धा मत करिये, शोध करिये--खोजिये। मान्यता मत पकड़िये कोई भी। वह चित्त की कमजोरी का लक्षण है। वह आलस्य है, वह प्रमाद है। वह स्वयं खोज के श्रम से बचने का घातक उपाय है। अंधविश्वास साधना से पलायन है। एक अर्थ में वह आत्मघात ही है; क्योंकि जो उसमें गिरा वह सत्य तक उठने में असमर्थ हो जाता है। वे दोनों विपरीत राहें हैं। एक है खाई, जिसमें गिरना होता है। दूसरा है पर्वत, जिस पर चढ़ना होता है।
श्रद्धा सरल है, क्योंकि उसमें कुछ करना ही नहीं है। ज्ञान उस अर्थ में सरल नहीं है। वह पूरा जीवन-परिवर्तन है। श्रद्धा मात्र वस्त्र है, ज्ञान अंतस-क्रांति है। श्रद्धा की सरलता धर्म को सहज ही साधना की तपश्चर्या से अंधविश्वास की निद्रा में गिरा देती है। धर्म श्रद्धा नहीं है; पर लोकधर्म श्रद्धा ही है। और इसलिए जो लोकधर्म बना दीख रहा है, उसे मैं धर्म कहने में अपने को असमर्थ ही पाता हूं। उसके संबंध में मार्क्स ही सही है। वह धर्म नहीं, नशा ही है।

साधना पथ
तेरहवां प्रवचन

साधक का पाथेय

यह कहा गया है कि आप शास्त्रों में विश्वास करो, भगवान के वचनों में विश्वास करो, गुरुओं में विश्वास करो। मैं यह नहीं कहता हूं। मैं कहता हूं कि अपने में विश्वास करो। स्वयं को जानकर ही शास्त्रों में जो है, भगवान के वचनो में जो है, उसे जाना जा सकता है।
वह जो स्वयं पर विश्वासी नहीं है, उसके शेष सब विश्वास व्यर्थ हैं।
वह जो अपने पैरों पर नहीं खड़ा है, वह किसके पैरों पर खड़ा हो सकता है? बुद्ध ने कहा हैः अपने दीपक स्वयं बनो। अपनी शरण स्वयं बनो। स्व-शरण
के अतिरिक्त और कोई सम्यक गति नहीं है।
यही मैं कहता हूं।
एक रात्रि एक साधु अपने किसी अतिथि को बिदा करता था। उस अतिथि ने कहा, "रात्रि बहुत अंधेरी है। मैं कैसे जाऊं?" साधु ने उसे एक दीपक जलाकर दिया और जब वह अतिथि उस दीपक को लेकर सीढ़ियां उतरता था, उस साधु ने उसे फूंककर बुझा दिया। पुनः राह पर घना अंधकार हो गया।
उस साधु ने कहाः
"मेरा दीपक आपके मार्ग को प्रकाशित नहीं कर सकता है। उसके लिए अपना ही दीपक चाहिए।" उस अतिथि ने समझा और वह समझ उसके जीवन पथ पर एक ऐसे दीये का जन्म बन गयी जो न तो छीना जा सकता है और न बुझाया ही जा सकता है।

साधना, जीवन का कोई खंड, अंश नहीं है। वह तो समग्र जीवन है। उठना, बैठना, बोलना, हंसना सभी में उसे होना है। तभी वह सार्थक और सहज होती है। धर्म कोई विशिष्ट कार्य--पूजा या प्रार्थना करने में नहीं है, वह तो ऐसे ढंग से जीने में है कि सारा जीवन ही पूजा और प्रार्थना बन जावे। वह कोई क्रिया-कांड, रिचुअल नहीं है। वह तो जीवन-पद्धति है।
इस अर्थ मे कोई धर्म धार्मिक नहीं होता है, व्यक्ति धार्मिक होता है।
कोई आचरण धार्मिक नहीं होता, जीवन धार्मिक होता है।

"मैं" की कारा से मुक्त होकर ही चेतना व्यक्ति से ऊपर उठती है और समष्टि से मिलती है। "मैं" का मृतिका-घेरा उसे वैसे ही सत्य से दूर किये है जैसे मिट्टी का घड़ा सागर के जल को सागर से अलग कर देता है।
यह "मैं" क्या है? क्या इसे कभी आपने अपने में खोजा है?
वह है क्योंकि हमने उसे खोजा नहीं है। मैं स्वयं जब उसे खोजने गया तो मैंने पाया कि वह नहीं है।
किसी शांत क्षण में अपने में उतरें और खोजें। वहां कोई भी "मैं" नहीं मिलता है। "मैं" नहीं है। वह तो सामाजिक उपयोगिता से पैदा हुआ एक भ्रम मात्र है।
जैसा मेरा नाम है, वैसा ही मेरा "मैं" भी है। वे दोनों उपयोगिताएं हैं, सचाइयां नहीं। वह जो मेरे भीतर है, न तो उसका कोई नाम है और न उसमें कोई "मैं" है।
निर्वाण में, मोक्ष में या आत्मा में प्रवेश नहीं होता है। क्योंकि जिस जगह को कभी छोड़ा ही नहीं है, उसमें प्रवेश कैसे हो सकता है?
फिर क्या होता है?
निर्वाण में तो प्रवेश नहीं होता है, विपरीत जिस संसार में प्रवेश था, वही स्वप्न की भांति विलीन हो जाता है। और हम अपने को स्वयं में पाते हैं। यह अनुभव किसी स्थान में प्रवेश-जैसा नहीं, स्वप्न-यात्रा के टूट जाने पर अपनी ही शैया पर अपने को पाने जैसा है।
मैं कहीं गया नहीं हूं, इसलिए लौटने का प्रश्न नहीं है और मैंने कुछ खोया नहीं है, इसलिए पाने की बात कोई अर्थ नहीं रखती है।
मैं केवल स्वप्न में हूं। मेरा सारा जाना और सारा खोना स्वप्न में है। इसलिए न मुझे लौटना है, न पाना है। मुझे केवल जाग जाना है।

सत्य साक्षात पूर्ण और समग्र ही होता है। वह उपलब्धि क्रमिक नहीं है।
वह विकास, एवोल्यूशन नहीं, उत्क्रांति, रेवोल्यूशन है।
क्या कोई स्वप्न में क्रमशः जागता है?
या तो स्वप्न है, या स्वप्न नहीं है। दोनों के बीच में कोई स्थिति नहीं होती है।
हां, साधना अनंत समय ले सकती है। पर साक्षात बिजली की कौंध की भांति
ही उपलब्ध होती है--पल-भर में और पूर्ण। वस्तुतः उसकी उपलब्धि में समय का कोई भी हिस्सा नहीं लगता है, क्योंकि समय में जो भी होता है, सब क्रमिक होता है।
साधना समय में है, साक्षात समय में नहीं है। वह कालातीत है।

सत्य-साक्षात के लिए मात्र शुभ की और विराग की साधना ही पर्याप्त नहीं है। वह खंड-साधना ही है। उसके लिए तो शुभ और अशुभ, राग और विराग, संसार और मोक्ष दोनों के ही ऊपर उठना आवश्यक होता है। उस स्थिति का नाम ही वीतरागता है।
वीतराग-चैतन्य का अर्थ है कि जहां न राग है, न विराग है; न शुभ है, न अशुभ है--जहां मात्र चैतन्य ही है, शुद्ध और स्वयं में। इस भूमिका में ही सत्य का साक्षात होता है।

असंलग्न और जागरूक चित्त को साधना है। जीवन में श्वास की भांति अहर्निश उस भाव-भूमि को पिरोना है। प्रत्येक कार्य में जागरूक हों और असंलग्न हों--उसे ही कर्म में अकर्म कहा है। जैसे कि कोई नाटक में अभिनय करता है, होश तो रखता है अभिनय का पर उसमें संलग्न और मूर्च्छित नहीं होता है। वह अभिनय में होकर भी उसके बाहर ही बना रहता है। ऐसा ही बनना और होना है।
कर्म में लगे हुए यदि जागरूकता हो तो असंलग्नता कठिन नहीं होती। वह उसका ही परिणाम है।
मैं राह पर चल रहा हूं। यदि चलने की क्रिया के प्रति मैं पूरी तरह जागा हुआ हूं तो मुझे ऐसा लगेगा कि जैसे मैं चल भी रहा हूं और नहीं भी चल रहा हूं। शरीर के तल पर ही चलना हो रहा है पर चेतना के तल पर कोई चलना नहीं है।
ऐसा ही भोजन करने में और अन्य कार्यों में भी लगेगा। मेरे भीतर एक केंद्र केवल साक्षी ही रह जायेगा। वह न कर्त्ता होगा, न भोक्ता होगा। इस केंद्र के अनुभव की जितनी प्रगाढ़ता होगी, उतना ही सुख-दुख के भाव विसर्जित होते जायेंगे। और उस निर्द्वंद्व और शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होगी जो कि हमारी आत्मा है।
मन, माइंड क्या है?
इंद्रियों से जो ग्रहण हुआ है, उसका संग्रह और संग्राहक मन है। यदि कोई इसे ही अपना स्व, सेल्फ समझ लेता है, तो उसने एक दास को ही मालिक समझ लिया है।
और यदि कोई चाहता है कि अपने वास्तविक "स्व" को अनुभव करे तो उसे छो.ड़ देना होगा जो कि वह जानता है, और उसका अनुसरण करना होगा जो कि जानता है। जो हम जानते हैं, वह हमारा मन है, और जिससे हम जानते हैं, वह हमारा "स्व" है।
साक्षी, ज्ञाता ही "स्व" है। यह "स्व" जन्म और मृत्यु से भिन्न है-- माया और मुक्ति से अन्य है। वह तो केवल साक्षी है--सबका साक्षी है--प्रकाश का, अंधकार का, संसार का, निर्वाण का। वह सब द्वैत के अतीत है।
वस्तुतः तो वह "स्व" और "पर" के भी अतीत है, क्योंकि वह उनका भी साक्षी है।
इस साक्षी को पहचानते ही व्यक्ति कमल की भांति हो जाता है। जिस कीचड़
से पैदा हुआ है, उससे पृथक और जिस पानी में जीता है, उससे अलिप्त। वह जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में--सुख में, दुख में, सम्मान में, अपमान में

समभावी होता है, क्योंकि वह केवल साक्षी ही है। जो भी हो रहा है, वह उस पर नहीं केवल उसके समक्ष ही हो रहा है। वह दर्पण की भांति ही हो जाता है जो कि अनेक प्रतिमाओं को अपने में प्रतिफलित करता है, लेकिन उनमें से किसी के भी चिह्न उस पर पीछे छूट नहीं जाते हैं।
एक वृद्ध साधु अपने एक युवा साथी के साथ नदी पार कर रहा था। युवक ने उससे पूछाः "नदी कैसे पार करें?"
वृद्ध ने कहाः "ऐसे कि तुम्हारे पैर गीले न हों।"
युवक ने सुना। और जैसे एक बिजली कौंध गयी हो, ऐसे कुछ उसके सामने स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो गया। वह नदी तो आयी और पार हो गयी, पर वह रहस्य-सूत्र उसके हृदय में बैठ गया। वह उसका मार्ग और जीवन बन गया। वह ऐसे नदी पार करना सीख गया जिसमें कि पैर गीले नहीं होते हैं।
वह जो कि भोजन करता है, लेकिन उपवास है; वह जो कि भीड़ में है, पर अकेला है; वह जो कि सोता है, पर सदा जागृत है--ऐसे व्यक्ति बनो, क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही संसार में मोक्ष को उपलब्ध होता है और वही पदार्थ में परमात्मा को पा लेता है।

किसी ने कहा है, "चित्त में संसार न हो, संसार में चित्त न हो।" यह सूत्र है। पर इसमें पहला आधा यदि पूरा हो तो शेष आधा अपने आप आ जाता है। प्रथम आधा अंश कारण, कॉज है, शेष आधा कार्य, इफैक्ट है। प्रथम सधे तो द्वितीय उसका सहज परिणाम, कान्सिक्वेंस है। पर जो दूसरे से प्रारंभ करते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। वह आधार नहीं है। वह कारण नहीं है। वह मूल नहीं है।
इसलिए मैं कहता हूं कि सूत्र इतना ही है कि चित्त में संसार न हो। शेष सूत्र नहीं है, सूत्र का परिणाम है। चित्त में संसार नहीं है, तो संसार में चित्त अपने आप नहीं रह जाता है। जो चित्त में नहीं है, उसमें चित्त का होना असंभव है।

समाधि में जानने को कोई विषय, आब्जेक्ट नहीं होता है, कोई ज्ञेय नहीं होता है। इसलिए समाधि की स्थिति को "ज्ञान" नहीं कहा जा सकता है। वह साधारण अर्थों में ज्ञान है भी नहीं, पर वह "अज्ञान" भी नहीं है। वहां "न जानने को" भी कुछ नहीं है। वह ज्ञान और अज्ञान दोनों से भिन्न है। वह किसी "विषय", का जानना या न जानना दोनों ही नहीं है, क्योंकि वहां कोई विषय ही नहीं है। वहां तो केवल "विषय", सब्जेक्टिविटि ही है। वहां तो केवल वही है, जो जानता है। वहां किसी का ज्ञान नहीं है, केवल ज्ञान, कानटेंटलेस कांशसनेस ही है।
एक साधु से किसी ने पूछा, "ध्यान क्या है?" उसने कहा, "जो निकट है उसमें होना ध्यान है।"
आपके निकट क्या है? आपके स्वयं के अतिरिक्त जो भी है, क्या वह सब दूर
ही नहीं है?
आप ही केवल अपने निकट हो। पर हम सदा इसे छोड़कर कहीं और बने रहते हैं।
हम सब सदा पड़ोस में ही बने रहते हैं। पड़ोस में नहीं, अपने में होना है। वही ध्यान है, वही सामायिक है।
जब आप कहीं भी नहीं हो, नो-व्हेयर और आपका चित्त कहीं भी नहीं है, तब भी
तो आप कहीं हो। वही होना ध्यान है।
मैं जब कहीं भी नहीं तब मैं स्वयं में हूं। वही पड़ोस में न होना है, वही दूर न होना है। वही आंतरिकता है। वही निकटता, इंटीमेसी है। उसमें होकर ही सत्य में जागरण होता है। पड़ोस में होकर ही हमने सब-कुछ खोया है, स्वयं में होकर ही उसे वापस पाया जाता है।

मैं संसार को छोड़ने को नहीं, अपने को बदलने को कहता हूं। संसार निषेध
से आप नहीं बदलेंगे, लेकिन आप बदल गये तो आपके लिए संसार नहीं ही हो जाता है। वास्तविक धर्म संसार-निषेधक, वर्ल्ड-रिजेक्टिंग नहीं, आत्म-परिवर्तन, सेल्फ-ट्रांसफिगरिंग होता है।

संसार नहीं, संसार के प्रति अपनी दृष्टि पर विचार करो। उसे बदलना है।
उसके कारण संसार है और बंधन है। संसार नहीं, वही बंधन है। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदल जाती है।
संसार में दोष नहीं है। दोष स्वयं में है और स्वयं की दृष्टि में है।

जीवन परिवर्तन का विज्ञान योग है। पदार्थ विज्ञान अपने विश्लेषण से परमाणु पर पहुंचता है--परमाणु-शक्ति पर, योग आत्मा पर पहुंचता है--आत्म-शक्ति पर। एक से पदार्थ में छिपे रहस्य का पर्दा उठता है; दूसरे से स्वयं में छिपे जगत का उदघाटन होता है। पर दूसरा प्रथम से महत्वपूर्ण है, क्योंकि स्वयं से महत्वपूर्ण इस विश्व में और कुछ भी नहीं है।
मनुष्य ने अपना संतुलन खो दिया है, क्योंकि वह पदार्थ के संबंध में तो बहुत जानता है, पर स्वयं के संबंध में कुछ भी नहीं जानता है। वह सागर की गहराइयों में जाना सीख गया है, और अंतरिक्ष की ऊंचाइयों पर; लेकिन स्वयं में जाना वह भूल ही गया है। यह स्थिति बहुत आत्मघातक है। हमारा दुख यही है।
योग इस असंतुलन से मुक्ति दे सकता है। उसकी शिक्षा की आवश्यकता है। उससे ही सच्चे अर्थों में एक नये मनुष्य का जन्म हो सकता है और एक नयी मनुष्यता की आधार-शिलाएं रखी जा सकती हैं।
विज्ञान ने मनुष्य की पदार्थ पर विजय घोषित कर दी है। अब मनुष्य को स्वयं अपने पर भी विजय करनी है। पदार्थ की शक्ति पर उसकी विजय ने यह अपरिहार्य कर दिया है कि वह अब अपने को भी जाने और जीते, अन्यथा पदार्थ की अपरिसीम शक्तियों पर उसकी विजय उसका ही सर्वनाश बन जावेगी; क्योंकि शक्ति अज्ञान के हाथों में सदा ही विषाक्त और आत्मघाती है।
विज्ञान अज्ञान के हाथों में हो तो यह जोड़ विध्वंसात्मक, डिस्ट्रक्टिव है। वह ज्ञान के हाथों में हो तो एक अभूतपूर्व सृजनात्मक, क्रिएटिव ऊर्जा का जन्म होगा जो कि पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत कर सकती है। इसलिए मैं कहता हूं कि मनुष्य का भाग्य और भविष्य अब योग के हाथों में है। योग भविष्य का विज्ञान है क्योंकि वह मनुष्य का विज्ञान है।

साधना पथ
चौदहवां प्रवचन

साधना और संकल्प

मैं आज क्या कहूं?
संध्या हम बिदा होंगे और उस घड़ी के आगमन के विचार से ही आपके हृदय भारी हैं। इस निर्जन में अभी पांच दिवस पूर्व ही हमारा आना हुआ था और तब जाने की बात किसने सोची थी?
पर स्मरण रहे कि आने में जाना अनिवार्यरूपेण उपस्थित ही रहता है। वे
एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे साथ ही साथ हैं, यद्यपि दिखायी अलग-अलग देते हैं। उनके अलग-अलग समयों में दिखायी पड़ने से हम भ्रम में पड़ जाते हैं, पर जो थोड़ा गहरा देखेगा, वह पायेगा कि मिलन ही बिदा है और सुख ही दुख है और जन्म ही मृत्यु है।
सच ही, आने और जाने में कितना कम फासला है, या कि फासला है ही नहीं!
जीवन में भी ऐसा ही है। आ भी नहीं पाते हैं कि जाना प्रारंभ हो जाता है
और जिसे हम रहना कहते हैं, क्या वह जाने की तैयारी मात्र ही नहीं है?
जन्म और मृत्यु में दूरी ही कितनी है?
पर वह दूरी बहुत भी, अनंत भी हो सकती है। जीवन साधना बने तो वह दूरी अनंत हो सकती है।
जीवन साधना बने, तो मृत्यु मोक्ष बन जाती है। और जन्म और मृत्यु में
तो बहुत दूरी नहीं है, पर जन्म और मोक्ष में तो अनंत दूरी है।
वह दूरी उतनी ही है, जितनी कि शरीर और आत्मा में है, जितनी कि स्वप्न
और सत्य में है। और वह दूरी सर्वाधिक है। उससे अधिक दूरी पर और कोई दो बिंदु नहीं हैं।
मैं शरीर हूं--यह भ्रम, इल्यू.जन मृत्यु है; आत्मा हूं यह साक्षात, रिअलाइ.जेशन मोक्ष है।
जीवन इस सत्य-साक्षात के लिए अवसर है। इस अवसर का उपयोग हो--यह अवसर व्यर्थ न खोया जावे तो जन्म और मृत्यु में अनंत फासला हो जाता है।
और इन बीते थोड़े से दिनों में, हमारे यहां आने और जाने में भी बहुत फासला हो सकता है। क्या यह नहीं हो सकता है कि हम जो आये हों, वही वापस न लौटें? क्या आप एक बिल्कुल नये व्यक्ति होकर वापस नहीं लौट सकते हैं?
वह क्रांति आप चाहें तो एक क्षण में भी हो सकती है; पांच दिन तो बहुत ज्यादा हैं, और अन्यथा पांच जन्म भी थोड़े हैं, दिनों की तो विसात ही क्या? संकल्प का, पूर्ण संकल्प का एक क्षण भी बहुत है। संकल्पहीन पूरा जीवन
भी कुछ नहीं है।
स्मरण रहे कि समय, टाइम नहीं, संकल्प, विल महत्वपूर्ण है। संसार की उपलब्धियां समय में और सत्य की उपलब्धियां संकल्प में होती हैं।
संकल्प की प्रगाढ़ता, एक क्षण को ही अनंत विस्तार और गहराई दे देती है।
वस्तुतः संकल्प की प्रगाढ़ता में समय, टाइम मिट ही जाता है, और केवल शाश्वतता, इटरनिटी ही शेष रह जाती है।
संकल्प द्वार है जो समय से मुक्त करता और शाश्वतता से जोड़ता है।
अपने संकल्प को घना और प्रगाढ़ होने दें। वह श्वास-श्वास में परिव्याप्त हो जावे। वह सोते-जागते स्मृति में हो। उसी से नया जन्म होता है--वह जन्म होता है जिसकी कोई मृत्यु नहीं है। वही वास्तविक जन्म है।
एक जन्म शरीर का है। पर उसकी परिणति मृत्यु है--अनिवार्य मृत्यु है। इसलिए मैं उसे वास्तविक जन्म नहीं कहता हूं। जो मृत्यु में समाप्त हो, वह जीवन का प्रारंभ कैसे हो सकता है? पर एक जन्म और भी है जिसकी परिसमाप्ति मृत्यु में नहीं होती है। वही वास्तविक है, क्योंकि उसकी परिपूर्णता अमृत में है।
उस जन्म के लिए ही इन दिनों मैंने आपको आमंत्रित किया और पुकारा है। उसके लिए ही हम यहां इकट्ठे हुए थे।
पर हमारे इकट्ठे होने का मूल्य नहीं है। आप अपने भीतर--प्रत्येक अपने भीतर इकट्ठा, एक होकर पुकारे और प्यासा हो तो वही समग्र चित्त का संकल्प

सत्य की निकटता में परिणत हो जाता है। सत्य तो निकट है, पर हममें उसके निकट होने का संकल्प चाहिए।
सत्य के लिए प्यास आप में है, पर संकल्प भी चाहिए। संकल्प से संयुक्त होकर ही प्यास साधना बनती है।
संकल्प का क्या अर्थ है?
एक व्यक्ति ने किसी फकीर से पूछा कि प्रभु को पाने का मार्ग क्या है?
उस फकीर ने उसकी आंखों में झांका। वहां प्यास थी। वह फकीर नदी जाता था। उसने उस व्यक्ति को भी कहा; "मेरे पीछे आओ। हम स्नान कर लें, फिर बताऊंगा।" वे स्नान करने नदी में उतरे।
वह व्यक्ति जैसे ही पानी में डूबा, फकीर ने उसके सिर को जोर से पानी में ही दबाकर पकड़ लिया। वह व्यक्ति छटपटाने लगा। वह अपने को फकीर की दबोच से मुक्त करने में लग गया। उसके प्राण संकट में थे। वह फकीर से बहुत कमजोर था, पर क्रमशः उसकी प्रसुप्त शक्ति जागने लगी।
फकीर को उसे दबाये रखना असंभव हो गया। वह पूरी शक्ति से बाहर आने में लगा था और अंततः वह पानी के बाहर आ गया। वह हैरान था! फकीर के इस व्यवहार को समझ पाना उसे संभव नहीं हो रहा था। क्या फकीर पागल था? और फकीर जोर से हंस भी रहा था।
उस व्यक्ति के स्वस्थ होते ही फकीर ने पूछा, "मित्र! जब तुम पानी के भीतर थे, तो कितनी आकांक्षाएं थीं?
वह बोला, "आकांक्षाएं? आकांक्षाएं नहीं, बस एक ही आकांक्षा थी कि एक श्वास, हवा कैसे मिल जाये?"
वह फकीर बोला, "प्रभु को पाने का रहस्य-सूत्र, सीक्रेट यही है। यही संकल्प है। संकल्प ने तुम्हारी सब सोयी शक्तियां जगा दीं। संकल्प के उस क्षण में ही शक्ति पैदा होती है और व्यक्ति संसार से सत्य में संक्रमण करता है।
संकल्प से ही संसार से सत्य में संक्रमण होता और संकल्प से ही स्वप्न
से सत्य में जागरण होता है।
बिदा के इन क्षणों में मैं यह स्मरण दिलाना चाहता हूं।
संकल्प चाहिए। और क्या चाहिए? और चाहिए साधना-सातत्य। साधना सतत होनी चाहिए। पहाड़ों से जल को गिरते देखा है? सतत गिरते हुए जल के झरने चट्टानों को तोड़ देते हैं।
व्यक्ति यदि अज्ञान की चट्टानों को तोड़ने में लगा ही रहे तो जो चट्टानें प्रारंभ में बिल्कुल राह देती नहीं मालूम होती हैं, वे ही एक दिन रेत हो जाती हैं, और राह मिल जाती है।
राह मिलती तो निश्चित है, पर वह बनी-बनायी नहीं मिलती है। उसे स्वयं ही, अपने ही श्रम से बनाना होता है। और यह मनुष्य का कितना सम्मान है! यह कितना महिमापूर्ण है कि सत्य को हम स्वयं अपने ही श्रम से पाते हैं! "श्रमण" शब्द से महावीर ने यही कहना चाहा है। सत्य श्रम से मिलता है।
वह भिक्षा नहीं है, सिद्धि है।
संकल्प और सतत श्रम और अनंत प्रतीक्षा।
सत्य अनंत है और इसलिए उसके लिए अनंत प्रतीक्षा और धैर्य आवश्यक है।
अनंत प्रतीक्षा में ही वह विराट अवतरित होता है। जो धैर्यवान नहीं हैं, वे उसे नहीं पा सकते हैं।
बिदा के इन क्षणों में, यह भी स्मरण दिलाना चाहता हूं।
अंत में, एक कथा मुझे स्मरण आती है। बिल्कुल काल्पनिक कथा है। पर बहुत सत्य भी है। एक वृद्ध साधु के पास से कोई देवता निकलता था। उस साधु ने कहा, "प्रभु से पूछना कि मेरी मुक्ति में कितनी देर और है?" उस वृद्ध साधु के पास ही एक बरगद के दरख्त के नीचे एक बिल्कुल नव-दीक्षित युवा संन्यासी का आवास भी था।
उस देवता ने उस युवा संन्यासी से भी पूछा कि क्या आपको भी प्रभु से अपनी मुक्ति के संबंध में पूछना है? पर वह संन्यासी कुछ बोला नहीं, वह जैसे एकदम शांत और शून्य था।

फिर कुछ समय बाद वह देवता लौटा। उसने वृद्ध तपस्वी से कहा, "मैंने प्रभु को पूछा था। वे बोले, अभी तीन जन्म और लग जावेंगे!"
वृद्ध तपस्वी ने माला क्रोध में नीचे पटक दी। उसकी आंखें लाल हो गयीं। उसने कहा, "तीन जन्म और? कैसा अन्याय है?"
वह देवता बरगद वाले युवा संन्यासी के पास गया। उससे उसने कहा, "मैंने प्रभु से पूछा था। वे बोले, वह नव-दीक्षित साधु जिस वृक्ष के नीचे आवास करता है, उस वृक्ष में जितने पत्ते हैं, उतने ही जन्म उसे और साधना करनी है!"
युवा साधु की आंखें आनंद से भर गयीं और वह उठकर नाचने लगा और उसने कहा, "तब तो पा ही लिया। जमीन पर कितने वृक्ष हैं और उन वृक्षों में कितने पत्ते हैं! यदि इस छोटे-से बरगद के दरख्त के पत्तों के बराबर जन्मों में ही वह मिल जावेगा तो मैंने उसे अभी ही पा लिया है!"

यह भूमिका है जिसमें सत्य की फसल काटी जाती है।
और कथा का अंत जानते हैं, क्या हुआ?
वह साधु नाचता रहा, नाचता रहा और उस नृत्य में ही उसी क्षण वह मुक्त हो गया और प्रभु को उपलब्ध हो गया। शांत और अनंत प्रेम-प्रतीक्षा का वह क्षण ही सब-कुछ था। वह क्षण ही मुक्ति है।
इसे मैं अनंत प्रतीक्षा कहता हूं। और जिसकी प्रतीक्षा अनंत है, उसे
सब कुछ अभी और यहीं उपलब्ध हो जाता है। वह भाव-भूमि ही उपलब्धि है।
क्या आप इतनी प्रतीक्षा करने को तैयार हैं?
मैं इस प्रश्न के साथ ही आपको बिदा दे रहा हूं।
प्रभु सामर्थ्य दे कि आपकी जीवन-सरिता सत्य के सागर तक पहुंच सके।
यही मेरी कामना और प्रार्थना है।

साधना पथ
पंद्रहवां प्रवचन

पथ की खोज

मेरे प्रिय!
मैं एक गहरे अंधेरे में था, फिर मुझे सूर्य के दर्शन हुए और मैं आलोकित हुआ। मैं एक दुख में था, फिर मुझे आनंद की सुगंध मिली और मैं उससे परिवर्तित हुआ। मैं संताप से भरा था और आज मेरी श्वासों में आनंद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।
मैं एक मृत्यु में था--मैं मृत ही था और मुझे जीवन उपलब्ध हुआ और अमृत
ने मेरे प्राणों को एक नये संगीत से स्पंदित कर दिया। आज मृत्यु मुझे कहीं भी दिखाई नहीं देती। सब अमृत हो गया है। और सब अनंत जीवन हो गया है।
अब एक ही स्वप्न देखता हूं कि वही आलोक, वही अमृत, वही आनंद, आपके जीवन
को भी आंदोलित और परिपूरित कर दे, जिसने मुझे परिवर्तित किया है। वह आपको भी नया जन्म और जीवन दे, जिसने मुझे नया कर दिया है। उस स्वप्न को पूरा करने के लिये ही बोल रहा हूं और आपको बुला रहा हूं। यह बोलना कम, बुलाना ही ज्यादा है।
जो मिला है, वह आपको देना चाहता हूं। सब बांट देना चाहता हूं। पर बहुत कठिनाई है। सत्य को दिया नहीं जा सकता, उसे तो स्वयं ही पाना होता है। स्वयं ही सत्य होना होता है। उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं; पर मैं अपनी प्यास तो दे सकता हूं, पर मैं पुकार तो दे सकता हूं और, वह मैं दूंगा और आशा करूंगा कि वह पुकार आपके भीतर--आपके अंतस में प्यास की एक ज्वाला बन जायेगी और आपको उन दिशाओं में अग्रसर करेगी, जहां आलोक है, जहां आनंद है, जहां अमृत है।
मनुष्य दुख के लिये पैदा नहीं हुआ। जीवन दुख के लिये नहीं है। दुख जीवन की सार्थकता नहीं हो सकता और न दुख जीवन का अंत हो सकता है। दुख तो इसलिये है कि जीवन उसे उपलब्ध नहीं कर पा रहा है, जिसे उपलब्ध करने को वह है। जो उसकी अंतर्निहित संभावना है, उसे न पाने से दुख है। दुख दुर्घटना है, वह अंत नहीं है। बीज वृक्ष न हो पाये तो उसे जैसा दुख घेर लेगा वैसा ही दुख मनुष्य को घेर लेता है।
क्या दुख का बोध और दुख का अतिक्रमण, ट्रान्सेन्ड करने की आकांक्षा
यह नहीं बताती है कि वह हमारे स्वरूप का अंग नहीं है? क्या दुख का अस्वीकार यह नहीं कहता है कि जो हमारे भीतर है, वह दुख नहीं, दुख-निरोध का प्यासा है? आनंद की प्यास, आनंद की संभावना और सिद्धि की सूचना है। जीवन आनंद को मांगता है--समस्त जीवन आनंद को मांगता है। क्यों? क्योंकि जीवन की सफलता और सार्थकता और पूर्णता आनंद में है। आनंद अर्थ है। आनंद अंत है। आनंद अभिप्राय है। वह जो अभी प्यास में है, जब तक प्राप्ति न बन जावे, तब तक दुख है--तब तक दुख अनिवार्य है।
स्मरण रहे कि आनंद को पाने की बात आपका विचार नहीं है। उसे आपने विचारा नहीं है। किसी से सीखा नहीं है। वह अनसीखी, अनलर्न्ड अभीप्सा है। वह निसर्ग में है। वह आपके प्राणों में है। वह आपका होना, व्हेरि बीइंग है। वह विचार नहीं, प्यास है। यह स्मरण रहे कि वह प्यास है। इस प्यास से ही धर्म का जन्म हुआ है। आनंद की प्यास धर्म की जन्मदात्री है। धर्म का जन्म किसी सोच-विचार से नहीं हुआ। वह चिंतन नहीं है। उसकी स्फुरणा अनंत आनंद की प्यास से हुई है। वह प्यास प्रत्येक के भीतर है। प्रत्येक के प्राणों में उस प्यास की लपटें हैं। उन्हीं प्रज्वलित लपटों से धर्म जन्मता है और रूप लेता है।
इसलिये यह हो सकता है कि सारे तीर्थंकर, सारे अवतार, सारे ईश्वर-पुत्र, सारे पैगंबर भूल जावें, विस्मृत हो जावें... हमारी स्मृति में उनकी कोई भी ध्वनि बाकी न रहे, वे सब "न-हुए" हो जावें और अतीत के चरण चिह्न समय की राह पर धुंधले होकर मिट जावें--पर इससे धर्म नहीं मिट सकता, उनके कारण धर्म नहीं है। विपरीत, वे ही धर्म के कारण थे।

यह हो सकता है कि सारे मंदिर और मस्जिदें और शिवालय धूल-धूसरित हो जावें। उनके खंडहरों के भी निशान खोजे न मिलें। और सारे शास्त्र और आगम विलीन हो जावें, लेकिन धर्म विलीन नहीं होगा। वह उनके कारण नहीं है। वह तो जब तक अंतस आनंद के लिये प्यासे होते रहेंगे तब तक रहेगा और मिट-मिटकर भी पुनर्जीवित हो जायेगा। इस अर्थ में वह शाश्वत है। क्योंकि, आनंद की आकांक्षा शाश्वत है। क्योंकि अमृत की अभीप्सा शाश्वत है। दुख कभी भी नहीं चाहा जा सकता है। बंधन कभी भी नहीं चाहे जा सकते हैं। अज्ञान कभी भी नहीं चाहा जा सकता है। अंधकार के लिये हमारी आत्मा कभी भी प्यासी नहीं हो सकती है। इसलिये धर्म शाश्वत है।
धर्म आवृत्त हो सकता है, पर नष्ट नहीं। धर्म विस्मृत हो सकता है, पर विनष्ट नहीं। हम उसके प्रति सो सकते हैं, पर उसे सदा के लिये खो नहीं सकते। उसकी जड़ें हमारी आत्मा में हैं और इसलिये उसे खो-खोकर भी पुनः-पुनः पा लिया जाता है। उन जड़ों में से फिर नये अंकुर निकल आते हैं और नये फल और बीज लगने शुरू हो जाते हैं।
वस्तुतः जो भी सत्य है, उसे खोना असंभव है। जो भी सत्य है, वह शाश्वत
भी है। और जो भी शाश्वत है, वह सत्य भी है। धर्म सत्य है, इसलिये शाश्वत है।
धर्म शाश्वत है, इसलिये सत्य है। शाश्वतता, इटरनिटी और सत्य, शब्द ही दो हैं। उनमें निहित सत्य एक ही है।
मैं धर्म की बात कर रहा हूं। मैं संप्रदायों की बात नहीं कर रहा हूं। संप्रदाय धर्म नहीं हैं। वे धर्म की अभिव्यक्तियां हैं, स्वयं धर्म नहीं। वे धर्म के शरीर हैं, धर्म की आत्मा नहीं। वे होते हैं और "न" भी हो जाते हैं। जिसका जन्म होता है, स्वाभाविक है कि उसकी मृत्यु भी हो। जिसका जन्म नहीं होता वही केवल अमृत हो सकता है। अजन्मा ही अमृत हो सकता है। धर्म अजन्मा है; पर संप्रदायों का जन्म होता है। वे जन्मते हैं और संगठित होते हैं। और इसलिये उनकी मृत्यु और विघटन भी अनिवार्य है। इस सत्य का न दीखना बहुत घातक हो गया है। मृत संप्रदायों का बोझ हमें इतना निर्भार और निर्दोष नहीं होने देता कि हम शाश्वत धर्म से परिचित हो सकें। उनकी मृत देहें, लाशें ही धर्म की आत्मा को जानने और जीने में अवरोध बन जाती हैं। जो धर्म को जानना चाहता है, उसे संप्रदाय से ऊपर उठना होता है। वैसे ही, जैसे जो मुझे जानना चाहे उसे मेरी देह के पार और अतीत देखना होगा। जो मेरी देह पर रुक जायेगा, वह मुझ तक नहीं पहुंच सकता। मैं शरीर में हूं, पर शरीर नहीं हूं। शरीर मेरा आवरण है, "मैं" नहीं। ऐसा ही संप्रदायों के साथ है। वे सब शरीर हैं। धर्म को जानने के लिये उनसे मुक्ति आवश्यक है। उनके पार हुए बिना कोई उसे--उस धर्म को नहीं जान पाता; जो हो तो संप्रदाय जीवित होते हैं, जो नहीं हो तो वे मृत हो जाते हैं।
संप्रदायों के संबंध में नहीं, धर्म के संबंध में ही--विशुद्ध धर्म के संबंध में ही कुछ कहना चाहता हूं। उस धर्म के संबंध में, जिसका कोई भी विशेषण नहीं है--धर्म की आत्मा के संबंध में। धर्म संप्रदायों के ऊपर है, पीछे है और उनका प्राण भी है। और जो अनुपस्थित हो जाये तो वे केवल मुर्दा लाशें रह जाती हैं। और जिसके अभाव में, संप्रदायों की अंत्येष्टि के सिवाय विवेक के पास और कोई चारा नहीं रह जाता है।
काश, हम जान पावें कि संप्रदायों के नाम से जो प्रचलित धर्म है वह कितना मृत है, तो जीवित धर्म की दिशा में हमारे चरण सहज ही गतिमान हो सकते हैं।
मैं अभी यात्रा में था। कोई पूछता था कि मेरा कौन-सा धर्म है? मैं क्या कहता? मैंने कहा, "धर्म मेरा है। मैं धर्म का हूं। और धर्म एक ही है। अनेक धर्म नहीं हैं, इसलिये अपने को किसका बताऊं?"
आज सारी जमीन पर ऐसा हुआ है। धर्म नहीं, "कोई धर्म" विचारणीय बन गया है। यह बहुत अनर्थ बात है--बहुत बेहूदी बात है। इसके कारण धर्म विचार के बाहर ही रह जाता है। इसलिये, इतने धर्म-संप्रदाय हैं, इतने मंदिर, इतने पूजागृह, इतने शास्त्र कि चित्त की सारी भूमि उनसे भरी हुई है। पर धर्म कहां है?

शायद हमने धर्म के लिये अवकाश, स्पेस ही नहीं छोड़ा है। चित्त में स्थान ही नहीं है, जहां धर्म हो सके। यह बड़ी दुर्दशा है। इससे हम बिना धार्मिक हुए, धार्मिक होने के भ्रम में पड़ जाते हैं। सांप्रदायिक होना, धार्मिक होना नहीं है। उन दोनों में संगति नहीं, विरोध है। किसी सिद्धांत को, किसी शास्त्र को, किसी संप्रदाय, क्रीड को मानना और धार्मिक होना बड़ी भिन्न बातें हैं। संप्रदाय एक बौद्धिक आग्रह मात्र है। धर्म समग्र चैतन्य की क्रांति है। वह बौद्धिक आग्रहों, सिद्धांतों और विचारों से नहीं होती, वरन उसका आगमन तो तब होता है, जब बुद्धि पूर्ण निराग्रह और निष्पंद होती है।
मैं आपको देख रहा हूं। आपकी आंखों में देख रहा हूं। आपके मस्तिष्क में सरक रहे विचारों की पदध्वनियां मुझे सुनाई पड़ रही हैं। मस्तिष्क तो आपका भी बहुत सिद्धांतों को जानता है। बहुत शास्त्र और बहुत शब्द वहां कोलाहल कर रहे हैं। उनकी खूब भीड़ वहां है। धर्म के संबंध में, सत्य के संबंध में, परमात्मा के संबंध में सीखे गये सिद्धांत आपकी स्मृति में भरे हुए हैं। लेकिन क्या इससे धर्म का दूर का भी संबंध है? क्या यह "स्मृति- भार" धर्म है? क्या ये सीखे हुए सिद्धांत धर्म हैं? क्या इनसे आप आनंद और आलोक को उपलब्ध हुए हैं?
मुझे पूछने की आज्ञा दें कि क्या आपके तथाकथित धर्म-संप्रदाय, विश्वास और मान्यतायें आपकी चेतना में कोई आमूल क्रांति, ट्रांसफार्मेशन उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं? उनसे आप भर गये होंगे, लेकिन क्या बदले भी हैं?
मैं आपके जीवन में कोई आनंद-किरण नहीं देख रहा हूं। किसी आलोक का स्पर्श वहां नहीं दिखाई पड़ता। आपकी अंतरात्मा किसी भी संगीत से परिप्लावित नहीं मालूम होती। आपकी आंखें अंतस में उपलब्ध हुई किसी सौंदर्य अनुभूति, किसी सत्य-सान्निध्य की गवाही नहीं देतीं। सिद्धांतों और संप्रदायों से आप भरे होंगे, पर सत्य से क्या अभी वंचित नहीं हैं? संप्रदायों और सिद्धांतों में आप घिरे होंगे, पर धर्म ने अभी आपको मुक्त नहीं किया है।
धर्म का जीवन में जब स्पर्श होता है, तब वैसे ही सब बदल जाता है, जैसे सुबह सूरज के आगमन पर। अगर कोई कहे कि सुबह हो गयी और घना अंधेरा है, तो हम क्या कहेंगे? अगर कोई कहे कि सूरज निकल आया और चारों ओर निबिड़ रात्रि है और आकाश में तारे हैं, तो हम क्या कहेंगे? --कि सूरज अभी नहीं निकला, अंधेरा सूरज की अनुपस्थिति का काफी प्रमाण है।
ऐसा ही आज मनुष्य के साथ हुआ है। धर्म से उसका संस्पर्श क्षीण हो गया है। धर्म के विचार हैं, धर्म-शास्त्रों से संबंध है, धर्म-संप्रदायों से नाता है, पर धर्म से संपर्क नहीं है। और इसका काफी प्रमाण है वह अंधकार, जो हमारी चेतनाओं पर छाया हुआ है। इसका काफी प्रमाण है वह दुख, वह पीड़ा, वह संताप, एंग्विश जिसमें हम डूबे हुए हैं। मनुष्य क्या एक अर्थहीन, अर्थशून्य, मीनिंगलेस इकाई नहीं हो गया है?
यह मैं आपसे कह रहा हूं--किसी और वाष्पीय मनुष्य के संबंध में नहीं, आपके संबंध में कह रहा हूं। क्या, जो मैं कह रहा हूं, वह आपके संबंध में सच नहीं है? उसके सत्य को देखें--अपने में देखें। क्या आपको अपने भीतर कोई कृतार्थता और सार्थकता दिखाई पड़ती है? क्या भीतर वह दिखाई पड़ता है, जिसके कारण जीवन शांति और संगीत हो गया हो? क्या उसके दर्शन कहीं होते हैं, जिसके कारण मात्र जीना, केवल जीना, जस्ट लिव्हिंग भी एक अर्थ से भर जाता है और श्वास-श्वास में कृतार्थता का बोध होने लगता है?
वह तो कहीं नहीं है। विपरीत उसकी जगह एक रिक्तता, एम्पटीनेस है, एक अंधकार, डार्कनेस है, एक अत्यंत ऊब पैदा करने वाला खालीपन है और एक उदासीनता है, जैसी कब्रों के आसपास होती है। और इस रिक्तता और उदासी के कारण ही हम सब किसी भांति, कहीं भी अपने को उलझाये रखना चाहते हैं। इसके कारण ही कोई भी अकेला नहीं होना चाहता और हम सब अपने से ही भागे रहते हैं।

देखें--क्या हमारा जीवन--हमारा सारा जीवन अपने से ही भागने का एक ऐसा
ही लंबा उपक्रम नहीं है? क्या यह जीवन है? क्या इसे जीवन कहियेगा? मित्र! यह जीवन नहीं, पलायन है। यह पलायन, एस्केप से ज्यादा कुछ भी नहीं है।
मैं एक समय एक मरणासन्न व्यक्ति के पास था। उस घर में जैसा अंधकार, उदासी और दुख अनुभव हुआ था--उस घर के वातावरण में जैसा संताप अनुभव हुआ था--वैसा ही मुझे प्रत्येक व्यक्ति के भीतर दिखाई पड़ता है। यह कैसी स्थिति है? पर शायद ऐसा होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि मनुष्य जीवन के मूल-स्रोत से विच्छिन्न हो गया है।
धर्म से विच्छिन्न जो युग होता है--जो मनुष्य होता है, वह आनंद में नहीं हो सकता। स्व-सत्ता से जो विच्छिन्न होता है, उसका सब छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसके सब जीवन-सूत्र और अर्थ खो जाते हैं। और उसके चित्त के द्वार पर अर्थहीनता खड़ी हो जाती है। उसकी दिशा खो जाती है और चलना एक ऊब, बोरडम और क्लांति हो जाती है। क्योंकि उसे कहीं पहुंचना तो नहीं है; बस, चलना ही है। अर्थ-शून्य और उद्देश्यविहीन चलना सार्थक कैसे हो सकता है?
धर्म गंतव्य है। इसलिये धर्म गति को अर्थ देता है। उसके जादू में गति मात्र गति ही नहीं, गीत भी हो जाती है।
मैं उसी मूल-स्रोत, उसी जीवन-स्रोत के संबंध में कुछ कहूंगा और उस साधना के संबंध में भी, जिसके माध्यम से हम उस स्रोत से संयुक्त हो सकते हैं।
उस स्रोत को जानना है और उस स्रोत के मार्ग को जानना है।
जीवन में जो दुख व्याप्त है, वह हमारे कुछ भी करने से दूर होने का नहीं
है जब तक कि हम जीवन को ही आमूल न बदल दें। वह दुख किसी बाह्य अभाव के कारण नहीं है। इसलिये सब अभाव मिट जावें तब भी वह बना ही रहता है। शायद और प्रगाढ़ भी हो जाता है क्योंकि तब अभाव दूर करने की व्यस्तता न रह जाने से उसका और भी नग्न साक्षात होता है। एक दरिद्रता वह है जो दरिद्रता में दीखती है, पर एक और गहरी दरिद्रता भी है, जिसके दर्शन पूर्ण समृद्धि में ही होते हैं।
जीवन का दुख किसी बाह्य अभाव के कारण नहीं है। अभावों के कारण कष्ट है। पर कष्ट दुख नहीं है और इसलिये सारे कष्ट मिट जावें तो भी दुख नहीं मिट जाता है। कष्ट और दुख के तल अलग हैं। वे अलग-अलग समस्यायें हैं। कष्ट परिधिगत असुविधायें हैं। दुख केंद्रगत संताप है। कष्ट बहुत हैं, दुख एक ही है। सब कष्टों को भी दूर कर देने से दुख दूर नहीं होता है। उसके निवारण का एकमात्र उपाय धर्म है। दुख असुविधा नहीं है, इसलिये किसी भी सुविधा से वह दूर नहीं होगा। दुख अज्ञान है--आत्म-अज्ञान। अंतस प्रकाश को उपलब्ध हो, तो ही वह दूर हो सकता है।
यह हो सकता है कि कोई सारे जगत को जीत ले, पर यदि वह अपने को अनजीता छोड़ दे, तो पायेगा कि कोई जीत उसकी जीत नहीं है। वह भीतर अब भी हारा हुआ है, अब भी पराजित है--स्वयं से पराजित है। उसकी बाहर की जीतें दूसरों को धोखा दे दें, पर स्वयं उसे धोखा नहीं दे सकतीं। वह दुख-स्थल, वह अंधेरा तो उसमें बना ही रहेगा, जो कि स्वयं को जीते बिना नहीं मिट सकता। उसे तो बाहर की विजय दुंदुभियों में नहीं छिपाया जा सकता है या कि कितनी देर छुपाया जा सकता है? उस दुखस्थल के बोध से टकराकर सब विजयें पराजयें हो जाती हैं और सब उपलब्धियां शून्य बन जाती हैं।
कोई स्वयं को कितनी देर वंचना में रख सकता है? हम सब कुछ पा लें, और स्वयं को खो दें, पर इतना अंधा कौन है कि देर-अबेर यह दीख न जावे? इस सौदे की व्यर्थता दीख ही जाती है। हीरों को खोकर जो कंकड़ों को खरीद लाता है, उसका सौदा भी इतना महंगा नहीं है। सब पाने के धोखे में वह व्यक्ति सब खो रहा है, जो कि स्वयं को खो रहा है। स्वयं को खोना सब खोना है। उस बिंदु के अभाव में सब भी पास में हो, तो उसका कोई मूल्य नहीं। क्योंकि सब मिलकर भी वह नहीं दे सकता है, जो कि उस अकेले "स्व" में छिपा हुआ है।
"स्व" से बड़ी कोई संपदा नहीं है, क्योंकि उस अकेले को पाने से ही सब पा लिया जाता है और उस अकेले के खोने से ही सब खो जाता है। वस्तुतः वही

एकमात्र संपदा है, क्योंकि वह हमारी अंतर्निहित शक्ति है, हमारा स्वरूप है और उसे पाये बिना कोई कुछ भी नहीं है।
जिसने स्वयं को ही नहीं पाया है, क्या कुछ और पाने के उसके दावे व्यर्थ ही नहीं हैं? जिसने स्वयं को ही नहीं पाया है वह केवल कुछ पाने के स्वप्न ही देख रहा है। उसकी सब संपदा स्वप्न-संपदा है। स्वप्न के खंडित होते ही वह पायेगा कि उसकी दरिद्रता का तो अंत नहीं है। वास्तविक संपदा की उपलब्धि स्वयं को पाने से प्रारंभ होती है। वह जागरण का प्रारंभ है। स्वयं को पाकर ही कोई उस दुःनिद्रा, उस दुःस्वप्न, नाइटमेयर से जागता है, जिसे कि हम जीवन समझ रहे हैं।
मनुष्य की शक्ति विस्तीर्ण होती जा रही है, पर मनुष्य शक्तिहीन होता
जा रहा है। यह बात कैसी विरोधाभासी, पैराडाक्सिकल प्रतीत होती है। पर यही हुआ है। बाहरी हमारी शक्ति बढ़ी है पर भीतर हम शक्ति शून्य हुए हैं। पदार्थ में हमारी गति हुई है, पर स्वयं हमारी सब गति अवरुद्ध हो गई है। पदार्थ को जानने में यह हमें स्मरण ही नहीं रहा कि स्वयं को भी जानना है। हम उस मिट्टी के दीये की भांति हैं, जो सब जगह प्रकाश करता है, पर उसके स्वयं के तले ही अंधेरा इकट्ठा हो जाता है!
स्मरण रहे कि मनुष्य चाहे अपनी शक्ति का विस्तार दूर-दिगंत तक कर ले, लेकिन तब तक वह शक्तिहीन ही होगा, जब तक कि उस छोटे बिंदु पर उसकी विजय नहीं है, जो कि वह स्वयं है। उस जीवंत कण पर--उस चैतन्य-अणु पर--विजय से ही शक्ति के, परम शक्ति के आधार रखे जाते हैं। उसे पाकर ही शक्ति का और ऊर्जा का जन्म होता है।
मित्र! मैं इस विजय के लिये आपको आमंत्रित करता हूं; इस चुनौती, चैलेन्ज को स्वीकार करें। आज तक कोई भी, कभी भी बाहर के जगत में कुछ भी पाकर आनंद को उपलब्ध नहीं हुआ है। आनंद आंतरिक जीत से मिलता है। हम भी उस आंतरिक को जीतें। हम भी उस मार्ग पर चलें, जिस पर वास्तविक विजेता चले हैं। वीरों और विजेताओं के उस मार्ग के संबंध में मैं कहूंगा। वह मार्ग ही धर्म है। स्वयं की विजय का मार्ग ही धर्म है।
थोड़ा हम सोचें। भीतर की पराजय को सोचें। स्वयं के भीतर हम कैसे सर्वहारा हैं! बाहर जिनकी विजय की पताकायें उड़ रही हैं या कि जो उनके उड़ाने के स्वप्न देख रहे हैं--वे भीतर क्या हैं? क्या वहां थोड़ी भी विजय है? क्या अपनी जीत का एक भी चिह्न वहां है? देखेंगे तो पायेंगे कि वहां सब हार है--हम वहां बिल्कुल हारे हुए हैं। थोड़ा-सा क्रोध उठेगा तो उस पर नियंत्रण नहीं हो सकता। काम की ज्वाला धधकेगी तो उससे जलना ही होगा। उससे बचाव नहीं है। अहंकार की लपटें पकड़ेंगी तो उन्हें शांत नहीं किया जा सकता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, कुछ भी हो, किसी पर कोई वश नहीं है। उनका ही हम पर वश है। उनके हम दास हैं--हम जो कि बाहर सम्राट बने बैठे हैं! वासनाओं के वेगों में यंत्रों की भांति हम चलते हैं।
इतनी परतंत्रता है कि मनुष्य हम अपने को क्या कहें--यह स्थिति है। यंत्रों जैसी स्थिति है। अपना ही मन है और हम उसके मालिक नहीं। और जिनके भीतर इतनी पराजय है, वे बाहर विजय के स्वप्न देखते हों तो पागल हैं। स्वयं की इन पराजयों को जीते बिना, कोई मनुष्य पूरे अर्थों में मनुष्य नहीं बनता है। वासनाएं जब तक मालिक हैं और विवेक दास है तब तक हम मनुष्य से नीचे के तल पर हैं। विवेक की वासना पर विजय, अंधी वासनाओं पर विवेक की जीत से मनुष्य का जन्म होता है।
विजय का पहला चरण वासनाओं पर रखना होता है--अपने ही मन पर रखना होता है। भीतर जो भी अंधे वेग हैं और वृत्तियां हैं, उन्हें जीतकर ही हम कह सकते हैं कि मन हमारा है। अन्यथा कहने को ही वह हमारा है, पर हमारा जरा भी नहीं। उसके अचेतन, अन्कांशस वेग और प्रवाह हमें बहाये लिये जाते हैं। उनकी आंधियों में हमारी अपनी कोई सत्ता नहीं, कोई प्रभुता नहीं। चेतन विवेक को अचेतन की आंधियों के सामने बार-बार हार जाना पड़ता है। चेतन की लौ उनमें बार-बार बुझी-बुझी हो जाती है। यह संघर्ष जीवन भर चलता है, पर बहुत कम ऐसे सौभाग्यशाली होते हैं जो कि समाधान तक पहुंच पाते हैं। संघर्ष बहुत करते हैं, पर समाधान नहीं आता, क्योंकि सम्यक विधि का--जीत की सम्यक विधि, राइट

मैथड का बोध ही नहीं होता है। सम्यक-विधि के अभाव में अकेला संघर्ष स्वयं को ही तोड़ देगा, पर समाधान उससे नहीं आ सकता। विजय के लिये विधि चाहिये-- सम्यक विधि चाहिये, तभी कहीं पहुंचना और कुछ पाना हो सकता है।
एक कथा कहीं मैंने पढ़ी है। एक बार एक राजा ने सात जंगली घोड़े पकड़े। उसने उन्हें वर्ष भर खूब खिलाया-पिलाया और उनसे कोई काम भी नहीं लिया। वे स्वच्छंद घोड़े बहुत शक्तिशाली और खतरनाक हो गये। उन्हें अस्तबल से भी निकालना कठिन हो गया। उनके पास जाना भी खतरे से खाली नहीं था। तब उसने राज्य में घोषणा की कि जो सात व्यक्ति उन पर सवारी करेंगे, उन्हें वह सम्मानित करेगा और अपनी सेना में उच्च पदों पर लेगा और उनमें जो प्रथम आयेगा, उसे वह अपनी घुड़सवार सेना का सेनापति बनायेगा।
बहुत लोग उन घोड़ों को देखकर ही वापिस लौट गये। पर सात बहादुर सवारों
ने साहस किया। प्रतियोगिता हुई। सौ मील के गंतव्य पर उन पर सवारी करके पहुंचना था। उन घोड़ों के लिये वह काम घंटों का भी नहीं था, पर राजा ने सात दिन का समय दिया था। उसने कहा कि सवार यदि सात दिन में भी उन घोड़ों को लेकर गंतव्य पर पहुंच सके, तो वह मानेगा कि उन्होंने घोड़ों को जीत लिया है! नियत दिन पर घोड़े बाहर निकाले गये। हजारों लोग देखने इकट्ठे हुए थे।
उन घोड़ों के बाहर निकालते ही वे सवारों को लेकर--राह छोड़कर--जंगल की ओर भागे। उन्हें वश में करना था। सवार उनके ऊपर थे, लेकिन जरा भी उनके ऊपर नहीं थे। सवारों का उन पर कोई वश नहीं था। सवार उन्हें नहीं, वे ही उन सवारों को ले गये। सवार उन्हें नहीं ले जा सके, पर वे सवारों को लेकर हवा हो गये थे।
एक दिन बीता, दो दिन बीते, लोग चिंतित हुए। न सवारों का कोई पता था, न घोड़ों का कोई पता था। पर तीसरे दिन एक सवार लौटा--लहू-लुहान। वह भी चोट खाया हुआ, घोड़ा भी चोट खाया हुआ। फिर धीरे-धीरे सब लौटे, पर एक नहीं लौटा। जो सबसे पहले सवार हुआ था, वह नहीं लौटा। अत्यंत टूटे हुए और क्लांत छह सवार और घोड़े सात दिन की अवधि के पूर्व ही निश्चित गंतव्य पर पहुंच गये। पर प्रथम का अंत तक कोई पता नहीं था। करीब-करीब तय ही था कि वह समाप्त हो गया है और अब नहीं लौटेगा। पर सातवें दिन सूरज डूबने के पूर्व--समय के पूर्व ही वह भी लौटा और उसे देखकर सब चकित हो गये। वह गीत गाता लौट रहा था और उसका घोड़ा भी स्वस्थ था और प्रसन्न था और बहुत उमंग से भरा था और अपने मालिक के प्रति उसकी आंखों में कृतज्ञता और प्रेम था।
राजा ने उससे कहा: "तुम अकेले ही सवार मालूम होते हो, बाकी कोई भी सवार नहीं है। उन सबकी सवारी घोड़ों ने ही की है!"
उस राजा ने उसे अपना सेनापति बनाया। उसकी सवारी का रहस्य क्या था? वही रहस्य, सीक्रेट मन की सवारी का भी है। वह सवार अदभुत था। वह चार दिन तक केवल घोड़े की पीठ का साथी रहा। उसने सवार बनने की नहीं, साथी बनने की कोशिश की। उसने घोड़े की लगाम को छुआ भी नहीं। उसने उसे कोई दिशा नहीं दी। उसने उसे कोई इशारा तक नहीं किया। वह उसके ऊपर था पर बिल्कुल अनुपस्थित था। उसने उसे पता भी नहीं चलने दिया कि वह है।
घोड़ा स्वच्छंद था, घोड़ा मुक्त था और सवार केवल दर्शक था। घोड़ा जब थक जाता, वह उसे विश्राम देता, उसके लिये भोजन और छाया की व्यवस्था करता। वह जब फिर भागने को उत्सुक होता, वह चुपचाप उसकी पीठ पर हो जाता, लेकिन ऐसे जैसे कि कोई पीठ पर नहीं है--सवार नहीं, मात्र दर्शक। और यह रहस्य, सीक्रेट था। घोड़ा चार दिन में मित्र हो गया, विनीत हो गया। प्रेम से जीत हो गई थी और पराया अपना हो गया था। वह शत्रु नहीं रहा, मित्र हो गया। शत्रु को अस्वीकार किया जा सकता है, मित्र को अस्वीकार करना मुश्किल था। फिर सवार ने उसे जहां चाहा वह वहीं आ गया था।
इस जगत में, इस जमीन पर कोई तीन अरब सवार हैं और तीन अरब घोड़े हैं। पर उनमें से शायद ही कुछ हों जो कि सवार हों, बाकी सब किसी भांति घोड़ों से लटके हुए हैं। वे भी लहू-लुहान हैं और घोड़े भी लहू-लुहान हैं। यह यात्रा बड़े कष्ट और पीड़ा की है। जिसे सवारी ही नहीं मालूम, उसकी भी यात्रा कोई यात्रा है? जो अपने घोड़े पर, जो अपने मन पर ही सवारी नहीं कर पा रहे हैं, वे जीवन के अंत में, यात्रा के अंत में अपने को थका हुआ, टूटा हुआ और हारा हुआ

पावेंगे। वे यात्रा के अंत में पावेंगे कि यात्रा व्यर्थ गई। यात्रा के अंतिम चरण में जिसे हम संतृप्ति कहें; संतुष्टि, फुलफिलमेंट कहें, उसको वह उपलब्ध नहीं हो सकेगा। आनंद उनका भाग्य नहीं होगा। जो उन्हें मिल सकता था, वे पायेंगे कि वह उन्होंने अपने ही हाथों खो दिया है।
धर्म मन को जीतने का उपाय है। लोग सोचते हैं कि धर्म मन से लड़ने का उपाय है। वे गलत सोचते हैं। लड़ाई से क्या कभी कोई जीत हुई है? शत्रु पर कभी विजय नहीं हो पाती है। शत्रु को हराया जा सकता है, पर जीता नहीं जा सकता। और "हराने" और "जीतने" में, मित्र! बहुत अंतर है। शत्रु हारने से टूट जाता है, दमित हो जाता है, पर शत्रुता नहीं टूटती। उस तल पर वह अपराजित ही बना रहता है। उसके भीतर आपकी विजय की स्वीकृति कभी भी नहीं हो पाती है। इसलिये मैं कहता हूं कि शत्रु आज तक नहीं जीते गये हैं, केवल मित्र ही जीते जाते हैं। केवल मित्रों पर ही विजय होती है। मित्रता में ही शत्रुता हारती और नष्ट होती है।
और यह नियम आंतरिक विजय में तो और भी ज्यादा निरपवाद और अपरिहार्य है। बाहर के शत्रु तो अन्य हैं, अंतस के शत्रु तो अन्य भी नहीं हैं। वे हमारी ही शक्तियां हैं--हमारी ही दिग्भ्रमित शक्तियां हैं। उन्हें नष्ट नहीं करना है। उन्हें हराना नहीं है। उन्हें जीतना है, और मार्ग देना है। उनका विनाश नहीं, संपरिवर्तन, ट्रान्सफार्मेशन अपेक्षित है। उनके विनाश से तो हम ही नष्ट हो जावेंगे। किंतु उनका संपरिवर्तन एक नये जीवन का प्रारंभ बन जाता है। जैसे खाद और मिट्टी परिवर्तित हो फूलों में और सुगंध में बदल जाते हैं, ऐसे ही जिन्हें, अज्ञान में हम अपने शत्रुओं की भांति जानते हैं, वे ही वेग और शक्तियां, एनर्जी.ज संपरिवर्तित हो, दिव्य-ऊर्जा और भागवत-जीवन के आधार बनते हैं। इसी अर्थ में धर्म उनका विनाश नहीं, विजय है।
आंतरिक वृत्तियों पर विजय का पहला नियम और सूत्र उनसे मैत्री है-- मित्रता है। जो अपने जीवन की आंतरिक शक्तियों के साथ मित्रता साध लेता है, वह उनका विजेता हो सकता है। साधारणतः लोग बहुत विपरीत ढंग से धर्म को सोचते हैं कि महावीर या बुद्ध या क्राइस्ट या कृष्ण--ये सब मन से शत्रुता को कह रहे हैं। यह धारणा गलत है। यह दृष्टि असत्य है। वे कोई भी शत्रुता को नहीं कह रहे हैं। वे विजय को कह रहे हैं। और विजय की सिद्धि मैत्री में और केवल मैत्री में ही संभव होती है।
जो जानता है, वह स्वयं के भीतर शत्रुता और अंतर्द्वंद्व, कान्फ्लिक्ट
को नहीं कह सकता है। उस भाषा में सोचना ही भूल है। वह भाषा आत्मघाती, सुइसाइडल है। अपनी ही शक्तियों से लड़कर परिणाम क्या हो सकता है? उससे शक्ति का हृस ही होगा और जीवन-ऊर्जा क्षीण होगी। भोग भी शक्ति का अपव्यय बन जाता है और दमन व संघर्ष भी। मैं तीसरे विकल्प को आपको समझाता हूं। प्रत्येक के भीतर शक्तियों का एक अविजित क्षेत्र है। साधारणतः हम अंधे होकर उन शक्तियों के हाथ में यंत्र बने रहते हैं। वासनायें ही हममें सब कुछ होती हैं और विवेक शून्य होता है। या फिर, उतने ही अंधे होकर हम उनसे संघर्ष और विरोध करने लगते हैं। पहली अति भी भूल है और दूसरी अति भी। वस्तुतः तो अति मात्र ही भूल होती है। मार्ग सदा मध्य में है, वह अन-अति में है। वह समता में और सम्यक्त्व में है।
मनुष्य को--इसके पहले कि वह अपने को जीते और जाने--अपनी सारी अंतर्निहित शक्तियों से मैत्री करनी होती है। उन्हें जानना और उनसे परिचित होना होता है। उनसे संघर्ष नहीं, सहयोग को निर्मित करना होता है। एक शब्द में, उसे अपने से प्रेम करना होता है। हम अपने से भी प्रेम नहीं करते हैं। तो हम किसी दूसरे को क्या प्रेम करेंगे? अपने प्रति प्रेम का रुख अपनायें। अपने शरीर और मन दोनों के प्रति प्रेम की भावना करें। वे आपके जीवन के उपकरण हैं। आपकी आत्मा के मंदिर हैं। सहानुभूति और प्रेम के प्रकाश में ही वे अपने रहस्य खोलते हैं और आपको उनमें प्रवेश मिलता है। प्रेम ही प्रवेश देता है। विरोध कैसे प्रवेश देगा? शत्रुता कैसे द्वार खोलेगी? शत्रुता का रुख ही उनके द्वार बंद कर देता है। वह वैसे ही है जैसे कि जिन दरवाजों पर "अपनी ओर खींचो", पुल लिखा हो, कोई उन दरवाजों को

धक्के, पुश दे। प्रेम अपनी ओर खींचता है और जीवन में अनुभूतियों के समस्त द्वारों पर "अपनी ओर खींचो" यही लिखा हुआ है।
स्वयं को प्रेम करो और देखो। और तब आपको मेरी बात की सत्यता का पता चलेगा। प्रेम से स्वयं के भीतर वह वातावरण बनता है जो आत्म-निरीक्षण, सेल्फ आब्जर्वेशन को जन्म देता है। प्रेम की भूमि में ही आत्म-निरीक्षण का बीज अंकुरित होता है। प्रेम से पैदा हुआ सामंजस्य और संगीत ही उसके लिये खाद और पानी बन जाता है।
स्वयं के चित्त के मार्गों को जानने के लिए उनके निरीक्षण के लिये एक आंतरिक सामंजस्य, इनर हार्मनि की भूमिका बहुत आवश्यक है। विरोध, दमन और शत्रुता से प्रारंभ करने वाले उसे कभी पैदा नहीं कर पाते। जिससे शत्रुता और विरोध है, उसका निरीक्षण कैसे किया जा सकता है? वैसी स्थिति में तो निरीक्षण के पूर्व ही दमन शुरू हो जाता है।
चित्त को उसके समस्त वेगों और वासनाओं में जानना है। उसके समस्त ज्ञात और अज्ञात, चेतन और अचेतन रूपों से परिचित होना है। उसकी समस्त भूमि ज्ञात करनी आवश्यक है। स्वयं के भीतर ऐसा कोई कोना नहीं रह जाना चाहिये जो कि हमें ज्ञात न हो और जिस तक हमारा निरीक्षण न पहुंच गया हो। ऐसे कोने ही हममें बेसुरता पैदा करते हैं। और वे वासनायें और वेग ही हमें शत्रु जैसे मालूम होते हैं जिनसे कि हम परिचित नहीं हैं। विवेक जिन वासनाओं से पूर्णतया परिचित है और जिनके प्रति पूरी तरह जागृत हो जाता है, वे वासनायें अपना दंश छोड़ देती हैं और विवेक के प्रति विनीत और समर्पित हो जाती हैं।
चित्त के प्रति चेतना की पूर्ण सजगता, अवेअरनेस में वासनाओं का धुंआ विलीन हो जाता है और केवल विवेक की अग्निशिखा ही शेष रह जाती है।
जीवन का दुख और पीड़ा यही है कि भीतर हमारे एक स्वर नहीं है, एकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति बहुत से स्वरों की अनेकता और भीड़ है। ये स्वर एक दूसरे से असंगत और स्व-विरोधी हैं। उनमें कोई सामंजस्य और कोई समस्वरता नहीं है। वे सब विभिन्न और विपरीत, और दिशाओं में दौड़ते मालूम होते हैं। उनकी यह स्थिति जीवन को संगीत नहीं, संताप बना देती है। और व्यक्ति नहीं, एक अराजकता, एनार्की ही हमारा भाग्य हो जाती है। वृत्तियों, इच्छाओं और वासनाओं की यह अंधी विक्षिप्तता ही दुख है। यही बंधन है। इससे मुक्त होना ही मोक्ष है।
क्या आपको अपने भीतर विरोधी स्वर और विक्षिप्तताएं नहीं दिखाई पड़ती हैं? मैं किसी सिद्धांत की बात नहीं कर रहा हूं। जो तथ्य है, मात्र वही कह रहा हूं। जीवन के सिद्धांतों से नहीं, जीवन के तथ्यों से ही मुझे प्रयोजन है। और तथ्य जानने हों तो शास्त्रों में नहीं, स्वयं में देखें। किन्हीं सिद्धांतों से तुलना और किन्हीं परिकल्पनाओं का विचार न करें। अपने को देखें--अपने व्यवहार और चर्या को और अपनी अंतसवृत्तियों को--तो वहां एक व्यक्ति नहीं, अनेक व्यक्ति दिखाई देंगे--वहां व्यक्तियों का प्रवाह दिखाई देगा। और उस प्रवाह में कोई एकता, यूनिटी नहीं प्रतीत होगी।
"मैं" और "एक नाम" से अपने को जानने की आदत एकता का भ्रम देती है, पर एकता दुर्लभ है। व्यक्ति होना कठिन है। उसका जन्म तो तब होता है, जब भीतर की सब अराजकता और विक्षिप्तता विलीन हो जाती है। वह तो उस अप्रमत्त स्थिति का नाम है, जब वासनाओं की आंधियां नहीं होती हैं और विवेक की शिखा अकंप जलती है। अभी तो आप अपने को क्षण-क्षण बदलता हुआ पावेंगे और बदलाहट ही नहीं, क्षण भर पहले जो थे, क्षण बाद उसके विरोध में भी पावेंगे।
स्वयं का ही हम प्रतिक्षण विरोध करते और खंडित करते हैं। और जिसे हम स्वयं बनाते हैं, उसे स्वयं ही मिटा देते हैं। जिसे हम प्रेम में बोते हैं, उसे घृणा में उखाड़ देते हैं। और शांति में जिसकी नीवें भरते हैं, अशांति में उसके शिखर गिरा देते हैं। एक हाथ से देते हैं और दे भी नहीं पाते हैं कि दूसरे से छीन लेते हैं! यही हमारी पराजय है, यही हमारा आत्मघात है। इस असंगति और असंगीत से जो मुक्त नहीं होता है, वह जीवन के आनंद को और सौंदर्य को नहीं जान पाता है। वह व्यर्थ जीता है और बोझ ढोता है।

मित्र! हम व्यर्थ ही जीते हैं। व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ जीते हैं। और एक बहुमूल्य अवसर खो जाता है--बहुत अमूल्य अवसर खो जाता है। जिसमें कुछ हुआ जा सकता था, उसमें हम केवल मिटते और न होते हैं। और यह सिर्फ इसलिये कि हमारे भीतर ऐक्य, यूनिटी नहीं है। और स्मरण रहे जिसके भीतर ऐक्य नहीं है, जो "एक" नहीं है, उसके भीतर कुछ भी नहीं है। एकता, स्वयं के भीतर एक का जन्म वास्तविक जीवन का आधार है।
आप एक हो या नहीं? अपने से पूछो और अपने में देखो। खोजो! खोजने से ज्ञात होगा कि वहां तो बहु-चित्त हैं। वहां तो अनेक हैं। एक चित्त का ख्याल भ्रम है। वह सबसे असत्य बात है। चित्त हैं, चित्त नहीं और यही पीड़ा है। मनुष्य की पीड़ा यही है कि वह है ही नहीं। अनेकता, मल्टिप्लिसिटी जब तक है, तब तक मनुष्य नहीं है। आप एक भीड़, क्राउड हैं। किंतु जिसे जीवन को पाना हो, उसे व्यक्ति, इन्डिवीजुअल होना आवश्यक है।
एक बनो। व्यक्ति बनो। व्यक्ति यानी अविभक्त! मैं यही सिखाता हूं। अनेकता से और अराजकता से ऊपर उठो। यही मेरी शिक्षा है। यही मंत्र मैं आपको देना चाहता हूं। इसे ही मैंने परम सत्य तक पहुंचने का मार्ग जाना है।
यह कैसे होगा? हमारे भीतर अनेकता है पर और भीतर प्रवेश करने पर अनेकता नहीं है। वस्तुतः जो केंद्र है, वहां अनेकता नहीं है। वस्तुतः जो "मैं हूं" वहां अनेकता नहीं है। चित्त अनेक हैं, पर चेतना, कांशसनेस अनेक नहीं है। हम चूंकि चित्त को ही अपना होना जानते हैं, इसलिये विभक्त और खंडित मालूम होते हैं। चित्त के साथ तादात्म्य, आइडेंटिटी ने हमें खंडित किया हुआ है। जैसे कोई खंडित दर्पण में स्वयं को देखे और पाये कि वह खंड-खंड हो गया है--ऐसी ही यह भूल हमारी है। चित्तों के भीतर चेतना को खोजना है और दर्पण के खंडित प्रतिबिंबों के पीछे उसे जानना है जिसके कि वे प्रतिबिंब हैं। उसे जानते ही अनेकता के धुएं में एकता की ज्योति उपलब्ध हो जाती है। एक होना नहीं है, क्योंकि यदि हम वस्तुतः एक नहीं हैं तो कभी भी एक नहीं हो सकते हैं। जो हम वस्तुतः हैं, वही हमें होना है। जो हैं वही होना है। उसे ही पाना है, जो कि पाया ही हुआ है। वह संभव हो सके, इसलिये अपने में बहुत गहरे देखना आवश्यक है, दृष्टि जब स्वयं की आत्यंतिक गहराई में प्रवेश करती है तो अनेकता की लहरों के नीचे एकता का धरातल मिलता है। दृष्टि का, दर्शन का यह आत्यंतिक, अल्टिमेट प्रवेश ही योग है। दृष्टि जैसे-जैसे अंतस में चलती है, वैसे-वैसे अनेकता और अराजकता विलीन होती है। और फिर एक क्षण आता है, जबकि कोई भी दृश्य नहीं रह जाते हैं। दृश्यों का विलीन हो जाना, चित्तों का विलीन हो जाना है। फिर देखने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। बस, यही बचता है जो कि देखता है। यही वह "एक" है, जिसे पाने से व्यक्ति का जन्म होता है।
दर्शन का अंतर्गमन "एक" पर पहुंचाता है, और बहिर्गमन "अनेक" पर। "अनेकता" संसार है; "एकता" मोक्ष है।
मैं अपने भीतर निरीक्षण करता हूं तो जो अनेक है, उसे संसार और जो एक है, उसे स्वयं जानता हूं। भीतर अनेक क्या है? वासनाएं अनेक हैं, विचार अनेक हैं, भावनाएं अनेक हैं। एक क्या है? विवेक एक है, चैतन्य एक है। वही एक "मैं" हूं। वासनाओं का, विचारों का, भावनाओं का प्रवाह किसके समक्ष है? वे किसके लिये दृश्य हैं? वही "मैं" हूं, जिसके वे समक्ष हैं और जिसके लिए दृश्य हैं। "मैं" स्वयं के लिये दृश्य नहीं हो सकता है। "मैं" स्वयं के समक्ष नहीं हो सकता, इसलिये जो भी मेरे समक्ष है, वह निर्णीत रूप से "मैं" नहीं हूं, यह बोध जगाना है। इस बोध से वासनाओं, विचारों और भावनाओं से बंधा हुआ मिथ्या तादात्म्य क्षीण होता है और अंततः नष्ट होता है। उस आभास के विसर्जन पर ही चित्तों से जो अतीत है, उस चेतना की अनुभूति होती है। वह अनुभूति "एक" में ले जाती है और "एक" बनाती है।
यह जीवन क्रांति वासनाओं, विचारों और भावनाओं के दमन, रिप्रेशन से नहीं होती है। वह उनसे युद्धरत होने से नहीं होती। वह होती है सम्यक निरीक्षण, राइट आब्जर्वेशन से। वह होती है उनके प्रति जागृत होने से। "सहज सजगता"--इन दो शब्दों में ही सारी विधि है। चित्त जिनसे राग करता है, उनसे द्वेष करना कठिन नहीं है। द्वेष राग का ही दूसरा रूप है। वह उसकी ही

प्रतिक्रिया, रिएक्शन है। वह राग से अन्य नहीं, राग का ही उलटा रूप है। वह शीर्षासन करता हुआ राग है। वह मुक्ति नहीं, दूसरी ओर से नये रूप में पुराना ही बंधन है।
राग और विराग, भोग और त्याग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक में दूसरा
भी प्रच्छन्न रहता है। एक ऊपर होता है, तो दूसरा उसके नीचे छिपा रहता है। इसलिये भोगी के चित्त में त्याग की अंतःधारा चलती रहती है और तथाकथित त्यागी के अवचेतन में भोग की। त्यागी भोग के सपने देखता है और भोग के आक्रमणों से पीड़ित रहता है और भोगी भी त्याग के सपने देखता है और त्याग का आकर्षण अनुभव करता है।
पुण्यात्मा कहे जाने वाले लोग जो सपने देखते हैं, उनमें अपने को पापियों जैसा ही पाते हैं, यह बहुत अर्थपूर्ण है। इसका अर्थ है कि चित्त में प्रत्येक वृत्ति अपनी विरोधी, किंतु पूरक वृत्ति को सदा छिपाये रखती है। उनमें से किसी को भी चुनना चित्त के बाहर और ऊपर जाने का मार्ग नहीं है। वे दोनों ही चित्त की हैं और चित्त में हैं। उनमें से चुन लेना तप नहीं है। तप दोनों के बीच अ-चुनाव, च्वाइसलेसनेस में है। अ-चुनाव तपश्चर्या है। वही असली और कठिन बात है। राग और विराग के द्वंद्व में जो तटस्थ है, वही तपस्वी है।
मैं संसार छोड़कर संन्यास लेने को नहीं कहता। मैं कहता हूं संसार और संन्यास की वृत्तियों के प्रति सम्यक जागरण को। संसार छोड़कर जो संन्यास लिया जाता है, वह संसार का ही रूप होता है। उसमें संसार छुपा रहता है और संन्यासी का प्राण बना रहता है। वह संन्यास वास्तविक नहीं, और केवल वेषभूषा का संन्यास है। वास्तविक संन्यास संसार का विरोध नहीं है। वह राग के विपरीत विराग नहीं है। वह राग और विराग से मुक्ति है। वह संसार और संन्यास दोनों से मुक्ति है। वह उन दोनों में नहीं है। वह एक तीसरी अवस्था है। वह द्वंद्व के बाहर है, वही केवल स्वयं में ले जाता है।
और द्वंद्व के बाहर क्या ले जाता है? --द्वंद्व के प्रति जागरण! वही द्वंद्व के बाहर ले जाता है। जागरण तीसरा सूत्र है। वह द्वंद्व के बाहर और अतीत है। उसे साधने को ही मैंने तपश्चर्या कहा है। वह साधना अदभुत रहस्यों का उदघाटन करती है और अलौकिक जगत के द्वार खोलती है। जागरण चेतना में प्रतिष्ठित करता है और विकल्पों के ऊपर उठाता है। वह निर्विकल्प बनाता है और निर्विकल्पता में जो खड़ा होता है, वह वासना में नहीं, विवेक में खड़ा हो जाता है। विकल्प में जो है, वह वासना में है। निर्विकल्प में जो है, वह विवेक में है।
वासना और विवेक का सेतु निर्विकल्प साक्षी भाव है। लेकिन जो वासना के दमन में पड़ जाते हैं, वे बुरी तरह भटक जाते हैं। इस जगत में दो भटकनें हैं: भोग की भटकन और दमन की भटकन। संसार और तथाकथित संन्यास, दोनों उलझने हैं और बंधन हैं। तपश्चर्या दोनों के बीच संयम और संतुलन उपलब्ध करने में है। जैसे कोई दो खाइयों के बीच पतली पगडंडी पर चले, संयम ऐसा ही संभलकर चलना है। एक से बचने वाला दूसरी में गिर जाता है। जिसे बचना है, उसे दोनों से बचना होता है। भोग और दमन दोनों ही वरणीय नहीं हैं।
मैं तथाकथित साधुओं और धार्मिकों को देखता हूं, तो उन पर मुझे बहुत दया आती है। वे तपश्चर्या में नहीं, आत्महिंसा में लगे हुए हैं। उसे ही उन्होंने तप जाना है। वह तप नहीं, हिंसा है। हिंसा और घृणा की वृत्तियों को उन्होंने अपने ही प्रति उलटा लिया है। वे अपने ही दुश्मन बन गये हैं। और स्वयं के दमन और स्वयं को सताने में उन्हें जो रस आ रहा है, वह हिंसा का ही रस है। यह अत्यंत सूक्ष्म हिंसा है और ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती है, इसलिये ज्यादा खतरनाक भी है। यह हिंसा सिवाय अहंकार-संवर्धन के और कहीं नहीं पहुंचाती है। और यह भी स्मरणीय है कि जो अपने प्रति हिंसक होता है, वह वस्तुतः दूसरों के प्रति अहिंसक नहीं हो सकता है। वैसा होना असंभव है। अहिंसा का प्रारंभ स्वयं से ही होता है। स्वयं के प्रति हिंसा करने वाला, दूसरों के प्रति अहिंसक दीख सकता है, क्योंकि वह हिंसा की वृत्ति और वेग को स्वयं पर ही तृप्त कर लेता है। किंतु वह अहिंसक नहीं है और किसी भी

क्षण उसका विस्फोट हो सकता है और उसके रुखों और क्रियाओं में अहंकार और हिंसा की झलक तो सदा ही प्रच्छन्न रहती है।
वस्तुतः जिसका भी दमन किया जाता है, वह कभी नष्ट नहीं होता। उसके दबे वेग और प्रवाह बने ही रहते हैं और विस्फोट के लिये अनुकूल समय की प्रतीक्षा करते हैं। दमन से वासनाओं के बीज दग्ध नहीं होते और वर्षा आने पर उनमें पुनः अंकुर आ जाते हैं। फिर जिसे दबाया है, उसे रोज दबाना होता है। उसे प्रतिक्षण दबाना होता है--वस्तुतः उसे दबाये ही रहना होता है। फिर भी कोई फल नहीं आता है और अंततः पाया जाता है कि जो जहां था, वह वहीं ही है। एक कथा स्मरण आती है। उसे कहूंगा।
एक संध्या दो भिक्षु किसी पहाड़ी नदी को पार करते थे। एक था वृद्ध संन्यासी, दूसरा युवा। वृद्ध आगे था, युवा पीछे। नदी तट पर एक युवती खड़ी थी। वह भी नदी पार करना चाहती थी। किंतु अपरिचित पहाड़ी नदी थी और तीव्र उसका प्रवाह था। युवती उतरने का साहस नहीं कर पा रही थी।
वृद्ध संन्यासी उसके निकट आया तो उसकी दुविधा देख उसने सोचा कि उसे हाथ का सहारा दे दूं। लेकिन यह क्या? हाथ का सहारा देने के विचार के आते ही, जैसे कोई सोया सर्प अचानक फन उठा ले ऐसे ही कामवासना उसके रोयें-रोयें में कांप गई।
शरीर वृद्ध था, पर वासना अभी भी युवा थी। विकारों को दबाया था, पर वे मौजूद थे। दमन के अनेक वर्ष एकदम विलीन हो गये। बहुत तप, संघर्ष किया था, उसकी कोई रेखा भी शेष न रही।
यह क्या हुआ? क्या सब श्रम जल पर रेखायें खींचने जैसा ही व्यर्थ नहीं
हो गया था? वह अपने से ही भयभीत वृद्ध आंखें नीचे झुकाकर नदी पार करने लगा। पर आंखें झुकाने या बंद करने से तो कुछ होता नहीं है।
स्त्री या पुरुष बाहर नहीं हैं, वे तो भीतर ही छिपे हैं। काश! विकार बाहर होते तो उन्हें छोड़कर भागा जा सकता था, लेकिन वे तो भीतर हैं, भागने वाले के साथ हैं। उन्हें छोड़कर भागने का उपाय नहीं। उन्हें दमन करने का भी उपाय नहीं, क्योंकि दमन से वे आप में और भी गहरे प्रविष्ट हो जाते हैं और आपके चित्त-भवन के और भी अंधेरे, अज्ञात और अचेतन प्रकोष्ठों में उनका निवास हो जाता है। वे चेतन, कांशस से हट जाते हैं, पर अचेतन, अन्कांशस के अतिथि हो जाते हैं।
उस वृद्ध ने नदी पार की। उसने पीछे नहीं देखा, किंतु उसका मन पीछे की
ओर ही भाग रहा था। वह युवती तो उसके शरीर के पीछे थी, किंतु उसके मन में युवती आगे थी। उसके मन में अनेक विकल्प उठे। सोचता था, सहारा दे ही क्यों न दिया? लेकिन एक वासनाग्रस्त लिप्सा भी उसके मन में व्याप्त होती चली गई। वह बहुत घबड़ा गया और ग्लानि से भर गया। उसने भगवान का स्मरण किया और कहा, "मुझे क्षमा करें। बड़ी भूल हुई है। यह मैंने क्या कर लिया है?"
यूं ऊपर से उसने कुछ भी नहीं किया था, पर असली करना तो सब भीतर घटित होता है। बाहर तो केवल उसकी प्रतिछायाएं ही आती हैं। विचार ही असली कर्म हैं। बंधन और मोक्ष वही हैं। वे विचार फिर वस्तुतः कर्म में आते हैं या नहीं इससे बहुत भेद नहीं पड़ता।
वह वृद्ध संन्यासी जब नदी के उस पार पहुंचा, तो उसे याद आया कि उसके पीछे उसका युवा साथी भी आ रहा है। वह चिंतित हुआ कि कहीं वह भी उसी पाप-चिंतना में न पड़ जावे, जिससे वह स्वयं पीड़ित और पतित हुआ है।
उसने लौटकर देखा--और वह आंखें फाड़े देखता ही रह गया? उसे अपनी आंखों
पर विश्वास करना मुश्किल था। वह युवक उस युवती को कंधे पर लिये नदी पार हो रहा था! उसे आग लग गई और वह उत्तप्त और अशांत हो गया। उसका स्वयं का काम क्रोध में परिणत हो गया।
फिर वे बड़ी देर तक आश्रम की ओर चुपचाप चलते रहे। वृद्ध इतना क्रुद्ध
था कि कुछ भी बोल नहीं सका। अंततः जब वे आश्रम में प्रवेश करने लगे, तो उसका बांध टूट ही गया।
वह बोला, "आज तुमने बहुत पाप किया है। विकारों के उस ढेर को तुमने कंधे
पर क्यों लिया था? उस युवती को स्पर्श क्यों किया? अब मैं इस पाप के संबंध

में गुरु को बिना बताये कैसे रह सकता हूं? तुमने संन्यास का और शील का नियम भंग किया है।"
उस युवक ने यह सुना और उत्तर में कहा, "क्षमा करें। उस युवती को तो मैं नदी तट पर ही छोड़ आया हूं, लेकिन प्रतीत होता है कि आप उसे अभी भी अपने कंधे पर लिये हुए हैं।"
यह आश्चर्यजनक है, किंतु स्वाभाविक है। दमन का यह सहज परिणाम है। जिसने कंधे पर नहीं लिया था, वह उसे कंधे पर लिये हुए था और जिसने लिया था उसने लिया ही नहीं था। प्रश्न कंधों का नहीं, मन में लेने और न लेने का है। और यह मन बहुत सूक्ष्म और बहुत वंचक है।
जो इसे नहीं जानते हैं और इसके सूक्ष्म मार्गों से परिचित नहीं होते,
वे लड़ते तो हैं, लेकिन कभी जीतते नहीं। उनका श्रम व्यर्थ जाता है और उनकी जिंदगी आत्म-वंचना की एक लंबी कथा हो जाती है। और स्वयं के प्रति धोखे में बने रहना, दूसरों को धोखे में रखने से बहुत ज्यादा घातक है।
दमन ऊपर से फूल चिपका देता है, और भीतर कांटे ही कांटे होते हैं।
दमन ऊपर से सुगंध छिड़क देता है, और भीतर दुर्गंध बनी रहती है।
दमन ऊपर से शुभ्र वस्त्र दे देता है, और भीतर कालिख ही कालिख होती है।
कुछ भी बदलता नहीं है, और सब बदला हुआ मालूम होने लगता है। भीतर सब वही, बाहर सब भिन्न दिखता है। इससे स्वयं भी धोखे में आ जाना संभव होता है। क्योंकि हमें जैसा दूसरा मानते हैं, वैसा ही हम स्वयं को भी मानने लगते हैं। स्वयं को भी हम दूसरों के माध्यम से ही तो जानते हैं। वह जानना भी हमारा प्रत्यक्ष, इमीडिएट और सीधा नहीं है। वह भी परोक्ष, मीडिएट है। इससे ही हम दूसरों के सामने अपने शील को, अपनी नैतिकता को और अपने शुभ को सिद्ध करना चाहते हैं, ताकि उस पर हम स्वयं विश्वास कर सकें। दूसरों को विश्वास दिला देने से हमें स्वयं विश्वास आ जाता है। इससे ही यदि दूसरे हमारी निंदा करें, आलोचना करें--हमें और हमारी साधुता को स्वीकार न करें--तो हम उनसे भय खाते और दुखी होते हैं, क्योंकि वे इस भांति हमारे तथाकथित आत्म-विश्वास को तोड़ते हैं। उनने ही हमें बनाया है, वे ही हमें मिटा भी सकते हैं।
वासना और विकार को जिसने छिपाया है, उसकी यही गति है। वह और उसका चरित्र दूसरों के मतों, ओपीनियन्स से बने हुए हैं। ऐसा व्यक्ति बहुत कागजी होता है और पानी की थोड़ी-सी बूंदें उसके रंग-रूप को बहा ले जाती हैं। आपसे मैं यही पूछता हूं? आपके इरादे क्या हैं? क्या कागजी व्यक्तित्व चाहते हैं या कि अपने आधार फौलाद पर रखने हैं? कागजी व्यक्तित्व बनाना हो तो किसी और से पूछें--मैं तो केवल फौलादी आधारों के ही संबंध में बता सकता हूं! ऊपर से सुगंध छिड़क लेने का रास्ता मैं नहीं जानता हूं--मैं तो कैसे आपके प्राणों से सुगंध उठने लगे, आपकी श्वास-श्वास और रंध्र-रंध्र सुवास में परिणत हो जावे, वही और केवल वही बता रहा हूं। निश्चित ही मेरा मार्ग लंबा है, क्योंकि वह मार्ग है। जो मार्ग ही नहीं हैं और केवल आभास हैं, वे ही छोटे हो सकते हैं।
मैं दमन को नहीं, विसर्जन को कहता हूं। सवाल यह नहीं कि आप क्या दबा लेते हैं? दबाइयेगा कहां? उसे केवल दूसरे से छिपा लेंगे--लेकिन स्वयं से? वहां तो वह विसर्जन से ही विलीन होता है। वासना छिपानी नहीं, मिटानी है। उससे मुक्त होना है। उसे कैद नहीं करना है। बंदी वासना और बंदी विकार आपको भी बंदी रखते हैं। वे जितने आपके बंदी हैं, आप भी उनके उतने ही बंदी हैं। एक व्यक्ति एक गाय को बांधकर लिये जाता था। किसी फकीर ने उससे पूछाः "मित्र! गाय को तुम बांधे हो या कि गाय तुम्हें बांधे हुए है?" यह प्रश्न बहुत अपूर्ण है। बंधन सदा पारस्परिक, म्युचुअल होते हैं। जिसे आप बांधते हैं, उससे आप भी बंध जाते हैं। वासनाओं को बांधना नहीं है, उन्हें विसर्जित करना है। विसर्जन से ही आपकी स्वतंत्रता फलित होती है। वही व्यक्ति स्वतंत्र है, जिसके बंधन नहीं हैं और जो किसी के बंधन में नहीं है।
भोग में आप वासनाओं के बंधन में होते हैं। दमन में वासनाएं आपके बंधन में होती हैं। दोनों ही स्थितियां परतंत्र हैं। स्वतंत्र वह है जो

वासनाओं से मुक्त है--जिसकी कि वासनाएं हैं ही नहीं। उनके अभाव में ही केवल स्वतंत्रता है।
वासना-अभाव स्वतंत्रता है। शेष सब परतंत्रताओं के ही रूप हैं। राग और विराग, भोग और त्याग, सभी परतंत्रताएं हैं। वीतरागता ही एकमात्र स्वतंत्रता है।
मैं एक गांव में था। किसी ने वहां पूछा थाः "लेकिन साधु तो दमन को कहते हैं और धर्मों की शिक्षाएं तो दमन के ही लिये हैं?" मैंने कहा, "जो दमन के लिये कहे, वह जानता ही नहीं है। वह मार्ग अज्ञान का है, ज्ञान का नहीं। ज्ञान दमन को नहीं, मुक्त होने को कहता है।"
धर्म--कोई वास्तविक धर्म दमन नहीं सिखाता है। लेकिन समझने वालों में भूल हो सकती है, क्योंकि अकसर हम वही समझ लेते हैं जो कि समझना चाहते हैं। और हमारी समझ हमारे तल की ही होती है। उदाहरण के लिये, महावीर को लें। उनका जीवन उत्कट साधना का जीवन था। वैसे तपस्वी बहुत कम हुए हैं। पर उन्हें समझा नहीं जा सका और जो उनके पीछे हैं, वे उन्हें बिल्कुल भी नहीं समझ सके। यही समझा जाता है कि महावीर दमन के मार्ग के प्रणेता थे। वे अपनी देह, और मन का दमन कर रहे थे। इससे असत्य और कोई बात नहीं हो सकती। महावीर की अत्यंत विधायक, पाजिटिव साधना, ऐसे अत्यंत नकारात्मक, निगेटिव रूप ले लेती है।
महावीर देह और मन का दमन नहीं कर रहे थे। वे तो उसे जगा रहे थे कि जिसके प्रकाश में देह, मन के बंधन विसर्जित हो जाते हैं। उनका कार्य उस विधायक तत्व के जागरण से संबद्ध था, देह मन को सुलाने से नहीं। उस विधायक का जागरण अपने आप ही देह और मन से मुक्ति बन जाता है। पर बाहर से जो देखते हैं, उन्हें नकार ही दिखाई पड़ेगा। उन्हें छोड़ना ही दिखाई पड़ेगा--पाना नहीं। जबकि पाना सब छोड़ने के पूर्व है। उन्हें विसर्जन दमन जैसा प्रतीत होगा, क्योंकि जिसके कारण विसर्जन हो रहा है, उसके प्रति उनमें आंखें नहीं हैं।
महावीर के आचरण को ही जो जानते हैं, वे दमन ही देख पावेंगे। पर जो उनके अंतस को जानते हैं, वे कुछ और जानते हैं। उनका जानना बहुत भिन्न है। वे साधना की विधायकता को जानते हैं। नकारात्मक जो भी दिखाई पड़ता है, वह उस विधायक का सहज परिणाम मात्र है। असार को छोड़ना नहीं, सार को पाना ही आधारभूत है। मैंने ऐसा ही जाना है। महावीर के अंतस में देखता हूं, तो ऐसा ही पाता हूं।
संसार असार है, ऐसा मानकर जो साधना के जीवन को अपनाता है, वह बहुत कच्ची नींव पर भवन खड़ा करता है। पक्की नींव तो तब उपलब्ध होती है, जब ज्ञात होता है कि आत्मा सार है। संसार का असार अनुभव होना साधना के लिये जिज्ञासा हो सकती है, लेकिन साधना का जीवन नहीं। उस जीवन की शुरुआत तो उसके अनुभव से होती है जो कि सार है। असार के बोध पर खड़ी साधना नकारात्मक है। सार का आधार साधना को विधायकता देता है। और उसके बाद ही वास्तविक जीवन में प्रवेश होता है। निषेध और नकार कहीं भी ले जाने में समर्थ नहीं हैं। दमन निषेध है। वह अशुभ का विरोध है। विसर्जन निषेध नहीं है, शुभ का जागरण है। दमन नकार है। विसर्जन विधेय है।
सुबह सूरज उगता है। घास पर, वृक्षों के पत्तों पर पड़ी ओस की बूंदें उसकी किरणों के आते ही विलीन हो जाती हैं, वाष्पीभूत हो जाती हैं। फिर उन्हें ढूंढ़कर भी नहीं पाया जा सकता। उनका जीवन रात्रि के शीतल अंधकार में था। प्रकाश और उत्ताप उनका जीवन नहीं है। ऐसे ही जब भीतर ज्ञान के सूरज का जन्म होता है तब विकार की, वासना की बूंदें वाष्पीभूत, एव्हपोरेट हो जाती हैं। उन्हें दमन नहीं करना होता। न उन्हें मिटाने को ही कुछ करना होता है। बस, वे नहीं पाई जाती हैं। ज्ञान का और उनका सह-अस्तित्व, को- एग्जिस्टेंस असंभव है। ज्ञान और वासना साथ-साथ नहीं होते। ज्ञान के आते ही वासना, पेशन विलीन होती है और उसमें अंतर्निहित शक्ति करुणा, कम्पेशन में परिणत हो जाती है।
अज्ञान के साथ वासना होती है, ज्ञान के साथ करुणा। वासना अज्ञान का प्रगट रूप है, करुणा ज्ञान का। वासना अज्ञान की देह है, करुणा ज्ञान की।

इसलिये ही, वासना से अज्ञान पहचाना जाता है। जहां करुणा है, वहां ज्ञान है। वही ज्ञान की कसौटी है। वही ज्ञान की परीक्षा है। वही ज्ञान की खबर है।
किंतु इससे कहीं यह भ्रांति आपके मन में न पैदा हो जावे कि वासना को करुणा में बदलना है। वह परिवर्तन सीधा नहीं होता। वह परिवर्तन परोक्ष है। ज्ञान के जागरण और अज्ञान के विलीन होने से वह परिवर्तन होता है। जिस भ्रांति के प्रति मैं आपको सचेत कर रहा हूं, वह बहु-प्रचलित है। उसके कारण ही दमन और नकार ने धर्मों की अंतरात्मा को ग्रसित कर लिया है। ज्ञान को जगावें--शेष सब उसके बाद होता है। सूर्य न हो, उसका उत्ताप न हो और अंधेरी और सर्द रात्रि हो, तो ओस की बूंदों को आप छिपा सकते हैं, मिटा नहीं सकते। और जो छिपाने में लगा है, वह गलती में लगा है। उस आत्म-वंचना में कोई न पड़े। शक्ति और श्रम के अपव्यय के अतिरिक्त उसमें कुछ भी नहीं है।
एक शब्द को अपने स्मरण में रख लें। वह शब्द हैः "विसर्जन।" विसर्जन की प्रक्रिया बहुत मूलभूत है। वह शब्द समस्त योग का सार सूत्र है। उस प्रक्रिया का रहस्य इसमें है कि वह विसर्जन ही नहीं, वस्तुतः संपरिवर्तन, ट्रांसफार्मेशन भी है। शक्तियां विसर्जित नहीं होतीं, वे संपरिवर्तित होती हैं। उनके रूप बदलते हैं और उनकी दिशा बदलती है। अधोगमन की जगह ऊर्ध्वगमन आता है। पशु की ओर उन्मुख न होकर, शक्तियां प्रभु की ओर उन्मुख हो जाती हैं। उनका उदात्तीकरण, सब्लिमेशन ही विसर्जन है।
जगत में जो भी है, वह कुछ भी नष्ट नहीं होता है। और जो नहीं है, उसका सृजन भी नहीं होता है। न सृजन है, न विनाश है। जगत में केवल परिवर्तन है। वासनाओं के नष्ट होने का अर्थ है कि वह शक्ति जो वासना में प्रगट थी, उसने अभिव्यक्ति का दूसरा मार्ग ले लिया है। अभिव्यक्ति का मार्ग बदलता है, शक्ति नष्ट नहीं होती। जो प्रेम में प्रगट होती है, वह वही शक्ति है, जो कि घृणा में प्रगट होती थी। जो पशुता में परिलक्षित होती है, वही शक्ति दिव्यता में भी मौजूद होती है। लोहा स्वर्ण बन जाता है और कंकड़-पत्थर हीरे हो जाते हैं। शक्ति का ऊर्ध्वगमन है, विनाश नहीं। उसे समझें और स्मरण रखें; क्योंकि उस पर ही साधना की सारी दिशा निर्भर होती है।
वासना और विकार के साथ सीधा कुछ भी नहीं करना है। वे केवल मार्ग हैं। मैं--वह शक्ति--जो कि उन मार्गों पर गतिमय हूं, यदि दूसरे मार्गों पर गतिमय हो जाऊं, तो वे मार्ग समर्थ हो जावेंगे। उनके साथ नहीं, अपने साथ कुछ करना है। इसे ही मैं साधना की विधायकता कहता हूं। इस भांति उस प्रकाश की अनुभूति होती है, जिसकी उपस्थिति में वासना और विकार का अंधकार विलीन हो जाता है। अंधकार को मिटाना नहीं होता; प्रकाश को जलाना होता है।
जो अंधेरे को मिटाने और निकालने में लगे हैं, उनकी आस्था दमन है। मैं प्रकाश जलाने को कहता हूं। मेरी आस्था दमन नहीं, विसर्जन है। पाप प्रश्न नहीं है, प्रश्न प्रभु है। पाप को नहीं मिटाना, प्रभु को जगाना है। और जब मैं पाप का चिंतन करते और उसे मिटाने और जीतने का उपाय सोचते लोगों को देखता हूं तो मेरी पीड़ा का अंत नहीं रहता है। पाप का विचार व्यर्थ है। पाप है कहां? उसकी वास्तविक सत्ता कहां है, जो कि उसके साथ कुछ भी किया जा सके? वह तो स्व-बोध का अभाव ही है। उस पर नहीं, स्व-बोध पर कार्य करना है।
धर्म पाप-त्याग से नहीं, प्रभु-उपलब्धि से फलित होता है। यह मैं सबसे कहना चाहता हूं। उन हृदयों तक यह पुकार पहुंचाना चाहता हूं जो कि पाप-त्याग के विचार से पीड़ित हैं। उनकी अभीप्सा शुभ है, पर मार्ग ठीक नहीं। उनकी आकांक्षा शुभ है, पर दिशा विपरीत है। ऐसे शुभाकांक्षी हृदय भी व्यर्थ ही पीड़ा पाते हैं, क्योंकि अंधकार को सीधा निकालना और मिटाना असंभव है।
मनुष्य को पाप में मानना भूल है। मनुष्य पाप में नहीं, अज्ञान में है।
जो भी पाप है, वह उसके अज्ञान का फल है। पाप नहीं अज्ञान--चोट अज्ञान पर करनी है और वह चोट ज्ञान से ही हो सकती है। अंधकार पर चोट करनी है, तो वह चोट प्रकाश से ही हो सकती है।
प्रकाश से चोट करें--ज्ञान से चोट करें--जागरण से चोट करें। प्रकाश को जलाने में लगें और फिर देखें कि क्या होता है?

अंधकार क्या है? अज्ञान क्या है? वे तो मात्र अभावों के नाम हैं! अपने में उनका कोई होता नहीं! उनके भीतर वे कुछ भी नहीं हैं! स्वयं में वे एकदम खाली हैं। समझ रहे हैं कि मैं क्या कह रहा हूं? एक दिन किसी से मैंने पूछा कि प्रकाश क्या है? उन्होंने कहाः "अंधेरे का न होना।" यह परिभाषा ठीक लगती है न? पर यह ठीक नहीं है। भाषा की दृष्टि से तो ठीक ही है, पर सत्ता की दृष्टि से नहीं।
प्रकाश अंधेरे का न होना नहीं है। प्रकाश तो प्रकाश का ही होना है। वह किसी का न होना नहीं, अपना ही होना है। उसकी स्वयं की सत्ता है। अंधेरे को तो हम कह सकते हैं कि वह प्रकाश का अभाव है। पर प्रकाश को नहीं कह सकते कि वह अंधेरे का अभाव है। यह इसलिये नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अंधेरा हो तो अंधेरे को हटाकर प्रकाश नहीं किया जा सकता। और प्रकाश न हो तो अंधेरे को लाकर उसे नष्ट ही किया जा सकता है। अंधेरे के साथ और अंधेरे के द्वारा कुछ भी नहीं किया जा सकता है। उसके साथ जो भी करना हो वह उसके साथ नहीं, प्रकाश के साथ करना होगा। इसलिये प्रकाश तो सत्ता है, अंधेरा सत्ता नहीं, वह प्रकाश की असत्ता मात्र है।
और ऐसा ही पाप है। और ऐसा ही अज्ञान है। और ऐसा ही संसार है। इनसे जो सीधा लड़ता है वह पागल है और जो लोगों को ऐसा सीधा लड़ने को समझाता है, वह उन्हें पागल होने की राह बताता है। सभ्यता जैसे बढ़ती है, विक्षिप्तता बढ़ती जाती है। इसका कारण क्या है? सभ्यता पागलों को क्यों पैदा करती है? इसका कारण दमन है। इसका कारण बिना प्रकाश जलाये, अंधेरे से लड़ना है।
और बहुत-से साधक और साधु जो पागल हो जाते हैं, उसका कारण भी यही है। उनका उन्माद और तथाकथित विक्षिप्त मस्ती परमात्मा से नहीं, वासनाओं के दमन से आती है। स्वास्थ्य के नहीं, वे सब विक्षिप्तताओं के ही रूप हैं।
सम्यक साधना उन्माद में नहीं, उन्माद-मुक्ति में ले जाती है और उससे मस्ती नहीं आनंद का जन्म होता है। मस्ती आवेश है, उत्तेजना है। आनंद आवेश-शून्य, आवेग-रहित, अनुत्तेजना की अत्यंत शांत स्थिति है। मस्ती दमन से और आनंद विसर्जन से आता है। मस्ती मानसिक है, आनंद आत्मिक है। मस्ती रुग्णता है, आनंद स्वास्थ्य है। मस्ती सुख है, वह मादक है। वह दुख की और होश की विरोधी है। आनंद सुख-दुख का अभाव है। आनंद पूर्ण शांति है।
वास्तविक धर्म का संबंध मस्ती से नहीं, आनंद से है।
मस्ती के दौरे होते हैं और उनके बाद बहुत दुख और रिक्तता का बोध होता है। वह नशा है और नशे की भांति ही उसमें बार-बार जाने की इच्छा होती है। मस्ती में सब भूल जाता है। वह ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। आनंद आता है, तो जाता नहीं है। वह स्वरूप है, आवेग नहीं। वह ऊपर से आरोपण नहीं, अंतस का आरोहण है। आनंद मूर्च्छा नहीं, ज्ञान है। मस्ती भ्रम है, आनंद अंतस की वास्तविक क्रांति है। इसलिये ध्यान रहे कि हमारा लक्ष्य आनंद है, मस्ती नहीं। उन्माद नहीं, अप्रमाद--मादकता नहीं, अप्रमत्तता जीवन का लक्ष्य है। वासना शक्ति का दमन चित्त के संतुलन को नष्ट करता है। उस असंतुलन में अनेक कल्पनायें साकार रूप धरने लगती हैं। बहुत-से प्रक्षेप, प्रोजेक्शन और भ्रांत के साक्षात होने लगते हैं। जो नहीं है, वह दीखने लगता है। इन्हें ही लोग धार्मिक अनुभूतियां समझ बैठते हैं। ईश्वर और देवी-देवताओं के भी साक्षात हो जाते हैं। वे न तो साक्षात हैं, न ही अनुभूतियां हैं। मन की स्वप्न देखने की जो क्षमता है, उसके ही ये खेल हैं। मन का जो अल्प-सा अंश चेतन है, वह भी यदि किसी भांति मूर्च्छित हो जावे, तो जागते में ही स्वप्न-शक्ति सक्रिय हो जाती है। और जो पूर्व धारणाएं चित्त में घर किये हों, वे सत्य जैसी भासने लगती हैं। इस भांति संसार से तो संबंध टूटता है, पर सत्य से नहीं, स्वप्न से जुड़ जाता है। चित्त का असंतुलन यही कर सकता है। सत्य से संबंधित होने के लिये तो उसका पूर्ण संतुलन चाहिये। चित्त जब सहजता और संतुलन की स्थिति में आता है, तभी उसके द्वार सत्य के लिये खुलते हैं। वह संतुलन ही द्वार है।
चित्त का संतुलन कैसे हो? दमन और संघर्ष से नहीं, मैत्री, प्रेम और निरीक्षण से--वासना के विसर्जन और संपरिवर्तन से वह होता है।

क्या आपको ज्ञात है कि आप अपने से जरा भी प्रेम नहीं करते? आपकी स्वयं
के प्रति जो घृणा है, वही दमन, संघर्ष और आत्मविग्रह का रूप ले लेती है। हम अपने से भी प्रेम नहीं करते हैं! क्राइस्ट ने कहा हैः "अपने पड़ोसी को अपने जैसा ही प्रेम करो।" मैं पूछता हूं कि आप अपने से भी प्रेम कहां करते हैं? पड़ोसी तो दूर है, पहले अपने से तो प्रेम करो! जो अपने से प्रेम करता है वह सबसे प्रेम करने लगता है। प्रेम तो भाव की अवस्था है। वह भीतर हो तो सहज ही सर्व के प्रति व्याप्त हो जाती है। आत्म-त्याग, सेल्फ रिनन्सिएशन नहीं, आत्म-प्रेम, सेल्फ-लव--इस पर चिंतन करो--सोचो और आप पाओगे कि आत्म-प्रेम ही वास्तविक आत्म-त्याग है। और जिसे हम त्याग करके जानते हैं, वह सब प्रच्छन्न स्वार्थ, सेल्फिशनेस ही है।
प्रेम करो--स्वयं को प्रेम करो। अपने प्रति प्रेम से भरो। उससे बहुत ऊर्जा का जन्म होता है। प्रेम अदभुत शक्ति है। और जब आप स्वयं अपने प्रति प्रेम से भरते हो, तो चित्त अपने रहस्य क्रमशः खोलने लगता है और उसके प्रेमपूर्ण निरीक्षण से उसके भीतर आपका प्रवेश होता है। प्रेम संतुलन लाता है; घृणा और दमन नहीं। प्रेम निरीक्षण को संभव बनाता है; घृणा और विरोध नहीं। इसलिये मुझे आज्ञा दें कि मैं आपको स्वयं अपने से प्रेम करना सिखाऊं।
यह कहना कैसा अजीब लगता है, पर सत्य यही है कि हम अपने से ही प्रेम नहीं करते हैं। और जो अपने से प्रेम नहीं करता, वह अपना सम्मान भी नहीं करता। वह अपने जीवन का भी आदर नहीं करता। और इसलिये उसे कैसे भी व्यय और व्यतीत करता है।
एक रात्रि एक व्यक्ति क्रोध में मुझे न मालूम क्या-क्या कह गये थे। उनके जाने पर किसी ने पूछा था, "आपने उन्हें कुछ कहा नहीं? हम तो बहुत क्रोधित हो गये थे, किंतु आप चुप थे, किसलिए चुप रहे?" मैंने कहा--"मैं अपने आपको इतना प्रेम करता हूं कि क्रोध करना मुझे संभव नहीं है। क्रोध न करके उन पर नहीं, स्वयं पर ही मैंने दया की है। क्रोध तो अग्नि है, वह स्वयं को ही जलाती है और जो अपने को प्रेम करता है, वह कैसे उसे अपने भीतर सुलगा सकता है?" स्वयं से प्रेम का अभाव ही अनाचरण बन जाता है। सदाचरण स्वयं से प्रेम का परिणाम है।
मैं जितना अपने और अपने जीवन के प्रति प्रेम से भरता गया, मैंने पाया
कि जिसे हम अशुभ कहते हैं, उसका करना अपने आप असंभव हो गया। फिर यह भी पाया कि जिसे शुभ कहें, उसके फूल भी जीवन में अनायास लगने लगे। प्रारंभ में अपने से प्रेम शुरू किया था, फिर जाना कि वह तो सबसे प्रेम बन गया है! देखो--अपने से प्रेम करके देखो। जीवन की जो ज्योति आप में है, उसे प्रेम करो। उसका प्रेम आपमें बहुत सृजनात्मकता, क्रिएटीविटी पैदा करेगा। भोग भी स्वयं का ध्वंस है। दमन भी ध्वंस, डिस्ट्रक्शन है। वे दोनों विनाश हैं और आत्मघाती, सुइसाइडल हैं। प्रेम सृजन है। उस भाव-भूमि में परिवर्तन के आधार रखे जाते हैं और जीवन ज्योति ऊर्ध्वगामी होती है। जिन्हें ऊपर जाना है, उन्हें प्रेम की सीढ़ी है।
स्व-सत्ता से प्रेम "विधायक धर्म", पाजिटिव रिलीजन की अनिवार्य शर्त है। उसके अभाव में धर्म पैदा भी हो तो वह नकारात्मक, निगेटिव ही होगा। हम जो धर्म विहीन हुए हैं और हमारा युग जो अधार्मिक दीख रहा है, उसका मूल कारण विज्ञान की भौतिकता, मटिरियलिज्म और नास्तिकता नहीं है, न ही धर्म विरोधी विचार हैं। उसका मूल कारण हैः धर्म की नकारात्मकता।
नकारात्मक धर्म--ऐसा धर्म जो कि जीवन के निषेधों पर खड़ा है, बहुत दिन
तक जीवित नहीं रह सकता है। नकार की परिणति मृत्यु है। धर्म की नकारात्मकता, उसका जीवन-निषेधक, लाइफ-निगेटिव रूप अपना घात स्वयं ही कर लेता है। उसे मारा नहीं जाता, वह स्वयं ही मर जाता है। जीवंत धर्म, लिव्हिंग रिलीजन जीवन-निषेधक नहीं होता है। वह किसी इनकार पर नहीं, किसी स्वीकार पर खड़ा होता है। उसका प्राण "नहीं" नहीं, "हां" होता है।
एक साधु एक अपरिचित और अजनबी देश में मेहमान था। वह एक आश्रम में ठहरा। उस आश्रम के प्रधान ने अपने आश्रम के अंतेवासियों की प्रशंसा में उससे कुछ बातें कहीं। उसने कहा, "हमारे साधु असत्य नहीं बोलते, हिंसा नहीं

करते, परिग्रह नहीं रखते, मदिरा नहीं पीते" और वे जो-जो नहीं करते थे, उसने वह सब बताया। उस अतिथि साधु ने सब सुनकर कहा, "क्षमा करें और एक बात पूछने की आज्ञा दें। मैं यह तो समझ गया कि आपके साधु क्या-क्या नहीं करते हैं, अब मैं यह जानना चाहता हूं कि वे करते क्या हैं?"
यही मैं भी पूछना चाहता हूं। सबसे सब जगह यही पूछ रहा हूं। वह प्रीतिकर न भी लगे तो भी पूछना ही होगा। आपसे प्रेम है, इसलिये पूछना ही होगा, आप जिसे धर्म मान रहे हैं, वह किसी विधायक साधना पर खड़ा है या कि किन्हीं "न करने" की निषेध आज्ञाओं पर? धर्म आपका जीवित है या कि मृत? जीवित धर्म पार ले जाता है और मृत डुबा देता है। वह जीवन-दृष्टि मृत है, जो "नहीं करने" पर निर्भर होती है। वह धर्म नहीं, धर्म का पतन है। वह धर्म का आभास मात्र है।
धर्म जब अपने विधेय को, योग को खो देता है, तब वह नकार आज्ञाओं का संकलन मात्र रह जाता है। धर्म का ऐसा नकार रूप ही नीति, मारलिटी है। नीति धर्म का पतन है। वह धर्म की मृत्यु है। नीति का अर्थ है नकार। यह न करो, वह न करो--यही उसका रूप है। छोड़ना और त्यागना उसका प्राण है। उसे यदि पूरा माना जावे, तो आत्मघात ही परिणाम होगा। उसका चरम तार्किक परिणाम यही होगा कि जीना मात्र अनैतिक है। केवल मृत्यु ही पूर्ण अर्थों में नैतिक हो सकती है, क्योंकि मृत्यु में ही "न करना" पूरा होता है।
धर्म नकार नहीं है। वह पूर्ण विधेय है। और पूर्ण जीवन को पाने का मार्ग है। वह "न करना" नहीं, वरन "कुछ करना" है। वह त्यागना और छोड़ना नहीं वरन पाना है। धर्म चरम उपलब्धि है। वह अंधकार विनाश नहीं, प्रकाश का प्रदीप्त होना है। निश्चय ही प्रकाश के आने से अंधकार नष्ट होता है, किंतु वह धर्म की साधना नहीं, साधना का अपरिहार्य परिणाम है। निश्चय ही धर्म को पाने से बहुत कुछ छूटता है, पर वह "छोड़ना" नहीं "छूटना" है। और उन दोनों में बहुत भेद है। "छोड़ना और त्यागना" दमन है, आत्महिंसा है; "छूट जाना" विसर्जन है, मुक्ति है।
धर्म विनष्ट हुआ है, नकारात्मक आधारों से। उसे पुनर्जीवित करना है तो विधायक आधार देने होंगे। मृत्यु पर नहीं, जीवन पर धर्म को खड़ा करना होगा। त्याग का संकोच नहीं, उपलब्धि का विस्तार उसे देना होगा। छोड़ने की निराशा नहीं, पाने की आशा और उत्साह से उसे परिपूरित करना होगा। तभी आपके मरणासन्न प्राणों में पुनः शक्ति का संचार होगा और आपकी अंधकार से भरी आंखें सूर्य की ओर उठ सकेंगी।
इसलिये मैं अपने दोनों हाथ उठाकर आपको पुकार रहा हूं कि उठो, और धर्म
की विधायकता का उदघोष अपने जीवन में करो। मैं चाहता हूं कि आपका जीवन दिव्य आनंद की घोषणा बने और उस परम सत्य के आधार रखे जा सकें, जो कि हमने अपने ही हाथों नष्ट कर दिये हैं।
धर्म की विधायकता का सिंहनाद अत्यंत आवश्यक है। उससे ज्यादा बहुमूल्य आज कुछ भी नहीं है--कभी भी नहीं था। धर्म को खोकर हम मनुष्य को बहुत दिन नहीं बचा सकते हैं। धर्म नहीं लौटा तो मनुष्यता को भी गया हुआ मान लेना चाहिये। मनुष्य की नीवें हिल गई हैं और वह विनाश की कगार पर खड़ा है। उसके ऊपर बाहर से कोई संकट नहीं है। संकट, क्राइसिस उसके भीतर है। उसका संकट उसका स्वयं से टूट जाना है। उसका संकट धर्म को भूल जाना है। अपने भीतर देखो। क्या वहां संकट नहीं है? क्या हमारी जड़ें जीवन की भूमि से टूट नहीं गई हैं?
और अपने बाहर भी देखो। क्या जो आपके साथ हुआ है, वही सबके साथ नहीं हुआ है?
और सोचो कि यह सब क्यों हुआ है?
मनुष्य क्यों मर रहा है? क्या इसका कारण यही नहीं कि हम वह मार्ग भूल गये हैं जो हमें जीवन के मूल-स्रोत से जोड़ता है? क्या इसका कारण यह नहीं है कि विश्वसत्ता से हम वियुक्त हो गये हैं?
समस्त संकटों का कारण यही है। मनुष्य की सारी रुग्णता का कारण यही है। धर्म का विस्मरण--धर्म की विस्मृति हमारे दुख और दुर्भाग्य के मूल में है।

और धर्म भूला जा सका, विस्मृत किया जा सका, उसके जीवन विरोधी रुख के कारण। उसकी मृत्योन्मुखी धारा के कारण हम क्रमशः धर्म से टूटे और अलग हुए। वह अमृत की तलाश न रहा और मृत्यु की साधना बन गया। वह आनंद का अन्वेषण न रहा और दुख से संघर्ष का पथ हो गया। वह प्रभु की खोज न रहा और संसार-त्याग बन गया। इस नकार दृष्टि ने हमें धर्म से वियुक्त किया है। इस पर मनन करें। इस सत्य को देखें और सजग हों।
इस निदान की सजगता से ही--धर्म की इस मिथ्या धारा के प्रति सचेत होने
से ही--धर्म की सत्य अंतरात्मा को समझा और जाना जा सकता है और उसे जीने के लिये कदम उठाये जा सकते हैं। विचार में उसे प्रथम जानना होता है, जिसे कि आचार में जीना हो। आचार के प्रथम चरण विचार में ही रखे जाते हैं। विचार ही, विवेक ही अंततः आचार बन जाता है।
विचार शक्ति है। मनुष्य के पास सबसे बड़ी शक्ति वही है। उसके ऊर्ध्वगमन के लिये वही उसका साथी है। पर इस शक्ति को हम दूसरों के उधार विचारों से दबाये रखते हैं। और कभी सक्रिय नहीं होने देते। पर विचारों के कारण स्व-विचार पैदा ही नहीं हो पाता है। विचारों को अलग करें और "विचार" को जगावें। फिर "विचार" के प्रकाश में देखेंगे तो जिस तथ्य की ओर मैं इंगित कर रहा हूं, उसका दर्शन होगा। यह मेरा मत नहीं है। मैं केवल तथ्यों की बात कर रहा हूं।
धर्म नकारात्मक कैसे हो जाता है?
धर्मानुभूति तो सदा विधायक होती है, पर जो उसे स्वयं नहीं जानते और जीते उसके लिये यह नकारात्मक प्रतीत होगी। दूसरों से जो जानते हैं-- दूसरों में देखकर जो जानते हैं, वे उसके नकारात्मक रूप को ही देख पाते हैं। वह रूप धर्मानुभूति की देह है। चर्म-च्रुओं से केवल उसका ही दर्शन होता है। बाहर से धर्म की अंतरात्मा नहीं दिखती और इससे ही भ्रांति का जन्म और पोषण होता है।
धर्म जो है--उस अनुभूति का स्वयं में जो रूप है, वह बाहर से नहीं, भीतर प्रवेश करके ही जाना जा सकता है। और कोई मार्ग नहीं है। धर्म के स्वरूप को स्वयं की अनुभूति से ही जाना जाता है। किसी और की अनुभूति उस रहस्य को किसी दूसरे के समक्ष नहीं खोल सकती। उस भांति जो समझने चलते हैं, वे धर्म की देह पर ही रुक जाते हैं।
धर्म का विषयगत, आब्जेक्टिव ज्ञान संभव नहीं। उसका तो प्रेम की भांति सदा विषयीगत, सब्जेक्टिव ज्ञान ही होता है। प्रेम में होकर ही प्रेम जाना जायेगा--धर्म में होकर ही धर्म। बाहर से और दूर से--दर्शन की भांति जो जाना जाता है, वह सत्य नहीं होगा। धर्म को दर्शक की भांति नहीं जानना है--उसे तो जीना होगा और तभी उसकी विधायकता अनुभव होगी। उसमें डूबकर और मिटकर ही उसका परिचय होता है।
किंतु अधिकतर लोग स्वयं धर्म-प्रविष्ट नहीं होते और दूसरों में हुए परिवर्तनों को देखकर ही धर्म का अनुमान लगाते हैं। यह अनुमान बिल्कुल ही असत्य होगा। क्योंकि वे आचरण को ही देखेंगे, अंतस को नहीं। और आचरण धर्म के संबंध में क्या बता सकता है? वह धर्म का प्राण नहीं, मात्र लक्षण है। इस आचरण को देखकर जो धर्म का विचार होता है, वही नकारात्मक दृष्टि का जन्मदाता है।
अंतस में होती है सत्य-उपलब्धि, आचरण में होता है त्याग असत्य का। अंतस में पैदा होता है ब्रह्मचर्य, आचरण में त्याग होता है काम, सेक्स का। अंतस में जागता है प्रेम, आचरण में हिंसा शून्य होती है। अंतस से प्रभु आता है, आचरण से पशु विलीन होता है। अंतस प्रकाश से भरता है, आचरण से अंधकार तिरोहित होता है।
व्यक्ति की अंतरात्मा में जो अनुभूति घटित होती है, उसका क्रम यही है। पर बाहर से क्रम उलटा दीखता है। बाहर दीखता है कि असत्य, काम, हिंसा और अंधकार छोड़ा जा रहा है। बाहर से मात्र त्याग का ही प्रत्यक्ष होता है और उपलब्धि अनुमानित होती है। त्याग प्रत्यक्ष होता है, उपलब्धि मान्यता होती है। इससे ऐसी निष्पत्ति पैदा हो जाती है कि धर्म का मूल त्याग है। जबकि मूल उपलब्धि है और त्याग उस उपलब्धि का गौण परिणाम है।

महावीर को हमने देखा है। उसी मार्ग पर जाते और भी वीरों को देखा है।
पर हम उनके अंतस को नहीं देख पाये और हमने उन्हें देखकर जिस धर्म की कल्पना की है, वह मात्र उनके बाह्याचरण पर आधारित है। वह धर्म अधूरा और आंशिक है और मूल पर नहीं, गौण पर खड़ा है। उसकी भित्तियां ही हमने अज्ञान पर रखी हैं।
महावीर में हमने क्या देखा? देखा कि वे घर को, संपत्ति को, सुविधा को, मित्रों को, प्रियजनों को--सबको छोड़कर गये हैं। हमने देखा कि वे सब छोड़कर गये हैं। पर हम यह नहीं देख सके कि वे किस संपदा की गंध पाकर इस संपत्ति को छोड़कर गये? यह मात्र छोड़ना नहीं था। और कोई संपदा-राशि भी तो आकर्षित कर रही थी! यह त्याग नहीं था, कोई उपलब्धि बुला भी तो रही थी। असार को सार के लिए छोड़ना क्या मात्र त्याग ही है? घर से यदि कोई कूड़े-कचरे को बाहर कर देता है, तो क्या वह त्याग है?
नहीं, मित्र! मैं इसे त्याग कहने में असमर्थ हूं। उस शब्द की ध्वनि ठीक नहीं है। उसमें "छोड़ने" का जो भाव है, वह सम्यक नहीं है। कुछ और ही कहना होगा, क्योंकि "छोड़ने" से ज्यादा महत्वपूर्ण उस छोड़ने में "पाना" है। यद्यपि यह सत्य है कि जो छोड़ा जाता है, वही हमें दिखाई पड़ता है। क्योंकि उस स्थूल को ही जानने और पहचानने की हमारी क्षमता है।
हम जिसे प्राणों की भांति पकड़े हुए हैं, किसी के द्वारा उसी का छोड़ा जाना हमें "महान त्याग" दिखाई पड़ता हो तो आश्चर्य नहीं है! जो जितना ज्यादा धनलिप्सा से भरा होगा, उसे धन का त्याग उसी मात्रा में महान दिखाई पड़ेगा। और जिसकी जितनी ज्यादा कामेष्णा होगी वह उतना ही काम-त्याग से प्रभावित होगा। यही नियम है। इसलिये जब आप किसी त्याग को महान कहो तो स्मरण रखना कि उससे उस त्याग की महानता तो नहीं, किंतु आपकी उस दिशा में आसक्ति और पकड़ की सूचना अवश्य ही मिल जाती है।
हमारी स्थूल दृष्टि स्थूल के त्याग को देखती है और सूक्ष्म संपदा के लोक में वास्तविक संन्यासियों को जो मिलता है, वह हमें गोचर नहीं होता। काश! हमें वे जो पाते हैं, वह भी दीख सके, तो धर्म के संबंध में हमारी दृष्टि आमूल बदल जावे। तब धर्म मूलतः "पाना" मालूम हो, "छोड़ना" नहीं। महावीर के जीवन में एक त्याग तो हमने वह देखा, जब वे घर से गये। फिर बाद में और भी गहरे त्याग हमने देखे। हमने देखा कि उन्होंने हिंसा छोड़ दी है। पर हम उस दिशा और अनुभूति के संबंध में अंधे ही रहे, जिसे पाने से उनकी हिंसा छूटी थी। अत्यंत आंतरिक और सूक्ष्म को देख पाना हमें संभव नहीं हुआ, अहिंसा हमें उनकी साधना का मूलाधार मालूम हुई, जबकि मूलाधार कुछ और ही था, अहिंसा तो उस मूल का परिणाम और प्रकाशन थी। ऐसे ही हमने उनके समस्त विकार विलीन होते देखे। हमने माना कि वे विकार छोड़ रहे हैं। जबकि वे तो निर्विकार को पा रहे थे और विकार उनसे अनायास ही जा रहे थे। वह विकारों का त्याग नहीं, निर्विकार का आगमन था। एक दिन उनके जीवन में कोई अंधकार न रहा। हमने कहा, "उन्होंने सारा अंधकार छोड़ दिया है" जबकि अंधकार न कभी किसी ने छोड़ा है और न छोड़ा जा सकता है। भीतर एक सूर्य का जन्म होता है और बाहर अंधकार नहीं पाया जाता है।
साधना सत्य को पाने की है, असत्य को छोड़ने की नहीं। वह अंधकार-त्याग नहीं, आलोक-उपलब्धि है, किन्तु जो हमें दिखाई पड़ता है, वह नकार, निगेटिव है। विधायक, पाजिटिव के हमें दर्शन ही नहीं होते हैं। हमारी इस मिथ्या- दृष्टि ने ही हमें सिकोड़ दिया है। उसने ही हमें मृत कर दिया है। धर्म से अधिक जीवंत, लिव्हिंग और कुछ भी नहीं है। लेकिन नकार पर आधारित करने से उससे अधिक मृत, डेड भी और कुछ नहीं होता।
धार्मिक जीवन से आनंद की किरणें विलीन हो गई हैं। ऐसे धर्म के ढांचे मुर्दों के रहने के लिये कब्रें तो हो सकते हैं, लेकिन जीवितों के विकास के लिये उनमें कोई संभावना नहीं। जहां उपलब्धि का आनंद न हो और विधायक सृजन का संगीत न हो, वहां जीवन के पौधे के लिये न भूमि है, न खाद है, न पानी है, न प्रकाश है। वहां उजड़ जाना ही पौधों का भाग्य होगा और मुरझाकर मर जाना ही उनकी नियति, डेस्टिनी होगी। इसलिये मैं कहता हूं कि नकार जीवन का नियम

नहीं है और निषेध जीवन की पद्धति नहीं। वे जीवन के नहीं मृत्यु के आधार हैं। और जो उनसे चलता है, वह आत्मघात की दिशा में चलता है।
महावीर को, बुद्ध को, क्राइस्ट को--सभी को हमने गलत देखा है। वह गलत दृष्टि किसी एक समाज और संप्रदाय की ही वसीयत नहीं है। वह सार्वभौम है और सारे जगत की है। इसलिए सारे धर्म एक से ही विकृत और विक्षिप्त हो गये हैं। नकार के विष ने सभी को कुरूप कर दिया है और अंतःसत्ता विसंगति से भर गई है। जिनके जीवन धर्म के अमृत से पुनर्जीवित हुए हैं उनके बाहर जो दृश्य घटित हुआ, उसके प्रति ही हमारी खंडित दृष्टियां संवेदनशील रही हैं और उनके भीतर जो अदृश्य आंदोलन हो रहे थे, हम उनके प्रति अंधे रहे हैं। उनके भीतर जो हो रहा था वही वास्तविक था। वह हमें नहीं दीखा। उनके बाहर जो हो रहा था, वह उसका मात्र परिणाम था। मिलता सब कुछ आत्मा में है। छूटता सब कुछ शरीर पर है। किंतु शरीर दीखता और आत्मा दीखती नहीं।
हमारे सब धर्म तीर्थंकरों, बुद्धों और अवतारों के शरीर को देखकर निर्मित होते हैं। यही मूल भूल है। धर्म की नौकाएं इसी चट्टान से टकराकर टूट-फूट जाती हैं। और फिर इन टूटी-फूटी नौकाओं से यात्रा तो क्या होगी, उलटे उन्हीं को हमें सिर पर लेकर चलना होता है। मैं सारी पृथ्वी पर यही देख रहा हूं। धर्म की नौकाएं संसार के सागर में पार ले जाने के लिये नहीं, बल्कि धर्मानुयाइयों के सिर का बोझ बन गई हैं। वे ऐसे पंख नहीं हैं जो कि परम सत्य तक उड़ाकर ले चलें, बल्कि ऐसे मृत बोझ, डेड वेट हैं जिनके कारण गति ही असंभव हो गई है। क्या उन नौकाओं के बोझ से झुकी आपकी गर्दनें मुझे दिखाई नहीं पड़ रही हैं? और क्या आपके पंखहीन प्राणों की तड़फड़ाहट मुझे सुनाई नहीं पड़ती है?
धर्म नकार से मुक्त होकर ही ऐसी नौका बनता है, जो कि संसार के पार ले जाती है। और धर्म नकार से मुक्त होकर ही ऐसे पंख बनता है, जो कि आत्मा के पक्षी को सत्य के सूर्य तक ले जाने में समर्थ होते हैं।
इस वर्ष जब पतझड़ हो रही थी तब मैं एक संन्यासी के साथ वन में था। सारा
वन गिरे पत्तों से भरा था और पत्ते प्रतिक्षण गिरे ही जा रहे थे। उस संन्यासी से मैंने कहा कि आपको गिरे हुए और गिरते हुए पत्ते दिखाई पड़ रहे हैं, लेकिन क्या वे पत्ते भी दिखाई पड़ रहे हैं जो कि अभी अदृश्य हैं, लेकिन जल्दी ही उगेंगे और दृश्य हो जावेंगे? उन्होंने मुझे हैरानी से देखा और कहा, वे कैसे दिखाई पड़ सकते हैं? मैंने उससे कहा, "निश्चय ही वे दिखाई नहीं पड़ते हैं, लेकिन उनके लिये ही स्थान बनाने को पुराने पत्ते गिर रहे हैं। इनके गिरने के पूर्व उनका ऊगना प्रारंभ हो गया है। अदृश्य में वे अंकुरित हो गये हैं और उनके उस अदृश्य अंकुरण के कारण ही दृश्य में यह सारा परिवर्तन हो रहा है।"
इस सत्य को ही मैं धर्म के संबंध में भी सत्य पाता हूं। अदृश्य में जो उपलब्धियां अंकुरित होती हैं, उनके कारण ही दृश्य में त्याग फलित होते हैं। पुराने मृत पत्तों को जैसे नये और जीवित पत्तों के लिये स्थान रिक्त कर देना होता है, वैसे ही आत्मा के अदृश्य लोक में जब सार्थक का उदय होना प्रारंभ होता है, तो आचरण के दृश्य लोक में निरर्थक का त्याग प्रारंभ हो जाता है।
ज्ञान त्याग नहीं करता। ज्ञान से त्याग होता है। वह अनायास ही होता है। उसके लिये वस्तुतः कोई प्रयास अपेक्षित नहीं है। त्याग के लिये जहां प्रयास है, वहां अज्ञान है। अज्ञानी त्याग "करते" हैं, ज्ञानी से त्याग "होता" है। इसलिए अज्ञानी को त्याग का स्मरण होता है, उसमें उसकी अहंता तृप्त और पुष्ट होती है। ज्ञानी को त्याग का स्मरण भी नहीं होता। उसे ज्ञात नहीं होता कि क्या उससे छूट गया है। उसकी स्मृति और प्रज्ञा, जो मिला है उसके आनंद में मग्न होती है। जिसने सिर्फ छोड़ा है और कुछ भी पाया नहीं, स्वाभाविक ही है कि उसका चित्त उसी त्याग को विचारे और स्मरण करे। उस दरिद्र की संपत्ति वही है। जैसे शरीर में कहीं घाव हो तो चित्त बार-बार वहीं दौड़ आता है। ऐसे ही अज्ञानी जो छोड़ता है, उसकी स्मृति वहीं पहुंच जाती है। ज्ञान के अभाव में त्याग--उपलब्धि-शून्य त्याग--एक प्रकार का घाव ही है। वह पके पत्तों का गिरना नहीं, कच्चे पत्तों का तोड़ना है।

किसी व्यक्ति के हाथ में कंकड़-पत्थर हों और फिर वह रत्नों के ढेर को
पा ले, तो वह क्या करेगा? क्या वह उन कंकड़-पत्थरों को छोड़ने का विचार करेगा? क्या उन्हें छोड़ने के लिये उसे प्रयास करना होगा? या कि वे छूट जावेंगे और उसे उनके छूटने का पता भी चलेगा? और जब वह कंकड़-पत्थर छोड़कर रत्नों को बटोरेगा तो क्या उसे हम त्याग कह सकेंगे? और क्या उस व्यक्ति को बाद में उन छोड़े गये कंकड़-पत्थरों की स्मृति आयेगी और वह उन्हें छोड़ सका, इसके लिये गौरव अनुभव करेगा? मैं इन प्रश्नों के कोई उत्तर नहीं दूंगा, क्योंकि वे उन प्रश्नों में ही निहित हैं।
वह त्याग त्याग नहीं है, जिसे करना पड़े। और वह त्याग भी त्याग नहीं है, जिसकी कि स्मृति बनी रहे। ऐसा त्याग उपलब्धि-शून्य और अज्ञानपूर्ण है। इस तरह के त्याग से कोई कहीं नहीं पहुंचता, विपरीत वह अहंकार को प्रगाढ़ करता है, जो कि मुक्ति-पथ में सबसे बड़ा अवरोध है। अज्ञानपूर्ण त्याग से स्वभावतः ही "मैं" मजबूत होता है, क्योंकि उसमें "मैंने त्याग किया है", इस भाव का सतत आवर्तन है। ऐसा त्याग "मैं" भाव को इतना घनीभूत कर देता है कि उस व्यक्ति में "अहं" के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। और "अहं" जितना घनीभूत हो, "ब्रह्म" से दूरी उतनी ही ज्यादा हो जाती है। तथाकथित साधु और संन्यासियों में जो अहंकार और क्रोध साकार रूप ले लेता है, उसका कारण उपलब्धि-शून्य त्याग ही है। उनके अहंकार और क्रोधोन्मत्त अभिशापों की कथाओं से कौन परिचित नहीं है? मैं तो हमेशा आश्चर्य करता हूं कि हम कैसे भले लोग हैं, उन्हें आज भी ऋषि-महर्षि कहे जाते हैं!
त्याग वास्तविक हो तो सहज होता है और उसकी कोई रुग्ण स्मृति शेष नहीं
रह जाती है। वास्तविक त्याग से मेरा अर्थ है कि जिसके मूल में और केंद्र में उपलब्धि हो। उपलब्धि की भूमि पर जो खड़ा हो, वह त्याग अत्यंत सहज और सरल होता है। ऐसे त्याग से अहं-भाव विलीन हो जाता है और आंतरिक उपलब्धि व्यक्ति को अनंत कृतज्ञता और विनय से आपूरित कर देती है। ज्ञान का जो प्रवाह आता है वह "मैं" के सब कूड़े-कचरे को बहा ले जाता है और जो मिलता है वह प्रभु का प्रसाद मालूम होता है।
"मैं" आंतरिक दरिद्रता का लक्षण है, इसलिये जो अंतस में समृद्ध होते जाते हैं, वे कभी उससे पीड़ित नहीं होते। अहंकार दरिद्रता की और निरहंकारिता समृद्धि की सूचना है। "मैं-भाव" में हम अपनी दीनता-हीनता को छिपाते हैं और जो नहीं हैं, वह होने की घोषणा करते हैं। इसलिये स्मरण रहे कि अहंकारी से दीन-हीन इस जगत में दूसरा नहीं होता है। वह बहुत दया-योग्य है, क्योंकि उसके पास कुछ भी नहीं है। वह एक ऐसा भिखारी है जिसने कहीं से चुराकर बादशाह के वस्त्र पहन लिए हैं! और निश्चय ही एक भिखारी बादशाह के वस्त्रों में क्या और भी भिखारी नहीं लगने लगता है!
मैं जब भी त्याग से भरे त्यागियों को देखता हूं, तो उनकी आत्म-प्रवंचना पर बहुत दया आती है। त्याग हो, तो त्याग से भरा हुआ होना नहीं हो सकता। जो सहज छूट गया है, उसकी स्मृति कैसी? उसकी स्मृति में रस कैसा! उसके कारण आत्म-प्रशंसा कैसी? वास्तविक त्याग अपने पीछे कोई रेखा नहीं छोड़ता है। जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हैं तो उनके पीछे कोई पद-चिह्न नहीं बनते हैं, ऐसी ही उड़ान सहज और सत्य त्याग की भी होती है। उसमें भी पीछे चिह्न नहीं छूटते हैं। यदि त्याग के भी चिह्न छूटते हों, तो त्याग मुक्त कैसे करेगा? जो अपने पीछे चिह्न नहीं छोड़ता है, उसी से मुक्ति आती है।
एक कथा स्मरण आ रही है। एक फकीर था--अत्यंत अपरिग्रही और त्यागी। वह
था और उसकी पत्नी थी। दोनों लकड़ियां काटते और उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाते। संध्या जो पैसा बचता, उसे बांट देते। एक बार चार-छह दिन लगातार पानी गिरा। वे लकड़ियां काटने नहीं जा सके और उन्हें भूखा ही रहना पड़ा। भिक्षा वे मांगते नहीं थे और संपत्ति उनके पास थी नहीं। उनने वे दिन उपवास और उपासना में बिताये।
फिर जब पानी बंद हुआ, तो वे लकड़ियां काटने गये। जिस दिन वे लकड़ियां काटकर भूखे और थके वापिस लौट रहे थे, उस दिन एक घटना घटी। पति आगे था, पत्नी पीछे थी। पति ने राह के किनारे किसी राहगीर की स्वर्ण अशर्फियों से भरी थैली पड़ी देखी। उसने अपने मन में सोचा, "मैंने तो स्वर्ण को जीत लिया है।

मैं तो कांचन मुक्त हो गया हूं। लेकिन मेरी पत्नी के मन में कहीं स्वर्ण देख प्रलोभन न आ जाये"--ऐसा विचारकर, ऐसे सोच से, ऐसी सदिच्छा से उसने उन स्वर्ण अशर्फियों को गड्ढे में ढकेल ऊपर से मिट्टी डाल दी।
वह मिट्टी डाल ही रहा था कि उसकी पत्नी भी पहुंच गई। उसने पूछा कि यह क्या करते हैं? उस साधु चरित्र व्यक्ति को बताना ही पड़ा, क्योंकि असत्य न बोलने का उसका व्रत था। उसने कहा, "यहां बहुत सी स्वर्ण अशर्फियां पड़ी थीं। मैं तो अपरिग्रही हूं। स्वर्ण पर मेरा मन नहीं आता। मैंने तो जान लिया है कि स्वर्ण असार है, लेकिन तुम स्त्री हो, अनेक दिन की भूखी-प्यासी हो, दुख और दरिद्रता के कारण कहीं उस स्वर्ण पर तुम्हारा मन न आ जावे, इसलिये मैंने उस पर मिट्टी डाल दी है।" यह सुन पत्नी चुपचाप आगे बढ़ गई। उसने उत्तर में कुछ भी न कहा। उसके पति ने पूछा, "तुम कुछ बोली नहीं? तुमने कोई प्रतिक्रिया नहीं की?" यह सुन वह रोने लगी। और उसने कहाः "मैं दुखी हूं कि तुम्हें अभी स्वर्ण दिखाई पड़ता है और मिट्टी पर मिट्टी डालते हुए देख मैं तुम्हारे लिये अति चिंता से भर गई हूं।"
मैं भी इसमें चिंता के लिये कारण देखता हूं। जो छोड़ा गया हो और जिसका त्याग न हुआ हो, उसका दीखना बंद नहीं होता है। विपरीत वह और भी प्रगट और प्रगाढ़ होकर दीखने लगता है। वह तो घाव की भांति अनुभव होता है। सतत ही उसकी प्रतीति बनी रहने लगती है। वह चित्त का आवास बन जाता है। जैसे पक्षी सब जगह उड़कर बार-बार अपने नीड़ पर लौट आते हैं, ऐसे ही चित्त उस पर लौटने लगता है। इस भांति जिसे हम छोड़ा हुआ जानते हैं, वही हमारा पकड़ा हुआ हो जाता है। उसके ही विचार और उसके ही स्वप्न मन को घेरते हैं और उसकी ही चाह अंतस्तल में सरकती है। ऐसा त्याग, त्याग नहीं दमन है। और दमन से जीवन द्वंद्वमुक्त नहीं और भी द्वंद्वग्रस्त हो जाता है।
धर्म छोड़ना नहीं सिखाता। धर्म तो उस विधि को सिखाता है जिससे जो व्यर्थ है, वह अपने आप ही छूट जाता है। वैसे छूट जाने का नाम ही त्याग है। वह विधि श्रेष्ठ को, सार को, सत्य को पाने की है। निकृष्ट, असार और असत्य उसे पाने से अपने आप ही मरण को प्राप्त होता है। अंधेरे से मुक्ति तभी है जब प्रकाश का आगमन हो जाता है।
मैं एक यात्रा पर था। किसी ने वहां कहा, "महावीर ने हिंसा छोड़ी, अब्रह्मचर्य छोड़ा, असत्य छोड़ा।" मैंने उनसे कहा, नहीं, महावीर ने हिंसा नहीं छोड़ी, अब्रह्मचर्य नहीं छोड़ा, असत्य नहीं छोड़ा। ऐसी झूठी बात उनके लिए न कहें तो कृपा होगी। महावीर ने तो प्रेम पाया, सत्य पाया, ब्रह्म पाया। उन्होंने यह सब नहीं साधा जो आप यह कह रहे हैं और दुनिया कह रही है। उन्होंने तो केवल आत्मा साधी और उसे साधने में यह सब अपने आप ही सध गया। एक किसान गेहूं बोता है तो भूसा उसे अपने आप मिल जाता है, लेकिन क्या इससे कोई कहेगा कि उसने भूसा बोया? मित्र! बोया तो गेहूं ही जाता है और भूसा उसके साथ ही मिल जाता है। और यदि कोई भूसा बोये तो उसे क्या मिलेगा? गेहूं तो उससे आयेगा नहीं, भूसा भी नहीं आयेगा। भूसा बोने वाला भूसा भी खो देगा। ऐसे ही अहिंसा या अपरिग्रह नहीं बोया जाता है, बोयी तो आत्मा जाती है और जब आत्मा की फसल आती है तो अहिंसा और अपरिग्रह भूसे की भांति अपने आप चले आते हैं।
और कुछ नहीं--बस, आत्मा को साधो और आत्मा को बोओ। उससे प्रथम और उससे प्रमुख और कुछ भी नहीं है। आत्मा जैसे-जैसे सधती है और जैसे-जैसे आत्मा के बीजों में अंकुर आते हैं, वैसे-वैसे ही आत्म-अज्ञान के कारण जो जीवन व्यवहार था, वह विलीन होता है।
अज्ञान कारण है--हिंसा का, परिग्रह का, प्रलोभन का। अज्ञान जायेगा तो
वे जावेंगे। उसके अतिरिक्त उनका जाना मान लेना भ्रांति है। अज्ञान के रहते उनका जाना मान लेना आत्म-वंचना, सेल्फ-डिसेप्शन है। मूल तो अज्ञान है। वे तो केवल लक्षण हैं। वे तो केवल उस मूल अज्ञान की सूचनाएं मात्र हैं। उन्हें जो लक्षण न समझ बीमारी ही समझ लेता है, उसकी जीवन-दिशा दिग्भ्रमित हो जाती है। वह कुएं से बचता और खाई में गिर जाता है। वह "भोग" से बचता है और तथाकथित "त्याग" में गिर जाता है।

यह स्मरण रखिए कि हिंसा और परिग्रह, ईर्ष्या और तृष्णा, काम और क्रोध,
ये लक्षण हैं, बीमारियां नहीं। बीमारी तो आत्म-अज्ञान है। बीमारी तो वह अविद्या है जिसके कारण मैं स्वयं ही स्वयं को नहीं जान पा रहा हूं। उस मूर्च्छा को तोड़ने से ये लक्षण अपने आप ही शून्य हो जाते हैं। लेकिन उस नासमझ को मैं क्या कहूं, जो बीमारी को भूल, लक्षणों को ही मिटाने में लग जाता हो? उसकी चिकित्सा में न निदान है, न चिकित्सा है। और उसकी चिकित्सा के परिणाम में बीमारी तो नहीं बीमार के ही मिट जाने की ज्यादा संभावना है। धर्म के जगत में ऐसे नीम-हकीमों ने बहुत हानि पहुंचाई है। वे लोग ज्यादा सौभाग्यशाली हैं, जो उनके उपदेश से बच जाते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित चिकित्सा में शरीर ज्वरग्रस्त हो, तो शरीर के उत्ताप को किसी भांति कम करना या दबा देना ही प्रधान बात है। जबकि शरीर-उत्ताप बीमारी का लक्षण मात्र है। वह तो शरीर की आंतरिक अस्वस्थता और रुग्णता की सूचना भर है। वह बीमारी नहीं, बीमारी की खबर है। बीमारी तो कहीं भीतर है और गहरे में है। और बीमारी की ये सूचनाएं वस्तुतः शत्रु नहीं, मित्र हैं। क्योंकि उनके अभाव में तो बीमारी का पता भी नहीं चल सकता है!
प्रकृति की यही व्यवस्था है कि भीतर बीमारी हो तो वह बाहर लक्षण प्रगट कर देती है। और जो साधारण बीमारियों के संबंध में सत्य है, वही उन बीमारियों के संबंध में भी सत्य है जिन्हें हम हिंसा, असत्य और अब्रह्मचर्य कहते हैं। बाह्य और आंतरिक प्रकृति के मौलिक नियम भिन्न नहीं हैं। ये सूचनायें हितकारी हैं और इसलिये ही मिलती हैं कि हम अपनी अंतर्दशा के प्रति सचेत और सावधान हो जावें और उनके उपचार के लिये मार्ग और औषधि खोजें। जो ऐसा न करके उन सूचनाओं को दबाने में लग जाते हैं, वे अपने ही शत्रु हैं।
मित्र! लक्षणों को सीधा नहीं, बीमारी को मिटाकर ही मिटाना होता है। उनकी मृत्यु परोक्ष ही होती है। और उनकी परोक्ष मृत्यु में भी शुभ है। जो उनको सीधा ही अंत करने में लगा है, वह अंतस में छिपी बीमारी की रक्षा कर रहा है। सतत संघर्ष से यदि वे लक्षण क्षीण हो गये और उसे मूल बीमारी की सूचना मिलनी बंद हो गई, तो उसका इससे बड़ा कोई दुर्भाग्य नहीं हो सकता है। मेरे प्रिय! यदि आपके भीतर हिंसा है, घृणा है, क्रोध है, यदि आपके भीतर मोह है, तृष्णा है, ईर्ष्या है--तो सीधे इन्हें नहीं, बल्कि उसे मिटाना है, जिसकी कि ये संततियां हैं। ये प्रकृति की सूचनाएं हैं--ये आपके अंतस चेतना में भेजी गई खबरें हैं। इन्हें समझें और इनके संदेश को पढ़ें। इनकी निंदा में पड़े रहने से कुछ भी न होगा और न ही इनके विपरीत धारणाओं के व्रत और प्रतिज्ञाएं लेने से कुछ होना है। इन सबका इशारा क्या है और किस तरफ है? क्या ये सब एक ही केंद्र की ओर इंगित नहीं कर रही हैं? वह केंद्र आत्म-अज्ञान है। भीतर घना अंधकार है। उस अंधकार से ही उत्पन्न ये पुत्र-पुत्रियां हैं। उस अंधकार की ही ये शाखा-प्रशाखाएं हैं। चलें! यदि कुछ करना ही है तो उस मूल को लक्ष्य बनावें और उसे ही बेधें। उसकी मृत्यु ही इन सबकी भी मृत्यु बन जाती है।
धर्म बीमारी के लक्षणों को नहीं, बीमारी को ही दूर करता है। कोई भी वास्तविक चिकित्सा यही करेगी। और धर्म तो परम चिकित्सा है।
यह हम सोचें कि वह मूल रोग क्या है, जो प्रत्येक मनुष्य को पकड़े हुए है? वह रोग हमारे साथ ही पैदा होता है, और अधिकतर मामलों में हम मर जाते हैं, पर वह नहीं मरता! ऐसे बहुत कम भाग्यशाली लोग हैं, जो अपने मरने के पहले ही उसकी मृत्यु का दर्शन कर पाते हैं। पर यदि श्रम हो और संकल्प हो तो प्रत्येक उसकी मृत्यु का दर्शन कर सकता है। श्रम और संकल्प और साधना ही उस सौभाग्य की निर्मात्री है।
वह मूल रोग क्या है? "मैं कौन हूं?"--यह न जानना ही वह मूल रोग है। और
जो जान लेते हैं कि वे कौन हैं--उसे जो कि उनका प्रामाणिक होना, आथेंटिक बीइंग हैं, वे उस रोग से मुक्त होकर स्वस्थ हो जाते हैं। स्वस्थ यानी स्वयं में स्थित। जो स्वयं को जानते हैं, वे स्वयं में स्थित हो जाते हैं।
वही परम स्वास्थ्य और सौभाग्य है।

स्वयं का ज्ञान स्वयं में लाता है, और स्वयं का अज्ञान स्वयं के बाहर
ले जाता है। स्वयं के बाहर होना ही अस्वास्थ्य है। वही मूल रोग है। स्वयं के बाहर होने और बाहर ही भटकने से बड़ी और कोई पीड़ा नहीं है। वही बुद्ध का "दुख" है और महावीर का "बंध" और क्राइस्ट के शब्दों में "स्वर्ग से निष्कासन।"
हम जब अपने से बाहर भटकते हैं और कोई आश्रय नहीं मिलता, जो कि वस्तुतः आश्रय हो और कोई शरण नहीं मिलती, जो कि वस्तुतः शरण हो, तो जो संताप पैदा होता है, वही अंततः धर्म की प्यास बन जाता है।
मनुष्य अपने से ही अपरिचित और अपने लिए ही अजनबी है। यह अज्ञान, असुरक्षा और भय पैदा करता है। जीवन के प्रति अज्ञान से ही भय पैदा होता है। और भय से हिंसा, परिग्रह और तृष्णा का जन्म है।
मैं स्वयं को ही न जानूं, इससे बड़ा त्रास और क्या हो सकता है? कैसा दुख
और कैसा आश्चर्य है कि मैं सब जानता हूं और स्वयं को ही नहीं जानता? हम इतने लोग यहां हैं। हम सब एक दूसरे को देख रहे हैं, लेकिन कोई भी स्वयं को नहीं देख रहा है। हमें सबकी उपस्थिति का पता है, पर अपनी उपस्थिति का कोई पता नहीं! उसको--उसकी उपस्थिति, प्रेजेंस को--जो आपके भीतर है, जानना है। उसके होने से आपका होना है और उसके न होने से आपका न होना हो जाता है। वह उपस्थिति ही आप हो। जो देह दीख रही है, वह नहीं, वरन जो उसके भीतर उपस्थिति है, वह आप हो। वह उपस्थित, वह सत्ता, वह चेतना, वह ज्ञान, वह बोध आपके भीतर है--वही आप हो, किंतु उसका ही बोध हमें नहीं है। वह बोध सबके प्रति उन्मुख है, उसे स्वयं के प्रति उन्मुख करना है। धर्म इसका ही विज्ञान है। आत्म-अज्ञान रोग है, धर्म उपचार है। और आत्म-ज्ञान स्वास्थ्य लाभ है।
यह स्वास्थ्य लाभ जीवन की सबसे बड़ी घटना और सबसे बड़ी क्रांति है। उसकी धुरी पर फिर सब बदल जाता है और विष अमृत हो जाता है और कांटे फूल बन जाते हैं। जहां घृणा थी, वहां प्रेम के फूल लगते हैं। और जहां हिंसा की अग्नि थी, वहां अहिंसा की शीतल हवाएं बहती हैं। उस ज्ञान के आगमन पर जहां अनाचार का अंधकार ही अंधकार था, वहीं आचार के आलोक-दीप प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सम्यक ज्ञान आधार है, सम्यक आचार उसका सहज परिणाम। सम्यक ज्ञान बीज है, सम्यक आचार है उसका सहज अंकुरण। इसलिए मूलतः ज्ञान साधना है। आचार उसके पीछे-पीछे अनिवार्य छाया की भांति चलता है। किंतु जो निषेध और नकार से चलेगा, वह आचरण साधेगा और ज्ञान के आने की प्रतीक्षा करेगा। वह ज्ञान को आचार का परिणाम मानता है, ऐसी दृष्टि मिथ्या है। जो विधायक धर्म को समझता है, वह ज्ञान को साधता है और आचार को परिवर्तित होते देखता है। अज्ञान केंद्र है अनाचार का, तो निश्चय ही ज्ञान केंद्र होगा सदाचार का। मेरे प्रिय! अनाचार को सदाचार में नहीं, मूलतः अज्ञान को ज्ञान में बदलना है। अज्ञान ज्ञान में परिणत हो तो अनाचार अपने आप आचार में बदल जाता है। जैसे-जैसे ज्ञान का जागरण होता है, वैसे-वैसे ही अनाचार विसर्जित होता है। ऐसा मैंने स्वयं जाना है। मैंने स्वयं ही अपने भीतर यह घटित होते देखा है।
मैं जिस क्षण अपने प्रति जागा और लौटकर मैंने स्वयं को देखा, उसी क्षण
सब बदल गया। दूसरे ही क्षण मैं दूसरा व्यक्ति हो गया। और स्वभावतः पहले व्यक्ति के विलीन होने के साथ ही उसका संसार भी विलीन हो गया था। मैं दूसरा था, तो संसार भी दूसरा था। वस्तुतः हमारा संसार हम ही हैं। प्रत्येक अपना संसार है। और जिसे हम बाहर देख रहे हैं, वह भीतर का ही आरोपण है। जो भीतर है और जैसा भीतर है, वही बाहर पर आरोपित हो रहा है। संसार में हम दर्पणों के सामने खड़े हैं और अपनी ही मुखाकृतियों के दर्शन कर रहे हैं। भीतर घृणा है तो बाहर से घृणा ही आती मालूम होती है। और भीतर जब प्रेम का स्रोत फूटता है, तो सारे संसार का प्रेम स्वयं की ओर ही प्रवाहित होता दीखने लगता है। स्वयं को बदलो तो निश्चय ही संसार बदल जाता है। और स्वयं को बदलना हो तो स्वयं को जानना जरूरी है।
एक बार कुछ ग्रामीणों ने वर्षा में आई हुई नदी पार की थी। बहुत पूर था
और बहुत तेज उस नदी की धार थी। उस पार निकलकर उनने अपने आपको गिना था कि कहीं कोई नदी में छूट तो नहीं गया है? और स्वयं को न गिनकर उनके दुख का अंत

न रहा, क्योंकि दस वे आए थे और गिनती में नौ होते थे। उन्होंने बार-बार गिना--उन सबने गिना, पर गिनती नौ ही होती थी। वे खोये हुए साथी के लिए बैठकर रोने लगे।
वे किंकर्तव्यविमूढ़ थे। कुछ उनकी समझ में नहीं आता था कि अब क्या करें? और तभी एक अपरिचित व्यक्ति का वहां से निकलना हुआ था। उसने उन्हें रोते देख कारण पूछा। वे ग्रामीण रोते हुए बोले कि उनने अपने एक साथी को नदी में खो दिया है--दस आये थे और नौ ही रह गये हैं। उस व्यक्ति ने उनको गिना। वे तो दस ही थे। उसने उनसे गिनती करने को कहा तो देखा कि वे गिनते तो ठीक हैं, पर प्रत्येक अपनी गिनती को छोड़ जाता है।
उन ग्रामीणों की जो तकलीफ थी, वही तकलीफ इस दुनिया में प्रत्येक आदमी
की है। हम अपने को ही गिनना भूल जाते हैं! वे तो बेचारे कम से कम किसी साथी के खो जाने के कारण रो रहे थे, हम तो अपने ही खो जाने के कारण रो रहे हैं! सबका बोध है, अपना ही बोध नहीं है। सबको गिन लिया है, खुद को ही छोड़ गए हैं। इसका ही नाम अज्ञान है। खुद को गिन लें--चाहे सब छूट भी जावें--तो मैं उसे ज्ञान कहूंगा। क्योंकि जो अपने को नहीं गिन पाता है, उसका दूसरों को गिनना ठीक कैसे होगा? और जिसने अपने को गिन लिया है, उसने दूसरों को गिन ही लिया, क्योंकि सागर की एक बूंद को भी जो जान लेता है, वह सागर को ही जान लेता है। स्वयं को जानने वाला सर्व को जान लेता है और सर्व को जानने की चिंता
से ग्रस्त स्वयं को ही खो देता है।
क्या यह बात समझ में नहीं आती है? जो अपने भीतर ही चैतन्य उपस्थिति को नहीं जान रहा है, वह दूसरे के आकार को ही जान सकता है, आत्मा को नहीं। वह किसी की आत्मा को कैसे जानेगा? जो अपने ही आकार के भीतर नहीं गया, वह दूसरे के आकार को कैसे पार कर सकता है? स्वयं की देह पर ही जो रुक रहा है, वह सबकी देहों के बाहर ही रुक जावेगा। अपने में ही छिपी निकटतम चेतना जिसे अजनबी है, उसे ब्रह्मांड में व्याप्त चेतना से कोई संपर्क नहीं हो सकता है। स्वयं को ही जिसने अभी शरीर जाना है, उसे संसार पदार्थ है। जो स्वयं को आत्मा की भांति जान लेता है, विश्व उसे परमात्मा हो जाता है। स्वयं में जिसे जितनी गहराई उपलब्ध होती है, विश्वसत्ता में भी उसकी पहुंच उतनी ही गहरी हो जाती है। यह "स्व" तो द्वार है। और सत्य के लिए यह अकेला ही द्वार है। और कोई द्वार नहीं है।
इसलिये मैंने कहा कि जो स्वयं को नहीं जानता उसका सब जानना झूठा है।
और जो स्वयं को जान लेता है, वह बिना जाने भी सब जान लेता है। व्यक्ति के भीतर जो चिदगुण हैं, वह परमात्मा के सब रहस्यों को अपने में लिये हुए हैं। छोटे-से बीज में जैसे वृक्ष छिपा होता है, ऐसे ही छोटे-से व्यक्ति में विराट का आवास है। वह "स्व" ही नहीं, "सर्व" भी है। आत्मा आत्मा ही नहीं, परमात्मा भी है।
वह "एक" ही गिनने जैसा है, वह "एक" ही गुनने जैसा है। वह "एक" आप स्वयं हो। वह "एक" ही सब में बैठा है। उस "एक" के अतिरिक्त कहीं भी, कुछ भी नहीं है। जहां भी सत्ता है, जीवन है, अस्तित्व है, वहीं "एक" मौजूद है। लेकिन यदि उस "एक" को जानना है, तो सर्वप्रथम स्वयं में ही जानो। उस "एक" के लिए एक ही मार्ग है और वह आप स्वयं हो। स्वयं में जानकर वह फिर समस्त में जान लिया जाता है। वे भूल में हैं, जो उसे "पर" में जानना चाहते हैं, क्योंकि "पर" में तो कोई द्वार ही नहीं है।
सत्य का द्वार केवल स्वयं में ही है, इसे मैं पुनः स्मरण दिलाता हूं। स्वयं को जानना है, पर वहां तो बहुत अंधकार मालूम होता है। जन्मों- जन्मों का यह अंधकार है। शक्ति है हमारी अल्प, और अंधकार है पुराना। यह कैसे मिटेगा? लेकिन मैं आपसे कहूंगा कि अंधकार की कोई शक्ति नहीं होती। प्रकाश का क्षीण-सा आघात भी उसे भगा देता है।
अंधकार जैसा अज्ञान भी है। वह कितना ही घना हो और आवास उसका कितना ही पुराना हो, ज्ञान की एक किरण के समक्ष भी वह खड़ा नहीं हो सकता है। अभाव सदा ही कमजोर होता है। वस्तुतः तो वह होता ही नहीं है। यदि इस कक्ष में अंधेरा भरा हो--हजारों-हजारों वर्षों से भरा हो--और मैं आपसे कहूं कि एक दीया जलावें और इस अंधेरे को दूर करें, तो क्या आप मुझसे कहेंगे कि एक दीये से

क्या होगा और इतना पुराना अंधकार एक नये-नये जले दीये से कैसे मिटेगा? नहीं, आप ऐसा नहीं कहेंगे, क्योंकि आप जानते हैं कि प्रकाश के लिए नये और पुराने अंधकार में भेद नहीं पड़ता है। उसके लिये दोनों ही समान हैं। और उसकी उपस्थिति दोनों के लिये समान रूप से मृत्यु है।
अंधकार पुराना ही होने से नहीं टिकता है। उसका टिकाव प्रकाश के न होने में है। प्रकाश झूठा हो या कि प्रकाश हो ही नहीं और उसके होने का भ्रम ही हो, तो अंधेरा टिक सकता है। एक व्यक्ति बुझा दीया लिये हुए अंधकार में खड़ा हो और सोचता हो कि अंधकार पुराना है, इसलिये नहीं मिटता है तो बात दूसरी है! यह मैं हंसी में नहीं कह रहा हूं। संसार में सदा ही बहुत लोग हैं जो कि बुझे दीये लिये हुए अंधकार को मिटाने की प्रार्थना किया करते हैं! वे सुन लें कि अंधकार प्रार्थना से नहीं, प्रकाश से मिटता है और बुझे दीयों को मात्र लिये फिरने से भी उसमें ज्योति आने की नहीं है। वह ज्योति हमें अपने ही प्राणों की अग्नि से डालनी होती है।
जो स्वयं में अग्नि को जलाता है, उसके ही हाथ के दीये में प्रकाश अवतरित होता है और उसकी ही राह से अंधकार सदा के लिये मिट जाता है। प्रकाश क्या जलाना है, स्वयं ही जलना है और प्रकाश बनना है।
हमारे हाथों में इन बुझे दीयों का ही इतिहास है। एक बाउल फकीर ने किसी गीत में कहा हैः "धर्म को उपलब्ध आत्माएं ज्ञान की जलती हुई मशालें लेकर आगे बढ़ती हैं। अंधेरे में भटकते हजारों अंधेजन आनंद और अनुग्रह से उनके पीछे हो लेते हैं। किंतु उन ज्योतिर्मय आत्माओं के देहपात के साथ ही उन अंधों में से ही कोई उन मशालों को उठा लेता है। लेकिन दूसरों को वे मशालें सदा बुझी हुई ही उपलब्ध होती हैं। क्योंकि उनका प्रकाश उनमें नहीं, वरन उन आत्माओं में ही था जिनके हाथों की वे शोभा थीं। मशालें तो बुझ जाती हैं, पर क्रिया-कांड के डंडे जरूर हाथ में रह जाते हैं।"
हमारे हाथों में बुझे दीयों का यही इतिहास है। ऐसे अंधे अंधों का नेतृत्व करते हैं और अंधकार से ही अंधकार को हटाने का प्रयास चलता है। मित्रो! बुझे दीयों को फेंको और स्वयं स्वयं के लिये दीया बनो। अपनी ज्योति को जलाओ। जो ज्योति किसी भी मनुष्य में कभी भी जली हो, वह आप में भी जल सकती है।
यह आत्म-श्रद्धा, यह आत्म-विश्वास--कि जो कभी भी किसी भी मनुष्य में संभव हुआ है, वह मुझ में भी हो सकता है--सत्य की यात्रा में अत्यंत प्राथमिक आवश्यकता है।
मनुष्य तो बीजों की भांति है। एक बीज वृक्ष बन सकता है, तो दूसरे बीज
भी अवश्य ही बन सकते हैं। एक हृदय प्रकाश से भर सकता है, तो सब हृदय भर सकते हैं। और एक व्यक्ति प्रभु को पा सकता है, तो सब पा सकते हैं।
मैं यदि उन ऊंचाइयों को न छू पाऊं जो मेरे ही किसी सजातीय बीज ने पाई हैं, तो स्मरण रहे कि दोष मेरी संभावना का नहीं--मेरा है। मेरी प्यास अधूरी होगी, मेरे प्रयास अधूरे होंगे, लेकिन इस कारण मेरी आत्मा अधूरी है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।
आत्माएं समान हैं अर्थात संभावनाएं, पोटेंशिअलिटी.ज समान हैं। आत्मा यानी आत्यंतिक, अल्टिमेट संभावना। वही हमारी आत्मा, एसेंशियल बीइंग है, जो होने की हमारी अंतिम और चरम संभाव्यता है। और किसी अर्थ में नहीं--इस अर्थ में ही प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा है।
इसलिये उस अंधेरे का चिंतन मत करो जो कि वस्तुतः चारों ओर घिरा है। क्योंकि उसके चिंतन से पुरुषार्थ जागता नहीं, उलटे और सो जाता है। और उस स्थिति पर भी केंद्रित मत बनो जिसमें कि आप अपने को पा रहे हो। क्योंकि वह आपकी स्थिति नहीं, केवल दुर्घटना है।
उसे देखो जो कि आप हो सकते हो। उसका चिंतन करो जिसे कि आप पा सकते हो।
आप यदि बट-बीज हो तो बट के विराट वृक्ष का मनन करो। आप जो पूर्ण होकर होओगे, वस्तुतः वही आप आज और अभी भी हो। अपनी आत्यंतिक गहराई में आपका होना इस क्षण भी वही है, जो आपकी आत्यंतिक ऊंचाई में कभी प्रगट होगा। गहराई और ऊंचाई एक ही है। बीज और विकास एक ही है। संभावना और सत्य एक ही है।

मैं बुद्ध हूं, मैं महावीर हूं, मैं कृष्ण हूं, अपने हृदयों के हृदय में इसे निरंतर जानो। अपने ब्रह्म होने को स्मरण करो। ओ अमृत पुत्रो! इस सत्य की विस्मृति ही संसार बन गई है।
इसलिये मैंने कहा है कि अज्ञान कितना ही घना हो उसके घनेपन की कोई चिंता नहीं, क्योंकि मैं तो आपके भीतर अनंत प्रकाश की संभावना देख रहा हूं। जो आपको नहीं दिखाई पड़ रहा है, वह मुझे दिखाई पड़ रहा है। क्योंकि मैंने स्वयं में अंधकार को भी जाना था और अब आलोक को भी जाना है। उस घने अंधकार में जो कि आप हो, आलोक की एक किरण भी फूट पड़ी, तो वह अंधकार और उस अंधकार के साथी आप, दोनों का ही कोई पता नहीं चलेगा। अंधकार विलीन हो जावेगा और आप नवीन हो जावेंगे। वह आलोक किरण आप में अवश्य ही फूट सकती है। उसके होने की प्राथमिक झलक भी प्रत्येक में है।
जब आप अपने को नहीं जान रहे हैं, तब कम से कम इतना तो जान रहे हैं कि आप अपने को नहीं जान रहे हैं। अज्ञान का यह बोध ज्ञान का प्रथम चरण है। यह बहुत बड़ी बात है और बहुत बड़ी सूचना है और इसमें बहुत दूरगामी परिणाम अंतर्गर्भित है। ज्ञान की किरण की पहली झलक यही है। पत्थर में यह झलक नहीं है, पौधे में यह झलक नहीं है, पशु में भी यह झलक नहीं है। पत्थर में सत्ता है। पौधे में सत्ता और जीवन है। पशु में सत्ता, जीवन और चेतना तीनों। किंतु स्व-चेतना, सेल्फ-कांशसनेस सिर्फ मनुष्य में है। यह स्व-चेतना बहुत बड़ी संक्रांति की सीमा-रेखा है। यह बोध कि "मैं हूं" और यह बोध कि "मैं स्वयं को नहीं जानता हूं", वस्तुतः अर्ध स्व-चेतना है। स्व-चेतना पूर्ण तो तभी होगी जब मैं यह जानूं कि "मैं कौन हूं?" इस अर्ध स्व-चेतना को पूर्ण करना है। लेकिन, निश्चय ही, उसकी पूर्णता की ओर पहला चरण आत्म-अज्ञान का बोध ही है।
मनुष्य में जब स्व-चेतना पूर्ण हो जाती है, तो वह मनुष्यता का अतिक्रमण कर जाता है।
ज्ञान का पहला जागरण यही है कि मैं अपने को नहीं जानता हूं। इसे हम अज्ञान का अंतिम साथ भी कह सकते हैं। वस्तुतः यह अज्ञान से ज्ञान में संक्रमण का बिंदु है।
इसलिये धर्म सबसे पहले यही सिखाता है कि हम स्वयं को नहीं जानते हैं।
और जो-जो भ्रांतियां इस बोध में बाधा हों, जो-जो मिथ्या तादात्म्य इसमें आड़े आते हों, धर्म उन सब पर निर्मम आघात करता है। मनुष्य का अज्ञान उसके इसी मिथ्या ज्ञान में है कि वह स्वयं को जानता है। यह कैसा आश्चर्य है कि यह भ्रम सभी को बना रहता है! यह भ्रम जैसे कि जन्मजात है और सार्वभौमिक है।
धर्म का संपर्क सबसे पहले इसी स्वप्न को तोड़ देता है।
स्वयं को जानने के स्वप्न से जाग जावें। आंखें खोलकर देखें। जो आपके आसपास हैं, वे ही अपरिचित नहीं, आप स्वयं भी अपने से अपरिचित हैं।
एक पत्र मुझे मिला था। लिखने वाले ने लिखा था कि वह मुझसे अपरिचित है। मैंने उससे पूछा है कि क्या वह स्वयं से परिचित है? यही मैं आपसे पूछता हूं। एक-दूसरे की ओर नहीं, अपनी ओर देखें। सुबह जब दर्पण के सामने खड़े हों तो क्षणभर को शांत और मौन होकर अपने से पूछें कि क्या मैं इस व्यक्ति को जानता हूं? रात्रि जब शैया पर लेटें तो अपने से पूछें, "क्या मैं स्वयं को जानता हूं?"
और आपको कोई भी उत्तर नहीं मिलेगा और आप जानेंगे कि आप अपने आपको नहीं जानते हैं।
यह जान लेना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इस बोध के बाद ही आगे कोई गति
हो सकती है।
मैं वह नाम नहीं हूं, जिससे कि मैं जगत में जाना जाता हूं। कैसा आश्चर्य है कि नाम-धाम को दूसरे मेरा परिचय मान लेते हैं और मैं स्वयं भी अपना परिचय मान लेता हूं! किसी का कोई नाम नहीं है। सब अनाम पैदा होते हैं। और पुनः अनाम ही विलीन हो जाते हैं।
अपने अनाम होने पर चिंतन करें। उससे नाम का भ्रम मिटता है और नाम से मुक्ति होती है। जानें कि आपका कोई नाम नहीं है और फिर अपनी ओर देखें।
क्या वहां आप एक बिल्कुल अपरिचित सत्ता को नहीं पाते हैं? नाम की स्थिरता

और निरंतर आवर्तन से स्वयं से परिचित होने की भ्रांति पैदा होती है। इस नाम को बिल्कुल पोंछकर मिटा दें, चित्त से उसे अलग कर दें, वह सत्य नहीं है। वरन मात्र एक काल्पनिक, काम-चलाऊ संज्ञा और संकेत है। उससे आपका कोई भी संबंध नहीं है। अपने भीतर खोजें तो पायेंगे कि वहां आपका कोई भी नाम नहीं है।
और जैसा नाम है वैसा ही रूप है। आपका "रूप" भी आप नहीं है। "रूप" रोज बदलता है, फिर भी हमारी मूर्च्छा नहीं टूटती है।
एक दिन मैं अपने पुराने चित्र देखता था। उनमें कोई भी एकता नहीं है।
वे सब भिन्न-भिन्न हैं। उन्हें हम अलग-अलग व्यक्ति के चित्र कहें तो भी कोई हर्ज नहीं है। वस्तुतः वे अलग-अलग व्यक्तियों के ही हैं। मेरा जो व्यक्ति रूप कल था वह आज नहीं है और जो आज है वह कल नहीं होगा। जन्म के समय जो शिशु रूप होता है उसमें और मृत्यु के समय जो वृद्ध रूप होता है उसमें, क्या कोई भी एकता है, कोई भी समानता है? किसी भी भांति वे एक नहीं हैं, फिर भी किसी आंतरिक मूर्च्छा और सम्मोहन के कारण हम उन्हें एक ही माने जाते हैं।
शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है। एक क्षण को भी वहां ठहराव, रेस्ट नहीं है।
आप जैसा शरीर लेकर यहां आये थे, वही शरीर लेकर वापस नहीं लौटेंगे। बहुत बदलाहट वहां हो गई होगी। शरीर वृद्ध हो गया होगा। उसमें बहुत कुछ मर गया और बहुत कुछ नया हो गया होगा। करोड़ों छोटे-छोटे जीव कोष्ठ आपकी देह को बनाते हैं। वह जीव कोष्ठों के एक विशाल नगर की भांति है। उसमें बहुत परिवर्तन और प्रवाह चलता रहता है। शरीर शास्त्री कहते हैं कि सात वर्षों में पूरी देह के कोष्ठ नये हो जाते हैं। अर्थात सत्तर वर्ष जो देह चलती है, वह दस बार पूरी की पूरी बदल जाती है। इस देह को स्वयं का होना मान लेना बड़ी भूल है। शरीर को स्वयं समझ लेना बड़ा अज्ञान है।
हेराक्लितु ने बहुत सदियों पूर्व कहा था, "आप एक ही नदी में दुबारा नहीं उतर सकते, यू कैन नाट स्टेप ट्वाइस इन द सेम रिह्वर।" उसने ठीक ही कहा था। जगत परिवर्तन है और जैसे नदी प्रतिक्षण बदल रही है, ऐसे ही जगत भी बदल रहा है। शरीर जगत का हिस्सा है और वह नदी की भांति ही बदलता रहता है। एक ही नदी में दुबारा उतरना असंभव है, तो एक ही शरीर से दुबारा मिलन भी संभव नहीं है। मैं आपसे पूछता हूं कि क्या आप एक ही व्यक्ति से दुबारा मिले हैं? यह असंभव है। जो कहते हैं कि जगत में कुछ भी असंभव नहीं है, उनके लिए भी यह असंभव है। जैसे दो और दो पांच नहीं हो सकते हैं, वैसे ही यह भी संभव नहीं है। नाम-रूप का जो जगत है, वह सतत प्रवाहशील है। वहां कुछ भी स्थिर नहीं है। शरीर उसका ही संयोग और संघात है।
"मैं" जो और जैसा दिखाई पड़ता हूं, वह भी "मैं" नहीं हूं। क्योंकि दिखाई पड़ने वाली सतह तो नदी की धार की भांति बही जा रही है। वह नहीं, उसके भीतर और उसके अतीत ही कहीं मेरा होना हो सकता है। शरीर नहीं, शरीर के पार ही मेरी सत्ता हो सकती है।
शरीर के भीतर चलें। शरीर की सतत प्रवाही सतह के नीचे और पीछे देखें। वहां क्या है? वहां मन है। वह मन भी एक क्षण को भी ठहरा हुआ नहीं है। शरीर के परिवर्तन से भी बहुत ज्यादा तीव्र उसके परिवर्तन की गति है। शरीर तो ठहरा हुआ लगता भी है, उस मन में तो कोई ठहराव प्रतीत भी नहीं होता है। आकाश में बादल एक क्षण को भी बिना ठहरे बदलते रहते हैं, ऐसी ही स्थिति मन के विचारों की है। इन जड़विहीन, रूटलेस बादलों जैसे विचारों को अपना स्वरूप और सत्ता मत समझ लेना। जिस पर इनका आना और जाना है, उसे खोजना होगा। बदलियों के पीछे उस आकाश को खोजना होगा, जिसमें और जिस पर कि उनका खेल चलता है।
विचार परिवर्तन की तीव्रतम शृंखला को उपस्थित करते हैं। कोई मुझे कहता था कि प्रकाश का वेग एक लाख छियासी हजार मील प्रति सैकेंड है और विद्युत का वेग दो लाख अठासी हजार मील प्रति सैकेंड है, जबकि विचार का वेग बाईस लाख, पैंसठ हजार, एक सौ बीस मील प्रति सैकेंड है। यह ठीक ही होगा। विचार से अधिक गति और किसमें हो सकती है? स्वप्नों से अधिक परिवर्तनशील और क्या हो सकता है?

यह स्मरण रखें कि जहां परिवर्तन है वहां आपकी आत्यंतिक सत्ता नहीं है।
यह मन एक क्षण प्रेम से भरता है और दूसरे क्षण घृणा से भर जाता है। एक क्षण शुभ विचार इसमें बहते हैं, दूसरे क्षण अशुभ बहने लगते हैं। जो थोड़ी देर पहले करुणा से भरा था, वह थोड़ी देर बाद क्रूरता में देखा जाता है। झील पर हवाओं के थपेड़ों से उठी लहरों की भांति इसकी दशा है। मेरी मानें और जरा भीतर देखें। क्या वहां किसी फिल्म की भांति विचार नहीं बह रहे हैं? प्रत्येक के भीतर मन का यह छविगृह है और हम सब उसके चित्रों की शृंखला के दर्शक बने हुए हैं। इस छविगृह में जो दिखाई पड़ रहा है, वह नहीं, बल्कि जो देख रहा है, वही मेरा होना है, वही मैं हूं।
मैं न नाम हूं, न रूप हूं, न दृश्य हूं; वरन इन तीनों के पार और अतीत जो अनाम, अरूप द्रष्टा है, वही मेरी सत्ता और आत्मा है। इसे समझना, मनन करना और देखना। क्रमशः उस परम सखा की ओर दृष्टि ले जाने से एक दिन उसका दर्शन होता है और सारा जीवन आमूल परिवर्तित हो जाता है।
शरीर परिवर्तनशील है, चित्त परिवर्तनशील है। इसलिये मैंने कहा कि उनका होना हमारा वास्तविक होना नहीं है। ऐसा मैंने क्यों कहा है? ऐसा इसलिए कहा है कि हमारे भीतर सब बदलता जाता है, फिर भी कुछ है जो कि नहीं बदलता है। परिवर्तन की परिधि के भीतर कुछ सदा अपरिवर्तित और सनातन भी है। उसके ही आधार पर परिवर्तन होते हैं और जैसे फूलों की माला उनके भीतर अनस्यूत धागे पर टिकी होती है, वैसे ही सारे परिवर्तन उस अपरिवर्तित पर टिके होते हैं। उसके बिना तो माला बिखर जायेगी और फूल अलग-अलग हो गिर पड़ेंगे। शरीर और चित्त दोनों ही संग्रह और संयोग हैं। उनका आधार उनके बाहर है। वह आधार ही आत्मा है।
शरीर, मन का सतत प्रवाही संघात किसी अप्रवाही सत्ता के आधार के बिना
हो ही कैसे सकता है? जैसे आकाश में बादल आते और जाते हैं, ऐसे ही उस पर और उसमें शरीर व मन का आना और जाना है। शरीर और मन से स्वयं का तादात्म्य, आइडेंटिटी समझ लेना ही अज्ञान है। यह तादात्म्य ही संसार का मूल है। जो इस तादात्म्य को भेदकर उसे जानने में समर्थ हो जाता है, जो कि शरीर व मन के अतीत है, वह ज्ञान को--आत्म-ज्ञान को उपलब्ध होता है।
हमने देखा कि शरीर और मन निरंतर बहा जा रहा है। लेकिन फिर अतीत की स्मृति किसे होती है? मैं अपने बालपन को स्मरण कर पाता हूं। आज युवा हूं, कल वृद्ध हो जाऊंगा। वृद्ध होकर पाऊंगा कि शरीर और मन की गंगा का बहुत जल बह गया है। लेकिन फिर भी स्मृति का धागा उस सबको सम्हाले हुए है, जो कि बह गया है और अब कहीं भी नहीं है। स्मृति-विषयों, मेमोरि कंटेंट्स के प्रति जो मेरी जागरूकता, अवेअरनेस है वह तो अविच्छिन्न होती है। इससे दीखता है कि हमारे भीतर समस्त विच्छिन्नताओं के बीच प्रतीति की कोई अविच्छिन्न, कांस्टेंट एंड कंटिन्युअस तत्व मौजूद है। यह तत्व परिवर्तनों से घिरा है, पर स्वयं अपरिवर्तित है। यह ठीक भी है। क्योंकि जो समस्त परिवर्तनों को अनुभव करता है, वह स्वयं परिवर्तनशील नहीं हो सकता है। इस अविच्छिन्न चेतना तत्व का नाम ही आत्मा है। जो इस तत्व पर ध्यान करते हैं, वे न केवल इस जन्म के अतीत, वरन अतीत के समस्त जन्मों को भी स्मरण कर पाते हैं। स्मृति-विषय, मेमोरि कंटेंट्स तो मन की ही अचेतन पर्तों पर लिपिबद्ध होते हैं। लेकिन उन्हें देखने वाला, उनके प्रति जागरूक और सचेतन होने वाला जो चेतना-तत्व है, वह उनसे पृथक और उनके पीछे है। इसलिए ही वह उनका स्मरण और उनकी प्रत्यभिज्ञा कर पाता है। स्मृति के स्मरण के रहस्य को समझने, उसका मनन करने से, उसमें झांकने से, मृत्यु के पीछे किसी अमृत और अनित्य के पीछे किसी नित्य तत्व के दर्शन होते हैं।
मनुष्य की सत्ता दोहरी है। उसके भीतर दो सत्तायें मिलती हैं और उनका संगम होता है। मनुष्य परिवर्तन और अपरिवर्तन, अनित्य और नित्य, मृत्यु और अमृत का जोड़ है। शरीर और आत्मा से हम इस द्वैत की ही सूचना देते हैं। मनुष्य की परिधि निरंतर परिवर्तित होती रहती है। और उसका केंद्र सदा अपरिवर्तित बना रहता है।

जो अपने भीतर केवल परिवर्तन को ही जानता है, वह अपनी देह से ही परिचित है। उसका परिचय अपने आवास और अनात्म से ही है। वह स्वयं को नहीं जानता है। और इस मौलिक अज्ञान के कारण उसका जीवन अपने ही हाथों अंधकार से और घने अंधकार में गिरता जाता है। वह स्वयं ही अपने दुख के बीज बोता है और स्वयं ही अपने संताप के कारागृह निर्मित करता है। उसका जीवन अथक आत्म-उत्पीड़न बन जाता है।
अज्ञान में हम जो भी बनाते हैं, वह अंततः स्वयं के लिए नर्क ही सिद्ध होता है। लेकिन यदि हम अपने अपरिवर्तनशील तत्व से भी परिचित हो सकें, तो जीवन की दिशा बदल जाती है और अंधकार की जगह आलोक में हमारे चरण गतिमय हो जाते हैं। उसके प्रकाश में ही हम पहली बार जीवन के अभिप्राय और धर्म से परिचित होते हैं और उसके माध्यम से ही पहली बार सत्य-जीवन में हमारी प्रतिष्ठा होती है। उसे जानते ही बंधन विलीन हो जाते हैं और दुख की प्रेत छायाएं हमारा पीछा छोड़ देती हैं।
उस नित्य को, उस अमृत को कैसे हम जान सकेंगे? किसी के प्रयास से वह नहीं जाना जाता है और न किसी की प्रार्थना से। स्वयं का अथक प्रयास, अपना ही श्रम उस तक ले जाता है। अपने ही चरणों के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है, और अपने ही श्रम के अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं है। इसे भलीभांति स्मरण रखना; अन्यथा सत्य को भीख में पा लेने की आकांक्षा से अनेक जीवन-अवसर व्यर्थ ही अपव्यय हो जाते हैं।
सत्य को जानना है, स्वयं को जानना है, तो जो "स्व" नहीं है, "आत्म" नहीं है, उससे तादात्म्य तोड़ना होगा। "अनात्म" से समस्त तादात्म्य तोड़ना होगा। अनात्म से अतादात्म्य में जो प्रगट होता है, वही आत्मा है। परिधि को छोड़ो और केंद्र की ओर चलो। परिवर्तनशील को छोड़ो और अपरिवर्तनशील की ओर चलो। यही साधना की दिशा है।
किस-किस से हमारा तादात्म्य है? "शरीर" से है, "विचार" से है, "भाव" से है--तादात्म्य की इन सभी दीवारों को गिरा दो। उन दीवारों से अपने को मुक्त कर लो जो कि परिवर्तनशील हैं। जो भी परिवर्तनशील है, जानो कि आप वह नहीं हो। इस स्मृति को केंद्रीभूत करो कि जो भी परिवर्तनशील है, वह मैं नहीं हूं। उसे श्वास-प्रश्वास में स्थायी करो। उसे सोते-जागते प्राणों के प्राण में निनादित होने दो। उस स्मृति के तीर को चेतना में गहरे से गहरा प्रविष्ट करना होता है। उसका अविच्छिन्न हो जाना जरूरी है, तभी लक्ष्य-भेद होता है।
शरीर, विचार, भाव--सभी में यह बोध रहे कि वे मेरी सत्ताएं नहीं हैं। यह स्मरण खोने न पावे। सुबह से सांझ, सांझ से सुबह इस बोध को गहराते ही जाना है। शरीर को जब भी जानें, तो जानें कि यह "शरीर मैं नहीं हूं।" चित्त को जब भी जानें, तो जानें कि यह "चित्त" मैं नहीं हूं, श्वास आती हो, प्रश्वास जाती हो तो जानें कि "यह मैं नहीं हूं"। शरीर, प्राण और चित्त--तीनों "मैं नहीं", इस स्मृति-साधना से क्रमशः तादात्म्य की मोह-निद्रा टूटती है और जागरण आता है। जैसे कोई गहरी नींद में सोया हो और हम उसे बुलाते ही जावें, तो अंततः उसकी नींद टूट ही जाती है। ऐसे ही स्वयं की नींद भी तोड़नी होती है। स्वयं को बुलाकर स्वयं की ही नींद तोड़नी है।
स्मृति-साधना स्वयं को बुलाने की विधि और पद्धति है। उसके अहर्निश प्रयोग से काया का और चित्त का "पर" और पृथक होना अनुभव होता है। उनके और स्वयं के बीच भेद और अंतर स्पष्ट होता है। हम उससे दूर होने लगते हैं, जो कि हम नहीं हैं। और क्रमशः उसमें हमारी प्रतिष्ठा होती है, जो कि हमारा वास्तविक होना है। इस भांति हमारी प्रवासी आत्मा अपने निवास पर आती है। शरणार्थीपन मिटता है और हम स्वयं अपने गृह में आते और उसके मालिक बनते हैं।
परिवर्तनशील परिधि से नाता तोड़ना ही क्रमशः अपरिवर्तनशील केंद्र से नाता जोड़ना बन जाता है। फिर किसी क्षण में, जब साधना का उत्ताप वाष्पीकरण के बिंदु पर पहुंच जाता है, अनायास और अनपेक्षित विस्फोट होता है। और जैसे कोई गहरी नींद से जाग जाता है, ऐसे ही हमारी चेतना शरीर और चित्त होने की

मोह-निद्रा से जाग जाती है। अपूर्व आलोक अनुभव होता है और उस आलोक में जो जाना जाता है, वही सार है, वही सत्य है, वही समग्र की आधारभूत सत्ता है। सत्य को ऐसे ही जाना जाता है। विचार से नहीं-- साधना से, विधि से। स्वयं में प्रवेश से उसकी प्राप्ति है और जो शास्त्रों में ही भटकते रहते हैं, वे व्यर्थ ही भटकते हैं। शब्द में नहीं, स्वयं में उसकी उपलब्धि का द्वार है। स्वयं के व्यक्तित्व की परिवर्तनशील परिधि से क्रमशः अपने को मुक्त करने का नाम ध्यान है। और मुक्त हो जाने की चरम अवस्था का नाम समाधि है।
महावीर बारह वर्षों में यही करते थे। बुद्ध भी यही करते थे। सत्य का कोई भी साधक यही करता है। क्रमशः भीतर सरकता है, केंद्रोन्मुख होता है, परिवर्तनशील से तादात्म्य तोड़ता है और स्मरण स्थापित करता है कि "यह मैं नहीं हूं।" उस क्षण तक वह जानता ही चला जाता है कि "यह मैं नहीं हूं", जब तक कि अस्वीकार करने को कुछ उसे शेष ही नहीं रह जाता है। फिर वह स्वयं ही शेष रह जाता है। फिर वही शेष रह जाता है--जो वह है। ज्ञेय कुछ भी नहीं बचता है, मात्र ज्ञाता ही रह जाता है। ज्ञेय के अभाव में उसे ज्ञाता भी क्या कहें? अच्छा हो कि कहें कि सिर्फ ज्ञान ही शेष रह जाता है।
ज्ञेय और ज्ञाता से मुक्त यह शुद्ध ज्ञान ही आत्मा है। इस क्षण सारी सीमायें गिर जाती हैं, काल और देश समाप्त हो जाते हैं। अनंत और असीम में चेतना विराजमान होती है। यही उसका स्वरूप है। इसी की उसे खोज और तलाश है और जब तक इसे पा न लिया जावे तब तक उसे अशांति और असंतोष स्वाभाविक है। जिसे हम बूंद की भांति जानते हैं, वह सागर है। और जब तक हम उसे सागर की भांति ही अनंत और असीम नहीं जानेंगे, तब तक दुख से छुटकारा नहीं है। सीमा ही दुख है। सीमा से ऊपर उठ जाना दुख के अतीत हो जाना है।
एक बार ऐसा हुआ कि एक राजा ने सौ ब्राह्मणों को किसी अवसर पर भोज दिया। भोज के बाद उसने उन ब्राह्मणों से कहा, "मैं ज्ञानियों का एक उपनिवेश बसाना चाहता हूं। राजधानी के बाहर झील के पास जो मेरा रम्य वन है, वहां आप सौ ब्राह्मण जितनी भूमि चाहें, ले लें। जो जितनी भूमि घेरकर उस पर अपनी दीवार बना लेगा, वह भूमि उसकी ही हो जावेगी।"
उन ब्राह्मणों ने अपनी सामर्थ्य भर जमीन घेर ली। वह भूमि बहुत बहुमूल्य थी और वे ब्राह्मण बहुत दरिद्र थे! जिसके पास जो था, सब बेचकर उन्होंने बड़ी-बड़ी भूमि को घेरकर दीवारें बना लीं। दीवार से भूमि को घेर लेना ही तो एकमात्र मूल्य था!
फिर, छह माह बाद वह राजा वहां गया। उसने उन ब्राह्मणों से कहा, "मैं देखता हूं कि आपने जमीन काफी घेरी है, फिर भी बहुत काफी नहीं घेरी। और जमीन घेर लो और यह भी स्मरण रखना कि जिसका घेरा सबसे बड़ा होगा, उसे राजगुरु के पद पर प्रतिष्ठित करने का मेरा संकल्प है!"
यह भी ठीक ही था कि जिसकी समृद्धि का घेरा सबसे बड़ा हो, वही राजगुरु बने। राजा के गुरु होने की मर्यादा के यह अनुकूल ही था। वे ब्राह्मण पागलों की भांति अपने घेरे बड़े करने में लग गये। उनमें बड़ी प्रतियोगिता थी। यही प्रतियोगिता सभी जगह है। सभी अपने घेरे बड़े करने में लगे हैं। सभी की आकांक्षा राजगुरु के पद पर प्रतिष्ठित होने की है! उन ब्राह्मणों ने बड़ी से बड़ी भूमि घेरी।
छह माह बाद पुनः वह राजा उनके बीच गया। उसने उनसे कहा, "ब्राह्मणो, जिसका घेरा सबसे बड़ा हो, वह सूचित करे।" इसके पहले कि कोई उठता, एक दरिद्रतम ब्राह्मण उठा। उसके पास तो वस्त्रों के नाम पर केवल एक लंगोटी थी। सभी हैरान हुए, क्योंकि सभी जानते थे कि उसका घेरा ही सबसे छोटा है। वह तो दीवार भी नहीं बना सका था, घास-फूस की छोटी-सी बाड़ी ही उसने बांधी थी! उतनी ही उसकी सामर्थ्य भी थी। लेकिन उस दरिद्रतम ब्राह्मण ने कहा, "मैं राजगुरु के पद पर अपने को घोषित करता हूं।" राजा चकित हुआ। उसकी दरिद्रता से कौन परिचित नहीं था? और ब्राह्मणों ने समझा कि शायद वह पागल हो गया है! उसने जब दावा किया, तो राजा को उसकी भूमि का निरीक्षण करने जाना पड़ा।
जब राजा और सारे ब्राह्मण वहां गये, तो उन्होंने देखा कि जो घास-फूस का घेरा था, वह भी रात्रि उसने जला दिया है और दीवार के नाम पर केवल राख ही शेष

रह गई है। उस ब्राह्मण ने कहा, "राजन! मेरा घेरा सबसे बड़ा है। क्योंकि मेरा कोई घेरा ही नहीं है।" राजा यह सुन, उसके पैरों पर गिर पड़ा। सच ही जिसका कोई घेरा नहीं है, उसने सभी को घेर लिया होता है, और जो सीमाएं तोड़ देता है, वह असीम हो जाता है।
मैं आपकी ओर देखता हूं, तो क्या पाता हूं? पाता हूं कि आप बहुत घेरों में घिरे हैं। वह जो असीम है, अपने ही हाथों सीमाओं में बंधा हुआ है। परमात्मा को आपके भीतर मैं बंदी हुआ देख रहा हूं। सीमाओं को तोड़ो और अपनी परमात्म-शक्ति को मुक्त होने दो। घास-फूस की दीवारों में आग लगा दो और उन्हें राख हो जाने दो। उनकी राख पर ही उसके दर्शन होंगे, जो कि परम शक्ति है और परम आलोक है।
अपने को मिटाकर ही अपने को पाया जाता है। अहं को तोड़कर ही ब्रह्म की उपलब्धि होती है। आज तक सदा ऐसा ही हुआ है। इसी मूल्य पर--इसी यज्ञ से, इसी द्वार से ही--स्वयं को खोकर ही स्वयं को पाया जाता रहा है। और कोई मार्ग नहीं है। जिसके जितने ज्यादा घेरे हैं, वह उतना ही घिरा और छोटा होता है, वह उतना ही विराट से दूर और अलग हो जाता है। वह अपने ही हाथों क्षुद्र अणु बन जाता है। और जो जितना घेरों को गिरा देता है और उनसे मुक्त हो जाता है, वह उतना ही विराट हो जाता है। अणु से आत्मा होने की राह और विधि यही है। उठो! जागो और सारे घेरों को गिरा दो। वे घेरे ताश के पत्तों के ही घेरे हैं, क्योंकि उनकी सत्ता मिथ्या तादात्म्य से ज्यादा गहरी नहीं है। शरीर, विचार और भाव के इन घेरों को स्मृति की साधना से विच्छिन्न करो। ध्यान की अग्नि में उन्हें जला दो, और फिर देखो कि तुम्हारे भीतर क्या है और कौन है? प्रत्येक के भीतर वह मौजूद है, जो घेरे में है, लेकिन फिर भी अनघिरा है। और प्रत्येक के भीतर उसका आवास है, जो मृत्यु से गुजरता है, लेकिन अमृत है। मिट्टी के दीये में जैसे ज्योतिशिखा होती है, ऐसे मृत्यु के दीये में जीवन की ज्योति है। दुर्भाग्य है उनका जो कि अपने भीतर केवल मिट्टी के दीये को ही जानते हैं, और जीवन की ज्योति से वंचित हैं। पर वे अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल सकते हैं। क्योंकि वे जानें या न जानें, लेकिन जीवन की, अमृत की ज्योति सतत उनके भीतर भी जल रही है।
धर्म क्या है? इस ज्योति को जानने का विज्ञान धर्म है। इस ज्योति को जानना ही होगा। उसके बिना जीवन अपूर्ण और अधूरा है। और उसे जाने बिना शांति और सांत्वना नहीं मिलेगी। उसे जाने बिना जन्मों-जन्मों की दौड़ें रेत पर खींची हुई रेखाओं की तरह मिट जाती हैं। वे सब निष्फल हैं। आत्मज्ञान ही विश्राम का स्थल है।
तृष्णा की धूप से क्लांत और अज्ञान की यात्रा से थके राही को वहीं छाया और विश्रांति मिलती है। इसलिए इस स्थल को पाना ही होगा। अपनी सारी ऊर्जा को इकट्ठा कर प्रयास करो। और अपने सारे संकल्प को घनीभूत कर सत्य को पाने चलो, तो सफलता सुनिश्चित है, क्योंकि सत्य की दिशा में सम्यक रूप से उठाया गया कोई भी चरण कभी व्यर्थ नहीं जाता है।
प्रभु की अनुकंपा आपके ऊपर हो, प्रभु करे कि आप स्वयं को पा सकें, प्रभु आपको प्रेरणा और प्रकाश दे कि आप अनंत आनंद और अमृत से संयुक्त हो सकें, यही मेरी कामना है। आपकी क्षुद्र क्रियाएं वहां नहीं पहुंचायेंगी। आपकी सस्ती पूजा और अर्चना वहां नहीं पहुंचायेंगे। आपके दो कौड़ी के दान-धर्म वहां नहीं पहुंचायेंगे। आपके खड़े किए हुए क्षण-भंगुर मंदिर, मस्जिद और शिवालय वहां नहीं पहुंचायेंगे। बाहर के जगत में आपका किया हुआ कुछ भी वहां पहुंचाने में समर्थ नहीं है। क्योंकि आपका सब किया हुआ आपके घेरों को ही बनाता और आपकी दीवारों को ही सुदृढ़ करता है। उससे आपकी अहंता मिटती नहीं, और मजबूत होती है। उस सबसे आपको लगता है कि "मैं" कुछ हूं।
दानी को लगता है--"मैं कुछ हूं।" पंडित को लगता है--"मैं कुछ हूं।" त्यागी को लगता है--"मैं कुछ हूं।" साधु को लगता है --"मैं कुछ हूं।" और इस भांति सब किया हुआ अधर्म हो जाता है। अधर्म "मैं" को भरता है, धर्म "मैं" को छीनता है। वह व्यक्ति धर्म की दिशा में है जो निरंतर अपने "मैं" को विलीन होता हुआ पाता है। वह सतत "मैं" से शून्य की तरफ बढ़ता है। वह निरंतर अकिंचन से अकिंचन होता चला जाता है और फिर एक दिन बिल्कुल शून्य ही हो जाता है। और

उसे स्मरण भी नहीं रहता है कि वह है। उसका होना हवा-पानी की भांति "मैं- शून्य" हो जाता है। और तभी वह जान पाता है कि वह कौन है?
"मैं" के मिट जाने से आत्मा का जन्म होता है। इसलिये कोई ऐसा न कहे कि "मेरी आत्मा", क्योंकि आत्मा मेरी और तेरी नहीं होती है। जहां न "मैं" होता है, न "तू" होता है, वहां जो होता है, उसका नाम आत्मा है। जब सब "मैं", "तू" के बोध गिर जाते हैं, तभी हम आत्मा से संयुक्त होते हैं। वह आत्मा सबके भीतर है, वह सत्ता सबमें है, किंतु वह किसी की भी नहीं है।
धर्म आत्यंतिक साहस की बात है, क्योंकि उसमें स्वयं को ही तोड़ना और मिटाना होता है। वह "मैं" की मृत्यु से गुजरना है। वह अपने को सीमाओं की सुरक्षा से अलग कर असीम की असुरक्षा में सौंपना है। असीम की असुरक्षा के इस आमंत्रण को ही मैं संन्यास कहता हूं। सीमा की सुरक्षाओं से जो नहीं निकल पाता है, वही गृही है, वही गृहस्थ है। "मैं" की, अस्मिता की सीमाओं को जो तोड़ देता है, वह अपनी बूंद-सत्ता को छोड़ता है और जिसमें इतना साहस है वही--केवल वही सागर-सत्ता को पाता है।
प्रभु आपको इतना साहस दे कि बूंद के सागर होने के इस आरोहण में आप सफल
हो सकें।
मेरी इन बातों को इतने मौन से और इतनी प्रीति से आपने सुना है, उसके लिये मैं बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। बहुत प्रेम मैं आपके प्रति अनुभव कर रहा हूं। मेरा प्रेमपूर्ण आलिंगन स्वीकार करें। मेरी बाहें तो छोटी हैं, पर हृदय इतना बड़ा है कि सब उसमें समा जावें। मेरी बाहों को नहीं, मेरे प्रेम को देखें और उसे अनुभव करें। प्रेम के अनुभव में ही प्रभु है।

साधना पथ
सोलहवां प्रवचन

साधना की पहली सीढ़ी: शरीर

मेंरे प्रिय आत्मन्!
साधना-शिविर की इस पहली बैठक में, साधक के लिए जो पहला चरण है, उस संबंध में मैं आपसे बात करना चाहूंगा।
साधक के लिए पहली सीढ़ी क्या है? विचारक के लिए सीढ़ियां अलग होती हैं, प्रेमी के लिए सीढ़ियां अलग होती हैं। साधक के लिए अलग ही यात्रा करनी होती है।
साधक के लिए पहली सीढ़ी क्या है?
साधक के लिए पहली सीढ़ी शरीर है। लेकिन शरीर के संबंध में न तो कोई ध्यान है, न शरीर के संबंध में कोई विचार है। और थोड़े समय से नहीं, हजारों वर्षों से शरीर उपेक्षित है। यह उपेक्षा दो प्रकार की है। एक तो उन लोगों ने शरीर की उपेक्षा की है, जिन्हें हम भोगी कहते हैं--जो जीवन में खाने, पीने और कपड़े पहनने के अतिरिक्त और किसी अनुभव को नहीं जानते। उन्होंने शरीर की उपेक्षा की है, शरीर का अपव्यय, शरीर को व्यर्थ खोया है, शरीर की वीणा को खराब किया है।
और वीणा खराब हो जाये तो उससे संगीत पैदा नहीं हो सकता। यद्यपि संगीत वीणा से बिल्कुल भिन्न बात है। संगीत बात ही और है, वीणा बात ही और है। लेकिन वीणा के बिना संगीत पैदा नहीं हो सकता। जिन लोगों ने शरीर को उपभोग की दिशा में व्यर्थ किया है, वे एक तरह के लोग हैं। और दूसरी तरह के लोग हैं, जिन्होंने योग की और त्याग की दिशा में भी शरीर के साथ अनाचार किया है। शरीर को कष्ट भी दिया है, शरीर का दमन भी किया है, शरीर के साथ शत्रुता भी की है।
न तो शरीर को भोगने वालों ने शरीर की अर्थवत्ता को समझा है और न शरीर
को कष्ट देने वाले तपस्वियों ने शरीर की अर्थवत्ता को समझा है।
शरीर की वीणा पर दो तरह के अनाचार और अत्याचार हुए हैं--एक भोगी की तरफ से, दूसरा योगी की तरफ से। और इन दोनों ने ही शरीर को नुकसान पहुंचाया है। पश्चिम में एक तरह से शरीर को नुकसान पहुंचाया गया है, पूर्व में दूसरी तरह से। लेकिन नुकसान पहुंचाने में हम सब एक साथ सहभागी हैं। वेश्यागृहों में जाने वाले लोग और मधुशालाओं में जाने वाले लोग भी शरीर को एक तरह का नुकसान पहुंचाते हैं। धूप में नग्न खड़े रहने वाले लोग और जंगल की तरफ भागने वाले लोग भी शरीर को दूसरी तरह से नुकसान पहुंचाते हैं।
लेकिन शरीर की वीणा से ही जीवन में संगीत उत्पन्न हो सकता है। यद्यपि जीवन का संगीत शरीर से बिल्कुल अलग बात है; बिल्कुल भिन्न और दूसरी बात है, लेकिन शरीर की वीणा के अतिरिक्त उसकी कोई उपलब्धि संभव नहीं है। इस तरफ अब तक कोई ध्यान ठीक से नहीं दिया गया है।
पहली बात है शरीर और शरीर की तरफ साधक का सम्यक ध्यान। उस संबंध में
ही आज पहली चर्चा में आपसे बात करना चाहता हूं।
कुछ सूत्र समझ लेने जरूरी हैं।
पहली बातः शरीर के किन्हीं केंद्रों पर आत्मा का संपर्क है, उसी से जीवन है। शरीर के किन्हीं केंद्रों से आत्मा निकटतम रूप से संबंधित है, वहीं से जीवन की धारा शरीर में प्रवाहित होती है। आत्मा और शरीर के संपर्क के जो केंद्र हैं, जो स्थल हैं, जिस साधक को उन स्थलों का कोई ख्याल नहीं है, वह कभी भी आत्मा को उपलब्ध नहीं हो सकता है। अभी मैं आप से पूछूं कि आपके शरीर में सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र और स्थल क्या है--तो शायद आप अपने सिर की तरफ हाथ उठायें।
मनुष्य की गलत शिक्षा ने मनुष्य के शरीर में केवल सिर को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। सिर मनुष्य की जीवन-धारा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र नहीं है। मस्तिष्क मनुष्य की जीवन-धारा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र नहीं है। जैसे हम किसी पौधे के पास जायें और पूछें कि पौधे में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और जीवंत क्या है, तो ऊपर ही फूल दिखाई पड़

जायेंगे और कोई भी कह देगा कि ये फूल ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। फूल सर्वाधिक महत्वपूर्ण दिखाई पड़ते हैं, लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण फूल नहीं हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे जड़ें हैं, जो दिखाई नहीं पड़तीं। मस्तिष्क मनुष्य के पौधे पर लगा हुआ फूल है। वह मनुष्य के शरीर की जड़ नहीं है। फूल सबसे बाद में आते हैं और अंतिम होते हैं। जड़ें सबसे प्रथम होती हैं। और अगर जड़ें भूल जायें तो फूल कुम्हला जायेंगे। फूलों का अपना कोई जीवन नहीं होता। और अगर जड़ें संभाल ली जायें तो फूल अपने आप संभल जाते हैं, उन्हें संभालने के लिए अलग से कोई आयोजन नहीं करना होता है। लेकिन पौधे में देखने पर ऐसा लगेगा, फूल सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ऐसे ही मनुष्य में भी लगता है कि मस्तिष्क सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मस्तिष्क अंतिम बात है मनुष्य के शरीर में। वह मनुष्य के शरीर की जड़ें नहीं है, रूट्स नहीं है।
माओत्से तुंग ने अपने बचपन का एक संस्मरण लिखा है। लिखा है कि मैं छोटा था, मेरी मां के झोपड़े के पास एक बड़ी सुंदर बगिया थी। वह बगिया इतनी सुंदर थी, उसमें ऐसे सुंदर फूल आते थे कि दूर-दूर से लोग देखने आते थे। फिर मेरी मां बूढ़ी हो गयी और बीमार पड़ी। न तो वह अपनी बीमारी से चिंतित थी, न अपने बुढ़ापे से। उसकी चिंता एक ही थी कि उसकी बगिया का क्या होगा। माओ छोटा था। उसने अपनी मां को कहा कि तू बेफिक्र रह, मैं तेरी बगिया की फिक्र कर लूंगा।
और माओ सुबह से सांझ तक बगिया की फिक्र करता रहा। एक महीने बाद उसकी मां ठीक हुई, तो जैसे ही वह थोड़ी चल सकी, उठकर बगिया में आ गयी और देखकर घबरा गयी। बगिया तो बरबाद हो चुकी थी। पौधे सब सूख गये थे। फूल सब कुम्हला कर गिर गये थे। वह बहुत हैरान हुई। उसने माओ को कहा कि पागल! तू तो सुबह से सांझ तक बगिया में ही रहता था। तूने यह क्या किया? ये सब फूल तो नष्ट हो गये। यह बगिया तो कुम्हला गयी। सब पौधे तो मरने के करीब आ गये। यह तू करता क्या था?
माओ रोने लगा। वह खुद भी परेशान था। वह रोज दिन भर मेहनत करता था, लेकिन न मालूम क्या बात थी कि बगिया सूखती गयी। वह रोने लगा और उसने कहा कि मैंने तो बहुत फिक्र की। मैं तो एक-एक फूल को चूमता था और प्रेम करता था। एक-एक पत्ते को झाड़ता था, धूल पोंछता था, लेकिन पता नहीं क्या हुआ। मैं फिक्र भी करता था, लेकिन फूल कुम्हलाते गये, पत्ते सूखते गये और बगिया धीरे-धीरे मुरझाती गयी। उसकी मां ने कहा, पागल! वह हंसने लगी, बोली--उसने कहा; तू पागल है! तुझे अभी यह पता नहीं कि फूलों के प्राण फूलों में नहीं होते और न पत्तों के प्राण पत्तों में होते हैं।
पौधे के प्राण वहां होते हैं, जहां किसी को दिखाई ही नहीं पड़ते। वे उन जड़ों में होते हैं, जो जमीन के नीचे छिपी होती हैं। और उन जड़ों की अगर कोई फिक्र न करे तो फूल और पत्ते नहीं संभाले जा सकते। कितने ही चूमे जायें, कितना ही उनको प्रेम किया जाये, कितनी ही उनकी धूल झाड़ी जाये। पौधे कुम्हला ही जायेंगे। लेकिन फूलों की कोई बिल्कुल भी फिक्र न करे और जड़ों को संभाल ले, तो फूल अपने-आप संभल जाते हैं। जड़ों में से फूल आते हैं, फूलों में से जड़ें नहीं आती हैं।
लेकिन अगर हम किसी आदमी से पूछें कि मनुष्य के शरीर में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा क्या है, तो अनजाने ही उसका हाथ सिर की तरफ उठेगा और वह कहेगा कि सिर सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। या अगर वह स्त्री हो तो हो सकता है, उसका हाथ हृदय की तरफ उठ जाये और वह कहे, हृदय सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है।
हृदय भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं है और मस्तिष्क भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं है। पुरुषों ने सारा बल मस्तिष्क पर दिया है और स्त्रियों ने सारा बल हृदय पर दिया है। और दोनों से मिला हुआ समाज रोज नष्ट होता चला गया है, क्योंकि ये दोनों ही बिंदु शरीर में महत्वपूर्ण बिंदु नहीं हैं। ये दोनों ही बहुत बाद के विकास हैं। मनुष्य की जड़ें इनमें नहीं हैं। और मनुष्य की जड़ों से मेरा क्या मतलब है? जैसे पौधे की जड़ें होती हैं पृथ्वी में, उन्हीं जड़ों से वह जीवन और रस खींचता है, उसी से

जीवित होता है। ऐसे ही मनुष्य के शरीर में किसी बिंदु पर वे जड़ें हैं, जो आत्मा से जीवन और रस खींचती हैं और जिनके कारण शरीर जीवित होता है। जिस दिन वे जड़ें शिथिल हो जाती हैं, शरीर समाप्त हो जाता है।
भूमि में पौधे की जड़ें हैं। मनुष्य के शरीर की जड़ें आत्मा में प्रविष्ट हैं। लेकिन मस्तिष्क नहीं है वह जगह और न ही हृदय वह जगह है, जहां से मनुष्य प्राणों से जुड़ता है। और अगर हमें उन जड़ों का कोई पता न हो तो हम कभी भी साधक के जगत में प्रवेश नहीं कर सकते।
कहां हैं फिर मनुष्य की जड़ें? शायद आपके ख्याल में ही नहीं है। कुछ सीधी और सरल-सी बातें भी अगर हजारों साल तक ध्यान से भूली रहें तो विस्मृत हो जाती हैं। मां के पेट में बच्चा पैदा होता है, बड़ा होता है, तो मां से वह किस जगह से जुड़ा होता है? मस्तिष्क से, या हृदय से? वह नाभि से जुड़ा होता है। जीवन की धारा उसे नाभि से उपलब्ध होती है। हृदय भी बाद में विकसित होता है, मस्तिष्क भी बाद में विकसित होता है। मां की जीवन-धारा उसे नाभि से उपलब्ध होती है। मां के शरीर में बच्चे की जड़ें नाभि से फैली होती हैं। न केवल दूसरे--मां के शरीर में उसकी जड़ें नाभि से फैली होती हैं, बल्कि स्वयं के प्राणों में भी उसकी जड़ें नाभि से ही फैली होती हैं।
मनुष्य के शरीर में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिंदु नाभि है। उसके बाद हृदय विकसित होता है, उसके बाद मस्तिष्क विकसित होता है। ये बाद की फैली हुई टहनियां हैं। इन पर फूल भी लगते हैं।
मस्तिष्क पर ज्ञान के फूल लगते हैं।
हृदय पर प्रेम के फूल लगते हैं।
यही फूल हमें भुला लेते हैं और हमको लगता है कि यही फूल सब कुछ हैं। लेकिन जड़ें मनुष्य के शरीर की और प्राणों की नाभि में होती हैं। वहां कोई फूल नहीं लगते। वे बिल्कुल अदृश्य हैं, वे दिखाई भी नहीं पड़ते। लेकिन पिछले पांच हजार वर्षों में मनुष्य के जीवन में जो विकृति आयी है, वह इसी बात से आयी है कि हमने सारा बल या तो मस्तिष्क पर दिया है या हृदय पर दिया है। हृदय पर भी बहुत कम बल दिया है। अधिक बल तो मस्तिष्क पर दिया है।
बचपन से ही सारी शिक्षा मस्तिष्क की शिक्षा है। नाभि की तो दुनिया में किसी कोने में कहीं कोई शिक्षा नहीं है।
सारी मस्तिष्क की शिक्षा है! तो मस्तिष्क तो बड़ा होता चला जाता है और जड़ें हमारी छोटी होती चली जाती हैं। मस्तिष्क का फूल तो... फिक्र करते हैं हम उसकी, वह भारी हो जाता है और जड़ें हमारी विलीन होती चली जाती हैं। फिर जीवन की धारा क्षीण बहने लगती है और आत्मा से हमारे संपर्क शिथिल हो जाते हैं। फिर धीरे-धीरे तो हम उस जगह आ गये हैं कि आदमी यह भी कहने लगा है, कहां है आत्मा? कौन कहता है कि आत्मा है? कौन कहता है कि परमात्मा है? हमें तो कुछ पता नहीं चलता है; पता नहीं चलेगा। पता नहीं चल सकता है--क्योंकि कोई आदमी अगर वृक्ष के पूरे शरीर पर ढूंढ़ ले और कहे कहां हैं जड़ें, हमें तो कुछ पता नहीं चलता है; तो ठीक ही कह रहा है। वृक्ष के ऊपर कहीं कोई जड़ें नहीं हैं। जड़ें जहां हैं, वहां तक हमारी पहुंच बंद हो गयी है। वहां तक हमारा ख्याल बंद हो गया है। और बचपन से ही चूंकि मस्तिष्क का ही और माइंड का ही सारा प्रशिक्षण है, सारा शिक्षण है, तो हमारा सारा ध्यान, हमारा सारा अटेन्शन मस्तिष्क में उलझकर समाप्त हो जाता है। जीवन भर हम मस्तिष्क के आसपास ही घूमते रहते हैं। उससे नीचे हमारा ध्यान प्रवेश ही नहीं करता। साधक की यात्रा नीचे की तरफ है--जड़ों की तरफ। मस्तिष्क से उतरना है हृदय तक। और हृदय से उतरना है नाभि तक। और नाभि के बाद ही कोई आत्मा में प्रवेश पा सकता है, उसके पहले कभी नहीं पा सकता।
आमतौर से हमारे जीवन की गति नाभि से मस्तिष्क की तरफ है। साधक की गति बिल्कुल उल्टी होने को है। मस्तिष्क से नाभि की तरफ उसे नीचे उतरना है। इन तीन दिनों में मैं... वह तो आपसे क्रमशः बात करूंगा कि मस्तिष्क से हृदय तक कैसे उतरें और हृदय से नाभि तक कैसे उतरें और फिर नाभि से आत्मा तक प्रवेश कैसे हो सकता है।
आज तो सिर्फ शरीर के संबंध में ही कुछ बात कहनी जरूरी है।

पहली बात तो यही ध्यान में लेने की आवश्यकता है कि मनुष्य के प्राणों
का केंद्र नाभि है। वहीं से बच्चा जीवन पाना शुरू करता है, वहीं से उसके सारे जीवन की शाखाएं, प्रशाखाएं फैलनी शुरू होती हैं, वहीं से उसे ऊर्जा मिलती है। वहीं से शक्ति मिलती है लेकिन उस ऊर्जा के केंद्र पर हमारा ध्यान नहीं है, जरा भी नहीं है! और उस ऊर्जा के केंद्र को, उस शक्ति के केंद्र को जानने की जो भी व्यवस्था है, उस पर भी हमारी कोई दृष्टि नहीं है! बल्कि उसे भूल जाने की जो व्यवस्था है, उस पर हमारी पूरी दृष्टि है और पूरी शिक्षा है! इसीलिए पूरी शिक्षा गलत हो गयी है।
सारी शिक्षा मनुष्य को धीरे-धीरे पागलपन की तरफ ले जा रही है।
अकेला मस्तिष्क केवल पागलपन की तरफ ही ले जा सकता है।
क्या आपको पता है, जो मुल्क जितना ज्यादा शिक्षित हो गया है, उतना ही वहां पागलों की संख्या बढ़ गयी है? अमरीका में आज पागलों की संख्या सर्वाधिक है। यह गौरव की बात है। यह इस बात का सबूत है कि अमरीका सबसे ज्यादा शिक्षित है, सबसे ज्यादा सभ्य है। अमरीकी मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अगर सौ वर्षों तक यही व्यवस्था चली, तो अमरीका में ठीक आदमी खोजना मुश्किल हो जाएगा। आज भी चार आदमियों में से तीन आदमियों के मस्तिष्क डांवाडोल स्थिति में हैं।
सिर्फ अमरीका में ही तीस लाख लोग रोज अपनी मानसिक चिकित्सा के लिए डाक्टरों से सलाह ले रहे हैं! धीरे-धीरे शरीर के डाक्टर कम और मन के डाक्टर अमरीका में बढ़ते जाते हैं। क्योंकि शरीर के डाक्टर भी यह कहते हैं कि आदमी की अस्सी प्रतिशत बीमारियां मन की हैं, शरीर की नहीं हैं! और जैसे-जैसे समझ बढ़ती है, यह प्रतिशत बढ़ता जाता है। पहले वे कहते थे चालीस प्रतिशत, फिर वे कहने लगे पचास प्रतिशत, अब वे कहते हैं अस्सी प्रतिशत बीमारियां मन की, शरीर की नहीं! और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि बीस-पच्चीस साल के बाद वे कहेंगे निन्यान्नबे प्रतिशत बीमारियां मन की हैं, शरीर की नहीं हैं! यह उनको कहना पड़ेगा, क्योंकि मनुष्य के मस्तिष्क पर ही सारा बल दिया जा रहा है। मस्तिष्क विक्षिप्त हो गया है।
आपको अंदाजा नहीं है कि मस्तिष्क बड़ी डेलिकेट, बड़ी महीन, बहुत बारीक, बहुत नाजुक चीज है। आदमी का मस्तिष्क दुनिया की सबसे ज्यादा नाजुक मशीन है। उस मशीन पर इतना भार दिया जा रहा है कि यही आश्चर्य है कि वह बिल्कुल टूटकर पागल क्यों नहीं हो जाती! सारा भार मस्तिष्क पर है और मस्तिष्क कितना नाजुक है, इसकी हमें कोई कल्पना नहीं है। एक आदमी की छोटी-सी खोपड़ी में कितने पतले स्नायु हैं, जिन पर सारा बोझ पड़ता है, चिंता पड़ती है, सारा दुख पड़ता है, सारा ज्ञान पड़ता है, सारी शिक्षा पड़ती है, सारे जीवन का भार पड़ता है! वे नाजुक कितने हैं, इसका हमें कोई अंदाज ही नहीं है।
शायद आपको ख्याल भी न हो, इस छोटे से सिर के भीतर कोई सात करोड़ तंतु हैं। उनकी संख्या ही आपको बता सकती है कि वे कितने छोटे होंगे। क्योंकि इतने से... उससे ज्यादा नाजुक कोई यंत्र नहीं है। उससे ज्यादा नाजुक कोई पौधा नहीं है। यह इससे भी ख्याल में आ सकता है, मनुष्य के बहुत छोटे-से सिर के भीतर सात करोड़ स्नायु हैं। ये स्नायु इतने हैं कि अगर एक आदमी के सिर के स्नायुओं को एक के बाद एक फैलाया जाये तो पूरी पृथ्वी की परिक्रमा एक आदमी के मस्तिष्क के स्नायु ले लेंगे।
इस छोटे-से सिर के भीतर इतनी बारीक व्यवस्था है, इतनी नाजुक व्यवस्था है। इस नाजुक मस्तिष्क पर ही पिछले पांच हजार वर्षों में सबसे ज्यादा जोर दिया गया है। उसका परिणाम होना स्वाभाविक था। उसका परिणाम यह हुआ कि ये तंतु टूटने शुरू हो गये, ये तंतु विक्षिप्त होने शुरू हो गये, ये तंतु पागल होने शुरू हो गये।
विचार का अति भार मनुष्य को पागलपन के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं ले जा सकता।
सारी जीवन-धारा ही मस्तिष्क के आसपास घूमने लगी है। यह जो मस्तिष्क
के पास घूमती हुई जीवन-धारा है, साधक को इसी जीवन-धारा को और गहरे और नीचे और केंद्र की तरफ उतारना है, वापस लौटाना है। यह कैसे वापस लौट सकेगी, उसके पहले सूत्र शरीर के संबंध में हमें समझ लेने हैं।

पहली बातः शरीर को या तो भोगने की दृष्टि से देखा जाता है या त्यागने
की दृष्टि से देखा जाता है। शरीर को साधना का एक मार्ग, और परमात्मा का एक मंदिर और जीवन के केंद्र को खोज लेने की एक सीढ़ी की तरह नहीं देखा जाता है। ये दोनों ही बातें भूल-भरी हैं।
जीवन में जो भी श्रेष्ठ है और जो भी उपलब्ध करने जैसा है, उस सबका मार्ग शरीर के भीतर और शरीर से होकर ही जाता है।
शरीर की स्वीकृति एक मंदिर की भांति है, एक मार्ग की भांति है--जब तक
यह मन में न हो, तब तक या तो शरीर के हम भोगी होते हैं या शरीर के हम त्यागी होते हैं। और दोनों ही स्थितियों में शरीर के प्रति हमारी भाव दशा सम्यक, ठीक, संतुलित नहीं होती।
बुद्ध के पास एक युवक दीक्षित हुआ था। वह युवक राजकुमार था। उसने जीवन के सब तरह के भोग देखे थे। भोग में ही जीया था। फिर वह संन्यासी हो गया। बुद्ध के भिक्षु बहुत आश्चर्य से भरे। उन्होंने कहा, यह व्यक्ति संन्यासी होता है! ये कभी राजमहल के बाहर नहीं निकला, यह कभी रथ के नीचे नहीं चला, यह जिन रास्तों पर चलता था, वहां मखमली कालीन बिछा दिये जाते थे। यह भिखारी होगा। यह इसको क्या पागलपन सूझा है।
बुद्ध ने कहा, आदमी का मन हमेशा अति पर डोलता है--एक एक्सट्रीम से दूसरी एक्सट्रीम पर; एक अति से दूसरी अति पर। मनुष्य का मन मध्य में कभी भी खड़ा नहीं होता। जैसे घड़ी का पेंडुलम इस कोने से उस कोने चला जाता है, लेकिन बीच में कभी नहीं होता है। ऐसे ही मनुष्य का मन एक अति से दूसरी अति पर चला जाता है। अब तक यह शरीर भोग की अति पर जीया। अब यह शरीर त्याग की अति पर जीयेगा।
और यही हुआ। वह राजकुमार जो कभी बहुमूल्य कालीनों के नीचे नहीं चला था, जब और भिक्षुओं के साथ रास्ते पर चलता तो सारे भिक्षु राजपथ पर चलते, वह पगडंडियों पर चलता, जिन पर कांटे होते!
जब सारे भिक्षु वृक्षों की छाया में बैठते, तब वह धूप में खड़ा होता। सारे भिक्षु एक दिन भोजन भी लेते--दिन में एक बार। वह एक दिन उपवास रखता, एक दिन भोजन लेता। छह महीने में उसने शरीर को सुखाकर कांटा बना लिया। उसकी सुंदर देह काली पड़ गयी। उसके पैरों में घाव पड़ गये।
बुद्ध छह महीने बाद उसके पास गये और उस भिक्षु को कहा कि श्रोण! -- श्रोण उसका नाम था--एक बात मुझे पूछनी है। मैंने सुना है, जब तू राजकुमार था, तो तू वीणा बजाने में बहुत कुशल था। क्या यह सच है? उस भिक्षु ने कहा, हां। लोग कहते थे, मुझ जैसी वीणा बजाने वाला और कोई भी नहीं।
तो बुद्ध ने कहा, फिर मैं एक प्रश्न पूछने आया हूं, हो सकता है तू उत्तर दे सके। मैं यह पूछता हूं कि वीणा के तार अगर बहुत ढीले हों तो संगीत पैदा हेता है या नहीं?
श्रोण हंसने लगा। उसने कहा, कैसी बात पूछते हैं! यह तो बच्चे भी जानते हैं कि वीणा के तार बहुत ढीले होंगे तो संगीत पैदा नहीं होगा, क्योंकि ढीले तारों पर टंकार पैदा नहीं हो सकती, चोट नहीं की जा सकती। ढीले तार खींचे नहीं जा सकते, उनसे ध्वनि-तरंग पैदा नहीं होती। ढीले तारों से कोई संगीत पैदा नहीं हो सकता।
तो बुद्ध ने कहा, और तार अगर बहुत कसे हों?
तो श्रोण ने कहा, बहुत कसे तारों से भी संगीत पैदा नहीं होता। क्योंकि बहुत कसे तार छूते ही टूट जाते हैं।
तो बुद्ध ने कहा, संगीत कब पैदा होता है?
वह श्रोण कहने लगा, संगीत तो तब पैदा होता है, जब तार ऐसी दशा में होते हैं, जब न तो हम कह सकते हैं कि वे बहुत कसे हैं, और न हम कह सकते हैं कि बहुत ढीले हैं। एक तारों की ऐसी अवस्था भी है, जब न तो वे ढीले होते, और न कसे होते। एक बीच का बिंदु भी है, एक मध्य बिंदु भी है। संगीत तो वहीं पैदा होता है। और कुशल संगीतज्ञ इसके पहले कि गीत उठाये, तारों को देख लेता है कि तार ढीले तो नहीं हैं, तार कसे तो नहीं हैं।
तो बुद्ध ने कहा, बस, उत्तर मुझे मिल गया। और यही मैं तुझसे कहने आया हूं। जैसे तू वीणा बजाने में कुशल था, ऐसे ही जीवन की वीणा बजाने में मैंने

भी कुशलता पायी है। और जो वीणा का नियम है, वही जीवन-वीणा का नियम भी है। जीवन के तार बहुत ढीले हों तो भी संगीत पैदा नहीं होता है और बहुत कसे हों, तो भी संगीत पैदा नहीं होता है। और जो जीवन का संगीत पैदा करने चला हो, वह पहले देख लेता है कि तार बहुत कसे तो नहीं हैं, तार बहुत ढीले तो नहीं हैं। और जीवन-वीणा कहां है?
मनुष्य के शरीर के अतिरिक्त कोई जीवन-वीणा नहीं है। और मनुष्य के शरीर में कुछ तार हैं, जो न तो बहुत कसे होने चाहिए और न बहुत ढीले होने चाहिए। उस संतुलन में, उस बेलेंस में ही मनुष्य संगीत की ओर प्रविष्ट होता है। उस संगीत को जानना ही आत्मा को जानना है। और जब एक व्यक्ति अपने भीतर के संगीत को जान लेता है, तो वह आत्मा को जान लेता है और जब वह समस्त के भीतर छिपे संगीत को जान लेता है, तो वह परमात्मा को जान लेता है।
मनुष्य के शरीर की इस वीणा के तार कहां-कहां हैं? पहली तो बात-- मस्तिष्क में बहुत से तार हैं, जो बहुत कसे हुए हैं। जो इतने कसे हुए हैं कि उनसे संगीत पैदा नहीं हो सकता। अगर उनको कोई छुयेगा, तो केवल विक्षिप्तता पैदा होती है और कुछ भी पैदा नहीं होता। और हम सारे लोग ही मस्तिष्क के तारों को बहुत कसे हुए बैठे हैं। चौबीस घंटे कसे हुए हैं, सुबह से लेकर सांझ तक। और कोई सोचता हो रात भी ढीले हो जाते हों तो गलती में है। रात भी हमारा मस्तिष्क कसा हुआ है और खिंचा हुआ है।
पहले तो हमें पता नहीं था कि आदमी के मस्तिष्क में रात क्या चलता है?
अब तो मशीनें ईजाद कर ली गयी हैं! आप रात भर सोये रहिये और आपका मस्तिष्क क्या कर रहा है भीतर, यह मशीन सब खबर देती रहेगी!
अमरीका में और रूस में इस समय कोई सौ प्रयोगशालायें काम कर रही हैं। आदमी नींद में क्या करता है, उसकी जांच-पड़ताल की है। कोई चालीस हजार लोगों के ऊपर प्रयोग किये गये हैं रात सोते में। और जो नतीजे मिले हैं, वे बड़े हैरानी के हैं। वे नतीजे ये हैं कि आदमी दिन भर जो करता है, रात भर भी वही करता है। दिन भर जो करता है--अगर दुकान दिन भर चलाता है, तो रात भर भी दुकान चलाता है। मस्तिष्क अगर दिन भर चिंता करता है तो रात भर भी चिंता करता है। अगर दिन में क्रोध करता है तो रात में भी क्रोध करता है।
रात प्रतिबिंब है पूरे दिन का, प्रतिछाया है, उसका ही रिफ्लेक्शन है, उसकी ही प्रतिध्वनि है। जो दिन भर मन पर होता है, रात उसके ही प्रतिबिंब मन पर गूंजते रहते हैं। जो-जो काम अधूरा रह गया होता है, रात मन उसे पूरा करने की कोशिश करता है। अगर किसी पर क्रोध कम किया है, क्रोध अधूरा रह गया है, अटका हुआ रह गया है, तो रात मन उसे रिलीज करता है। पूरे क्रोध को करके वीणा का तार अपनी जगह बैठने की कोशिश करता है। अगर दिन में कोई आदमी उपवास किया है, तो रात भोजन कर लेता है सपने में। दिन में जो अधूरा रह गया है, वह रात पूरा होने की कोशिश करता है। तो जो हम दिन में करते हैं, वही पूरे रात मन करता है।
चौबीस घंटे मन खिंचा हुआ है। मन पर कोई विश्राम नहीं है। मन के तार कभी भी ढीले नहीं होते। मन के तार हैं बहुत खिंचे हुए--एक बात। और दूसरी बात: हृदय के तार हैं बिल्कुल ढीले। हृदय के तार हमारे कसे हुए ही नहीं हैं। प्रेम जैसी चीज को हम जानते हैं?
हम क्रोध को जानते हैं, हम द्वेष को जानते हैं। हम ईर्ष्या को जानते हैं, हम घृणा को जानते हैं। प्रेम जैसी चीज को हम जानते हैं? शायद हम कहेंगे हम जानते हैं। कभी-कभी हम प्रेम करते हैं, शायद हम कहेंगे, कि हम घृणा भी करते हैं, हम प्रेम भी करते हैं, लेकिन आपको पता है--ऐसा हृदय भी हो सकता है क्या, जो घृणा भी करे और प्रेम भी करे? यह वैसे ही है जैसे हम कहें, एक आदमी कभी-कभी जिंदा भी होता है और कभी-कभी मुर्दा भी होता है। यह हमारे विश्वास में नहीं आयेगी बात, क्योंकि आदमी या तो जिंदा हो सकता है या मुर्दा हो सकता है। ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकतीं कि एक आदमी कभी जिंदा भी हो और कभी मुर्दा भी। यह असंभव है, यह संभव नहीं है। या तो हृदय घृणा को ही जानता है या प्रेम को ही जानता है। इन दोनों के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता है। क्योंकि जिस हृदय में प्रेम होता है, उस हृदय में घृणा असंभव हो जाती है।

राबिया नाम की एक फकीर औरत थी। राबिया के पास एक दूसरा फकीर आकर ठहरा। राबिया जिस धर्मग्रंथ को पढ़ती थी, उसमें से उसने एक पंक्ति को काट दिया था। एक लकीर उसने काट दी थी। धर्मग्रंथों में कोई पंक्तियां काटता नहीं है, क्योंकि धर्मग्रंथों में कोई सुधार क्या करेगा?
वह दूसरे फकीर ने किताब पढ़ी और उसने कहा कि राबिया, किसी ने तुम्हारे धर्मग्रंथ को नष्ट कर दिया, यह तो अपवित्र हो गया, इसमें एक लाइन कटी हुई है, यह किसने काटी है?
राबिया ने कहा, यह मैंने ही काटी है।
वह फकीर बहुत हैरान हो गया। उसने कहा, तूने यह लाइन क्यों काटी? उस पंक्ति में लिखा हुआ था शैतान से घृणा करो।
राबिया ने कहा, मैं मुश्किल में पड़ गयी हूं। जिस दिन से मेरे मन में परमात्मा के प्रति प्रेम जगा है, उस दिन से मेरे भीतर घृणा विलीन हो गयी है। मैं घृणा चाहूं भी तो नहीं कर सकती हूं। और अगर शैतान भी मेरे सामने खड़ा हो जाये तो मैं प्रेम ही कर सकती हूं। मेरे पास कोई उपाय न रहा, क्योंकि घृणा करने के पहले मेरे पास घृणा होनी चाहिए। मैं आपको घृणा करूं, इसके पहले मेरे हृदय में घृणा होनी चाहिए। नहीं तो मैं करूंगी कहां से और कैसे?
और एक ही हृदय में घृणा और प्रेम का सह-अस्तित्व, को-एग्जिस्टेंस संभव नहीं है। ये दोनों बातें उतनी ही विरोधी हैं, जितनी जीवन और मृत्यु। ये दोनों बातें एक साथ, एक ही हृदय में नहीं हो सकती हैं। तो फिर हम जिसको प्रेम कहते हैं, वह क्या है?
थोड़ी कम जो घृणा है, उसे हम प्रेम कहते हैं। थोड़ी ज्यादा जो घृणा है, उसे हम घृणा कहते हैं। वह घृणा की ही मात्राएं हैं, वह घृणा की ही ग्रेडेशन्स हैं, वह घृणा के ही थोड़े और ज्यादा अनुपात हैं। प्रेम वहां जरा भी नहीं है। अनुपात से भूल पैदा होती है। अनुपात से इतनी भूल पैदा होती है--आप समझते होंगे कि ठंड और गर्मी दो अलग चीजें हैं। दोनों अलग चीजें नहीं हैं। गर्मी और ठंड एक ही चीज के अनुपात हैं। वही चीज, अनुपात गर्मी का कम हो जाये, तो ठंडी मालूम होने लगती है। वही चीज, अनुपात गर्मी का बढ़ जाये, तो गर्म मालूम होने लगती है। ठंड गर्मी का ही एक रूप है। ये ठीक विरोधी मालूम होने लगते हैं कि दोनों चीजें--दोनों अलग-अलग हैं, दुश्मन हैं, एक-दूसरे के। दुश्मन नहीं हैं, एक ही चीज के घने और गैर घने रूप हैं। ऐसे ही घृणा को हम जानते हैं।
घृणा के ही कम घने रूपों को हम प्रेम समझ लेते हैं और घृणा के ही तीव्र घने रूपों को हम घृणा समझ लेते हैं। लेकिन प्रेम घृणा का कोई रूप ही नहीं है। प्रेम घृणा से बिल्कुल ही अलग बात है। प्रेम का घृणा से कोई संबंध नहीं है। हमारा हृदय और उसके तार बिल्कुल ढीले हैं। उन ढीले तारों से कोई प्रेम का संगीत पैदा नहीं होता; न कोई आनंद का संगीत पैदा होता है।
जीवन में आपने आनंद को जाना है कभी? कह सकते हैं किसी क्षण को कि यह आनंद का था और मैंने आनंद पहचाना और जाना? कठिन है ईमानदारी से यह कहना कि मैंने कभी आनंद जाना।
कभी प्रेम जाना है, यह कहना भी कठिन है। कभी शांति जानी है, यह कहना भी कठिन है।
हम क्या जानते हैं? हम अशांति जानते हैं। हां, अशांति कभी-कभी कम होती
है मात्रा में, उसी को हम शांति समझ लेते हैं। असल में हम इतने अशांत रहते हैं कि अगर अशांति थोड़ी कम हो जाती है तो शांति का भ्रम देती है। एक आदमी बीमार है, थोड़ी बीमारी कम होती है, वह कहता है, मैं स्वस्थ हुआ, क्योंकि बीमारी इतनी घिरी है उसके आसपास कि थोड़ी बीमारी कम हो तो उसे लगता है मैं स्वस्थ हूं। लेकिन स्वास्थ्य और बीमारी का क्या संबंध है? स्वास्थ्य तो बात ही अलग है!
स्वास्थ्य तो बात ही अलग है।
हममें से बहुत कम लोग ही स्वास्थ्य को जान पाते हैं, ज्यादा तो बीमारी
को ही जानते हैं, कम बीमारी को जानते हैं, लेकिन स्वास्थ्य को नहीं जान पाते। ज्यादा अशांति को जानते हैं, कम अशांति को जानते हैं, लेकिन शांति

को नहीं जान पाते। ज्यादा घृणा को जानते हैं, कम घृणा को जानते हैं।
ज्यादा क्रोध को जानते हैं, कम क्रोध को जानते हैं।
आप शायद सोचते होंगे कि कभी-कभी क्रोध आता है। झूठी है यह बात। आप चौबीस घंटे क्रोध में होते हैं। कभी ज्यादा होते है, कभी कम होते हैं। चौबीस घंटे आप क्रोध में हैं। जरा-सा मौका मिल जाये और क्रोध प्रकट होना शुरू हो जायेगा। मौके की तलाश है, क्रोध भीतर तैयार है, सिर्फ अपरचुनिटी की खोज है कि कोई बाहर से मौका दे दे। क्योंकि बिना मौके के अगर आप क्रोध करेंगे तो लोग आपको पागल समझेंगे। अगर आपको मौके न दिये जायें तो आप बिना मौके के भी क्रोध करना शुरू कर देंगे, यह आपको शायद पता नहीं होगा।
अगर एक आदमी को एक कमरे में बंद कर दिया जाये, सारी सुविधाएं दे दी जायें और उससे पूछा जाये कि वह रोज इस बात को नोट करता रहे कि क्या उसके चित्त में बिना किसी कारण के भी फर्क पड़ते हैं? और वह नोट करेगा, उस बंद कमरे में कभी उसे अच्छा लगने लगेगा, कभी उसे बुरा लगने लगेगा। कभी वह उदास हो जायेगा, कभी वह खुश हो जायेगा। कभी वह क्रोधित अनुभव करेगा, कभी क्रोधित नहीं अनुभव करेगा। वहां कोई मौके नहीं हैं, वहां सब स्थिति समान चल रही है। लेकिन उसे क्या हो रहा है। और इसीलिए एकांत से आदमी डरता है, क्योंकि एकांत में बाहर कोई बहाना नहीं होता और सब चीजें भीतर ही मान लेनी पड़ेंगी। कोई भी आदमी एकांत में रख दिया जाये तो छह महीने से ज्यादा स्वस्थ नहीं रह सकता है, पागल हो जायेगा।
एक सम्राट ने इजिप्त में यह प्रयोग किया था। किसी फकीर ने उसको यह कहा भी। उस सम्राट ने कहा, मैं नहीं मानता हूं। उस फकीर ने कहा कि तुम्हारे नगर में कोई सबसे स्वस्थ आदमी हो, तो उसे छह महीने के लिए बंद करो। नगर में खोजा गया। एक स्वस्थ युवक जो सब तरह से प्रसन्न था, नयी शादी हुई थी, एक बच्चा था, ठीक कमाता था, बहुत मजे में था। उसे पकड़वा लिया गया। और सम्राट ने उससे कहा, तुम्हें हम कोई कष्ट नहीं देंगे। हम सिर्फ एक प्रयोग करते हैं, और तुम्हारे घर के लोगों की ठीक व्यवस्था रहेगी, भोजन की, कपड़ों की सब इंतजाम रहेगा। तुम से अच्छा इंतजाम रहेगा और तुम्हारे लिए भी सब व्यवस्था रहेगी। सिर्फ छह महीने तुम्हें अकेले रहना पड़ेगा।
एक बड़े भवन में उसको बंद कर दिया। सारी सुविधा जुटा दी गयी, लेकिन एकांत इतना था कि जो आदमी भी पहरे पर खड़ा था, वह भी उसकी भाषा नहीं समझता था--ताकि बोल न सके वह आदमी। दो-चार दिन में ही वह आदमी घबराने लगा। सब सुविधा थी। कोई कठिनाई न थी। ठीक वक्त पर भोजन मिलता था। ठीक वक्त पर सोने को मिलता था। शाही महल था। सब इंतजाम था। कोई कठिनाई नहीं थी, वह जो करना चाहे कर सकता था बैठकर वहां। सिर्फ इतना था कि किसी से बात नहीं कर सकता था, किसी से मिल नहीं सकता था। दो-चार दिन में ही बेचैनी शुरू हो गयी। आठ दिन बाद वह चिल्लाने लगा कि मुझे बाहर निकालो! मैं यहां नहीं रहना चाहता हूं!
कौन-सी तकलीफ आ गयी थी? भीतर से तकलीफें आनी शुरू हो गयी थीं। जिनको
वह कल तक समझता था, बाहर से आती हैं, वे अकेले में पता चलीं कि भीतर से आती हैं। छह महीने होते-होते वह आदमी पागल हो गया। छह महीने बाद जब उसे निकाला गया, वह पूरा पागल हो चुका था। वह अपने से ही बातें करने लगा था। अपने को ही गाली देने लगा था। अपने पर ही क्रोध करने लगा था। अपने से ही प्रेम करने लगा था। अब कोई दूसरा तो मौजूद नहीं था। छह महीने बाद वह पागल की तरह बाहर निकाला गया। उसके ठीक हो जाने में छह साल लगे।
आपमें से कोई भी पागल हो जायेगा। दूसरे लोग मौका दे देते हैं, आप पागल नहीं हो पाते। आपको बहाना मिल जाता है, इस आदमी ने गाली दी है, इसलिए मैं क्रोध से भर गया हूं। कोई आदमी किसी के गाली देने से क्रोध से नहीं भरता है। भीतर क्रोध मौजूद है। गाली केवल मौका बनती है, उसके निकल आने का।
एक कुएं में पानी भरा हुआ है। हम बाल्टी डालते हैं, कुएं से पानी निकल आता है। अगर कुएं में पानी न हो, तो हम बाल्टी कितनी ही डालें, वहां से कुछ निकलने वाला नहीं है। बाल्टी पानी नहीं निकाल सकती। बाल्टी की क्या ताकत है पानी निकालने की? कुएं में पानी होना चाहिए। कुएं में पानी हो तो

बाल्टी पानी निकाल सकती है। कुएं में पानी नहीं है, तो बाल्टी पानी नहीं निकाल सकती।
आपके भीतर क्रोध नहीं है, आपके भीतर घृणा नहीं है, दुनिया की कोई ताकत आपके भीतर से क्रोध और घृणा बाहर नहीं निकाल सकती है। वह जो बीच के क्षण हैं, जब कोई कुएं में बाल्टी नहीं डालता है, तब यह भ्रम पैदा हो सकता है कि कुएं में पानी नहीं है। जब कोई डालता है तब तो पानी निकलता है, लेकिन जब कोई बाल्टी नहीं डालता है, कुआं खाली पड़ा है तो शायद हम सोचते हों कि कुएं में अब पानी नहीं है, तो हम गलती में हैं। ठीक ऐसे ही जब कोई हमें मौका नहीं देता है, तो हमारे भीतर क्रोध नहीं निकलता है, घृणा नहीं निकलती है, द्वेष नहीं निकलता तो इस ख्याल में न रहें कि आपके कुएं में पानी नहीं है। कुएं में पानी मौजूद है और प्रतीक्षा कर रहा है कि कोई बाल्टी लेकर आयेगा और मैं निकलूंगा। लेकिन हमारे भीतर यह जो खाली मौके हैं, इन्हीं को हम समझ लेते हैं प्रेम के, शांति के क्षण। यह झूठी बात है।
गांधी ने एक दफा कहा कि दुनिया में अब तक युद्ध होता है तो लोग कहते हैं, शांति हो जाती है। लेकिन गांधी ने कहा, मेरी समझ में ऐसा नहीं आता। या तो युद्ध होता है या युद्ध की तैयारी चलती है, शांति तो कभी नहीं आती। शांति धोखा है। जैसे अभी यहां दुनिया में कोई युद्ध नहीं हो रहा है। दूसरा महायुद्ध बंद हो गया, अब तीसरे महायुद्ध की हम प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो हम कहेंगे, ये पीसफुल डे.ज, ये शांति के दिन हैं। यह झूठी बात है। ये शांति के दिन नहीं हैं। ये तीसरे महायुद्ध की तैयारी के दिन हैं। सारी दुनिया में तैयारी चल रही है युद्ध की। युद्ध होता है या युद्ध की तैयारी होती है। अभी तक दुनिया ने शांति के कोई दिन नहीं देखे।
आदमी के भीतर भी क्रोध होता है या क्रोध की फिर तैयारियां होती हैं-- अक्रोध की कोई अवस्था आदमी नहीं जानता। अशांति होती है, प्रकट होती है या तैयार होती है। भीतर जो तैयारी के क्षण हैं, उनको हम समझ लेते हैं शांति के क्षण, तो हम भूल में पड़ जाते हैं।
हृदय के तार बिल्कुल ढीले हैं। उनसे क्रोध ही पैदा होता है। उनसे विकृति ही पैदा होती है। विसंगति ही पैदा होती है। लेकिन उनसे कोई संगीत पैदा नहीं हो सकता। मस्तिष्क के तार अगर बहुत खिंचे हुए हों, उनसे पागलपन पैदा होता है और हृदय के तार बिल्कुल ढीले हों, उनसे क्रोध, वैमनस्य, द्वेष, घृणा ये सब पैदा होते हैं। हृदय के तार थोड़े कसे हुए होना चाहिए, ताकि उनसे प्रेम पैदा हो सके और मस्तिष्क के तार थोड़े शिथिल होने चाहिए ताकि उनसे विवेक पैदा हो सके, विक्षिप्तता नहीं। और अगर ये दोनों तार ठीक संतुलन में आ जायें तो जीवन के संगीत की संभावना पैदा हो सकती है।
तो हम दो बातों पर विचार करेंगे। एक तो कि मस्तिष्क के तार कैसे शिथिल किये जा सकें और हृदय के तार कैसे तीव्र किये जा सकें। हृदय के तारों पर कैसे कसाव लाया जा सके और मस्तिष्क के तारों को कैसे शिथिल किया जा सके, कैसे रिलेक्स किया जा सके, इन दोनों बातों पर विचार करेंगे। और इन्हीं दोनों की जो साधना है, उसको ही मैं ध्यान कहता हूं। उन दोनों की तरफ जो साधना है उसको ही मैं मेडिटेशन कहता हूं, उसे ही मैं ध्यान कहता हूं।
और ये दोनों बातें अगर पैदा हो जायें तो फिर तीसरी बात पैदा हो सकती है। वह जो हमारा असली केंद्र हैं, जीवन का--नाभि, उस तक भी उतरना संभव है। इनमें संगीत पैदा हो जाये दोनों केंद्रों पर तो भीतर गति हो सकती है। वह संगीत ही नाव बन जाता है, हमें और गहरे ले जाने का। जितना संगीतपूर्ण होता है व्यक्तित्व, जितना भीतर संगीत पैदा होता है, उतने ही हम गहरे उतर सकते हैं। और जितना भीतर विसंगीत होता है, उतना ही हम उथले रह जाते हैं, हम बाहर रह जाते हैं। आने वाले दो दिनों में इस बाबत विचार करेंगे और न केवल विचार करेंगे बल्कि प्रयोग करेंगे कि कैसे हम इन दोनों की वीणा को--यह जीवन-वीणा के इन तारों को हम कैसे संतुलन में ला सकते हैं।
अभी जो तीन बातें मैंने कहीं, वे ख्याल में रख लेने की हैं, ताकि आगे
जो बातें मैं कहूंगा, उनसे आप उनको जोड़ सकें। पहली बातः मनुष्य की आत्मा न तो मस्तिष्क से जुड़ी है और न हृदय से। मनुष्य की आत्मा जुड़ी है नाभि से। मनुष्य के शरीर में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिंदु नाभि है। वही केंद्र है,

वह शरीर के ही मध्य में नहीं है नाभि, जीवन के भी मध्य में वही है। बच्चा पैदा भी उससे ही होता है और जीवन का अंत भी नाभि से ही होता है। और जो लोग जीवन के सत्य में प्रवेश करते हैं, उनके लिए भी नाभि ही द्वार बनती है।
और आज भी आपको ख्याल में नहीं होगा कि दिन भर आप श्वास फेफड़ों से लेते हैं, लेकिन रात आपकी श्वास नाभि से चलनी शुरू हो जाती है। दिन भर आपका सीना उठता-फैलता है, लेकिन रात जब आप सो जाते हैं, आपका पेट उठने-गिरने लगता है। छोटे बच्चे को आपने श्वास लेते देखा होगा, तो छोटे बच्चों का फेफड़ा ऊपर नहीं उठता है। पेट ऊपर उठता हुआ दिखायी पड़ेगा। छोटे बच्चे अभी नाभि के ज्यादा करीब हैं। जैसे-जैसे आदमी बड़ा होने लगता है, वैसे-वैसे उसकी श्वास ऊपर से ही वापिस लौटने लगती है और नाभि तक उसके कंपन बंद हो जाते हैं।
अगर आप रास्ते पर जा रहे हैं, साइकिल चला रहे हैं, या कार चला रहे हैं
और एकदम से एक्सीडैंट की हालत आ जाये तो आप हैरान होंगे, आपको पहली चोट नाभि पर लगेगी--न मस्तिष्क पर लगेगी, न हृदय पर लगेगी। अगर एक आदमी एकदम से आपके ऊपर छुरा लेकर आ जाये, तो आपको पहला जो कंपन होगा, वह नाभि पर होगा और कहीं भी नहीं होगा। अगर अभी भी आप घबरा जायें एकदम से, तो पहला कंपन नाभि पर होगा। जीवन पर जब भी संकट पैदा होता है, तो नाभि पर पहले कंपन होते हैं-- क्योंकि जीवन का केंद्र नाभि है। और कहीं कंपन नहीं होगा। जीवन के स्रोत वहां से जुड़े हैं और चूंकि नाभि पर हमारा ध्यान बिल्कुल ही नहीं रहा है, इसलिए आदमी बिल्कुल ही अधर में लटका रह गया है। नाभि का केंद्र एकदम अस्वस्थ है, उस पर ध्यान ही नहीं है। उसके विकास की भी कोई व्यवस्था नहीं है।
आप हैरान होंगे यह बात जानकर कि नाभि का केंद्र विकसित होने के लिए कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। जैसे हमने मस्तिष्क को विकसित करने के लिए स्कूल और कालेज बना छोड़े हैं, वैसा नाभि के केंद्र को विकसित करने के लिए कुछ व्यवस्था अत्यंत जरूरी है। और कुछ बातें हैं जिनसे नाभि का केंद्र विकसित होता है। कुछ बातें हैं, जिनसे विकसित नहीं होता है। जैसे मैंने कहा कि अगर भय की स्थिति खड़ी हो जाये, तो सबसे पहले नाभि कंप जाती है। इसलिए जो आदमी जितना अभय की साधना करेगा, उसकी नाभि उतनी ही स्वस्थ होती चली जायेगी।
जो आदमी जितना करेज, जितने साहस की साधना करेगा, उसकी नाभि, उसका केंद्र उतना ही विकसित होगा। जितना अभय बढ़ेगा, उतनी नाभि मजबूत और पुष्ट होगी और जीवन से संबंध गहरे होंगे। इसलिए दुनिया के सारे महत्वपूर्ण साधकों ने अभय को, फियरलेसनेस को साधक का अनिवार्य गुण माना है। फियरलेसनेस का और कोई मूल्य नहीं है--अभय का। अभय का मूल्य है। वह नाभि के केंद्र को पूरा जीवंत कर देती है। उसके सारे विकास को पूरा खुलकर प्रकट कर देती है।
वह हम धीरे-धीरे बात करेंगे।
नाभि के केंद्र पर सर्वाधिक ध्यान देना आवश्यक है। मस्तिष्क के केंद्र से ध्यान को धीरे-धीरे हटाना जरूरी है। हृदय के केंद्र से भी धीरे- धीरे ध्यान को हटाना जरूरी है, ताकि वह नीचे और डीपर और डीपर, और गहरे से गहरे में प्रवेश हो जाये। उसके लिए दो प्रयोग सुबह और रात्रि हम ध्यान के करेंगे। सुबह का प्रयोग मैं आपको समझाता हूं। फिर पंद्रह मिनट के लिए हम उस प्रयोग के लिए बैठेंगे और उस प्रयोग को करेंगे।
निश्चित ही अगर मस्तिष्क से चेतना को नीचे ले जाना है, तो मस्तिष्क को बिल्कुल शिथिल छोड़ देना जरूरी है, रिलेक्स छोड़ देना जरूरी है। हम मस्तिष्क को खींचे रहते हैं, पूरे वक्त। ख्याल ही भूल गया है कि हम खींचे हुए चले जा रहे हैं। पूरा टैंस किये हुए है माइंड को, पूरा खिंचे हुए हैं। यह ख्याल में नहीं है। पहले उसे शिथिल छोड़ देना जरूरी है।
अभी जब हम ध्यान के लिए बैठेंगे, तो उसमें तीन बातें हैं।
पहली बात--पूरे मस्तिष्क को बिल्कुल ऐसे शिथिल छोड़ देना है, इतना शांत
और ढीला छोड़ देना है, जैसे आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं। लेकिन आपको कैसे समझ में आयेगा कि आपने शिथिल छोड़ दिया? यह कैसे ख्याल में आयेगा कि मैंने शिथिल छोड़ दिया? अगर मैं इस मुट्ठी को जोर से खींचूं, तो मुझे पता चलता है

कि सारी नसें खिंची हुई हैं। फिर मैं इसे ढीला छोड़ता हूं, तो मुझे पता चलेगा कि सारी नसें ढीली छूट गयी हैं।
चूंकि हमारा मस्तिष्क पूरे वक्त ही खींचा हुआ है, इसलिए हमें पता ही नहीं चलता है कि खींचा हुआ होना क्या है और ढीला हो जाना क्या है। तो एक काम करेंगे--पहले मस्तिष्क को जितना खींच सकेंगे, खींच लेंगे। जितना मस्तिष्क के सारे स्नायुओं को खींच सकें, पूरा खींच लेंगे। जितना टैंस कर सकें, कर लेंगे। फिर एकदम से ढीला छोड़ेंगे। तो आपको पता चलेगा कि खिंचा हुआ होना और ढीला होने में, दोनों में क्या फर्क है!
अभी जब हम ध्यान के लिए बैठेंगे, तो एक मिनट के लिए जितना मस्तिष्क को
आप खींच सकें, जितना तनाव दे सकें, उतना खींच लेंगे और फिर मैं कहूंगा कि अब ढीला छोड़ दें, तो आप बिल्कुल ढीला छोड़ देंगे। और वह आपको पता चल जायेगा कि क्रमशः खिंचा होना क्या है और ढीला हो जाना क्या है। यह आपको फील होना चाहिए--वह आपको अनुभव में आ जाना चाहिए तो फिर धीरे-धीरे आप ढीला और ढीला... छोड़ने में समर्थ हो जायेंगे। तो पहला काम है, मस्तिष्क को बिल्कुल ढीला छोड़ देना।
मस्तिष्क के साथ ही पूरे शरीर को भी ढीला छोड़ देना है। इतने आराम से बैठ जाना है, जिससे शरीर पर कहीं भी कोई जोर न पड़े। कहीं कोई भार न पड़े। फिर आप क्या करेंगे? जैसे ही आप सब ढीला छोड़ देंगे, पक्षी बोल रहे हैं। यह कहीं पनचक्की की आवाज हो रही है, कहीं कोई कौवा बोलेगा, कहीं कोई और आवाज होगी, यह सब आवाजें आपको सुनाई पड़नी शुरू हो जायेंगी। क्योंकि मस्तिष्क जितना शिथिल होगा, उतना ही सेंसिटिव हो जायेगा, उतना संवेदनशील हो जायेगा। एक-एक चीज सुनाई पड़ने लगेगी। आपको अपने हृदय की धड़कन भी सुनाई पड़ने लगेगी। श्वास का आना-जाना भी सुनाई पड़ने लगेगा, अनुभव होने लगेगा।
फिर चुपचाप बैठकर, यह सब चारों तरफ हो रहा है, उसे चुपचाप अनुभव करना है, और कुछ भी नहीं करना है। आवाज सुनाई पड़ रही है उसे चुपचाप सुनना है। पक्षी बोलेगा उसे चुपचाप सुनना है। भीतर श्वास चल रही है उसे चुपचाप देखते रहना है और कुछ भी नहीं करना है। आपको अपनी तरफ से, कुछ भी नहीं करना है। क्योंकि आपने अपनी तरफ से कुछ भी किया कि मस्तिष्क खिंचना शुरू हो जायेगा।
आपको तो एक रिलेक्स्ड अवेअरनेस में, एक शिथिल जागरूकता में बैठे रहना है। सब हो रहा है, आप चुपचाप सुन रहे हैं। और आप हैरान हो जायेंगे, जैसे ही आप शांति से सुनेंगे, वैसे ही और गहरी शांति भीतर उतरनी शुरू हो जायेगी। जितने आप गहरे से सुनेंगे, उतनी और गहराई भीतर बढ़ती चली जायेगी। दस मिनट में ही आप पायेंगे कि आप एक शांति के अदभुत केंद्र बन गये हैं। सारी चीज शांत हो गयी है।
यह हम, सुबह का पहला प्रयोग करेंगे। पहली बातः मस्तिष्क को खींचेंगे
आप पूरी तरह से। जब मैं कहूंगा, पूरे मस्तिष्क को खींच लें, तो आंख बंद करके पूरी तरह मस्तिष्क को जितना आप खींच सकते हैं, जितना टैंस कर सकते हैं, उतना टैंस कर लेंगे। फिर मैं कहूंगा छोड़ दें ढीला, तो एकदम से ढीला छोड़ देंगे, फिर ढीला छोड़ते चले जायेंगे।... उसी तरह शरीर को ढीला छोड़ देंगे। आंख बंद रहेगी। चुपचाप बैठे हुए जो भी आवाजें सुनाई पड़ रही हैं, उन्हें चुपचाप सुनते रहेंगे। दस मिनिट केवल चुपचाप सुनते रहना है, और कुछ भी नहीं करना है। और इन्हीं दस मिनट में पहली दफा आपको लगना शुरू होगा कि भीतर कोई शांत-धारा बहनी शुरू हो जाती है। और प्राण नीचे की तरफ उतरने शुरू हो जायेंगे। मस्तिष्क से वे नीचे की तरफ डूबने शुरू हो जायेंगे।
... क्योंकि थोड़ी दूर-दूर बैठना पड़ेगा। कोई किसी को छुयेगा नहीं। कुछ लोग पीछे लान पर आ जायें। जो लोग पहले ध्यान के शिविर में आए हैं, वे तो पीछे इधर लान पर आ जायें, ताकि जो लोग नये हैं, वे सुन सकें। उनको मुझे कुछ कहना और पूछना भी है तो सुनायी पड़ जाये। जो लोग भी परिचित हैं, वे पीछे आ जायें। जो भी परिचित हैं वे पीछे चले जायें, ताकि नये लोग यहां बैठ जायें। हां, पुराने मित्र तो पीछे चले जायें और नये मित्र थोड़े आगे आ जायें। कुछ मित्र यहां ऊपर आ जायें, कुछ यहां पीछे आ जायें, ताकि सुनाई आपको पड़ सके। कोई किसी को छूता हुआ नहीं बैठेगा। कोई किसी को छुए नहीं-- हुंम्म्! फिर

तुम लोग तो छू रहे हो एक-दूसरे को, थोड़ा-थोड़ा हटो। थोड़ा आगे हट आओ! रेत पर बैठ जाओ!
सबसे पहले तो आंख धीरे-से बंद कर लें। बहुत धीरे-से आंख बंद कर लें। आंख पर भी जोर नहीं पड़ना चाहिए कि आप उसे खींचकर बंद कर लें। पलक को धीरे- से छोड़ दें। पलक धीरे-से छोड़ दें, आंख पर भी कोई भार न हो। आंख बंद कर लें। हां, आंख बंद कर लो, धीरे-से आंख बंद कर लो!
अब सारे शरीर को ढीला छोड़ दें। सिर्फ मस्तिष्क को खींचो। जितना आप मस्तिष्क को तनाव दे सकें, जितना तनाव, जितना खींचना कर सकें, पूरे मस्तिष्क को खींच लें। अपने भीतर पूरे मस्तिष्क को जोर-से टैंस कर लें। सारा मस्तिष्क खिंच जाये जितनी आपकी ताकत हो। खींच लें पूरी ताकत से, सारे शरीर को ढीला छोड़ दें, सारी ताकत मस्तिष्क पर लगा दें कि मस्तिष्क बिल्कुल खिंच गया। जैसे मछली बंद होती है और सारे स्नायु खिंच जायें। एक मिनट तक पूरी तरह खींचे रहें। इसे ढीला न छोड़ें, पूरा खींचें। और जितना खींच सकें खींच लें। मस्तिष्क को भीतर पूरी तरह खींच लें। खिंचे रहें। खींच लें पूरी ताकत से, पूरे प्राणों से। जितनी आपकी ताकत हो, उसको पूरा तनाव दे दें, ताकि जब वह शिथिल होए तो पूरा शिथिल हो सके। खींच लें, खींच लें, खींचें... !
अब एकदम से ढीला छोड़ दें। बिल्कुल ढीला छोड़ दें। मस्तिष्क को बिल्कुल ढीला छोड़ दें! सारा तनाव छोड़ दें। एक शिथिलता भीतर आनी शुरू हो जायेगी। मालूम पड़ेगा भीतर कोई चीज छूट गई, कोई तनाव विलीन हो गया, कोई चीज शांत हो गई। बिल्कुल ही ढीला छोड़ दें, बस ढीला छोड़ दें... ! और चारों तरफ जो भी आवाज है--हवाएं पत्तों से आयेंगी, कोई पक्षी बोलेगा--चुपचाप मौन बैठकर सारी आवाजों को सुनते रहें।... सिर्फ सुनते रहें! बाहर की सारी आवाजों को सुनते रहें। सुनते ही सुनते मन और शांत हो जाएगा, शांत होता जाएगा। सुनें... चुपचाप सुनते रहें, बिल्कुल रिलेक्स्ड, बिल्कुल शिथिल। सुनते रहें। दस मिनट के लिए चुपचाप सुनते रह जायें।... सुनते रहें, सुनते-सुनते ही मन शांत होता जायेगा।... चुपचाप सुनते रहें, सुनते ही सुनते मन शांत होता जायेगा। भीतर एक शांति अपने आप उतरनी शुरू हो जायेगी। आप सिर्फ सुनें... सुनते रहें, मन शांत होता चला जा रहा है। मन एकदम शांत होता जा रहा है। मन शांत हो रहा है। मौन सुनते जायें, मन शांत हो रहा है... ! मन एकदम गहरे और शांत होता जाएगा। कोई चीज गहरे और गहरे डूबती चली जाएगी। चेतना नीचे उतरेगी और शांत होती जाएगी।...
मन शांत हुआ है... अब धीरे-धीरे दो-चार गहरी श्वास लें... धीरे-धीरे गहरी श्वास लें...प्रत्येक श्वास के साथ शांति और बढ़ती हुई मालूम पड़ेगी। धीरे- धीरे दो-चार गहरी श्वास लें.... फिर बहुत आहिस्ता से आख खोलें...जैसी शांति भीतर मालूम हुई वैसी ही बाहर भी दिखाई देगी। धीरे-धीरे आख खोल कर एक मिनट चुपचाप आख खोल कर बैठे रहें... धीरे-धीरे आख खोल लें...।
यह तो प्रयोग हमने समझने के लिए किया। दोपहर में कहीं भी एकांत में बैठ जाएं और इस प्रयोग को ठीक से करें। यह सिर्फ समझने के लिए हमने यहां प्रयोग किया कि आपकी समझ में आ जाए कैसे करना है। दोपहर में किसी भी वृक्ष के नीचे जाकर बैठ जाएं, या रात में अकेले में चुपचाप और इस प्रयोग को पूर्णता से करें। वहां ठीक-ठीक गहराई में उतरना संभव हो पाएगा। तीन दिन अगर ठीक से मेहनत करेंगे, तो ऐसा असंभव है कि तीन दिन में कोई गहराई उपलब्ध न हो। वह निश्चित उपलब्ध होती है। तो अलग बैठ कर एकांत में जाकर प्रयोग को करें।
सुबह की बैठक समाप्त हुई।

साधना पथ
सत्रहवां प्रवचन

मस्तिष्क से हृदय, हृदय से नाभि की ओर

शरीर का वास्तविक केंद्र क्या है? --इस संबंध में थोड़ी-सी बात।
न तो मस्तिष्क और न हृदय, बल्कि नाभि मनुष्य के जीवन का सर्वाधिक केंद्रीय और मूलभूत आधार है।
इस संबंध में कुछ और प्रश्न पूछे गए हैं, उनके संबंध में मैं थोड़ी बात करूंगा।
मस्तिष्क के आधार पर निर्मित जो मनुष्य है, उसकी जीवन-दिशा और धारा गलत चली गयी है। पिछले पांच हजार वर्षों में हमने केवल मस्तिष्क को ही, बुद्धि को ही दीक्षित और शिक्षित किया है। परिणाम बहुत घातक उपलब्ध हुए हैं। परिणाम जो उपलब्ध हुए हैं कि करीब-करीब सारे मनुष्य ही विक्षिप्तता के किनारे खड़े हो गये हैं। थोड़ा-सा धक्का लग जाये और कोई भी आदमी पागल हो सकता है। मस्तिष्क बिल्कुल टूटने की सीमा पर ही खड़ा हुआ है। जरा-सा धक्का और मस्तिष्क जवाब दे देता है।
और यह भी आश्चर्य की बात है कि पिछली आधी सदी में, पचास वर्षों में, दुनिया के श्रेष्ठतम विचारक करीब-करीब सभी पागल होते देखे गये हैं। पश्चिम में तो पिछले पचास वर्षों में एक भी बड़ा विचारक नहीं था, जिसने मानसिक रूप से विक्षिप्तता को अनुभव न किया हो। बड़े कवि, बड़े चित्रकार, बड़े विचारक, बड़े दार्शनिक, बड़े वैज्ञानिक, अनिवार्य-रूपेण मन की विकृतियों से पीड़ित होते दिखाई पड़ते हैं। और धीरे-धीरे जैसे मनुष्य की जाति अधिक अंशों में शिक्षित होती जा रही है, वैसे-वैसे यह पागलपन के प्रभाव सामान्य-जन तक भी पहुंच रहे हैं।
एक नया मनुष्य पैदा करना हो, तो मनुष्य के जीवन का केंद्र बदल देना अत्यंत आवश्यक है। और वह केंद्र मस्तिष्क की बजाय नाभि के निकट होगा, उतना ही जीवन-धारा के करीब पहुंच जायेगा।
यह मैं क्यों कहता हूं? इस संबंध में दो-चार बातें और समझ लेनी जरूरी हैं।
मां के पेट में जो बच्चा निर्मित होता है, जो भ्रूण निर्मित होता है,
वह नाभि से ही मां से संयुक्त होता है। मां की जीवन-धारा नाभि के द्वारा ही उस बच्चे में प्रवाहित होती है। मां की जीवन-धारा भी एक अत्यंत अज्ञात, एक अत्यंत अनजान विद्युत की धारा है, जो उस बच्चे की नाभि से उसके पूरे व्यक्तित्व को पोषित करती है।
फिर बच्चा मां से अलग होता है। उसका जन्म होता है। जन्म होते ही उसकी नाभि काट देनी पड़ती है। मां से पृथक होने की शुरुआत हो जाती है। मां से पृथक होना अत्यंत जरूरी है, अन्यथा बच्चे का कोई अपना जीवन नहीं हो सकता। जिस मां के शरीर के साथ एक होकर बच्चा बड़ा होता है, उसी मां से एक सीमा पर उसे अलग हो जाना पड़ता है। और यह अलग हो जाने की घटना उसकी नाभि से जो संबंध था मां का, उसके विच्छेद से होती है। यह संबंध तोड़ दिया जाता है। जो जीवन-धारा उसे नाभि से मिलती है, वह एकदम बंद हो जाती है। उसके सारे प्राण तड़फड़ा उठते हैं। उसके सारे प्राण उस धारा की मांग करने लगते हैं, जो उसे कल तक मिली थी। लेकिन आज अचानक सारी धारा टूट गयी।
बच्चा जो रोना शुरू करता है, वह जो पीड़ा अनुभव करता है जन्म के बाद, वह पीड़ा भूख की पीड़ा नहीं है। वह पीड़ा जीवन-धारा के टूट जाने और विच्छिन्न हो जाने की पीड़ा है। सारी जीवन-धारा से उसका संबंध टूट गया है, जिससे कल तक उसने जीवन पाया था--वह सब टूट गया है। वह बच्चा तड़फड़ाता है और जो बच्चा नहीं रोता, तो चिकित्सक या जो लोग जानते हैं, वे कहेंगे कि कुछ बात गड़बड़ हो गयी है। वह बच्चा अगर नहीं रो रहा है, तो उसका मतलब यह है कि वह बच्चा जी नहीं सकेगा। जीवन-धारा से विच्छिन्न हो जाने का उसे कोई पता नहीं चला है। इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि उसके भीतर मृत्यु करीब-करीब निकट है। वह बच्चा जी नहीं सकेगा। इसलिए बच्चे को रुलाने की पूरी कोशिश की जाती है। उसका रोना बहुत जरूरी है, क्योंकि जीवन-धारा से टूटे हुए संबंध का उसे पता

चलना चाहिए, अगर वह जीवित है। और अगर पता नहीं चलता है, तो यह बड़ी खतरनाक बात है।
और वह बच्चा नये रूप में अपनी जीवन-धारा को फिर से जोड़ने की कोशिश करता है। मां के दूध के साथ ही उसकी जीवन-धारा फिर से संयुक्त होती है। इसलिए बच्चे का दूसरा संबंध हृदय से होता है। मां के हृदय के साथ उसके अपने हृदय का केंद्र भी धीरे-धीरे विकसित होता है और नाभि का केंद्र भूल जाता है। नाभि का केंद्र भूल जाना जरूरी है, क्योंकि वह टूट गया है, उससे संबंध बंद हो गये और जो विद्युत-धारा नाभि से मिलती थी, वह बच्चा होंठों से लेना शुरू कर देता है। वह मां से फिर वापस जुड़ जाता है। एक दूसरा सर्किट, एक दूसरा विद्युत-वृत्त खड़ा हो जाता है, वह उससे संयुक्त हो जाता है।
यह जानकर आपको हैरानी होगी कि अगर बच्चे को मां के दूध पर जीवन न मिले, पालन न मिले, तो बच्चे की जीवन-धारा हमेशा के लिए क्षीण रह जाती है। उसे दूध पिलाया जा सकता है और तरह से भी, लेकिन अगर मां के हृदय का उसे निरंतर स्पर्श न मिले, तो उसका जीवन हमेशा के लिए कुंठित हो जाता है और हमेशा के लिए उसके जीवन की संभावना क्षीण हो जाती है। जो बच्चे मां के दूध पर नहीं पाले जाते, वे बच्चे कभी भी जीवन में बहुत आनंद को और शांति को उपलब्ध नहीं हो सकते।
पश्चिम का सारा युवक समाज और धीरे-धीरे भारत का भी, जो अत्यंत विद्रोह
से भर रहा है, उसके बहुत गहरे में और बुनियाद में यह बात है कि पश्चिम के बच्चे मां के दूध पर नहीं पाले जा रहे हैं। जीवन के प्रति उनकी आस्था और जीवन के प्रति उनके संबंध प्रीतिपूर्ण नहीं हैं। बचपन से उनकी जीवन-धारा ने धक्के पाये हैं और वे अप्रीतिपूर्ण हो गये हैं। उन धक्कों में, मां से विच्छिन्न होने में जीवन से ही वे विच्छन्न हो गये हैं। क्योंकि बच्चे के लिए प्राथमिक रूप से मां के अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं होता।
सारी दुनिया में, जहां भी स्त्रियां शिक्षित हो रही हैं, वे बच्चों को अपने निकट पालना पसंद नहीं करतीं और उसके परिणाम घातक होने शुरू हुए हैं। आदिवासी समाजों में बच्चे बहुत देर तक मां के दूध पर पलते हैं। जितना समाज शिक्षित होता जाता है, बच्चे उतनी ही जल्दी मां के दूध से अलग कर दिये जाते हैं। जो बच्चे जितनी जल्दी मां के दूध से अलग कर दिये जायेंगे, वे बच्चे अपने जीवन में शांति को उतनी ही कठिनाई से अनुभव कर सकेंगे। उनके जीवन में एक गहरी अशांति हमेशा के लिए प्रांरभ से ही शुरू हो जायेगी। और यह अशांति का बदला वे किससे लें?
इसका बदला मां-बाप से ही लिया जायेगा, और सारी दुनिया में बच्चे मां- बाप से बदला ले रहे हैं। इसका बदला किससे लेंगे बच्चे? उनको भी पता नहीं है कि यह कौन-सी प्रतिक्रिया उनके भीतर पैदा हो रही है, यह कौन-सा एक विद्रोह उनके भीतर पैदा हो रहा है, यह कौन-सी आग उनके भीतर पैदा हो रही है। लेकिन अनजान में, बहुत गहरे में उनका मन जानता है कि यह विद्रोह मां से बहुत शीघ्र छुड़ा लिये जाने का ही परिणाम है। उनकी जीवन-चेतना इस बात को जानती है, उनकी बुद्धि नहीं जानती। इसका परिणाम यह होगा कि वे मां से, पिता से, सबसे इसका बदला लेंगे।
और जो बच्चा मां और पिता के विरोध में है, वह बच्चा परमात्मा के कभी भी पक्ष में नहीं हो सकता। कोई संभावना नहीं है कि वह परमात्मा के पक्ष में हो जाये। क्योंकि परमात्मा के प्रति जो सबसे पहले भावनाएं उठनी शुरू होती हैं, वे वही हैं, जो मां और पिता के प्रति उठती हैं।
सारी दुनिया में परमात्मा को पिता कहना अकारण नहीं है। परमात्मा को पिता की शकल में देखना अकारण नहीं है। बच्चे के पहले जीवन अनुभव मां और पिता के प्रति ही अगर कृतज्ञता, धन्यता और श्रद्धा के हैं, तो ही वे अनुभव परमात्मा के प्रति भी विकसित होंगे, अन्यथा नहीं हो सकते।
लेकिन बच्चे को तोड़ लिया जाता है। दूसरी उसकी जीवन-धारा हृदय से संबंधित होती है मां के। लेकिन एक सीमा पर आकर बच्चे को मां के दूध से अलग होना ही पड़ेगा।
लेकिन ठीक समय वह कब आता है? वह उतनी जल्दी नहीं आ जाता है, जितनी जल्दी हम सोचते हैं। वह इतनी जल्दी नहीं आता। बच्चे और थोड़ी ज्यादा देर तक

मां के हृदय के करीब होने चाहिए, अगर उनके जीवन में प्रेम और हृदय का ठीक विकास करना है। वे बहुत जल्दी छीन-झपटकर अलग किये जाते हैं। मां को उन्हें अलग नहीं करना चाहिए, उन्हें अपने आप अलग होने देना चाहिए। एक सीमा पर आकर वे अपने से अलग होंगे। यह वैसे ही है--उनको कोशिश करके अलग करना, जैसे मां के पेट में नौ महीने बच्चा रहने के बाद अपने आप बाहर आयेगा--लेकिन कोई मां जल्दी में चार महीने के बच्चे को या पांच महीने के बच्चे को बाहर निकाल देना चाहे। यह उतना ही खतरनाक है, उससे कम खतरनाक नहीं, कि कोई मां जबकि बच्चा खुद उसका दूध छोड़े, उसके पहले उसे अपने से अलग करना चाहे। मां की यह कोशिश खतरनाक है और इस कोशिश में बच्चे के हृदय का दूसरा केंद्र ठीक से विकसित नहीं होता।
और आप हैरान होंगे... चूंकि बात आ गयी, इसलिए मैं आप से कहना उचित समझूंगा...
सारी दुनिया में स्त्रियों के प्रति पुरुषों का जो सबसे ज्यादा आकर्षण का केंद्र है, वह स्त्रियों का हृदय ही क्यों बना रहता है? --ये सब बच्चे मां के दूध से बहुत जल्दी अलग कर लिये गये हैं। सारी दुनिया में स्त्रियों के प्रति पुरुषों का जो आकर्षण हैं, वह उनके हृदय के प्रति ही क्यों बना रहता है? वह उनके स्तनों के प्रति ही क्यों बना रहता है? ये सब बच्चे मां से बहुत जल्दी अलग कर लिये गये हैं। इनकी जीवन-चेतना में कहीं गहरे में स्त्रियों के स्तन के निकट रहने की कामना शेष रह गयी है, वह पूरी नहीं हो पायी है, अन्यथा कोई कारण नहीं है, अन्यथा कोई वजह नहीं है। आदिवासी समाजों में, प्रीमिटिव सोसाइटी.ज में जहां बच्चे मां के स्तन के पास पूरे समय तक रहते हैं, स्तन के प्रति पुरुषों का कोई आकर्षण नहीं है। लेकिन हमारी कविताएं, हमारे उपन्यास, हमारी फिल्में, हमारे नाटक, हमारे चित्र सभी स्त्रियों के स्तन के पास क्यों केंद्रित हैं?
ये उन पुरुषों के द्वारा बनायी गयी बातें हैं, जो पुरुष अपने बचपन में मां के स्तन के निकट पूरी तरह नहीं रह पाये। वह कामना शेष रह गयी है, वह कामना अब नये रूपों में प्र्रकट होनी शुरू होती है। और फिर हम कहेंगे कि अश्लील चित्र बनते हैं, अश्लील किताबें लिखी जाती हैं, अश्लील गीत लिखे जाते हैं। फिर हम कहेंगे कि बच्चे रास्तों पर स्त्रियों को धक्का देते हैं, पत्थर मारते हैं। ये सब बेवकूफियां हम पैदा करवाते हैं और फिर इसके पीछे इन पर रोते हैं और इनको दूर करने के उपाय करते हैं।
बच्चे को बहुत देर तक मां के स्तन के निकट रहना अत्यंत अनिवार्य है। उसके मानसिक विकास में, उसके शारीरिक विकास में, उसके चित्त के विकास में, उसके हृदय का केंद्र ठीक से विकसित नहीं होगा, वह अधूरा रह जाता है। वह रुका हुआ रह जाता है, अवरुद्ध रह जाता है। और जब हृदय का केंद्र अवरुद्ध रह जाये तो एक और अनहोनी घटना घटनी शुरू होती है। और वह यह कि जो काम हृदय पूरा नहीं कर पाया, जो काम नाभि पूरा नहीं कर पायी, उस काम को मनुष्य अपने मस्तिष्क से पूरा करने की कोशिश करता है। यह कोशिश और भी उपद्रव ले आती है, क्योंकि प्रत्येक केंद्र का अपना काम है, और प्रत्येक केंद्र अपना ही काम पूरा कर सकता है, किसी दूसरे केंद्र का काम पूरा नहीं कर सकता।
न तो नाभि हृदय का काम कर सकती है और न हृदय का काम मस्तिष्क कर सकता है। लेकिन मां से जैसे ही बच्चा अलग कर दिया जाता है; उसके पास अब एक ही केंद्र रह जाता है, जिस पर सारा का सारा भार पड़ जाता है, वह मस्तिष्क का केंद्र होता है। फिर शिक्षा भी उसी की, उपदेश भी उसी के, स्कूल भी उसी के, विद्यालय भी उसी के। जीवन में विकास भी उन्हीं का जिनका मस्तिष्क ज्यादा विकसित और ज्यादा संपन्न हो। एक दौड़ शुरू होती है और सारा काम जीवन का मस्तिष्क से लेने की कोशिश शुरू हो जाती है।
जो आदमी मस्तिष्क से प्रेम करेगा, उसका प्रेम झूठा होगा। क्योंकि मस्तिष्क का प्रेम से कोई संबंध नहीं। प्रेम तो हृदय से हो सकता है, मस्तिष्क से नहीं हो सकता। लेकिन हृदय के केंद्र हमारे ठीक से विकसित नहीं हैं, तो हम मस्तिष्क से काम लेना शुरू करते हैं। तो प्रेम भी हम सोचते-विचारते हैं। प्रेम के सोचने-विचारने से कोई संबंध नहीं है। लेकिन

प्रेम भी हममें मानसिक रूप से सोच-विचार की तरह प्रकट होता है। इसीलिए सारी दुनिया में इतनी सेक्सुअलिटि, इतनी कामुकता व्याप्त हो गयी है। कामुकता का एक ही अर्थ है कि सेक्स का केंद्र और सेक्स के केंद्र का काम मस्तिष्क से लिया जा रहा है, बुद्धि से लिया जा रहा है। और बुद्धि में जब काम प्रविष्ट हो जायेगा, तो जीवन नष्ट हो जाता है। और हमारी बुद्धि में काम प्रविष्ट हो गया है।
काम का, सेक्स का जो केंद्र है, वह नाभि ही है, क्योंकि जीवन की सबसे बड़ी ऊर्जा सेक्स है, सबसे बड़ी ऊर्जा काम है। उसी से जन्म है, उसी से जीवन है, उसी से जीवन का विकास है। लेकिन नाभि के केंद्र हमारे अविकसित हैं, तो हम दूसरे केंद्रों से उनका काम लेना शुरू करते हैं।
पशुओं में सेक्स है, लेकिन सेक्सुअलिटि नहीं है। काम है, लेकिन कामुकता नहीं है। इसलिए पशुओं का काम भी एक सौंदर्य है, एक अभिनव आनंद है। और मनुष्य की कामुकता एक कुरूपता है, एक अग्लीनेस है, क्योंकि वह काम
भी चिंतन बन गया है, उसके मन में जाकर। वह काम का भी चिंतन कर रहा है।
एक आदमी भोजन करता हो, भोजन करना बहुत अच्छा है। लेकिन एक आदमी चौबीस घंटे भोजन के संबंध में चिंतन करता हो, तो यह आदमी पागल है। भोजन करना बिल्कुल ठीक है और भोजन बहुत जरूरी है और भोजन करना ही है। लेकिन भोजन के संबंध में अगर कोई चिंतन करता हो चौबीस घंटे, तो इस आदमी के केंद्र डांवाडोल हो गये। जो काम उसे पेट से लेना चाहिए था, वह यह बुद्धि से ले रहा है!
और बुद्धि कोई भोजन नहीं पचा सकती है और न बुद्धि तक भोजन पहुंचाया जा सकता है। बुद्धि केवल सोच सकती है, विचार कर सकती है। और बुद्धि जितना भोजन के संबंध में विचार करेगी, उतना ही काम पेट का छिन जायेगा और पेट अस्त-व्यस्त हो जायेगा। आप कभी सोचें, करके देखें।
आप भोजन कर लेते हैं, फिर आप कोई सोच-विचार नहीं करते। वह अपने आप जाता है। पेट पचाने का काम करता है। वे अनकांशस सेंटर्स हैं, अचेतन केंद्र हैं, वे अपने काम करते हैं। आपको सोचना-विचारना नहीं पड़ता है।
लेकिन आप किसी दिन सजग होकर इस बात का विचार करें कि अब पेट में भोजन पहुंच गया होगा, अब पच रहा होगा, अब ऐसा हो रहा होगा, अब वैसा हो रहा होगा। और आप पायेंगे कि आपका भोजन उस दिन पचना असंभव हो गया है। जितना चिंतन प्रविष्ट होगा उतना पेट की जो अचेतन प्रक्रिया है, उसमें बाधा पड़ जायेगी। भोजन के साथ ऐसी दुर्घटना कम घटती है, सिर्फ उन लोगों को छोड़कर जो उपवासवादी होते हैं।
अगर कोई आदमी अकारण उपवास करता है, तो धीरे-धीरे भोजन उसके चिंतन में प्रविष्ट हो जायेगा। वह भोजन तो नहीं करेगा, उपवास करेगा, लेकिन फिर भोजन का चिंतन करेगा। और यह चिंतन, भोजन करने से भी बहुत खतरनाक है। भोजन करना तो खतरनाक है ही नहीं। भोजन तो जीवन के लिए अत्यंत जरूरी है। लेकिन भोजन का चिंतन रुग्णता है। और जो आदमी भोजन का चिंतन करने लगे, उसके जीवन में सब तरह के विकास होने बंद हो जायेंगे। उसका चिंतन इस फिजूल की बात में ही समाप्त होगा।
सेक्स के साथ, यौन के साथ, काम के साथ ऐसी घटना घट गयी है। उसे हमने केंद्र से झपटकर छीन लिया है और चिंतन कर रहे हैं उसका। तो ऐसे हमारे जीवन के जो तीन महत्वपूर्ण केंद्र हैं, उन सबका काम धीरे-धीरे बुद्धि के हाथ में सौंप दिया गया है। यह ऐसा ही है, जैसे कोई आदमी आंख से ही सुनने की भी कोशिश करे। यह वैसा ही है, जैसे कोई आदमी मुंह से भी देखने की कोशिश करे। यह वैसा ही है, जैसे कोई आदमी कान से भी देखने की कोशिश करे या स्वाद लेने की कोशिश करे। तो हम कहेंगे, यह आदमी पागल है, क्योंकि आंख देखने का यंत्र है, कान सुनने का यंत्र है। कान देख नहीं सकते, आंख सुन नहीं सकती। और अगर हम ऐसी कोशिश करेंगे तो उसका कुल परिणाम--केऑस, व्यक्तित्व में एक अराजकता ही हो सकती है।
ऐसे ही तीन केंद्र हैं मनुष्य के। जीवन का केंद्र नाभि है, भाव का केंद्र हृदय है, विचार का केंद्र मस्तिष्क है। विचार इन तीनों केंद्रों

में सबसे ऊपरी केंद्र है। उससे गहरा केंद्र भाव का है। उससे भी गहरा केंद्र प्राणों का है।
शायद आप सोचते होंगे कि हृदय अगर बंद हो जाये तब तो जीवन-धारा बंद हो जाये। लेकिन अभी वैज्ञानिक इस नतीजे पर सहज ही पहुंच गये हैं कि हृदय की गति बंद हो जाने के बाद भी अगर छह मिनट के भीतर हृदय फिर से चलाया जा सके तो आदमी पुनरुज्जीवित हो सकता है। हृदय का संबंध समाप्त हो जाने पर भी छह मिनट के पीछे तक नाभि का जीवन-केंद्र सक्रिय रहता है। और छह मिनट के भीतर अगर हृदय को फिर से चलाया जा सके या नया हृदय डाला जा सके, तो आदमी पुनरुज्जीवित हो जायेगा। आदमी के मरने की तब कोई जरूरत नहीं है। लेकिन अगर नाभि-केंद्र से जीवन हट गया तो फिर किसी भी हृदय को बदलने से कुछ भी नहीं हो सकता। हमारे भीतर सर्वाधिक गहरा और बुनियादी केंद्र नाभि का है। इस नाभि-केंद्र के लिए सुबह मैंने थोड़ी-सी बातें कीं।
अभी हमने जो आदमी बनाया है, वह सिर के बल पर खड़ा हुआ है। जैसे एक आदमी शीर्षासन करता है। शीर्षासन करने वाला सिर को आधार बना लेता है पैरों की जगह, और पैरों को ऊपर उठा देता है। अगर एक आदमी चौबीस घंटे शीर्षासन करता रहे तो उसकी क्या स्थिति होगी, आप समझ सकते हैं। वह आदमी सुनिश्चित ही पागल हो जायेगा। वह पागल हो ही गया है, नहीं तो चौबीस घंटे खड़ा भी नहीं हो सकता था। कोई कारण भी नहीं था। लेकिन जीवन में हमने ऐसा ही रिवर्शन कर दिया है, ऐसा ही उल्टा कर दिया है! हम सब सिर के बल पर खड़े हुए हैं! जीवन का आधार हमने सिर बना लिया है। सोचना और विचारना यह हमारे जीवन के आधार हो गये हैं।
धर्म कहता है, सोचना और विचारना जीवन का आधार नहीं है, बल्कि सोचने और विचारने से मुक्त हो जाना, निर्विचार हो जाना जीवन का आधार है। लेकिन हम तो सोच-विचार से ही जीते हैं, और सोच-विचार से ही हम सारे जीवन को मार्ग निर्दिष्ट करने की कोशिश करते हैं। इससे सारे मार्ग भटक गये हैं। सोचने- विचारने से कभी कोई मार्ग उपलब्ध नहीं हो सकता। क्योंकि न तो भोजन पचता है आपके सोचने से, न आपकी नाड़ियों में खून बहता है आपके सोचने से, न आपकी सांस चलती है आपके सोचने से।
कभी आपने सोचा है कि जीवन की कोई भी महत्वपूर्ण क्रिया आपके सोचने से संबंधित नहीं है, बल्कि जीवन की सब क्रियाएं आपके अत्यधिक सोचने से कुंठित होती हैं, और उनको बाधा पड़ती है। इसलिए रोज रात को आपका गहरी नींद में खो जाना जरूरी होता है, ताकि आपकी सारी क्रियाएं ठीक से चल सकें, आप बाधा न दे पायें और सुबह आप वापस ताजगी अनुभव कर सकें।
जिस आदमी की नींद खो जाये, उस आदमी का बचना फिर कठिन हो जाता है, क्योंकि सोच-विचार जीवन की बुनियादी क्रियाओं में बाधा डालता है पूरे समय। तो थोड़ी देर को प्रकृति आपको गहरी नींद में डुबा देती है। वह एक मूर्च्छा में ले जाती है। सारा सोच-विचार बंद हो जाता है और आपके वास्तविक केंद्र सक्रिय हो जाते हैं। हमारे वास्तविक केंद्रों का भी एक नाता है। मैं आपसे बुद्धि से जुड़ सकता हूं। मेरे विचार आपको ठीक मालूम पड़ें, मेरे विचार आपको प्रभावी मालूम पड़ें, तो मेरा और आपका बुद्धिगत नाता हेगा। यह कम से कम नाता है। यह कम से कम रिलेशनशिप है। बुद्धि का कोई गहरा संबंध नहीं होता।
उससे गहरे संबंध हृदय के होते हैं, प्रेम के होते हैं। लेकिन प्रेम के संबंध आपके सोच-विचार से नहीं होते। प्रेम के संबंध बिल्कुल अनजान में आपके बिना सोचे-विचारे घटित होते हैं। उससे भी गहरे जीवन के संबंध होते हैं। जैसे, जो नाभि से प्रभावित होते हैं, हृदय से भी प्रभावित नहीं होते, वे तो और भी अव्याख्य होते हैं। उनकी तो व्याख्या ही करना मुश्किल होता है कि मेरा क्या संबंध है, क्योंकि हमें पता ही नहीं होता।
लेकिन जैसा मैंने आपसे कहा कि मां की जीवन-धारा बच्चे की नाभि को प्रभावित करती रहती है। एक विद्युत मां की नाभि से बच्चे की नाभि तक बहती रहती है। जीवन में वह बच्चा जब भी किसी ऐसी स्त्री के करीब पहुंचेगा, जिससे वैसे ही विद्युत-धारा प्रवाहित हो रही है, जैसी उसकी मां से प्रवाहित होती थी तो बिल्कुल अनजान संबंध में घिर जायेगा। उसे समझ में ही

नहीं आयेगा कि यह क्या संबंध बनना शुरू हुआ। उस अनजान संबंध को हम प्रेम कहते रहे हैं। वह हमारी पहचान में नहीं आता है, इसलिए उसको ब्लाइंड कहते हैं--अंधा है प्रेम। निश्चित प्रेम अंधा है, जैसे कान अंधे हैं, जीभ अंधी है, लेकिन आंख बहरी है। प्रेम अंधा है, क्योंकि वह बहुत गहरे उन तलों से उठता है जिनकी... हमें समझना मुश्किल हो जाता है कि क्या कारण है इस प्रेम के उठने के।
किन्हीं लोगों के प्रति हमें अचानक तीव्र रूप से दूर हटने का विकर्षण पैदा होता है। कोई कारण समझ में नहीं आता कि इनसे हम क्यों दूर हटना चाहते हैं। क्यों दूर हटाना चाहते हैं? इनसे क्यों दूर होना चाहते हैं? अगर आपकी विद्युत धारा और उनकी विद्युत धारा, जो नाभियों से प्रभावित होती हैं, विरोधी हैं, तो आपकी समझ में नहीं आयेगा, लेकिन आपको दूर हटना पड़ेगा। आपको ऐसा लगेगा कि कोई चीज दूर कर रही है।
और किसी व्यक्ति के पास आप अचानक खिंचे चले जाना चाहते हैं। आपकी समझ में नहीं आता। कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। आपकी विद्युत धारा और उसकी विद्युत धारा निकट मालूम हो रही है, सजातीय मालूम हो रही है, करीब मालूम हो रही है, एक-दूसरे से संबंधित हो रही है। इसलिए वैसी प्रतीति आपको होती है। तीन तरह के संबंध मनुष्य के जीवन में होते हैं। बुद्धि के संबंध, जो बहुत गहरे नहीं हो सकते। गुरु और शिष्य में ऐसे बुद्धि के संबंध होते हैं। प्रेम के संबंध, जो बुद्धि से ज्यादा गहरे होते हैं। हृदय के संबंध, मां- बेटे में, भाई-भाई में, पति-पत्नी में इसी तरह के संबंध होते हैं, जो हृदय से उठते हैं। और इनसे भी गहरे संबंध होते हैं, जो नाभि से उठते हैं।
नाभि से जो संबंध उठते हैं, उन्हीं को मैं मित्रता कहता हूं। वे प्रेम
से भी ज्यादा गहरे होते हैं। प्रेम टूट सकता है, मित्रता कभी भी नहीं टूटती।
जिसे हम प्रेम करते हैं, उसे कल हम घृणा भी कर सकते हैं। लेकिन जो मित्र है, वह कभी भी शत्रु नहीं हो सकता है। और हो जाये, तो जानना चाहिए कि मित्रता नहीं थी।
मित्रता के संबंध नाभि के संबंध हैं, जो और भी अपरिचित गहरे लोक के संबंध हैं। इसीलिए बुद्ध ने नहीं कहा लोगों से कि तुम एक दूसरे को प्रेम करो। बुद्ध ने कहा: मैत्री। यह अकारण नहीं था। बुद्ध ने कहा कि तुम्हारे जीवन में मैत्री होनी चाहिये। किसी ने बुद्ध को पूछा भी कि आप प्रेम क्यों नहीं कहते? बुद्ध ने कहा, मैत्री प्रेम से बहुत गहरी बात है। प्रेम टूट भी सकता है। मैत्री कभी टूटती नहीं।
और प्रेम बांधता है, मैत्री मुक्त करती है।
प्रेम किसी को बांध सकता है अपने से, प.जेस कर सकता है, मालिक बन सकता है, लेकिन मित्रता किसी की मालिक नहीं बनती, किसी को रोकती नहीं, बांधती नहीं, मुक्त करती है। और प्रेम इसलिए भी बंधन वाला हो जाता है कि प्रेमियों का आग्रह होता है कि हमारे अतिरिक्त और प्रेम किसी से भी नहीं। लेकिन मित्रता का कोई आग्रह नहीं होता। एक आदमी के हजारों मित्र हो सकते हैं, लाखों मित्र हो सकते हैं, क्योंकि मित्रता बड़ी व्यापक, गहरी अनुभूति है। जीवन की सबसे गहरी केंद्रीयता से वह उत्पन्न होती है। इसलिए मित्रता अंततः परमात्मा की तरफ ले जाने वाला सबसे बड़ा मार्ग बन जाती है। जो सबका मित्र है, वह आज नहीं कल परमात्मा के निकट पहुंच जायेगा, क्योंकि सबके नाभि-केंद्रों से उसके संबंध स्थापित हो रहे हैं और एक न एक दिन वह विश्व के नाभि-केंद्र से भी संबंधित हो जाने को है।
ये-ये जो नाते हैं, जो रिलेशनशिप है जीवन की, वह बौद्धिक तो नहीं होनी चाहिए, अकेली बौद्धिक नहीं होनी चाहिए। हार्दिक होनी चाहिए और अकेली हार्दिक भी नहीं होनी चाहिए, उससे भी गहरी नाभिगत होनी चाहिए। जैसे यह हमें आज बहुत स्पष्ट नहीं है जगत में-- आज नहीं कल ज्यादा स्पष्ट हो सकेगा, आज नहीं कल हमें पता चल सकेगा कि हम जीवन की बहुत दूर धाराओं से जुड़ें हैं, जो हमें दिखाई नहीं पड़तीं। हम जानते हैं कि चांद बहुत दूर है, लेकिन समुद्र के पानी पर कोई अनजाना प्रभाव छोड़ता रहता है। चांद के साथ समुद्र का पानी ऊपर उठने लगता है, चांद के साथ नीचे गिरने लगता है।

हमें पता है सूरज बहुत दूर है, लेकिन किन्हीं अदृश्य धागों से वह जीवन
से बंधा है। सुबह सूरज निकलता है और जीवन में एक क्रांति घटित हो जाती है। जो सब सोया हुआ था, जो सब मुर्दा-सा पड़ा था, जो सब बेहोश था, वह होश में आने लगता है। कोई सोयी चीज जागने लगती है। फूल खिलने लगते हैं, पक्षी गीत गाने लगते हैं। सूरज की अदृश्य धारा कोई प्रभाव हम तक पहुंचाती है।
और भी जीवन की अदृश्य धाराएं हैं, जो इसी भांति हम तक पहुंचती हैं और हमारे जीवन को संचालित करती रहती हैं; निरंतर संचालित करती रहती हैं। सूरज ही नहीं, चांद ही नहीं, आकाश के तारे ही नहीं, बल्कि जीवन की भी एक विद्युत धारा है, जो हमें कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती और जो निरंतर हमारे केंद्रों को प्रभावित करती है और संचालित करती है। लेकिन जितना रिसेप्टिव हमारा केंद्र होगा, जितना ग्राहक हमारा केंद्र होगा, वह जीवन-धारा उतनी ही हमारे जीवन को प्रभावित कर सकती है। जो केंद्र हमारा जितना कम ग्राहक होगा, उतनी ही वह जीवन-धारा उसे प्रभावित करने से वंचित रह जायेगी।
सूरज निकलता है, फूल खिल जाता है। लेकिन अगर हम फूल के चारों तरफ दीवाल उठा दें और सूरज की रोशनी फूल तक न पहुंच पाये तो फूल नहीं खिलेगा, कुम्हला जायेगा। बंद दीवाल में फूल कुम्हला ही जायेगा। सूरज जबरदस्ती घुसकर उस फूल को नहीं खोल सकता। फूल को खुले में होना चाहिए। फूल को तैयार होना चाहिए। फूल के लिए मौका देना चाहिए सूरज को कि वह आये और खोल दे। सूरज किसी एक-फूल को ढूंढ़ने नहीं जा सकता कि कौन फूल दीवाल के भीतर छिपा है, तो उसके दीवाल के भीतर पहुंचे। सूरज को कोई पता भी नहीं है फूलों का। यह तो बिल्कुल ही एक अचेतन जीवन-प्रभाव है। सूरज निकलता है, फूल खिलते हैं। लेकिन अगर कोई फूल दीवाल के भीतर बंद है, तो नहीं खिलेगा, मुरझा जायेगा और मर जायेगा।
जीवन-धारा चारों तरफ से बह रही है और जिनके नाभि-केंद्र खुले हुए नहीं हैं, वे उस धारा से वंचित रह जायेंगे। उनको उस धारा का कोई पता नहीं चलेगा। उन्हें बोध ही नहीं होगा कि यह धारा भी आयी थी और हमें प्रभावित कर सकती थी। हमारे भीतर कुछ छिपा था उसे खोल सकती थी। उन्हें पता भी नहीं होगा। यह जीवन-धारा प्रभावित कर सके-- यह हमारे नाभि का जो फूल है, जिसको बहुत पुराने दिनों से लोग कमल कहते रहे, लोटस कहते रहे, वे इसीलिए कहते रहे कि वे खिल सकें, कोई एक जीवन-धारा उसे खोल दे। उसके लिए तैयारी चाहिए। उसके लिए हमारे केंद्र को खुले आकाश के नीचे होना चाहिए। हमारा ध्यान होना चाहिए उस पर। हमारी जीवन-धारा, भीतर जो हमारी जीवन-धारा है, वह उस फूल तक पहुंचकर उसे जीवन देना चाहिए। इसलिए मैंने सुबह कुछ थोड़ी-सी बातें कहीं। यह कैसे संभव होगा, यह कैसे संभव हो सकता है कि हमारे जीवन का केंद्र
एक खिला हुआ फूल बन जाये, ताकि जो भी चारों तरफ से अदृश्य विद्युत-धाराएं आ रही हैं, वे उससे संपर्क स्थापित कर सकें। किस रास्ते से यह होगा? दो-चार बातें स्मरणीय हैं जो अभी और रात में आपसे बात कर लूंगा, ताकि कल हम दूसरे बिंदु पर बात कर सकें।
पहली बातः आपकी ब्रीदिंग, आपकी श्वास की प्रक्रिया जितनी गहरी हो, उतना ही आप नाभि को प्रभावित करने में और विकसित करने में समर्थ हो सकते हैं। लेकिन हमें इसका कोई ख्याल नहीं है। हमें इस बात का पता ही नहीं है कि श्वास हम कितनी ले रहे हैं या कितनी कम ले रहे हैं, या जरूरत के माफिक ले रहे हैं या नहीं ले रहे हैं। और जितने हम ज्यादा चिंतित होते जाते हैं, जितने चिंतन से भरते जाते हैं, मस्तिष्क पर जितना बोझ बढ़ता है, आपको ख्याल भी न होगा, श्वास की धारा उतनी ही क्षीण और अवरुद्ध होती है। क्या आपने कभी ख्याल किया है, क्रोध में आपकी श्वास दूसरी तरह से चलती है, शांति में दूसरी तरह से चलती है?
क्या आपने कभी ख्याल किया है कि तीव्र कामवासना मन में चलती हो, तो श्वास और तरह से चलती है और मन मधुर भावों से भरा हो, तो श्वास दूसरी तरह से चलती है? क्या आपने ख्याल किया है, बीमार आदमी की सांस और तरह से चलती है, स्वस्थ आदमी की और तरह से चलती है। श्वास के स्पंदन प्रतिक्षण आपके चित्त को देखकर परिवर्तित होते रहते हैं।

ठीक उल्टी बात भी सच है। अगर श्वास के स्पंदन बिल्कुल संगीतपूर्ण हों, तो आपका चित्त भी परिवर्तित होता रहता है। या तो चित्त को बदलिये तो श्वास बदलती है या श्वास को बदलिये तो चित्त पर परिणाम होते हैं।
जिस व्यक्ति को भी जीवन-केंद्रों को विकसित करना है और प्रभावित करना है, उसे पहली बात है, रिदमिक ब्रीदिंग--उसके लिये पहली बात हैः लयबद्ध श्वास। चलते-उठते-बैठते इतनी लयबद्ध, इतनी शांत, इतनी गहरी श्वास, कि श्वास का एक अलग संगीत, एक अलग हारमनी दिन-रात उसे मालूम होने लगे। आप चल रहे हैं रास्ते पर, कोई काम तो नहीं कर रहे हैं। बड़ा आनंदपूर्ण होगा कि आप गहरी, शांत, धीमी और गहरी और लयबद्ध श्वास लें। दो फायदे होंगे। जितनी देर तक लयबद्ध श्वास रहेगी, उतनी देर तक आपका चिंतन कम हो जायेगा, उतनी देर तक मन के विचार बंद हो जायेंगे।
अगर श्वास बिल्कुल सम हो, तो मन के विचार एकदम बंद हो जाते हैं, शांत
हो जाते हैं। श्वास मन के विचारों को बहुत गहरे, दूर तक प्रभावित करती है। और श्वास ठीक से लेने में कुछ भी खर्च नहीं करना होता है। और श्वास ठीक से लेने में कोई समय भी नहीं लगाना होता है। श्वास ठीक से लेने में कहीं से कोई समय निकालने की भी जरूरत नहीं होती। आप ट्रेन में बैठे हैं, आप रास्ते पर चल रहे हैं, आप घर में बैठे हैं--धीरे-धीरे अगर गहरी, शांत श्वास लेने की प्रक्रिया जारी रहे तो थोड़े दिन में यह प्रक्रिया सहज हो जायेगी। आपको इसका बोध भी नहीं रहेगा। यह सहज ही गहरी और धीमी चलने लगेगी।
जितनी श्वास की धारा धीमी और गहरी होगी, उतना ही आपका नाभि-केंद्र विकसित होगा। श्वास प्रतिक्षण जाकर नाभि-केंद्र पर चोट पहुंचाती है। अगर श्वास ऊपर से ही लौट आती है, तो नाभि-केंद्र धीरे-धीरे सुस्त हो जाता है, ढीला हो जाता है। उस तक चोट नहीं पहुंचती।
पुराने लोगों ने एक सूत्र खोज निकाला था। लेकिन आदमी इतना नासमझ है
कि सूत्रों को दोहराने लगता है। उनका अर्थ नहीं देख पाता, उनको समझ भी नहीं पाता। जैसे अभी वैज्ञानिकों ने पानी का एक सूत्र निकाल लिया--एच-टू- ओ। वे कहते हैं कि पानी में उदजन और आक्सीजन दोनों के मिलने से पानी बनता है। दो अणु उदजन के, एक अणु आक्सीजन का--तो वह एच-टू-ओ फार्म बना लिया, उदजन दो और आक्सीजन एक। अब कोई आदमी अगर बैठ जाये और दोहराने लगे एच-टू-ओ, एच-टू- ओ, जैसे लोग राम-राम, ओम-ओम दोहराते हैं, तो उसको हम पागल कहेंगे। क्योंकि सूत्र को दोहराने से क्या होता है? सूत्र तो केवल सूचक है किसी बात का। वह बात समझ में आ जाये तो सूत्र सार्थक है।
ओम आप निरंतर सुनते होंगे। लोग बैठे दोहरा रहे हैं, ओम-ओम जप कर रहे हैं! उन्हें पता नहीं है ओम तो एच-टू-ओ जैसा सूत्र है। ओम में तीन अक्षर हैं। अ है, उ है, म है। शायद आपने ख्याल न किया हो अगर आप मुंह बंद करके जोर से "अ" कहें भीतर तो "अ" की ध्वनि मस्तिष्क में गूंजती हुई मालूम होगी। "अ" जो है, वह मस्तिष्क के केंद्र का सूचक है। अगर आप भीतर "उ" कहें, तो "उ" की ध्वनि हृदय में गूंजती हुई मालूम होगी। "उ" हृदय का सूचक है। और अगर आप "म" कहें भीतर, तीसरा ओम का हिस्सा, तो वह नाभि के पास आपको गूंजता हुआ मालूम होगा। यह "अ, उ और म" मस्तिष्क, हृदय और नाभि के तीन सूचक शब्द हैं। अगर आप "म" कहें, तो आपको सारा जोर नाभि पर पड़ता हुआ मालूम पड़ेगा। अगर आप "उ" कहें तो जोर हृदय तक जाता हुआ मालूम पड़ेगा। अगर आप "अ" कहें तो "अ" मस्तिष्क में ही गूंजकर विलीन हो जाता है।
ये तीन सूत्र हैं। "अ" से "उ" की तरफ और "उ" से "म" की तरफ जाना है। ओम-ओम बैठकर दोहराने से कुछ भी नहीं होता। तो जो इस दिशा में ले जाये--"अ" से "उ" की तरफ, "उ" से "म" की तरफ--वे प्रक्रियाएं ध्यान देने की हैं। उसमें गहरी श्वास पहली प्रक्रिया है। जितनी गहरी श्वास, जितनी लयबद्ध, जितनी संगीतपूर्ण, उतनी ही आपके भीतर जीवन-चेतना नाभि के आसपास विकीर्ण होने लगेगी, फैलने लगेगी।
नाभि एक जीवित केंद्र बन जायेगी। और थोड़े ही दिनों में आपको नाभि से अनुभव होने लगेगा कि कोई शक्ति बाहर फिंकने लगी। और थोड़े ही दिनों में आपको यह भी अनुभव होने लगेगा कि कोई शक्ति नाभि के करीब आकर खींचने भी

लगी। आप पायेंगे कि एक बिल्कुल लिविंग, एक जीवंत, एक डायनेमिक केंद्र नाभि के पास विकसित होना शुरू हो गया है।
और जैसे ही यह अनुभव होगा, और बहुत-से अनुभव इसके आसपास प्रकट होने शुरू हो जायेंगे। फिजियोलाजिकलि, शारीरिक रूप से श्वास पहली चीज है नाभि- केंद्र को विकसित करने के लिए। मानसिक रूप से कुछ गुण नाभि को विकसित करने में सहयोगी होते हैं। जैसा मैंने सुबह आपसे कहा, अभय, फियरलेसनेस है। जितना आदमी भयभीत होगा, उतना ही आदमी नाभि के निकट नहीं पहुंच पायेगा। जितना आदमी निर्भय होगा, उतना ही नाभि के निकट पहुंचेगा।
इसीलिए मेरा--बच्चों के लिए शिक्षा देने में मेरा अनिवार्य सुझाव है, कभी भूलकर बच्चे से मत कहना कि बाहर अंधेरा है, वहां मत जाओ। आपको पता नहीं, आप उनके नाभि-केंद्र को हमेशा के लिए नुकसान पहुंचा रहे हैं। जहां अंधेरा हो, वहां बच्चों से कहना कि जरूर बाहर जाओ, बाहर अंधेरा तुम्हें बुलाता है। नदी पूर पर आयी हो, तो बच्चों को मत कहना कि इसमें मत उतरो, क्योंकि आपको पता नहीं, पूर में आयी नदी में जो बच्चा उतरने की हिम्मत करता है, उसका नाभि-केंद्र विकसित होता है। और जो बच्चा नहीं उतरता है, उसका नाभि-केंद्र कमजोर और क्षीण होता है। बच्चे पहाड़ पर चढ़ते हों तो चढ़ने देना। बच्चे वृक्षों पर चढ़ते हों तो चढ़ने देना। जहां साहस और जहां अभय उनको उपलब्ध होता हो, वहां उनको जाने देना। अगर किसी कौम के दस-पचास हजार बच्चे प्रतिवर्ष मर जायें--पहाड़ों पर चढ़ने में, नदियों में उतरने में, वृक्षों पर चढ़ने में--कोई हर्जा नहीं है। लेकिन अगर बच्चे पूरी कौम के भय से भर जायें और अभय से खाली हो जायें, तो पूरी कौम जिंदा दिखाई पड़ती है, लेकिन वस्तुतः पूरी कौम मर गयी होती है।
हमारे देश में यह दुर्भाग्य घटित हुआ है। हम धर्म की बहुत बातें करते हैं, लेकिन साहस की जरा भी नहीं। और हमें यह पता ही नहीं है कि बिना साहस के कभी कोई धर्म है ही नहीं। क्योंकि साहस के अभाव में जीवन के केंद्रीय तत्व ही अविकसित रह जाते हैं। करेज चाहिए--इतना साहस चाहिए अदम्य, कि मृत्यु के सामने भी कोई खड़ा हो सके। और हमारी कौम इतनी धर्म की बातें करती है, लेकिन मरने से हम इतना डरते हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं! होना उल्टा चाहिए कि जो लोग आत्मा को जानते हों, पहचानते हों, उनको मरने से बिल्कुल नहीं डरना चाहिए, क्योंकि मृत्यु है ही नहीं। लेकिन हम आत्मा की इतनी बातें करते हैं और मृत्यु से इस भांति डरते हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं!
शायद हम आत्मा की बातें इसीलिए करते हों कि हम मृत्यु से डरते हैं। और आत्मा की बातें करने से हमको राहत मिलती हो कि नहीं मरेंगे, आत्मा तो अमर है। शायद भय के कारण ही हम बातें करते हैं। सचाई कुछ ऐसी ही मालूम होती है। अभय विकसित होना चाहिए। अदम्य अभय विकसित होना चाहिए। और इसके लिए जीवन में जो भी खतरे के मौके हों, उन्हीं को स्वागत मानना चाहिए।
नीत्शे से किसी ने पूछा था एक बार, कि हम अपने व्यक्तित्व को कैसे विकसित करें? उसने एक बड़ा अजीब सूत्र दिया, जिसका ख्याल भी नहीं हो सकता था। उसने कहा, लिव डेंजरसलि! उसने कहा, खतरे में जीयो, अगर व्यक्तित्व को विकसित करना हो। लेकिन हम तो सोचते हैं, जितनी सुरक्षा में, जितनी सीक्योरिटी में जीयें--बैंक-बैंलेस हो, मकान हो, कोई डर न हो, पुलिस वाले हों, मिलिट्री हो और हम चुपचाप उसके भीतर जीयें। तो हमको पता ही नहीं है कि इस व्यवस्था और इस सुविधा जुटाने में हम मर ही गये। जीने का कोई सवाल न रहा।
क्योंकि जीने का एक ही अर्थ है, खतरे में जीना।
जीने का कोई दूसरा अर्थ होता ही नहीं। मुर्दे बिल्कुल सुरक्षित हैं।
क्योंकि अब वे मर भी नहीं सकते हैं। अब उनको कोई मार भी नहीं सकता है।
कब्रें बिल्कुल सुरक्षित हैं।
एक सम्राट ने एक महल बनवाया था। और सुरक्षा की दृष्टि से उसने उस महल में एक ही दरवाजा रखा था। पड़ोस का सम्राट देखने आया था। देखकर बहुत खुश हुआ। और उसने कहा, ऐसा मकान तो मैं भी बनवाना चाहूंगा। यह तो बड़ा सुरक्षित है। इसमें कोई शत्रु आ ही नहीं सकता। एक ही दरवाजा था और दरवाजे पर बहुत पहरा था। फिर वह सम्राट विदा होने लगा, जब उस रास्ते पर आकर मकान के मालिक

सम्राट ने आए हुए मेहमान को विदा किया तो रास्ते पर भीड़ इकट्ठी हो गयी। और जब उस सम्राट ने जाते वक्त कहा कि मैं बहुत खुश हुआ, मैं भी एक ऐसा मकान बनवाऊंगा। तो एक बूढ़ा आदमी वहां खड़ा था, वह हंसने लगा। तो सम्राट ने पूछा, तुम क्यों हंसते हो?
उसने कहा, कि अगर आप मकान बनवाएं तो एक गलती मत करना, जो इसने की है। कौन-सी गलती है?
यह एक दरवाजा और मत रखना। सब दरवाजे बंद कर देना। तो फिर आप बिल्कुल खतरे के बाहर हो जायेंगे। पर उस आदमी ने कहा, फिर तो वह कब्र बन जायेगी! कब्र यह भी बन गयी है। एक दरवाजा जहां है और जहां सब तरह की सुरक्षा है और जहां कोई भय नहीं रहा चारों तरफ से।
हम भय के न रह जाने को अभय समझ लेते हैं, यह गलती है। अभय, भय की अनुपस्थिति नहीं है। भय की उपस्थिति में कोई दूसरी ही घटना है अभय, जो भीतर घटती है। वह भय की अनुपस्थिति नहीं है, एब्सेंस आफ फियर नहीं है। अभय भय की पूरी उपस्थिति है, सामना करने का साहस। लेकिन यह हमारे जीवन में विकसित नहीं हो पाता है।
मेरी प्रार्थना है आपसे, मंदिरों में प्रार्थना करने से नहीं आप परमात्मा के निकट पहुंचेंगे। लेकिन जहां जीवन का अभय आपको बुलाता हो, साहस बुलाता हो, जहां खतरे बुलाते हो, वहां पहुंचने से जरूर परमात्मा के निकट पहुंचेंगे। खतरों में, डेंजर्स में, इनसीक्योरिटी में, असुरक्षा में, वहां आपके भीतर जो छिपा केंद्र है, सोया हुआ, वह जागता है और सजग होता है। वहां उसे चुनौती मिलती है। वह केंद्र नाभि का वहीं विकसित होता है। पुराने दिनों में संन्यासी ने यही असुरक्षा स्वीकार की थी। इसी इनसीक्योरिटी को स्वीकार किया था। घर छोड़ दिया, इसलिए नहीं कि घर बुरा था। पीछे के पागल लोग यही समझने लगेः घर बुरा था, इसलिए छोड़ दिया। पत्नी-बच्चे छोड़ दिये, इसलिए नहीं कि पत्नी-बच्चे जंजीर थे। गलत है यह बात। लेकिन जहां- जहां सुरक्षा थी, संन्यासी उसको छोड़ देता था। असुरक्षा में प्रवेश करता था, इनसीक्योरिटी में, जहां कोई सहारा नहीं, जहां कोई मित्र नहीं, जहां कोई परिचित नहीं, जहां कोई अपना नहीं। जहां बीमारी होगी, मौत होगी, खतरे होंगे, एक पैसा पास नहीं--ऐसी असुरक्षा में प्रवेश करता था। तो वह जो इनसीक्योरिटी में जाता था, असुरक्षा में जाता था, वही संन्यासी था। लेकिन पीछे संन्यासियों ने भी बहुत अच्छी सुरक्षा कर ली। गृहस्थियों
से भी ज्यादा अच्छी सुरक्षा कर ली! गृहस्थी को बेचारे को कमाना भी पड़ता है, संन्यासी को कमाना भी नहीं पड़ता है। वे और भी सुरक्षित हैं। उनको तो मिल जाता है। उनको वस्त्र भी मिलते हैं, कपड़ा भी मिलता है, मकान भी मिलते हैं। कोई उन्हें कमी नहीं रही। सिर्फ फर्क एक पड़ा कि उन्हें यह बनाना भी नहीं पड़ता। बनाने की झंझट और असुरक्षा भी खतम हो गयी कि बना पायेंगे कि नहीं बना पायेंगे। कोई न कोई बना देता है, कोई न कोई व्यवस्था जुटा देता है। तो संन्यासी और भी खूंटे से बंधा हुआ आदमी हो गया। इसीलिए संन्यासी हिम्मत नहीं करता। संन्यासी बहुत कमजोर मालूम होता है, आज की दुनिया में। जरा-सी भी हिम्मत नहीं कर सकता।
एक संन्यासी कहता है, मैं जैन हूं। एक संन्यासी कहता है, मैं हिंदू हूं। एक संन्यासी कहता है, मैं मुसलमान हूं। संन्यासी भी हिंदू, जैन और मुसलमान हो सकते हैं? संन्यासी तो सबका है।
लेकिन सबका कहने में डर है। क्योंकि सबका कहने का मतलब कहीं यह न हो जाये कि किसी के हम नहीं हैं, तो जो रोटी देते हैं, मकान बनाते हैं, उनसे साथ छूट जायेगा। वे कहेंगे कि आप हमारे नहीं, सबके हैं, तो सबके पास जायें। हम तो जैन साधु हो, तो आप के लिए व्यवस्था करते हैं; हिंदू साधु हो, तो व्यवस्था करते हैं; मुसलमान साधु हो, तो हम व्यवस्था करते हैं। हम तो मुसलमान हैं, हम मुसलमान साधुओं की व्यवस्था करते हैं। तो साधु कहता है, हम मुसलमान हैं। साधु कहता है, हम हिंदू हैं। यह सीक्योरिटी की तलाश है, यह सुरक्षा की तलाश है। यह नये घर की खोज है। पुराना घर छोड़ा है, नया घर चाहिए। बल्कि अब तो हालत ऐसी है कि जो समझदार हैं और जिनको अच्छा घर चाहिए, वे घर बनाते ही नहीं--संन्यासी हो जाते हैं।

आप तो नासमझ हैं। अपना घर बनायें और पाप में भी पड़ें और नर्क में भी जायें। दूसरे से घर बनवा लें, उसमें रहें भी, स्वर्ग भी जाने का मजा लें, पुण्य भी कमायें और झंझट से भी बचें। तो संन्यासियों ने एक अपने तरह की सुरक्षा खड़ी कर ली है।
लेकिन मूलतः संन्यासी का अर्थ होता है: खतरे में जीने की कामना।
मूलतः अर्थ होता है: कोई छाया नहीं घर पर, कोई साथी नहीं। कल का कोई भरोसा नहीं।
क्राइस्ट एक बगिया के पास से निकलते थे। और उन्होंने अपने मित्रों को कहा कि देखते हो, इस बगिया में खिले फूलों को? इन्हें पता नहीं कि कल सूरज निकलेगा कि नहीं निकलेगा। इन्हें पता नहीं कि कल पानी मिलेगा कि नहीं मिलेगा, लेकिन यह आज अपने आनंद में खिले हुए हैं। आदमी अकेला है, जो कल की व्यवस्था आज ही कर लेता है। परसों की व्यवस्था कर लेता है। ऐसे भी आदमी हैं कि उनकी कब्र कैसी बने, इसका भी इंतजाम कर लेते हैं। जो समझदार हैं, वे तो अपना स्मारक मरने के पहले ही बना लेते हैं। उसमें उनकी लाश रख दी जायेगी पीछे!
हम सब इंतजाम कर लेते हैं और हम यह भूल ही जाते हैं कि कल का इंतजाम जो आदमी आज कर लेता है, वह आज को कल के इंतजाम में खतम कर देता है। कल फिर वह आने वाले कल का इंतजाम करेगा और उसकी हत्या कर देगा। वह रोज आने वाले कल का इंतजाम करेगा और आज की हत्या करता चला जायेगा। और आज के अतिरिक्त कभी कुछ आता ही नहीं।
कल कभी आता ही नहीं। जब भी आता है, आज ही आता है। आज की हत्या कर देता
है कल के लिए! यह सुरक्षा खोजने वाले मन की प्रवृत्ति है कि आज की हत्या कर देता है कल के लिए! वर्तमान को न्यौछावर कर देता है भविष्य के लिए! और भविष्य कभी आता नहीं। कल कभी आता नहीं। आखिर में वह पाता है सारा जीवन उसके हाथ से निकल गया।
जो आज जीने की हिम्मत करता है और जो कल की फिक्र भी नहीं करता, यह आदमी डेंजर में जी रहा है, यह आदमी खतरे में जी रहा है, कल हो सकता है खतरा हो। किसी चीज का कोई भरोसा नहीं है। आज जो पत्नी प्रेम करती है, हो सकता है, कल प्रेम न करे। आज जो पति घर प्रेम करता है, हो सकता है, कल प्रेम न करे। कोई भरोसा नहीं है कल का! आज पैसा है, कल पैसा न हो, आज कपड़े हैं, कल कपड़े न हों। लेकिन कल की इस असुरक्षा को, इस इनसीक्योरिटी को जो पूरी तरह स्वीकार करता है, कल की प्रतीक्षा करता है कि कल जब सामने होगा, तब देखेंगे।
इस आदमी के भीतर वह केंद्र विकसित होना शुरू होता है, जिसे मैं नाभि- केंद्र कह रहा हूं। इसके भीतर एक बल खड़ा होता है, एक ऊर्जा खड़ी होती है, एक वीर्य खड़ा होता है। इसके भीतर एक हिम्मत का संबल खड़ा होता है। एक पिलर की तरह इसके भीतर कोई चीज खड़ी हो जाती है। उसी स्तंभ के ऊपर जीवन आगे यात्रा करता है।
तो शारीरिक दृष्टि से श्वास और मानसिक दृष्टि से साहस--ये दो बातें नाभि-केंद्र के विकास के लिए प्राथमिक रूप से जरूरी हैं। कुछ और बात होगी, कुछ आपके मन में इस संबंध में प्रश्न होंगे, तो रात मैं आपसे बात कर लूंगा। एक बात अंत में कहकर अभी की बैठक पूरी होगी।
जापान में इधर कोई सात-आठ सौ वर्षों से एक अलग ही तरह के आदमी को पैदा करने की उन्होंने कोशिश की, उसे वे समुराई कहते थे। वह साधु भी होता था और सैनिक भी होता था। यह बात बड़ी बेबूझ है, क्योंकि साधु और सैनिक का क्या संबंध? जापान में जो ध्यान के मंदिर थे, वे भी बड़े अजीब थे। वे ध्यान के मंदिर, जहां ध्यान सिखाया जाता था, वहां जुजुत्सु भी सिखाते हैं, जूडो भी सिखाते हैं, कुश्ती लड़ने की कला भी सिखाते हैं, तलवार चलाना भी सिखाते हैं, तीर चलाना भी सिखाते हैं। अगर हम वहां जाकर देखते, तो हम हैरान हो जाते कि ध्यान के मंदिर में तलवार चलाने की क्या जरूरत! और यहां जूडो सिखाना, और जुजुत्सु सिखाना, और कुश्ती लड़ना सिखाना--इसका क्या संबंध है ध्यान से! ध्यान के मंदिर के सामने तलवारों के निशान बने रहते हैं! बड़ी अजीब बात हो गयी थी।

लेकिन कुछ कारण था। जापान के साधकों ने धीरे-धीरे अनुभव की यह बात कि जिस साधक के जीवन में साहस और बल पैदा होने की संभावना नहीं होती, उस साधक का केवल मस्तिष्क ही रह जाता है पास में। उसका और गहरा केंद्र विकसित नहीं होता। वह पंडित ही हो सकता है, साधु नहीं हो पाता। वह ज्ञानी हो सकता है तथाकथित--कि उसे गीता भी मालूम है, कुरान भी मालूम है और बाइबिल भी मालूम है, उपनिषद भी मालूम है! तोते की तरह सब कंठस्थ है, यह हो सकता है। लेकिन जीवन का उसे कोई अनुभव नहीं होता। तो वे तलवार भी सिखाते, वे तीर चलाना भी सिखाते।
अभी एक मेरे मित्र जापान से लौटे तो किसी ने उनको एक मूर्ति भेंट कर दी। वे उस मूर्ति से बड़े हैरान हुए। उनको वह मूर्ति बिल्कुल समझ में नहीं आ सकी कि यह मूर्ति कैसी है। वे लौटे तो मेरे पास मूर्ति लेकर आये और कहा कि किसी ने मुझे भेंट की तो मैं ले तो आया, लेकिन मैं बार-बार सोचता रहा कि यह मूर्ति है कैसी? इसका मतलब क्या है? वह एक समुराई सैनिक की मूर्ति थी। तो मैंने उनको कहा, आपकी समझ में इसलिए नहीं पड़ रहा है कि हजारों साल
से हमने गलत ही समझ पैदा कर रखी है। उस मूर्ति में एक सैनिक है। और उसके हाथ में एक नंगी तलवार है। और जिस हाथ में उसके नंगी तलवार है, उस तरफ का उसका चेहरा नंगी तलवार की चमक में चमक रहा है। वह चेहरा ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे हो सकता है, अर्जुन का रहा हो! और दूसरे हाथ में उसके एक दीया है और दीये की ज्योति उसके चेहरे के दूसरे हिस्से पर पड़ रही है। और वह चेहरा ऐसा मालूम पड़ता है, जैसा बुद्ध का रहा हो, महावीर का रहा हो, क्राइस्ट का रहा हो! एक हाथ में तलवार है और एक हाथ में दीया है!
हमारी समझ में यह बात नहीं आती, क्योंकि या तो तलवार होनी चाहिए हाथ में, या दीया होना चाहिए हाथ में। दोनों चीजें एक आदमी के हाथ में कैसे हो सकती हैं? तो उनकी समझ में कुछ नहीं पड़ता था। उन्होंने मुझे आकर कहा कि मैं बड़ा परेशान हूं, यह मामला क्या है?
मैंने कहा कि यह जो दीया है, यह उसी आदमी के हाथ में हो सकता है, जिसके हाथ में तलवार की चमक भी हो सकती है! जिसके पास तलवार पकड़ने का, तलवार चलाने का सवाल नहीं है--तलवार चलाते तो कमजोर लोग हैं, भयभीत लोग हैं; लेकिन जिनकी जिंदगी एक तलवार हो जाती है, वे तलवार नहीं चलाते। उन्हें तलवार चलाने की जरूरत नहीं रह जाती। उनकी पूरी जिंदगी एक तलवार होती है। तो जिसके हाथ में तलवार है, उससे यह मत समझ लेना कि वे तलवार चलाने वाले ही हैं, कि किसी की हत्या करेगा, काटेगा! क्योंकि हत्या तो वही करता है, जो अपनी हत्या से डरता है, अन्यथा कोई हत्या नहीं करता। हिंसक तो सिर्फ भयभीत ही होता है। तलवार तो अहिंसक के हाथ में ही हो सकती है। असल में अहिंसक एक तलवार ही होता है। खुद ही एक तलवार होता है, तो ही अहिंसक हो सकता है; नहीं तो नहीं हो सकता।
लेकिन यह जो दीया है, यह जो शांति का दीया है, यह उसी के हाथ में शोभा
पा सकता है, और उसी के हाथ में हो सकता है केवल, जिसके प्राणों में वीर्य की तलवार भी पैदा हो गयी हो--ऊर्जा की, शक्ति की तलवार भी पैदा हो गयी हो। तो एक तरफ व्यक्तित्व पूरी शक्तिमत्ता से भर जाये और दूसरी तरफ पूरी शांति से, तो ही परिपूर्ण व्यक्ति, इंटीग्रेटेड पर्सनेल्टी जिसको हम कहें, जिसे हम पूर्ण योग कहें, वह उत्पन्न होता है।
अब तक दुनिया में दो तरह की बातें हुई हैं। या तो लोगों ने दीये हाथ में रख लिये हैं और बिल्कुल कमजोर हो गये हैं। इतने कि उनका कोई दीया फूंक दे, तो वह इनकार भी नहीं कर सकते कि आप हमारा दीया क्यों फूंक रहे हैं। वे सोचेंगे कि बेचारा चला जाये तो हम फिर जला लेंगे, या नहीं गया तो अंधेरे में ही रह लेंगे, ऐसा भी क्या हर्जा है। लेकिन कौन झंझट करे। तो एक तो दीया बचाने वाले ऐसे लोग हैं, कि जिनको दीया बचाने की भी जिनके पास कोई सामर्थ्य नहीं है।
भारत ऐसे ही कमजोर कौमों में से एक कमजोर कौम हो गयी है। और यह कमजोर कौम इसलिए हुई कि हमने जीवन की शक्ति के वास्तविक केंद्र तो विकसित नहीं किये। हमने केवल बुद्धि के पास बैठकर गीता कंठस्थ कर ली और महावीर के वचन याद कर लिये और बैठकर व्याख्या करने लगे। और उपनिषद याद करने लगे और गुरु-

शिष्य बैठे हैं और जमाने भर की फिजूल की बातों पर बातें कर रहे हैं, जिनका जीवन से कोई संबंध नहीं है। यह हम सारा मुल्क, पूरी की पूरी कौम कमजोर हो गयी है, दीन-हीन हो गयी है, नपुंसक हो गयी है।
और दूसरी तरफ ऐसे लोग हैं, जिन्होंने दीये की फिक्र ही छोड़ दी, सिर्फ तलवार लेकर चलाने में लग गये। फिर वह उनके पास दीया न होने से अंधेरे में दिखता नहीं कि वह किसको काट रहे हैं--अपने लोगों को काट रहे हैं कि दूसरों को काट रहे हैं। वे काटे चले जाते हैं! और कोई दीया-विया जलाने की बात कहे, तो कहते हैं, बकवास मत करो। जितनी देर में दीया जलायेंगे उतनी देर में तलवार नहीं चला लेंगे। और जिस धातु से दीया बनायेंगे, उससे एक तलवार और बन जायेगी। इतना तेल कौन खराब करे, इतनी धातु कौन खराब करे। जिंदगी तो तलवार चलाना है।
तो पश्चिम के लोग अंधेरे में ही तलवार चलाये जा रहे हैं। और पूर्व के लोग बिना तलवार लिये दीया लिये बैठे हुए हैं। वे दोनों रो रहे हैं। सारी दुनिया रो रही है। ठीक आदमी पैदा नहीं हो सका है। ठीक आदमी एक जीवंत तलवार भी होता है और एक शांति का दीया भी होता है। ये दोनों बातें जिस व्यक्तित्व में फलित होती हैं, उस व्यक्ति को ही मैं योगी कहता हूं, और किसी व्यक्ति को योगी नहीं कहता।
इस पहले सूत्र पर आज हमने बात की है। इस संबंध में आपके मन में बहुत से प्रश्न उठने जरूरी हैं, उठने चाहिए। वे प्रश्न आप लिखेंगे तो रात मैं उनकी बात कर सकूंगा। फिर कल हम दूसरे सूत्रों पर चर्चा शुरू करेंगे। इसलिए आज इस संबंध में ही प्रश्न पूछें और किसी संबंध में नहीं। फिर कल दूसरे संबंध में बात होगी, तब उस संबंध में प्रश्न पूछ लें। परसों तीसरे संबंध में बात होगी, तब उस संबंध में प्रश्न पूछ लें।
तो जो मैंने कहा है, उस संबंध में ही पूछेंगे तो ठीक होगा। और अगर कुछ ऐसे प्रश्न हों, जो कि इन तीनों दिनों में संबंधित न हों, तो अंतिम दिन आप उनको पूछ लेंगे। तो अंतिम दिन हम उन पर बात कर सकेंगे।
दोपहर की बैठक पूरी हुई।

साधना पथ
अठारहवां प्रवचन

नाभि-यात्रा: सम्यक आहार-श्रम-निद्रा

मनुष्य का जीवन कैसे आत्म-केंद्रित हो, कैसे वह स्वयं का अनुभव कर सके, कैसे आत्म-उपलब्धि हो सके, इस दिशा में आज दिन की दो चर्चाओं में थोड़ी- सी बात हुई है। कुछ बातें और पूछी गयी हैं। उन्हें समझने के लिए मैं तीन सूत्रों पर और अभी आपसे बात करूंगा। जो प्रश्न आज की चर्चा से संबंधित नहीं हैं, उनकी कल और परसों आपसे बात करूंगा। जो प्रश्न आज की चर्चा से संबंधित हैं, उन्हें मैं तीन सूत्रों में बांटकर आपसे बात करता हूं। पहली बात--मनुष्य स्वनिष्ठ, आत्म-केंद्रित या नाभि के केंद्र से जीवन
की प्रक्रिया को कैसे शुरू करे? तीन और सूत्र महत्वपूर्ण हैं, जिनके माध्यम से नाभि पर सोयी हुई ऊर्जा जाग सकती है और नाभि के द्वार से मनुष्य शरीर से भिन्न जो चेतना है, उसके अनुभव को उपलब्ध हो सकता है। उनमें तीन सूत्रों को पहले आपसे कहूं, फिर उनकी आपसे बात करता हूं।
पहला सूत्र है, सम्यक व्यायाम। दूसरा सूत्र है, सम्यक आहार। और तीसरा सूत्र है, सम्यक निद्रा। जो व्यक्ति ठीक-ठीक श्रम से, ठीक-ठीक आहार से, और ठीक-ठीक निद्रा से वंचित हो जाता है, वह कभी भी नाभि-केंद्रित नहीं हो सकता है। और इन तीनों ही चीजों से मनुष्य-जाति वंचित हो गयी है!
मनुष्य अकेला प्राणी है, जिसके आहार का कोई ठिकाना नहीं रहा है। बाकी सभी प्राणियों के आहार सुनिश्चित हैं। उनकी मूल प्रवृत्ति, उनकी प्रकृति निर्धारित करती है कि वे क्या खायें और क्या न खायें, और कितना खायें और कितना न खायें, और कब खायें और कब खाने से रुक जायें। लेकिन मनुष्य बिल्कुल ही इनडिटर्मिनेट है, वह बिल्कुल अनिश्चित है। न तो उसकी प्रकृति कुछ कहती है कि वह क्या खाये। न उसका बोध कहता है कि वह कितना खाये। न उसकी समझ कोई निर्धारण करती है कि वह कब रुक जाये। ये कोई भी बातें मनुष्य की सब निर्धारित न होने से मनुष्य का जीवन बहुत अनिश्चित दिशाओं में प्रवृत्त हुआ है। लेकिन थोड़ी भी समझ हो, थोड़ी भी बुद्धिपूर्वक, थोड़े भी विचार से, थोड़े भी आंख खोलकर आदमी जीना शुरू करे, तो आहार को सम्यक कर लेना जरा भी कठिन नहीं है, अत्यंत आसान बात है। उससे ज्यादा आसान कोई बात नहीं हो सकती। सम्यक आहार को दो-तीन टुकड़ों में बांटकर समझ लेना चाहिए।
पहली तो बात--मनुष्य क्या खाये, क्या न खाये? शरीर तो रासायनिक तत्वों
से निर्मित होता है। शरीर की सारी प्रक्रिया तो अत्यंत रासायनिक, अत्यंत केमिकल है। अगर एक आदमी के भीतर शराब डाल दी जाये, तो शरीर उस रसायन के प्रति प्रवृत्त होगा--नशे से, मूर्च्छा से भर जायेगा। फिर चाहे वह व्यक्ति कितना ही स्वस्थ, कितना ही शांत क्यों न हो, नशे की रासायनिकता उसके शरीर पर परिणाम लायेगी। चाहे वह व्यक्ति कितना ही साधु क्यों न हो, जहर उसे पिला दिया जाये तो उसकी मृत्यु हो जायेगी।
सुकरात की मृत्यु जहर के पिला देने से हो गयी और गांधी की मृत्यु एक गोली के मार देने से हो गयी। गोली यह नहीं देखती है कि यह आदमी साधु है या असाधु है। और जहर भी यह नहीं देखता है कि यह आदमी सुकरात है या कोई साधारण-जन है। न ही नशे यह देखते हैं, न भोजन यह देखता है कि आप कौन हैं और क्या हैं। उसके तो सीधे सूत्र हैं, वह शरीर की केमिस्ट्री में, शरीर के रसायन में जाकर काम करना शुरू कर देता है। ऐसा कोई भी भोजन जो मादक है, मनुष्य की चेतना में बाधा डालना शुरू करता है।
ऐसा कोई भी भोजन जो उत्तेजक है, मनुष्य की चेतना को नुकसान पहुंचाना शुरू करता है। ऐसा कोई भी भोजन जो मनुष्य को किसी भी तरह की मूर्च्छा में, उत्तेजना में, किसी भी तरह की तीव्रता में, किसी भी तरह के विक्षेप में ले जाता हो, वह सभी नुकसान करता है। और उस सबका अंतिम नुकसान और गहरे से गहरा नुकसान नाभि-केंद्र पर पहुंचना शुरू हो जाता है।
यह शायद आपको ख्याल न हो, सारी दुनिया में नेचरोपैथी, या नैसर्गिक उपचार--मिट्टी की पट्टियों का, शाकाहारी भोजन का, हल्के भोजन का, पानी की पट्टियों का, टब-बाथ का प्रयोग करते हैं। लेकिन किसी भी नेचरोपैथ को अभी

यह ख्याल में बात नहीं आयी है कि पानी की पट्टियों का, मिट्टी की पट्टियों का, या टब-बाथ का जो भी परिणाम होता है, वह पानी का उतना नहीं है, न मिट्टी का उतना है, बल्कि नाभि-केंद्र के ऊपर उनका जो परिणाम होता है, उसके कारण वे सारे प्रभाव पड़ते हैं। वे प्रभाव न तो मिट्टी के हैं उतने, न पानी के हैं, न टब-बाथ के हैं। लेकिन ये सारी चीजें नाभि-केंद्र की छिपी हुई ऊर्जा को जिस भांति प्रभावित करती हैं और वह यदि जाग्रत हो जाये तो मनुष्य के जीवन में स्वास्थ्य का अवतरण शुरू हो जाता है।
लेकिन अभी नेचरोपैथी को इसका कोई ख्याल नहीं है। वे सोचते हैं कि शायद मिट्टी की पट्टी चढ़ाने से यह फायदा हो रहा है, पानी में बिठाने से यह फायदा हो रहा है, पेट पर कपड़े की गीली पट्टी लगाने से यह फायदा हो रहा है! इसके फायदे हैं, लेकिन मौलिक फायदा तो नाभि-केंद्र के सुप्त केंद्रों के जागरण से शुरू होता है। यह जो नाभि-केंद्र है, इसके ऊपर अगर अनाचार किया जाये, इस नाभि-केंद्र के ऊपर अगर गलत आहार, गलत भोजन किया जाये तो वह धीरे- धीरे केंद्र सुप्त होता है और उसकी ऊर्जा क्षीण होती है। वह धीरे-धीरे केंद्र सोता है। अंततः वह करीब-करीब सो जाता है। उसका हमें कोई पता ही नहीं चलता कि वह भी कोई केंद्र है। हमें फिर दो ही केंद्रों का पता चलता रहता है। एक तो मस्तिष्क है, जहां विचार दौड़ते रहते हैं और एक थोड़े हृदय में, जहां भावनाएं दौड़ती रहती हैं। उसके नीचे हमारे कोई संबंध नहीं रह जाते। जितना हल्का आहार होगा, जितना कम बोझिल आहार होगा, शरीर के ऊपर जो बोझ न लाता हो, उतना ही कीमती और अर्थपूर्ण आपकी अंतर्यात्रा प्रारंभ होगी।
तो सम्यक आहार का पहला तो ध्यान रखना यह है कि वह उत्तेजक न हो, मादक न हो, वह भारी न हो। ठीक भोजन के बाद आपको बोझिलता और भारीपन अनुभव नहीं होना चाहिए। लेकिन शायद भोजन के बाद हम सभी को भारीपन और बोझिलता अनुभव होती है। तो हम गलत भोजन कर रहे हैं, यह हमें जान लेना चाहिए।
एक बहुत बड़े डाक्टर ने, केनेथवाकर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मैं अपने जीवन-भर के अनुभव से यह कहता हूं कि लोग जो भोजन करते हैं, उसमें से आधे भोजन से उनका पेट भरता है और आधे भोजन से हम डाक्टरों का पेट भरता है। अगर वे आधा भोजन करें तो वे बीमार ही नहीं पड़ेंगे, और हम डाक्टरों की कोई जरूरत न रह जायेगी।
कुछ लोग इसलिए बीमार रहते हैं कि उन्हें पूरा भोजन नहीं मिलता। और कुछ लोग इसलिए बीमार रहते हैं कि उन्हें ज्यादा भोजन मिल जाता है। कुछ लोग भूख से मरते हैं, कुछ लोग भोजन से मरते हैं! और भोजन से मरने वालों की संख्या भूख से मरने वालों की संख्या से हमेशा ज्यादा रही है। भूख से मरने वाले बहुत कम लोग हैं। एक आदमी भूखा भी रहना चाहे तो कम से कम तीन महीने तक उसके मरने की बहुत कम संभावना है। तीन महीने तक तो कोई भी आदमी भूखा रह सकता है। लेकिन एक आदमी अगर तीन महीने तक अति भोजन करे, तो कोई हालत में जिंदा नहीं रह सकता है।
लेकिन ऐसे-ऐसे लोग हुए हैं कि जिनका ख्याल ही हमें हैरानी से भर देता है। नीरो हुआ है एक बहुत बड़ा बादशाह। उसने दो डाक्टर लगा रखे थे कि वह भोजन करने के बाद उसे वामिट करवा दें, उसे उल्टी करवा दें, ताकि दिन में वह कम से कम पंद्रह-बीस बार भोजन करने का आनंद ले सके। तो वह खाना खाता, फिर दवा देकर उसे उल्टी करवा दी जाती, ताकि वह फिर से भोजन का आनंद ले सके!
हम भी क्या कर रहे हैं? उसने डाक्टर घर रख छोड़े थे, वह बादशाह था। हमने पड़ोस में बसा रखे हैं, हम बादशाह नहीं हैं। वह रोज उल्टी करवा लेता था, हम दो-चार महीने में करवाते हैं, लेकिन हम करवाते क्या हैं? हम गलत खाकर इकट्ठा कर लेते हैं, फिर डाक्टर उसको साफ करता है। फिर हम गलत खाना शुरू कर देते हैं। वह होशियार आदमी था, उसने रोज ही व्यवस्था कर ली थी। हम दो-तीन महीने में करते हैं। अगर हम भी बादशाह होते तो हम भी ऐसे ही करते। यह हमारी मजबूरी है, हमारे पास इतनी सुविधा नहीं है, तो हम इतना नहीं कर पाते। नीरो पर हमें हंसी आती है, लेकिन हम सब छोटी-मोटी मात्रा में नीरो से भिन्न नहीं हैं।

यह जो--यह जो हमारी असम्यक दृष्टि है भोजन के प्रति, यह भारी पड़ती चली
जा रही है। यह बहुत महंगी पड़ती चली जा रही है। और यह उस जगह हमको पहुंचा दिये है, जहां कि हम किसी तरह जिंदा हैं। भोजन हमारा हमें स्वास्थ्य लाता हुआ नहीं मालूम प.ड़ता, बल्कि भोजन बीमारी लाता हुआ मालूम पड़ता है। और जब भोजन बीमारी लाने लगे तो आश्चर्य की घटना शुरू हो गयी।
यह वैसे ही है कि सूरज सुबह निकले और अंधकार हो जाये। यह उतनी ही आकस्मिक और आश्चर्यजनक घटना है। लेकिन दुनिया के सारे चिकित्सकों का मत यह है कि आदमी की अधिकतम बीमारियां उसके गलत भोजन की बीमारियां हैं। पहली बात--प्रत्येक व्यक्ति को इस संबंध में बहुत बोध और होश से चलना चाहिए--साधक के लिए मैं कह रहा हूं यह--साधक को यह ध्यान में रखना जरूरी है कि वह क्या खाता है, कितना खाता है और उसके परिणाम उसके शरीर पर क्या हैं? और अगर एक आदमी दो-चार महीने ध्यानपूर्वक प्रयोग करे, तो वह अपने योग्य, अपने शरीर को समता और शांति और स्वास्थ्य देने वाले भोजन की तलाश जरूर कर लेगा। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन हम ध्यान ही नहीं देते हैं, इसलिए हम कभी तलाश ही नहीं कर पाते। हम कभी खोज ही नहीं पाते।
दूसरी बात--भोजन के संबंध में, जो हम खाते हैं, उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि हम उसे किस भाव-दशा में खाते हैं। उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। आप क्या खाते हैं, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना यह महत्वपूर्ण है कि आप किस भाव-दशा में खाते हैं। आप आनंदित खाते हैं, या दुखी, उदास और चिंता से भरे हुए खाते हैं। अगर आप चिंता से खा रहे हैं, तो श्रेष्ठतम भोजन के परिणाम भी पायजनस होंगे, जहरीले होंगे। और अगर आप आनंद से खा रहे हैं, तो कई बार संभावना भी है कि जहर भी आप पर पूरे परिणाम न ला पाये। बहुत संभावना है। आप कैसे खाते हैं, किस चित्त दशा में?
रूस में एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक था पीछे--पावलव। उसने जानवरों पर कुछ प्रयोग किये और वह उस नतीजे पर पहुंचा, जो बड़े हैरानी का है। वह कुछ कुत्तों पर प्रयोग कर रहा था, कुछ बिल्लियों पर प्रयोग कर रहा था। उसने एक बिल्ली को भोजन दिया और सामने उसके एक्स-रे मशीन लगा रखी थी, जिससे वह देख रहा था कि उस--उस बिल्ली के पेट में क्या हो रहा है भोजन के बाद। भोजन पेट में गया और भोजन के जाते ही पेट ने उस भोजन को पचाने वाले रस छोड़े। तभी एक कुत्ते को भी खिड़की के भीतर ले आया गया। कुत्ता भौंका, बिल्ली देखकर डर गयी और एक्स-रे की मशीन ने बताया कि उसके रस भीतर छूटने बंद हो गये! पेट बंद हो गया, सिकुड़ गया!
फिर कुत्ते को बाहर निकाल दिया गया, लेकिन छह घंटे तक पेट उसी हालत में पड़ा रहा! फिर भोजन के पचाने की क्रिया शुरू नहीं हुई! और छह घंटे में भोजन सब शांत हो गया। और छह घंटे के बाद जब रस छूटने शुरू हुए तो वह भोजन सब ठंडा हो चुका था। उस भोजन को पचाना कठिन हो गया। बिल्ली के मन में चिंता पकड़ गयी कुत्ते की मौजूदगी और पेट ने अपना काम बंद कर दिया।
हमारी हालत क्या होगी? हम तो चिंता में ही चौबीस घंटे जीते हैं। तो हम
जो भोजन करते होंगे, वह कैसे पच जाता है यह मिरेकल है, यह बिल्कुल चमत्कार है। यह भगवान कैसे करता है, हमारे बावजूद करता है यह। हमारी कोई इच्छा उसके पचने की नहीं है। यह कैसे पच जाता है, यह बिल्कुल आश्चर्य है! और हम कैसे जिंदा रह लेते हैं, यह भी एक आश्चर्य है! भावदशा--आनंदपूर्ण, प्रसादपूर्ण निश्चित ही होनी चाहिए।
लेकिन हमारे घरों में हमारे भोजन की जो टेबल है या हमारा चौका जो है,
वह सबसे ज्यादा विषादपूर्ण अवस्था में है। पत्नी दिन भर प्रतीक्षा करती है कि पति कब घर खाने आ जाये। चौबीस घंटे का जो भी रोग और बीमारी इकट्ठी हो गयी है, वह पति की थाली पर ही उसकी निकलती है। और उसे पता नहीं कि वह दुश्मन का काम कर रही है। उसे पता नहीं, वह जहर डाल रही है थाली में।
और पति भी घबराया हुआ, दिन भर की चिंता से भरा हुआ थाली पर किसी तरह भोजन को पेट में डालकर हट जाता है! उसे पता नहीं है कि एक अत्यंत प्रार्थनापूर्ण कृत्य था, जो उसने इतनी जल्दी में किया है और भाग खड़ा हुआ है। यह कोई ऐसा कृत्य नहीं था कि जल्दी में किया जाये। यह उसी तरह किये जाने योग्य था, जैसे कोई मंदिर में प्रवेश करता है, जैसे कोई प्रार्थना

करने बैठता है, जैसे कोई वीणा बजाने बैठता है। जैसे कोई किसी को प्रेम करता है और उसे एक गीत सुनाता है। यह उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण था। वह शरीर के लिए भोजन पहुंचा रहा था। यह अत्यंत आनंद की भावदशा में ही पहुंचाया जाना चाहिए। यह एक प्रेमपूर्ण और प्रार्थनापूर्ण कृत्य होना चाहिए।
जितने आनंद की, जितने निश्चिंत और जितने उल्लास से भरी भावदशा में कोई भोजन ले सकता है, उतना ही उसका भोजन सम्यक होता चला जाता है।
हिंसक भोजन यही नहीं है कि कोई आदमी मांसाहार करता हो। हिंसक भोजन यह
भी है कि कोई आदमी क्रोध से आहार करता हो। ये दोनों ही वायलैंट हैं, ये दोनों ही हिंसक हैं। क्रोध से भोजन करते वक्त, दुख में, चिंता में भोजन करते वक्त भी आदमी हिंसक आहार ही कर रहा है। क्योंकि उसे इस बात का पता ही नहीं है कि वह जब किसी और का मांस लाकर खा लेता है, तब तो हिंसक होता ही है, लेकिन जब क्रोध और चिंता में उसका अपना मांस भीतर जलता हो, तब वह जो भोजन कर रहा है, वह भी अहिंसक नहीं हो सकता है। वहां भी हिंसा मौजूद है।
सम्यक आहार का दूसरा हिस्सा है कि आप अत्यंत शांत, अत्यंत आनंदपूर्ण अवस्था में भोजन करें। और अगर ऐसी अवस्था न मिल पाये, तो उचित है कि थोड़ी देर भूखे रह जायें, उस अवस्था की प्रतीक्षा करें। जब मन पूरा तैयार हो, तभी भोजन पर उपस्थित होना जरूरी है। कितनी देर मन तैयार नहीं होगा? मन के तैयार होने का अगर ख्याल हो, तो एक दिन मन भूखा रहेगा, कितनी देर भूखा रहेगा? मन को तैयार होना पड़ेगा। मन तैयार हो जाता है, लेकिन हमने कभी उसकी फिक्र नहीं की है। हमने भोजन डाल लेने को बिल्कुल मेकेनिकल, एक यांत्रिक क्रिया बना रखी है कि शरीर में भोजन डाल देना है और उठ जाना है। वह कोई साइकोलाजिकल प्रोसेस, वह कोई मानसिक प्रक्रिया नहीं रही है। यह घातक बात है।
शरीर के तल पर सम्यक आहार स्वास्थ्यपूर्ण हो, अनुत्तेजनापूर्ण हो, अहिंसक हो और चित्त के आधार पर आनंदपूर्ण चित्त की दशा हो, प्रसादपूर्ण मन हो, प्रसन्न हो, और आत्मा के तल पर कृतज्ञता का बोध हो, धन्यवाद का भाव हो। ये तीन बातें भोजन को सम्यक बनाती हैं।
मुझे भोजन उपलब्ध हुआ है, यह बहुत बड़ी धन्यता है। मुझे एक दिन और जीने
को मिला है, यह बहुत बड़ा ग्रेटिट्यूट है। आज सुबह मैं फिर जीवित उठ आया हूं। आज फिर सूरज ने रोशनी दी है। आज फिर चांद मुझे देखने को मिलेगा। आज मैं फिर जीवित हूं। जरूरी नहीं था कि मैं आज जीवित होता। आज मैं कब्र में भी हो सकता था, लेकिन आज मुझे फिर जीवन मिला है। और मेरे द्वारा कुछ भी कमाई नहीं की गयी है, जीवन पाने को। जीवन मुझे मुफ्त में मिला है। इसके लिए कम से कम धन्यवाद का, मन में अनुग्रह का, ग्रेटिट्यूट का कोई भाव होना चाहिए।
भोजन हम कर रहे हैं, पानी हम पी रहे हैं, श्वास हम ले रहे हैं, इस सबके प्रति अनुग्रह का बोध होना चाहिए। समस्त जीवन के प्रति, समस्त जगत के प्रति, समस्त सृष्टि के प्रति, समस्त प्रकृति के प्रति, परमात्मा के प्रति एक अनुग्रह का बोध होना चाहिए कि मुझे एक दिन और जीवन का मिला है। मुझे एक दिन और भोजन मिला है। मैंने एक दिन और सूरज देखा। मैंने आज और फूल खिले देखे। आज मैं और जीवित था।
रवींद्रनाथ की मृत्यु आयी, उसके दो दिन पहले उन्होंने कहा--उन्होंने कहा कि हे परमात्मा, मैं कितना अनुगृहीत हूं, कैसे कहूं! तूने मुझे जीवन दिया, जिसे जीवन पाने की कोई भी पात्रता न थी। तूने मुझे श्वासें दीं, जिसके श्वास पाने का कोई अधिकार न था। तूने मुझे सौंदर्य के, आनंद के अनुभव दिये, जिनके लिए मैंने कोई भी कमाई न की थी। कि मैं धन्य रहा हूं और तेरे बोझ से, अनुग्रह के बोझ से डूब गया हूं। और अगर तेरे इस जीवन में मैंने कोई दुख पाया हो, कोई पीड़ा पायी हो, कोई चिंता पायी हो, तो वह मेरा कसूर रहा होगा। तेरा जीवन तो बहुत-बहुत आनंदपूर्ण था। वह मेरी कोई भूल रही है। तो मैं नहीं कहता हूं तुझसे कि मुझे मुक्ति दे दे जीवन से। अगर तू मुझे फिर से योग्य समझे तो बार-बार मुझे जीवन में भेज देना। तेरा जीवन अत्यंत आनंदपूर्ण था और मैं अनुगृहीत हूं।

यह जो भाव है, यह जो कृतज्ञता का भाव है, वह समस्त जीवन के साथ संयुक्त होना चाहिए। आहार के साथ तो बहुत विशेष रूप से। तभी आहार सम्यक हो पाता है।
दूसरी बात है--सम्यक श्रम। वह भी जीवन से विच्छिन्न हो गया है, वह भी अलग हो गया है। श्रम एक लज्जापूर्ण कृत्य हो गया है, वह एक शर्म की बात हो गयी है। एक--पश्चिम के एक विचारक आल्वेयर कामू ने अपने एक पत्र में मजाक में लिखा है कि एक जमाना ऐसा भी आयेगा कि लोग अपना प्रेम भी नौकर के द्वारा करवा लेंगे। अगर किसी को किसी से प्रेम हो जायेगा, तो एक नौकर लगा देगा बीच में कि तू मेरी तरफ से प्रेम कर आ। यह संभावना किसी दिन घट सकती है। क्योंकि और सब तो हम दूसरों से करवाना शुरू कर दिये हैं, सिर्फ प्रेम भर एक बात रह गयी है, जो हम खुद ही करते हैं।
प्रार्थना हम दूसरे से करवाते हैं। एक पुरोहित को रखवा लेते हैं। कहते हैं, हमारी तरफ से प्रार्थना कर दो, हमारी तरफ से यज्ञ कर दो। मंदिर में एक पुजारी पाल लेते हैं, उससे कहते हैं कि तुम हमारी तरफ से पूजा कर दो। प्रार्थना और पूजा भी हम नौकरों से करवा लेते हैं! तो कोई आश्चर्य नहीं है कि जब परमात्मा से प्रेम का कृत्य हम नौकरों से करवा लेते हैं, तो कोई बहुत कठिन नहीं है कि किसी दिन समझदार आदमी अपना प्रेम भी नौकरों से करवा लें। इसमें कौन-सी कठिनाई है? और जो नहीं नौकरों से करवा सकेंगे, वे लज्जित होंगे कि हम गरीब आदमी हैं, हमको खुद ही अपना प्रेम करना पड़ता है। ठीक भी है, यह संभव हो सकता है। क्योंकि जीवन में और बहुत कुछ महत्वपूर्ण है, जो हमने नौकरों से करवाना शुरू कर दिया है! और हमें इस बात का पता ही नहीं है कि उसको खोकर हमने क्या खो दिया है।
सारे जीवन की जो भी शक्ति है, वह सब खो गयी है! क्योंकि मनुष्य का शरीर, मनुष्य के प्राण किसी विशिष्ट श्रम के लिए निर्मित हैं और उस सारे श्रम से उसे खाली छोड़ दिया गया है। सम्यक श्रम भी मनुष्य की चेतना और ऊर्जा को जगाने के लिए अनिवार्य हिस्सा है।
अब्राहम लिंकन एक दिन सुबह-सुबह अपने घर बैठा अपने जूतों पर पालिश करता था। उसका एक मित्र आया और उस मित्र ने कहा, लिंकन यह क्या करते हो? तुम खुद ही अपने जूतों पर पालिश करते हो? तो लिंकन ने कहा, तुमने मुझे हैरानी में डाल दिया। तुम क्या दूसरों के जूतों पर पालिश करते हो? मैं अपने ही जूतों पर पालिश कर रहा हूं। तुम क्या दूसरों के जूतों पर पालिश करते हो? उसने कहा कि नहीं, नहीं मैं तो दूसरों से करवाता हूं। लिंकन ने कहा, दूसरों के जूतों पर पालिश करने से भी बुरी बात यह है कि तुम किसी आदमी से जूते पर पालिश करवाओ।
इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि जीवन से सीधे संबंध हम खो रहे हैं। जीवन के साथ हमारे सीधे संबंध श्रम के संबंध हैं। प्रकृति के साथ हमारे सीधे संबंध हमारे श्रम के संबंध हैं। कन्फ्यूशियस के जमाने में-- कोई तीन हजार वर्ष पहले--कन्फ्यूशियस एक गांव में घूमने गया था। उसने एक बगीचे में एक माली को देखा। एक बूढ़ा माली कुएं से पानी खींच रहा है। बूढ़े माली का कुएं से पानी खींचना बड़ा कष्टपूर्ण है। वह बूढ़ा लगा हुआ है पानी को... जहां बैल लगाये जाते हैं, वहां बूढ़ा लगा हुआ है और उसका जवान लड़का लगा हुआ है। वे दोनों पानी खींच रहे हैं! वह बूढ़ा बहुत बूढ़ा है।
कन्फ्यूशियस को ख्याल हुआ कि क्या इस बूढ़े को अब तक पता नहीं है कि बैलों या घोड़ों से पानी खींचा जाने लगा है। यह खुद ही लगा हुआ खींच रहा है। यह कहां के पुराने ढंग को अख्तियार किये हुए है। तो वह बूढ़े आदमी के पास कन्फ्यूशियस गया और उससे बोला कि मेरे मित्र! क्या तुम्हें पता नहीं है, नयी ईजाद हो गयी है। लोग घोड़े और बैलों को जोतकर पानी खींचते हैं, तुम खुद लगे हुए हो?
उस बूढ़े ने कहा, धीरे बोलो, धीरे बोलो! क्योंकि मुझे तो कुछ खतरा नहीं है, लेकिन मेरा जवान लड़का न सुन ले। कन्फ्यूशियस ने कहा, तुम्हारा मतलब? "मुझे सब ईजाद का पता है, लेकिन सब ईजाद आदमी को श्रम से दूर करने वाली है। और मैं नहीं चाहता कि मेरा लड़का श्रम से दूर हो जाये। क्योंकि जिस दिन वह श्रम से दूर होगा, उसी दिन जीवन से भी दूर हो जायेगा।"

जीवन और श्रम समानार्थक हैं। जीवन और श्रम एक ही अर्थ रखते हैं। लेकिन धीरे-धीरे हम उनको धन्यभागी कहने लगे हैं, जिनको श्रम नहीं करना पड़ता है और उनको अभागे कहने लगे हैं, जिनको श्रम करना पड़ता है! और यह हुआ भी। एक अर्थ में बहुत-से लोगों ने श्रम करना छोड़ दिया, तो कुछ लोगों पर बहुत श्रम पड़ गया। बहुत श्रम प्राण ले लेता है। कम श्रम भी प्राण ले लेता है। इसलिए मैंने कहा, सम्यक श्रम। श्रम का ठीक-ठीक विभाजन।
हर आदमी के हाथ में श्रम होना चाहिए। और जितनी तीव्रता से और जितने आनंद से और जितने अहोभाव से कोई आदमी श्रम के जीवन में प्रवृत्त होगा, उतना ही पायेगा कि उसकी जीवन-धारा मस्तिष्क से उतरकर नाभि के करीब आनी शुरू हो गयी है। क्योंकि श्रम के लिए मस्तिष्क की कोई जरूरत नहीं होती। श्रम के लिए हृदय की भी कोई जरूरत नहीं होती। श्रम तो सीधा नाभि से ही ऊर्जा को ग्रहण करता है और निकलता है।
थोड़ा श्रम, ठीक आहार के साथ-साथ थोड़ा श्रम अत्यंत आवश्यक है। और यह इसीलिए नहीं कि यह किसी और के हित में है कि आप गरीब की सेवा करें तो यह गरीब के हित में है, कि आप जाकर गांव में खेती-बाड़ी करें, तो यह किसानों के हित में है, कि आप कोई श्रम करेंगे, तो बहुत बड़ी समाज-सेवा कर रहे हैं। झूठी हैं ये बातें। यह आपके हित में है और किसी के हित में नहीं है। किसी और के हित का इससे कोई संबंध नहीं है। किसी और का हित इससे हो जाये, वह बिल्कुल दूसरी बात है, लेकिन यह आपके हित में है।
चर्चिल रिटायर हो गया था पीछे, तो मेरे एक मित्र उससे मिलने गये, और उसके घर गये। वह अपनी बगिया में उस बुढ़ापे में खोदकर कुछ पौधे लगा रहा था। तो मेरे मित्र ने उनसे कुछ राजनीति के प्रश्न पूछे। चर्चिल ने कहा, "छोड़ो भी। वह बात खतम हो गयी। अगर अब मुझसे कुछ पूछना है, तो दो चीजों के बाबत पूछ सकते हो। अगर बाइबिल के बाबत कुछ पूछना है, तो घर में पढ़ता हूं और बागवानी के संबंध में पूछना है, तो इधर मैं बागवानी करता हूं। बाकी अब राजनीति के संबंध में मुझे कोई... कोई मतलब नहीं है। हो गयी वह दौड़ खतम। अब मैं श्रम कर रहा हूं और प्रार्थना कर रहा हूं।"
तो लौटकर मुझसे कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं आया कि चर्चिल कैसा आदमी है। मैं सोचता था, कुछ उत्तर देगा वह। उसने कहा, अब मैं श्रम कर रहा हूं और प्रार्थना कर रहा हूं।
मैंने उनसे कहा, उसने दो शब्द पुनरुक्त किये, रिपीटीशन किया। श्रम और प्रार्थना एक ही अर्थ रखते हैं, दोनों पर्यायवाची हैं। और जिस दिन श्रम प्रार्थना हो जाता है और जिस दिन प्रार्थना श्रम बन जाती है, उस दिन सम्यक श्रम उपलब्ध होता है।
थोड़ा श्रम अत्यंत आवश्यक है। लेकिन श्रम की तरफ ध्यान नहीं गया। नहीं गया भारत के संन्यासियों का भी ध्यान, क्योंकि उन्होंने श्रम से अपने हाथ अलग खींच लिये। श्रम करने का उन्हें सवाल नहीं था। वे दूर हट गये। धनपति इसलिए दूर हट गया कि उसके पास धन था, वह श्रम खरीद सकता था। संन्यासी इसलिए दूर हट गये कि उन्हें संसार से कुछ लेना-देना न था, उन्हें कुछ पैदा न करना था, पैसा न कमाना था, उन्हें श्रम की जरूरत क्या थी। परिणाम यह हुआ कि समाज के दो आदरणीय वर्ग श्रम से दूर हट गये। तो श्रम जिनके हाथ में रह गया, वे धीरे-धीरे अनादरणीय हो गये।
श्रम का--साधक की दृष्टि से कह रहा हूं मैं--अत्यंत बहुमूल्य अर्थ और उपादेयता है। इसलिए नहीं कि उससे आप कुछ पैदा कर लेंगे, बल्कि इसलिए कि जितना आप श्रम में प्रवृत्त होंगे, आपकी चेतना-धारा केंद्रीय होने लगेगी, मस्तिष्क से नीचे उतरनी शुरू होगी। उत्पादक ही हो श्रम यह भी जरूरी नहीं है। अनुत्पादक भी हो सकता है। व्यायाम भी हो सकता है। लेकिन, कुछ श्रम शरीर की पूरी स्फूर्ति और प्राणों की पूरी सजगता के लिए और चित्त की पूरी जागृति के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह दूसरा हिस्सा है।
लेकिन इस हिस्से में भी भूल हो सकती है। जैसी भोजन के हिस्से में भूल होती है, या तो कोई कम भोजन करता है या कोई ज्यादा भोजन कर लेता है। वैसी भूल यहां भी हो सकती है। या तो कोई श्रम नहीं करता है या फिर ज्यादा श्रम कर सकता है। पहलवान ज्यादा श्रम कर लेते हैं। वह रुग्ण अवस्था है। पहलवान

कोई स्वस्थ आदमी नहीं है। पहलवान शरीर पर अति भार डाल रहा है और शरीर के साथ बलात्कार कर रहा है। तो शरीर के साथ बलात्कार किया जाये, तो शरीर के कुछ अंग, कुछ मसल्स अधिक विकसित हो सकते हैं। लेकिन कोई पहलवान ज्यादा नहीं जीता! कोई पहलवान स्वस्थ नहीं मरता! यह आपको पता है?
चाहे गामा हो, चाहे सैंडो हो, चाहे दुनिया के कोई बड़े से बड़े शरीर के पहलवान हों, वे सभी अस्वस्थ मरते हैं, जल्दी मरते हैं और खतरनाक बीमारियों से मरते हैं। शरीर के साथ बलात्कार मसल्स को फुला सकता है, शरीर को दर्शनीय बना सकता है, एग्जीबीशन के योग्य बना सकता है, लेकिन एग्जीबीशन, प्रदर्शन और जिंदगी में बड़ा फर्क है। जीने में और स्वस्थ होने में और प्रदर्शन-योग्य होने में बड़ा फर्क है।
न तो कम और न ज्यादा--हर व्यक्ति को खोज लेना चाहिए अपने योग्य, अपने शरीर के योग्य कि वह कितना श्रम करे कि ज्यादा स्वस्थ और ताजा जी सके। जितनी ताजगी होगी, जितनी भीतर स्वस्थ हवा होगी, जितनी श्वास-श्वास आनंदपूर्ण होगी, उतना ही जीवन आंतरिक होने में सक्षम होता है।
सिमनबैल ने, एक फ्रेंच विचारिका ने एक बड़ी अदभुत बात अपनी आत्म-कथा में लिखी है। उसने लिखा है कि मैं तीस वर्ष की उम्र तक हमेशा बीमार थी। मेरे सिर में दर्द था, अस्वस्थ थी। लेकिन यह तो मुझे चालीस साल की उम्र में पता चला कि मैं तीस साल तक साथ-साथ नास्तिक भी थी। और जब मैं स्वस्थ हुई तो मुझे पता नहीं कि मैं कब आस्तिक हो गयी। और यह तो बाद में सोचने पर मुझे दिखायी पड़ा कि मेरे बीमार और रुग्ण होने का संबंध भी मेरी नास्तिकता से था।
जो आदमी रुग्ण और बीमार है, वह परमात्मा के प्रति धन्यवाद से भरा हुआ नहीं हो सकता। उसके मन में थैंकफुलनेस नहीं हो सकती परमात्मा के प्रति। उसके मन में क्रोध ही होता है। और जिसके प्रति क्रोध हो, उसको स्वीकार करना असंभव है। और जिसके प्रति क्रोध हो, वह तो न हो, यही भावना होती है कि वह न हो।
अगर जीवन ठीक श्रम और ठीक व्यायाम पर एक विशिष्ट स्वास्थ्य के संतुलन
को नहीं पाता है, तो आपके चित्त में जीवन के मूल्यों के प्रति एक निषेध का भाव, एक निगेटिव वैल्यु, एक विरोध का भाव, एक विद्रोह का भाव होना स्वाभाविक है।
सम्यक श्रम परम आस्तिकता की सीढ़ियों में एक अनिवार्य सीढ़ी है।

तीसरी बात है सम्यक निद्रा। भोजन अव्यवस्थित हुआ है, श्रम अराजक हो गया है और निद्रा की तो बिल्कुल ही हत्या की गई। मनुष्य जाति की सभ्यता के विकास में सबसे ज्यादा जिस चीज को हानि पहुंची है वो निद्रा है। जिस दिन से आदमी ने प्रकाश की ईजाद की उसी दिन से निद्रा के साथ उपद्रव शुरू हो गया है। और फिर जैसे-जैसे आदमी के हाथ में साधन आते गए उसे ऐसा लगने लगा कि निद्रा एक अनावश्यक बात है। समय खराब होता है, जितनी देर हम नींद में रहते हैं, वह समय फिजूल जाता है। तो जितनी कम नींद से चल जाये उतना अच्छा। क्योंकि नींद का भी कोई जीवन की गहरी प्रक्रियाओं में दान है, कन्ट्रीब्यूशन है, ये तो ख्याल में नहीं आता। नींद का समय तो व्यर्थ गया। तो जितने कम समय सो लें उतना अच्छा। जितने जल्दी ये नींद से निपटारा हो जाये उतना अच्छा।
एक तरफ तो इस तरह के लोग थे जिन्होंने नींद को कम करने की दिशा शुरू की। और दूसरी तरफ साधु-सन्यासी थे। उनको ऐसा लगा कि नींद जो है, मूर्च्छा जो है ये शायद आत्मज्ञान की या आत्मवस्था की उलटी अवस्था है। तो निद्रा लेना ठीक नहीं है। तो जितनी कम नींद ली जाये उतना ही अच्छा है। साधुओं को एक और कठिनाई थी कि उन्होंने बहुत से सप्रेशन इकट्ठे कर लिए, बहुत से दमन इकट्ठे कर लिए, नींद में उनके दमन उठ के दिखाई पड़ने लगे, सपनों में आने लगे। तो नींद से भय पैदा हो गया। क्योंकि नींद में वे सारी बातें होने लगी जिनको दिन में उन्होंने अपने से दूर रखा है। जिन स्त्रियों को छोड़ के वे जंगल में भाग आए, नींद में वे स्त्रियां मौजूद होने लगीं, वे सपनों में दिखाई पड़ने लगीं। जिस धन को, जिस यश को छोड़ के वे चले आए थे, वह सपनों में

उनका पीछा करने लगा। तो उन्हें ऐसा लगा कि नींद तो बड़ी खतरनाक है, हमारे वश के बाहर है। जितनी कम नींद हो उतना अच्छा। तो साधुओं ने सारी दुनिया में एक हवा पैदा की, कि नींद कुछ गैर-आध्यात्मिक, अन-स्पिरिचुअल घटना है। यह अत्यंत मूढ़तापूर्ण बात है।
एक तरफ वे लोग थे जिन्होंने नींद का विरोध किया- क्योंकि उन्हें ऐसा लगा फिजूल है नींद, इतनी सोने की क्या जरूरत है? जितनी देर हम जागेंगे उतना ही ठीक है। क्योंकि गणित और हिसाब लगाने वाले, स्टैटिक्स जोड़ने वाले लोग बड़े अदभुत होते हैं! उन्होंने हिसाब लगा लिया कि एक आदमी आठ घंटे सोता है तो समझो कि दिन का तिहाई हिस्सा तो सोने में चला गया। और एक आदमी अगर साठ साल जीता है तो बीस साल तो फिजूल गए, बीस साल बिल्कुल बेकार चले गए। साठ साल की उम्र चालीस साल की ही रह गई। फिर उन्होंने और हिसाब लगा लिया कि एक आदमी कितनी देर में खाना खाता है, कितनी देर में कपड़े पहनता है, कितनी देर में दाढ़ी बनाता है, कितनी देर स्नान में लगाता है। सब हिसाब लगाकर उन्होंने बताया कि इस प्रकार सारी जिन्दगी बेकार चली जाती है।
वे हर चीज का समय घटाते चले गए... पता चला कि दिखाई पड़ता है कि आदमी साठ साल जीआ, बीस साल नींद में चले गए, कुछ साल स्नान करने में चले गए, कुछ खाना खाने में चले गए, कुछ अखबार पढ़ने में चले गए। सब बेकार चला गया। जिन्दगी में कुछ बचता नहीं। उन्होंने एक घबराहट पैदा कर दी कि जितनी जिन्दगी बचानी हो उतना इनमें कटौती करो। नींद सबसे ज्यादा समय ले लेती है आदमी का, तो इसमें कटौती कर दो। एक उन्होंने कटौती करवाई और सारी दुनिया में एक नींद विरोधी हवा फैला दी।
दूसरी तरफ साधु-संन्यासियों ने नींद को अन-स्पिरिचुअल कह दिया, कि गैर-आध्यात्मिक है। तो कम से कम सोओ। वो उतना ज्यादा साधु है जो जितना कम सोता है। बिल्कुल न सोओ तो परम साधु! इन दो बातों ने नींद की हत्या की। और नींद की हत्या के साथ ही मनुष्य के जीवन के सारे गहरे केन्द्र हिल गए, अव्यवस्थित हो गए, अपरूटेड हो गए। हमें पता ही न चला कि मनुष्य के जीवन में जो इतना अस्वास्थ आया, इतना असंतुलन आया; इसके पीछे निद्रा की कमी काम कर गई। जो आदमी ठीक से नहीं सो पाता वो आदमी ठीक से जी ही नहीं सकता।
निद्रा फिजूल नहीं हैं। आठ घंटे व्यर्थ नहीं जा रहे। बल्कि आठ घंटे
आप सोते हैं इसीलिए आप सोलह घंटे जाग पाते हैं। नहीं तो आप सोलह घंटे जाग नहीं सकते। वो आठ घंटों में जीवन-ऊर्जा इकट्ठी होती है, प्राण पुनर्जीवित होते हैं; आपके मस्तिष्क के और हृदय के केन्द्र शांत हो जाते हैं और नाभि के केन्द्र से जीवन चलता है आठ घंटे तक। निद्रा में आप वापिस प्रकृति के और परमात्मा के साथ एक हो गए होते हैं इसलिए प्राण पुनर्जीवित होते हैं। अगर किसी आदमी को सताना हो, टॉर्चर करना हो तो उसे नींद से रोकना सबसे बढ़िया तरकीब है- हजारों सालों में ईजाद की हुई। उससे आगे नहीं बढ़ा जा सका अब तक। अभी भी रूस में या हिटलर ने जर्मनी में जिन कैदियों को सताया उनमें सबसे सताने की जो तरकीब काम में लाई गई वो नींद। सोने मत दो किसी कैदी को। बस उसकी जिन्दगी में इतना टॉर्चर पैदा हो जाता है जिसका हिसाब लगाना संभव नहीं! तो कैदियों के पास आदमी लगा छोड़े थे। सबसे पहले चीनियों ने ईजाद की थी ये बात- आज से दो हजार साल पहले कि वो आदमी को सोने नहीं देते थे जिसको सताना है। उन्होंने बड़ी सस्ती तरकीब निकाली थी। एक कोठरी में उसको खड़ा कर देते थे। कोठरी इतनी सकरी होती थी कि वो हिलडुल नहीं सकता था, न बैठ सकता था, न लेट सकता था और उसके सिर पर बूंद-बूंद पानी टपकाते रहते ऊपर से। तो टप, टप, टप... वो उसके सिर पर पड़ता रहता था। वो हिलडुल सकता नहीं, बैठ सकता नहीं, लेट सकता नहीं। ज्यादा से ज्यादा बारह घंटे, सोलह घंटे, अठारह घंटे और आदमी चिल्लाने लगता, चीखने लगता कि मैं मर जाऊंगा, मुझे बचाओ, मुझे बाहर निकालो। वो कहते फिर बता दो जो बातें तुम छिपा रहे हो। तीन दिन में ज्यादा से ज्यादा साहस वाला आदमी भी थक जाता।
जर्मनी में हिटलर ने और स्टेलिन ने भी रूस में यही किया लाखों लोगों
के साथ कि उनको जगाए रखो, उनको सोने मत दो। इससे ज्यादा टॉर्चर किया नहीं जा सकता। किसी आदमी की हत्या कर दो, उस वक्त इतनी पीड़ा नहीं होती जितनी उस आदमी को न सोने दो। क्योंकि सो कर ही वो जो खोया है उसे वापिस पाता है। और

अगर न सो पाया, न सो पाया, न सो पाया... तो खोता चला जाता है और वापिस कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। वो रिक्त और खाली हो जाता है, एंप्टी हो जाता है।
हम सब लोग करीब-करीब खाली जैसी हालत में हैं। क्योंकि उपलब्ध करने के द्वार हमारे बंद और खोने के द्वार हमारे बढ़ते चले गए। नींद वापिस लौटानी जरूरी है। और अगर सौ, दो सौ वर्षों के लिए सारी दुनिया में कोई कानूनी व्यवस्था की जा सके कि आदमी को मजबूरी में सो ही जाना पड़े, कोई और उपाय न रहे तो मनुष्य जाति के मानसिक स्वास्थ के लिए इससे बड़ा कोई कदम नहीं उठाया जा सकेगा।
साधु के लिए तो बहुत ध्यान देना जरूरी है कि वो ठीक से सोए और काफी सोए।
ये भी समझ लेना जरूरी है कि सम्यक निद्रा हर आदमी के लिए अलग होगी, सभी आदमियों के लिए बराबर नहीं होगी। क्योंकि हर आदमी के शरीर की जरूरत अलग है, उम्र की जरूरत अलग है और कई दूसरे तत्व हैं जिनकी जरूरतें अलग हैं। बच्चा जब मां के पेट में होता है वो चौबीस घंटे सोता है। क्योंकि उस वक्त बच्चे के सब स्नायु बन रहे होते हैं। पूरी नींद की जरूरत है। चौबीस घंटे सोया रहेगा तो ही ठीक से शरीर उसका विकसित हो पाएगा। जो बच्चे लंगड़े-लूले पैदा हो जाते हैं या काने या अंधे; हो सकता है बीच-बीच में जग जाते हों या और कोई गड़बड़ हो जाती हो। हो सकता है किसी दिन विज्ञान इस बात को समझ पाए कि जो बच्चे मां के पेट में ही किसी तरह से जग जाते हैं वो बच्चे अपंग हो जाएंगे, उसके कोई अंग विकसित होने से वंचित रह जाएंगे। चौबीस घंटे पेट में सोया रहना जरूरी है क्योंकि पूरा शरीर निर्मित होता है, पूरा शरीर विकसित होता है। नींद बहुत गहरी जरूरी है तभी शरीर की सारी क्रियाएं काम कर सकती हैं।
फिर बच्चा पैदा होता है, तो वह बीस घंटे सोता है। अभी उसका शरीर बन रहा है। फिर वह अठारह घंटे सोता है, फिर चौदह घंटे सोता है। अभी उसका शरीर बन रहा है। जैसे-जैसे उसका शरीर परिपक्व होता चला जाता है, वैसे-वैसे नींद कम हो जाती है। आखिर में वह आठ घंटे और छह घंटे के करीब थिर हो जाती है। फिर बूढ़े आदमी की नींद कम हो जाती है और पांच घंटे, चार घंटे भी हो जाती है, तीन घंटे भी हो जाती है, क्योंकि बूढ़े आदमी के शरीर में फिर बनने का उपक्रम बंद हो जाता है। फिर उसे वापिस रोज उतनी नींद की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि अब उसकी मृत्यु करीब आ रही है। अगर वह उतना ही सोता रहे जितना बच्चा सोता है तो बूढ़ा आदमी भी मर नहीं सकता है, मरना मुश्किल हो जायेगा। मरने के लिए जरूरी है कि नींद कम होती चली जाये। और जीवन के लिए जरूरी
है कि नींद गहरी हो।
इसलिए बूढ़ा आदमी क्रमशः कम सोने लगता है। बच्चा ज्यादा सोता है। लेकिन अगर बूढ़े भी बच्चों के साथ वही व्यवहार करें जो खुद के साथ करते हैं तो खतरा हो जाता है। और बूढ़े अकसर करते हैं। बूढ़े बच्चों को भी बूढ़ा समझकर व्यवहार करते हैं। उनको भी उठाते हैं कि उठो! तीन बज गये, चार बज गये, उठो! उनको पता नहीं कि तुम बूढ़े हो, तुम चार बजे उठ गये हो, यह बिल्कुल ठीक है। लेकिन बच्चे चार बजे नहीं उठ सकते और उठाना गलत है। बच्चे की शरीर की प्रक्रियाओं को नुकसान पहुंचाना है। बच्चे के साथ बहुत अहितकर है यह बात। एक बच्चा मुझसे कह रहा था कि मेरी मां भी बड़ी अजीब है। जब रात को मुझे नींद नहीं आती है, तब जबरदस्ती मुझे सुलाती है और जब मुझे नींद आती है सुबह, तब जबरदस्ती मुझे उठाती है। मेरी कुछ समझ में नहीं आता है कि जब मुझे नींद नहीं आती है, तब मुझे सुलाया जाता है, और जब मुझे नींद आती है तब मुझे उठाया जाता है! वह मुझसे बोला कि मेरी मां को आप समझा दें, दुनिया को आप समझाते हैं। मेरी मां की कुछ समझ में आ जाये, यह उल्टा ही क्यों करती है? बच्चों के साथ बूढ़ों जैसा व्यवहार निरंतर होता है, हमें ख्याल ही नहीं है। और फिर किताबों में लिखे हुए, बंधे हुए सूत्र हैं, स्टैंडर्ड सूत्र हैं, उनके अनुसार आदमी जीने लगता है!
आपको शायद पता न हो, नवीनतम खोजबीन यह कहती है कि हर आदमी के लिए उठने
का समय भी एक नहीं हो सकता। जैसा हमेशा कहा जाता है कि पांच बजे उठ आना सबके लिए हितकर है। यह बात बिल्कुल ही अवैज्ञानिक और गलत है। सबके हित में

नहीं है, कुछ लोगों के हित में हो सकता है, कुछ लोगों के अहित में हो सकता है।
चौबीस घंटे में कोई तीन घंटे के लिए शरीर का तापमान नीचे गिर जाता है
हर आदमी का। और जिन तीन घंटों में तापमान नीचे गिरता है, वे ही तीन घंटे उसके लिये सबसे गहरी नींद के घंटे होते हैं। अगर उन तीन घंटों में उसे उठा दिया जाये तो उसका दिन भर खराब हो जायेगा। उसकी सारी ऊर्जा अस्त-व्यस्त हो जायेगी।
आमतौर से ये घंटे दो और पांच के बीच में होते हैं रात को। अधिकतम लोगों के ये तीन घंटे रात के दो बजे से लेकर और पांच बजे के बीच में होते हैं, लेकिन सभी के नहीं होते हैं। किन्हीं का छह बजे तक तापमान नीचे होता है। किन्हीं का सात बजे तक तापमान नीचे होता है। किन्हीं का चार बजे तापमान वापस लौटना शुरू हो जाता है। तो यह तापमान के बीच में अगर कोई उठ जायेगा तो उसके चौबीस घंटे खराब होंगे और दुष्परिणाम होंगे। जब उसका तापमान फिर से उठने लगता है, गिरा हुआ तापमान वापस उठने लगता है, तभी उठने का वक्त है।
आमतौर से यह ठीक है कि आदमी सूरज के उगने के साथ उठ आये, क्योंकि सूरज
के उगने के साथ ही सबका तापमान बढ़ना शुरू हो जाता है। लेकिन यह नियम है। कुछ इसके अपवाद होते हैं, जिनके लिए हो सकता है कि सूरज के थोड़ी देर बाद तक भी लेटा रहना जरूरी हो, क्योंकि हर आदमी के शरीर का तापमान अलग क्रम से, अलग मात्रा से उठता है। तो हर आदमी को यह देख लेना चाहिए कि जितनी देर सोने के बाद और जग उठने के बाद मुझे स्वस्थ मालूम होता है, वही मेरे लिए नियम है--चाहे शास्त्र कुछ भी कहते हों, गुरु कुछ भी बताते हों, किसी की सुनने की जरा भी जरूरत नहीं है।
तो सम्यक-निद्रा के लिए जितनी ज्यादा से ज्यादा गहरी और लंबी नींद ले सकें, वह लेना उचित है। लेकिन नींद लेने को कह रहा हूं, बिस्तर पर पड़े रहने को नहीं कह रहा हूं। बिस्तर पर पड़े रहना नींद नहीं है। और जब आपके लिए स्वास्थ्यपूर्ण मालूम पड़े, तभी उठना आपके लिए नियम है।
आमतौर से सूरज के उगने के साथ यह घटना घटनी चाहिए। लेकिन हो सकता है कुछ को न घटती हो, तो उसमें घबराने की, चिंतित होने की और अपने आपको पापी समझने की और नर्क चले जाने के डर की, कोई भी जरूरत नहीं है। क्योंकि कई जल्दी उठने वाले भी नर्क चले जाते हैं और कई देर से उठने वाले भी स्वर्ग में निवास कर रहे हैं। कोई इससे कोई संबंध आध्यात्मिकता और गैर-आध्यात्मिकता का नहीं है। लेकिन सम्यक-निद्रा का, राइट-स्लीप का जरूर संबंध है। तो वह हर व्यक्ति को अपना आयोजन खोज लेना चाहिये। एक तीन महीने तक हर व्यक्ति को श्रम पर, निद्रा पर और आहार पर प्रयोग करने चाहिए, और देखना चाहिए कि मेरे लिए सर्वाधिक स्वास्थ्यपूर्ण, सर्वाधिक शांतिपूर्ण, सर्वाधिक आनंदपूर्ण कौन-से सूत्र हो सकते हैं।
और प्रत्येक व्यक्ति को अपने सूत्र खोज लेने चाहिए। कोई दो व्यक्ति
एक जैसे नहीं हैं, इसलिए कोई सामान्य नियम किसी के लिए कभी लागू नहीं होता है। और जब भी कोई सामान्य नियम लागू करने की कोशिश करता है तो उसके दुष्परिणाम होते हैं। एक-एक व्यक्ति इंडीवीजुअल है। एक-एक व्यक्ति अनूठा, अद्वितीय और यूनीक है। उस जैसा वही है, उस जैसा कोई दूसरा आदमी जमीन पर कहीं भी नहीं है। इसलिए कोई नियम उसके लिए नियम नहीं हो सकता है, जब तक कि वह अपनी ही जीवन-प्रक्रिया के नियम को न खोज ले।
तो किताबें, शास्त्र और गुरु खतरनाक सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनके पास रेडीमेड फार्मूला होते हैं, तैयार फार्मूला होते हैं। वे बता देते हैं कि इतने बजे उठना चाहिए, यह खाना चाहिए, यह नहीं खाना चाहिए, ऐसा सोना चाहिए, ऐसा करना चाहिए। यह रेडीमेड फार्मूला खतरनाक है। वे समझने के लिए ठीक हैं, लेकिन हर आदमी को अपने जीवन में, अपनी व्यवस्था खोजनी पड़ती है। हर आदमी को अपनी साधना खोजनी पड़ती है। हर आदमी को साधना का पथ स्वयं चलकर निर्मित करना होता है। कोई राजपथ नहीं है जो बना-बनाया है, जिस पर आप गये और चलने लगे। ऐसा कहीं कोई राजपथ नहीं है। साधना बिल्कुल पगडंडी की भांति है और वह भी ऐसी पगडंडी की भांति, जो पहले से तैयार नहीं है; आप चलते

हैं, जितना चलते हैं, उतनी ही तैयार होती है। और जितना आप चल लेते हैं, उतना आगे की समझ बढ़ जाती है और आगे के लिए निर्मित हो जाती है।
तो यह तीन सूत्र और ध्यान में ले लेने जरूरी हैं--सम्यक आहार, सम्यक श्रम और सम्यक निद्रा। अगर इन तीन सूत्रों पर ठीक से--ठीक-ठीक इन सूत्रों पर जीवन की गति हो तो वह जिसे मैं नाभि-केंद्र कह रहा हूं, जो कि द्वार है आत्मिक जीवन का, उसके खुलने की संभावना बहुत बढ़ जाती है। और वह खुल जाये, उस द्वार के निकट हम पहुंच जायें तो एक बहुत ही अभिनव घटना घटती है, जिसका हमें सामान्य जीवन में कोई भी अनुभव नहीं है।
सांझ को मैं यहां से गया और एक मित्र मिले और उन्होंने कहा कि आप कहते हैं, वह तो ठीक है, लेकिन जब तक हमें संतोष न मिल जाये, तब तक बड़ा मुश्किल है। मैंने उनसे कुछ कहा नहीं। वे शायद सोचते हों कि मेरे कहने से संतोष मिल जायेगा तो बिल्कुल गलती में हैं और समय खराब कर रहे हैं। अपनी तरफ से जो मुझे मेहनत करनी है, वह मैं कर देता हूं। लेकिन आपकी तरफ उससे बहुत बड़ी मेहनत शेष रह जाती है। वह अगर आप नहीं करते हैं तो मेरे कहने का कोई प्रयोजन नहीं, कोई अर्थ नहीं है।
मुझे निरंतर लोग कहते हैं कि हम यह चाहते हैं--शांति चाहते हैं, आनंद चाहते हैं, आत्मा चाहते हैं! आप तो सब चाहते हैं, लेकिन चाहने से जगत में कुछ भी नहीं मिलता है। अकेली चाह बिल्कुल इंपोटेंट है, बिल्कुल नपुंसक है, उसमें कोई शक्ति नहीं है। चाह के पीछे संकल्प और श्रम भी तो चाहिए। आप चाहते हैं यह तो ठीक है, लेकिन उस चाह के लिए आप कितना श्रम करते हैं, उस चाह के लिए आप कितने कदम उठाते हैं--आप क्या करते हैं अपनी चाह के लिए? मेरे हिसाब में तो आप चाहते हैं, इसका एक ही सबूत है कि आप उस चाह के लिए क्या करके बताते हैं। नहीं तो कोई सबूत नहीं है कि आप चाहते भी हैं। जब कोई आदमी किसी चीज को चाहता है तो उसके लिए कुछ श्रम करके दिखाता है। वह श्रम ही इस बात की गवाही होता है कि उस आदमी ने चाहा कुछ। लेकिन आप कहते हैं कि चाहते तो हम हैं, लेकिन श्रम, उसके लिए कोई संकल्प, वह सब हमारे ख्याल में नहीं है।
अंत में एक बात और दोहरा दूं। तीन केंद्रों की मैंने बात कही है-- बुद्धि का केंद्र मस्तिष्क, भाव का केंद्र हृदय। और नाभि? नाभि किसका केंद्र है? विचार का केंद्र है बुद्धि, भाव का केंद्र है हृदय। नाभि किस का केंद्र है?--नाभि संकल्प का केंद्र है, विल पावर का केंद्र है। नाभि जितनी सजग होगी, उतना ही संकल्प तीव्र होगा, विल फोर्स तीव्र होगा। उतना ही करने की दृढ़ता और बल और आत्म-ऊर्जा उपलब्ध होगी।
या इससे उल्टा सोच लें। जितना आप संकल्प करेंगे, जितना करने का बल लेंगे, उतनी ही आपकी नाभि का केंद्र भी विकसित होगा। ये दोनों अंतर्निभर हैं, ये एक-दूसरे से संबंधित बातें हैं। जितना आप विचार करेंगे, उतनी बुद्धि विकसित होगी। जितना आप प्रेम करेंगे, उतना हृदय विकसित हेगा। जितना आप संकल्प करेंगे, उतना आपकी--आपकी अंतर ऊर्जा का केंद्रीय चक्र, वह जो केंद्रीय कमल है नाभि का, वह विकसित होगा।
एक छोटी-सी कहानी और अपनी बात मैं पूरी करूंगा।
एक फकीर--अंधा फकीर एक गांव में भीख मांग रहा था। उसके पास तो आंखें नहीं थीं, भीख मांगते हुए वह मस्जिद के द्वार पर पहुंच गया। मस्जिद के द्वार पर उसने हाथ फैलाया और मांगा कि मुझे कुछ मिल जाये, मैं भूखा हूं। पास से निकलते हुए लोगों ने कहा पागल! यह ऐसा घर नहीं है, जहां कोई भीख मिल सकेगी। यह तो मस्जिद है, यह तो मंदिर है। यहां कोई रहता ही नहीं है, तू कहां भीख मांग रहा है, यह तो मस्जिद है, यहां कुछ भी नहीं मिलेगा, और कहीं आगे बढ़।
वह फकीर हंसने लगा। और उसने कहा कि अगर भगवान के घर से कुछ नहीं मिलेगा तो फिर किस घर से मिलेगा? यह तो अंतिम घर आ गया, भूल से मैं अंतिम मकान के सामने आ गया। अब यहां से कैसे हटूं, हटूं तो कहां जाऊं, क्योंकि इसके आगे कोई घर नहीं है। अब मैं यहीं रुक जाऊंगा और यहां से लेकर ही हटूंगा।

लोग हंसने लगे। उन्होंने कहा, पागल, यहां कोई रहता ही नहीं, तुझे देगा कौन?
उसने कहा, यह सवाल नहीं है। लेकिन भगवान के घर से अगर खाली हाथ लौटना पड़ेगा, तो फिर हाथ कहां भरे जा सकेंगे। फिर तो कहीं हाथ नहीं भरे जा सकेंगे। अब आ ही गया हूं इस द्वार पर तो हाथ भर के ही लौटूंगा।
वह फकीर वहीं रुक गया। और एक वर्ष तक उसके हाथ वैसे ही फैले रहे और उसके प्राण वैसे ही पुकार करते रहे। और गांव के लोग उसे पागल कहने लगे। और गांव के लोग उससे कहने लगे कि तू बिल्कुल नासमझ है, तू कहां हाथ फैलाये हुए बैठा है? यहां कुछ भी मिलने को नहीं है। लेकिन वह फकीर भी एक था, वह बैठा ही रहा, बैठा ही रहा, और बैठा ही रहा!
और एक वर्ष बीत जाने के बाद उस गांव के लोगों ने देखा कि शायद उस फकीर
को कुछ मिल गया है। उसके चेहरे की रौनक बदल गयी है। उसके आसपास एक शांति की हवा उठने लगी, उसके आसपास एक रोशनी खड़ी हो गयी, एक सुगंध बहने लगी। वह आदमी नाचने लगा। जिसकी आंखों में आंसू थे, वहां मुस्कुराहट आ गयी। वह जैसे मुर्दा हो गया था। इस एक वर्ष में उसके प्राण फिर से खिल उठे, वह नाचने लगा।
लोगों ने पूछा कि क्या तुम्हें मिल गया?
उसने कहा कि यह असंभव था कि न मिलता, क्योंकि मैंने तय ही कर लिया था
कि या तो मिलेगा और या फिर मैं नहीं रह जाऊंगा। जो मैंने चाहा था वह मुझे उपलब्ध हो गया है। और मैंने तो शरीर के लिए रोटी चाही थी और मुझे आत्मा के लिए रोटी भी मिल गयी है। और मैंने तो शरीर की भूख मिटानी चाही थी और मेरी आत्मा की भूख भी मिट गयी है। लेकिन वे पूछने लगे कि तुझे मिला कैसे, तूने कैसे पाया?
उसने कहा, मैंने कुछ भी नहीं किया, लेकिन मैंने अपनी प्यास के पीछे अपने पूरे संकल्प को खड़ा कर दिया। और मैंने कहा अगर प्यास है तो उसके साथ पूरा संकल्प भी चाहिए। मेरा पूरा संकल्प साथ था, मेरी प्यास पूरी हो गयी। मैं उस जगह पहुंच गया, जहां वह पानी मिल जाता है, जिसे पीने से फिर कोई प्यास नहीं रह जाती।
संकल्प का अर्थ हैः जो हम चाहते हैं, जो हमें ठीक दिखायी पड़ता है, जो हमें मालूम होता है कि रास्ता है, उस पर चलने का आत्मबल भी जुटाना और साहस जुटाना और दृढ़ता जुटानी। अगर वह नहीं होती तो मेरे कहने से या किसी के कहने से कुछ भी नहीं हो सकता है। और अगर मेरे कहने से होता, तब तो बड़ी आसान बात थी। इस दुनिया में बहुत लोग हो चुके हैं, जिन्होंने बहुत अच्छी बातें कही हैं। अब तक सारी दुनिया को सब-कुछ हो गया होता। लेकिन न महावीर कुछ कर सकते हैं, न बुद्ध कुछ कर सकते हैं; न क्राइस्ट, न कृष्ण, न मुहम्मद। कोई कुछ नहीं कर सकता है, जब तक कि आप ही करने को तैयार न हों।
गंगा बही जाती है, सागर भरे पड़े हैं, लेकिन आपके हाथ में पात्र ही नहीं है! और आप चिल्लाते हैं कि मुझे पानी चाहिए। गंगा कहती है, पानी है, लेकिन पात्र कहां है? आप कहते हैं, पात्र की बात मत करो, तुम तो गंगा हो, इतना पानी है इसमें, तो कुछ हमें दे दो। गंगा के द्वार बंद नहीं हैं, गंगा के द्वार खुले हैं, लेकिन पात्र तो चाहिए।
संकल्प का पात्र जहां नहीं है, वहां साधना की कोई तृप्ति, कोई संतोष कभी उपलब्ध नहीं होता है।
मेरी बातें इतनी शांति से सुनीं। आज हमारी पहले दिन की तीन बैठकें पूरी होती हैं। कल से हम दूसरे दो तत्वों पर विचार करना शुरू करेंगे। और अब इस बैठक के बाद हम रात्रि के ध्यान के लिए बैठेंगे कोई दस मिनट के लिए। रात्रि के ध्यान के संबंध में दो-तीन बातें समझ लेनी हैं। लेटने का उपाय हो सकेगा। लेटने का उपाय हो सकेगा... तो लेटने की जगह बन जाएगी न! पहले समझ लें और फिर रात्रि का ध्यान हम करेंगे। सुबह का ध्यान तो बैठकर करने के लिए है। सुबह तो जीवन उठता है, जागता है इसलिए बैठकर ध्यान करना उपयोगी है। और रात्रि का ध्यान तो आप बिस्तर पर जब सोने चले जाते हैं तभी बिस्तर पर सोकर ही करने का है और फिर करने के बाद चुपचाप सो जाना है। वह अंतिम है। सुबह का ध्यान प्रथम जागने के बाद। रात्रि का ध्यान अंतिम, सोने के पहले।

सोने के पहले अगर ठीक से ध्यान में उतर जायें तो सारी नींद परिवर्तित
हो जाती है। पूरी नींद ध्यान बन सकती है, क्योंकि नींद के कुछ नियम हैं। इसमें पहला नियम यह है कि रात्रि में जो हमारा अंतिम विचार होता है वह हमारी निद्रा में केंद्रीय होता है, और वही सुबह उठने पर हमारा प्रथम विचार होता है।
रात्रि में सोते समय चित्त में जो अंतिम विचार होता है वह निद्रा में केंद्रीय हो जाता है, और सुबह उठते वक्त पहला विचार वही होता है। रात अगर आप क्रोध में सो गये हैं तो रात भर आपके सपने, आपका चित्त क्रोध के आसपास मंडराता रहेगा और सुबह जब आप उठेंगे तो आप पायेंगे कि पहला भाव और पहला विचार क्रोध ही आपके सामने खड़ा होगा। रात भर हम संजोते हैं उसे जिसे हम रात लेकर सो जाते हैं।
इसलिए मेरा कहना है कि रात अगर कुछ लेकर ही सोना है तो ध्यान को लेकर
सो जाना चाहिए ताकि रात पूरी नींद ध्यान के आसपास, उसी शांति के आसपास मंडराती रहे। धीरे-धीरे आप कुछ ही दिनों में पायेंगे कि सपने शून्य हो जाते हैं, नींद एक गहरी नदी बन जाती है और सुबह जब आप उठते हैं छह घंटे या आठ घंटे की गहरी निद्रा के बाद--इस ध्यान के बाद फिर तो जो पहला ख्याल होता है वह भी शांति का, आनंद का और प्रेम का ही होगा।
तो सुबह की यात्रा शुरू करनी है सुबह के ध्यान से और रात्रि की यात्रा शुरू करनी है रात्रि के ध्यान से। रात्रि का ध्यान लेटकर करने का है-- बिस्तर पर लेटकर करने का है। यहां हम प्रयोग के लिए अभी लेटकर के करेंगे। लेटकर तीन बातें ध्यान में लेनी हैं।
पहली बात तो, कि शरीर को बिल्कुल ही शिथिल छोड़ देना है। जैसे बिल्कुल शरीर में कोई प्राण ही न हो। इतना ढीला, इतना ढीला छोड़ देना है जैसे कोई प्राण नहीं है और तीन मिनिट तक मन में यह भाव करते रहना है कि मेरा शरीर शिथिल हो रहा है, शिथिल हो रहा है, शिथिल हो रहा है... जैसे-जैसे मन भाव करेगा, शरीर वैसा ही होता चला जायेगा।
शरीर बिल्कुल सेवक है, अनुगामी है। हम जो भी भाव करते हैं, शरीर वही करता है। अगर आप क्रोध से भरते हैं, शरीर पत्थर उठा लेता है; आप प्रेम से भरते हैं, शरीर किसी को हृदय से लगा लेता है। आप जो चाहते हैं, जो होना चाहते हैं, जो करना चाहते हैं, मन में भीतर विचार उठता है और शरीर क्रिया में उसे परिवर्तित कर देता है।
हम रोज देखते हैं यह चमत्कार घटते हुए कि भीतर विचार उठता है और शरीर उसे रूपांतरण दे देता है। हमने कभी शिथिल होने का विचार नहीं किया, अन्यथा शरीर बिल्कुल शिथिल भी हो जाता। शरीर तो इतना शिथिल हो जाता है कि पता ही नहीं चलता है कि शरीर है भी या नहीं, लेकिन थोड़े दिन के प्रयोग से यह हो जाता है। तो तीन मिनट तक सोचते रहना है, भाव करते रहना है।
अभी तो मैं आपको सुझाव दे दूंगा ताकि आपको ख्याल में आ जाये। तो जब मैं सुझाव दूं कि शरीर शिथिल हो रहा है, तो आप मन में भाव करते जायेंगे कि शरीर शिथिल हो रहा है, शिथिल हो रहा है... शरीर शिथिल हो जायेगा!
शरीर के शिथिल होते ही सांस शांत हो जायेगी। शांत होने का मतलब बंद नहीं, लेकिन धीमी, आहिस्ता और गहरी हो जायेगी। फिर तीन मिनट तक मन में भाव करना है कि मेरी श्वास भी शांत होती जा रही है, श्वास भी शिथिल होती जा रही है... तब धीरे-धीरे श्वास भी बिल्कुल शांत और सम हो जाती है। जब श्वास शांत हो जाती है और इन तीनों का संबंध है, जब शरीर शिथिल होगा तो श्वास अपने आप शांत होगी, जब श्वास शांत होगी तो मन अपने आप शांत होगा।
तो पहले हम शरीर पर शिथिलता का भाव करेंगे, उससे श्वास शांत होगी। फिर श्वास की शिथिलता का भाव करेंगे, उससे मन शांत होगा।
और फिर तीसरा सुझाव मैं आपको दूंगा कि अब आपका मन भी शांत और शून्य होता जा रहा है। ऐसा थोड़ी-थोड़ी देर तीनों सुझावों को करने के बाद दस मिनट के लिए मैं कहूंगा कि अब मन बिल्कुल शांत हो गया है तो जैसे हम सुबह बैठे रहे थे वैसे ही चुपचाप शांति में लेटे रहेंगे।
कुत्ते की आवाज आयेगी, कोई पक्षी चिल्लायेगा, कोई और कुछ आवाज होगी, उसे चुपचाप सुनते रहना, जैसे कोई सूना कमरा हो, कोई आवाज आती हो, गूंजती हो

और चली जाती हो! न तो उस आवाज के लिए यह सोचना है कि यह मुझे क्यों सुनायी दे रही है, न यह सोचना है कि कुत्ता क्यों भौंक रहा है, क्योंकि आपका कुत्ते से कोई संबंध नहीं है। आपको कोई सोचने की जरूरत भी नहीं है कि क्यों भौंक रहा है। या हम ध्यान कर रहे हैं, यह दुष्ट हमारे पीछे क्यों पड़ा हुआ है, इससे भी कोई संबंध नहीं है। उस कुत्ते को आपका बिल्कुल पता नहीं कि आप ध्यान कर रहे हैं। उसे कुछ मालूम नहीं है इसका, वह बिल्कुल अनजान है, वह अपने काम में लगा हुआ है। आपसे कुछ लेना-देना नहीं है, वह भौंक रहा है--उसे भौंकने देना है। वह विघ्न नहीं है आपके लिए। जब तक आप उसे डिस्टर्बेंस न बना लें! और वह डिस्टर्बेंस तब बनता है जब आप रेसिस्ट करते हैं। जब आप यह चाहते हैं कि कुत्ता न भौंके, तब परेशानी शुरू हो जाती है। लेकिन कुत्ता भौंक रहा है, जरूर भौंके। हम ध्यान कर रहे हैं, हम जरूर ध्यान करें। इन दोनों में कोई झगड़ा नहीं, कोई विरोध नहीं। आप शांत.... कुत्ते की आवाज आएगी और निकलेगी और चली जाएगी।
मैं एक छोटे से गांव में ठहरा हुआ था--एक छोटे से रेस्ट हाउस में। एक राजनीतिक नेता भी मेरे साथ ठहरे हुए थे। रात उस रेस्ट हाउस में न मालूम क्या हुआ कि गांव भर के कुत्ते जैसे इकट्ठे हो गए, वे बहुत चिल्लाने लगे। वे नेता बहुत परेशान हो गए। वे उठ कर मेरे कमरे में आए और कहा कि आप सो गए हैं क्या? क्योंकि मैं तो बड़ी मुश्किल में पड़ा हुआ हूं। ये कुत्तों को मैं दो बार भगा आया हूं लेकिन ये वापस लौट आते हैं!
मैंने कहा किसी को भी भगाइए, वह हमेशा वापस लौट आएगा। भगाने में यही गलती हो जाती है। कि जिसको हम भगाते हैं वह समझता है हमारी कोई जरूरत है, हमसे कोई मामला है, हमारा कोई महत्व है इसलिए हमें भगाया जा रहा है। तो कुत्ते भी बेचारे कुत्ते तो हैं। वे समझ गए होंगे कि आपको कोई जरूरत है। आप कुछ उन्हें इंपॉर्टेंस देते हैं, महत्व देते हैं, तो वे लौट आते हैं। और रह गई बात यह कि कुत्तों को तो कोई खबर नहीं है कि यहां कोई नेता ठहरे हुए है--कि वे आपके लिए चिल्लाते हों। आदमी तो है नहीं, आदमी को पता चल जाए तो नेता के आस--पास इकट्ठे हो जाते हैं। अभी कुत्तों में इतनी अक्ल नहीं आई कि नेता आ जाए तो इकट्ठे हो जाएं। कुत्ते अपने रोज ही आते होंगे। आप यह व्यर्थ का अपने मन में भाव न लें कि मेरी महत्ता के कारण यहां ये सब इकट्ठे हो गए हैं। उनको बिलकुल पता भी नहीं होगा। रह गई आपके न सोने की बात, तो कुत्ते आपको नहीं जगा रहे हैं, आप खुद ही जागे जा रहे हैं। आप व्यर्थ ही यह सोच रहे हैं कि कुत्तों को नहीं भौंकना चाहिए। आपको क्या हक है? कुत्तों को भौंकने का हक है, आपको सोने का हक है। इसमें दोनों में कोई विरोध नहीं है। ये पैरेलल चलती हैं चीजें, इनमें कहीं कोई कटाव नहीं है। कुत्ते भौंकते रहेंगे, आप सोते चले जाएंगे। न कुर्त्ते यह कह सकते हैं कि आप मत सोइए, हमारे भौंकने में बाधा पड़ती है। न आप कह सकते हैं। तो मैंने उनसे कहा आप स्वीकार कर लें कि कुत्ते भौंक रहे हैं और चुपचाप सुनें। अस्वीकार छोड़ दें। एक्सेप्ट कर लें। स्वीकार कर लें और स्वीकार करते ही आप पाएंगे कि कुत्तों का भौंकना भी एक संगतिपूर्ण लयबद्धता में परिवर्तित हो जाता है। फिर वे पता नहीं कब सो गए। सुबह उठ कर उन्होंने कहा कि मैं सच में हैरान रह गया। जब कोई रास्ता न रहा....पहले तो आपकी बात मुझे नहीं जंची। मेरी बात एकदम से किसी को भी नहीं जंचती है। उनको भी नहीं जंची।
लेकिन जब कोई रास्ता नहीं रहा और मजबूरी आ गई और देखा कि अब कोई उपाय
ही नहीं है--या तो नींद खराब करूं या आपकी बात मामू जब दो ही विकल्प रह गए, तो फिर मैंने कहा अब कुत्तों की तरफ तो मैंने ध्यान दे लिया, अब आपकी बात पर भी ध्यान देकर देख लूं। तो फिर मैं चुपचाप लेट गया और सुनता रहा और मैंने स्वीकार कर लिया। और मुझे पता नहीं कब नींद लग गई। और कुत्ते पता नहीं कब तक भौंकते रहे और कब बंद हो गए। और मैं सचमुच पूरी रात ही सो पाया हूं।
आप विरोध नहीं करें, जो भी चारों तरफ है उसे चुपचाप सुनते रहें। यह जो चुपचाप सुनते रहना है, यह बड़ी अदभुत....यह जो नॉन--रेसिस्टेंस है, यह जो अप्रतिरोध है, यह जो अविरोध है, जीवन के प्रति अविरोध ही ध्यान में ले जाने का सूत्र है।

तो पहले हम शिथिल होंगे, फिर हम अविरोध के भाव में चुपचाप सुनते रहेंगे। यह प्रकाश बुझा दिया जाएगा, ताकि आपको खयाल न रह जाए कि दूसरे लोग मौजूद हैं। क्योंकि कुत्तों को भूलना आसान है, पास-- पड़ोस के आदमियों को भूलना और भी कठिन है।
तो सब थोड़े फासले पर हो जाएंगे ताकि लेट सकें। कुछ लोग यहां पीछे आ जाएं, कुछ यहां मंच पर आ जाएं। जो लोग परिचित हैं वे थोड़े दूर हट आएं, जो अपरिचित हैं वे मेरे सामने रह जाएं। और अपनी-अपनी लेटने की जगह बना लें।
कोई किसी को छूता हुआ नहीं होगा।
हूं-हूं आ जाओ यहां ऊपर ही, यह जगह ले लो।
यह सब लाइट बुझ सकेगा न? हां, जल्दी आप हट जाएं ताकि फिर लाइट बुझ सके।
और कोई बातचीत न करें। इसमें बातचीत की कोई जरूरत नहीं है।
हां, जल्दी करें।
समझ ली न बात? अपनी-अपनी जगह बना लें। थोड़े दूर हट जाएं, कोई किसी को छूता हुआ न हो। ये सामने कुछ लोग आ जाएं, यहां फर्श का उपयोग कर लें। और बातचीत नहीं करेंगे। नहीं, बातचीत नहीं। क्योंकि इतनी बातचीत से ध्यान में पीछे जाना बहुत मुश्किल होगा। और यह भी ध्यान रखेंगे कि आपके कारण किसी दूसरे को जरा भी बाधा न हो। कुछ भी ऐसा आपसे न हो कि किसी दूसरे को जरा भी बाधा हो। क्योंकि आप अपना ध्यान खराब करने के हकदार हैं लेकिन किसी दूसरे का ध्यान खराब करने के हकदार नहीं हैं।
तो अपनी-अपनी जगह बना लें और फिर धीरे से लेट जाएं। धीरे से लेट जाएं।
आख बंद कर लें। बिलकुल आहिस्ता से आख बंद कर लें। फिर सारे शरीर को ढीला छोड़ दें। बिलकुल ढीला छोड़ दें। कोई शरीर में कड़ापन न रहे, कोई तनाव न रहे। बिलकुल ढीला छोड़ दें। जैसा आपको सुविधापूर्ण लगे, बिलकुल ढीला छोड़ दें। ठीक है! शरीर ढीला छोड़ दिया है। अब मैं सुझाव दूंगा, मेरे सुझाव के साथ अनुभव करें। शरीर ढीला छोड़ दिया है, आख बंद कर ली है। शरीर शिथिल हो रहा है.... भाव करें, शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर बिलकुल शिथिल होता जा रहा है....शरीर में शिथिलता दौड़ रही है.... शरीर के सब अंग शिथिल होते जा रहे हैं....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है...शरीर शिथिल हो रहा है.... शरीर धीरे-धीरे शिथिल होता जाता है....जैसे-जैसे भाव करेंगे, शरीर शिथिल हो जाएगा।
छोड़ दें, बिलकुल छोड़ दें, शरीर पर सारी पकड़ छोड़ दें। शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है. शरीर शिथिल हो गया है....शरीर बिलकुल शिथिल हो गया है...।
श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत होती जा रही है....श्वास शांत हो रही है....श्वास बिलकुल शांत होती जा रही है... भाव करें, श्वास शांत हो रही है......श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत हो गई है....श्वास शांत हो गई है....श्वास बिलकुल शांत हो गई है...।
मन भी मौन हो रहा है....मन मौन हो रहा है... भाव करें, मन मौन हो रहा है....मन भी शांत होता जा रहा है....मन शांत हो रहा है....मन शांत हो रहा है...मन शांत हो रहा है....मन शांत हो रहा है....मन शांत होता जा रहा है....मन शांत होता जा रहा है....मन शांत हो गया है....मन बिलकुल शांत हो गया है...।
अब दस मिनट के लिए चुपचाप सुनते रहें--कोई भी आवाज हो, चुपचाप सुनते रहें। सब स्वीकार कर लें और चुपचाप सुनते रहें। सुनते-सुनते ही गहराई और गहराई और गहराई उपलब्ध होती है। सुनें....दस मिनट के लिए चुपचाप सुनते रह जाएं...।
सुनते रहें, सुनते रहें, शांत सुनते रहें, मन बिलकुल शांत हो जाएगा।
मन शांत हो जाएगा। मन शांत होता जा रहा है....मन एक गहरी शांति में उतर रहा है....मन गहरे से गहरे शांत और सन्नाटे में उतर रहा है....मन धीरे-धीरे शून्य होता जा रहा है...।
सुनते रहें, सुनते रहें....मन शून्य होता जा रहा है....मन शांत होता जा रहा है....मन शांत होता जा रहा है....मन बिलकुल शांत होता जा रहा है....चुपचाप सुनते रहें....मन शांत हो गया है....मन शांत हो गया है....मन शांत हो गया

है....मन बिलकुल शून्य हो गया है...। और गहरे डूब जाएं, और गहरे उतर जाएं। मन बिलकुल शून्य हो गया है....मन शून्य हो गया है... 'इस शून्य को पूरी तरह अनुभव करें, रोज-रोज इसी शून्य में प्रवेश करें। मन बिलकुल शून्य हो गया है...। अब धीरे-धीरे दो-चार गहरी श्वास लें... धीरे-धीरे लेटे हुए ही दो-चार गहरी श्वास लें। प्रत्येक श्वास के साथ बहुत गहरी शांति अनुभव होगी। धीरे-धीरे दों-चार गहरी श्वास लें। फिर बहुत आहिस्ता से आख खोलें। लेटे हुए ही धीरे से आख खोलें। जैसी शांति भीतर है वैसी शांति बाहर भी अनुभव होगी। धीरे से आख खोलें, फिर धीरे-धीरे उठ कर बैठ जाएं। किसी को बाधा न हो, बहुत आहिस्ता से। बहुत चुपचाप धीरे से उठ कर बैठ जाएं। धीरे से चुपचाप अपनी जगह पर बैठ जाएं।
यह तो हमने प्रयोग के लिए समझा, लौट कर अपने-अपने कमरे पर प्रयोग को करें और फिर चुपचाप सो जाएं। इस प्रयोग को करने के बाद चुपचाप सो जाएं।
रात्रि की बैठक पूरी हुई।

साधना पथ
उन्नीसवां प्रवचन

मन-साक्षात्कार के सूत्र

मेरे प्रिय आत्मन्!
मनुष्य का मन, उसका मस्तिष्क एक रुग्ण घाव की तरह निर्मित हो गया है।
वह एक स्वस्थ केंद्र नहीं है, एक अस्वस्थ फोड़े की भांति हो गया है। और इसीलिए हमारा सारा ध्यान मस्तिष्क के आसपास ही घूमता रहता है। शायद आपको यह ख्याल न आया हो कि शरीर का जो अंग रुग्ण हो जाता है, उसी अंग के आसपास हमारा ध्यान घूमने लगता है। अगर पैर में दर्द हो तो ही पैर का पता चलना शुरू होता है और पैर में दर्द न हो तो पैर का कोई भी पता नहीं चलता। हाथ में फोड़ा हो तो उस फोड़े का पता चलता है। फोड़ा न हो तो हाथ का कोई पता नहीं चलता है। हमारा मस्तिष्क जरूर किसी न किसी रूप में रुग्ण हो गया है, क्योंकि चौबीस घंटे हमें मस्तिष्क का ही पता चलता है और किसी चीज का कोई पता नहीं चलता।
शरीर जितना स्वस्थ होगा, उतना ही उसका बोध नहीं होगा। जो अंग अस्वस्थ होता है, उसी का बोध होता है। मस्तिष्क का ही हमें बोध होता है शरीर में, उसके आसपास ही हमारी चेतना घूमती है और जानती है और पहचानती है। जरूर वहां कोई रुग्ण घाव पैदा हो गया है। इस रुग्ण घाव से मुक्त हुए बिना, मस्तिष्क की अत्यंत अशांत और तनाव से भरी हुई स्थिति से मुक्त हुए बिना कोई व्यक्ति जीवन के केंद्र की ओर गति नहीं कर सकता है। इसलिए आज मस्तिष्क की इस स्थिति और उसमें परिवर्तन के लिए कुछ विचार हम करेंगे।
पहली तो बात है, हम मस्तिष्क की स्थिति को ठीक से समझ लें। यदि दस मिनट
को आप एकांत में बैठ जायें और आपके मन में जो विचार चलते हों उन्हें एक कागज पर ईमानदारी से लिख लें, तो उस कागज को आप अपने निकटतम मित्र को भी बताने को राजी न होंगे। क्योंकि आप पायेंगे, उसमें ऐसे पागल विचार हैं जिनकी आपसे कोई भी अपेक्षा नहीं करता। आप स्वयं भी अपने से अपेक्षा नहीं करते। इतने असंगत, इतने व्यर्थ, इतने एक-दूसरे से असंबद्ध विचार हैं कि आपको प्रतीत होगा, आप पागल तो नहीं हो गये!
ईमानदारी से दस मिनट आप के मन में जो भी चलता है उसे वैसा ही लिख लें
तो आप खुद ही आश्चर्य से भर जायेंगे कि मेरे मन के भीतर यह क्या चलता है! मैं स्वस्थ हूं या विक्षिप्त हूं? लेकिन कभी हम दस मिनट के लिए भी मन के भीतर झांककर नहीं देखते कि वहां क्या चल रहा है। हो सकता है हम इसीलिए न झांकते हों कि हमें बहुत गहरे में इस बात का पता है कि वहां क्या चल रहा है।
शायद हम भयभीत हैं। इसीलिए आदमी अकेले में होने से डरता है और चौबीस घंटे किसी न किसी का साथ खोजता रहता है--कोई मित्र मिल जाये, कोई क्लब हो, कहीं भीड़ हो। नहीं कोई मिले तो अखबार मिल जाये, रेडियो मिल जाये, लेकिन अकेला कोई भी नहीं होना चाहता, क्योंकि अकेले होते से ही स्वयं की जो वास्तविक दशा है, उसकी खबरें मिलनी शुरू हो जाती हैं।
दूसरे की मौजूदगी में हम दूसरे में उलझे रहते हैं और खुद का कोई भी पता नहीं चलता। दूसरे की जो तलाश है, वह अपने से दूर भागने की तलाश के सिवाय और कुछ भी नहीं है। वह स्वयं से पलायन है, स्वयं से एस्केप है।
हम जो दूसरे लोगों में इतने उत्सुक होते हैं उसका बुनियादी कारण यह
है कि हम अपने से डरते हैं। और हमें भली-भांति पता है कि अगर हमने पूरी तरह अपने को जान लिया तो हम पायेंगे कि हम बिल्कुल पागल हैं। इस स्थिति से बचने के लिए आदमी साथ खोजता हैं, संगी खोजता है, मित्र खोजता है, समाज खोजता है, भीड़ खोजता है।
एकांत से आदमी डरता है, एकांत से भयभीत होता है, क्योंकि एकांत में उसकी वास्तविक स्थिति का प्रतिफलन मिल सकता है। उसके खुद के चेहरे की छाया उसे दिखायी पड़ सकती है। और वह बहुत घबराने वाली होगी, वह बहुत डराने वाली होगी। इसलिए सुबह उठने के बाद सोने तक हम अपने से भागने के सब उपाय

करते रहते हैं, कि कहीं स्वयं से मिलना न हो जाये। कहीं ऐसा न हो कि खुद से मुलाकात हो जाये।
और हजारों तरकीबें आदमी ने विकसित की हैं स्वयं से भागने की। और जितनी मनुष्य की मस्तिष्क की स्थिति बिगड़ती गयी है उतने ही हमने स्वयं से भागने के लिए नये-नये आविष्कार किये हैं। अगर हम पिछले पचास वर्षों की मानसिक दशा का आकलन करें तो हम पायेंगे कि पचास वर्षों में आदमी ने स्वयं से भागने की जितनी ईजादें की हैं, इसके पहले कभी भी नहीं की थीं। हमारे सिनेमा-गृह, हमारे रेडियो, हमारे टेलीविजन, सब स्वयं से भागने के उपाय हैं। और आदमी इतना परेशान होता जा रहा है।
मनोरंजन की इतनी खोज, स्वयं को थोड़ी देर के लिए भुलाने के लिए इतना आयोजन इसीलिए किया जा रहा है कि भीतर स्थिति बिगड़ती जा रही है। दुनिया भर में सभ्यता के बढ़ने के साथ-साथ नशों का प्रयोग बढ़ता चला गया है। और अभी नये-नये नशे खोजे गये हैं जिनकी यूरोप और अमरीका में जोर से धूम है। लिसर्जिक एसिड है, मेस्कलीन है, मारिजुआना है, सारे यूरोप और अमरीका के सारे सभ्य नगरों में, सारे शिक्षित लोगों में जोर से नये-नये नशों की खोज चल रही है कि आदमी के लिए स्वयं को भूल जाने का कोई सुव्यवस्थित उपाय होना चाहिए, नहीं तो बहुत मुश्किल हो जायेगी।
क्या कारण इस सबके पीछे होगा? क्यों हम अपने को भूलना चाहते हैं? सेल्फ-फारगेटफुलनेस के लिए, आत्म-विस्मरण के लिए हम इतने आतुर क्यों हैं? और आप ऐसा न सोचें कि सिनेमा में जाने वाले लोग ही स्वयं को भूलते हैं। मंदिर में जाने वाले भी इसीलिए मंदिर में जाते हैं, कोई फर्क नहीं है। मंदिर स्वयं को भूल जाने का पुराना उपाय है, सिनेमा नया उपाय है। एक आदमी बैठकर राम-राम जपता रहता है, तो आप यह न सोचें कि वह कोई भिन्न काम कर रहा है। वह राम-राम के शब्द में स्वयं को भूलने की उसी भांति कोशिश कर रहा है जैसे कोई आदमी फिल्मी गीत सुनकर कर रहा हो। इन दोनों बातों में फर्क नहीं है।
अपने से बाहर किसी भी चीज में उलझने की कोशिश, वह चाहे राम हो, चाहे सिनेमा हो, चाहे संगीत हो--अपने से बाहर किसी भी चीज में उलझे रहने की कोशिश बहुत बुनियाद में, गहरे में अपने से बचने की कोशिश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह आत्म-पलायन चल रहा है और हम सब इसमें किसी न किसी रूप में संलग्न हैं। यह इस बात की सूचना है कि भीतर स्थिति बहुत बिगड़ती जा रही है और वहां झांकने का साहस भी हम खोते जा रहे हैं। वहां देखने का साहस भी हम खोते जा रहे हैं। वहां आंख ले जाने के लिए भी हम भयभीत हो गये हैं।
हम उन शुतुरमुर्गों की तरह काम कर रहे हैं जिनके बाबत आपने सुना होगा
कि वे दुश्मन को देखकर रेत में मुंह छिपा कर खड़े हो जाते हैं। दुश्मन को देखना खतरनाक है। दुश्मन सामने है, शुतुरमुर्ग अपने सिर को रेत में गपा लेता है और निश्चिंत हो जाता है। क्योंकि जब दुश्मन दिखायी नहीं पड़ता तो तर्क उसका कहता है कि जो नहीं दिखाई पड़ता वह नहीं है। लेकिन यह भूल भरा तर्क है। और शुतुरमुर्ग माफ किये जा सकते हैं, आदमी माफ नहीं किया जा सकता। नहीं दिखायी पड़ने से कोई चीज मिट नहीं जाती। दिखायी पड़ने से तो मिटने का कोई उपाय भी हो सकता है, लेकिन न दिखायी पड़ने से तो मिटने का उपाय भी नहीं किया जा सकता।
हम भूलना चाहते हैं भीतर जो स्थिति है उसे। उस स्थिति को हम देखना नहीं चाहते। शायद हम मन में यह संतोष कर लेते होंगे कि जो नहीं दिखायी पड़ रहा है वह नहीं है। जो नहीं दिखायी पड़ रहा वह पूरी तरह है। न दिखायी पड़ने से न हो जाने का कोई संबंध नहीं है। और अगर दिखायी पड़ता तो शायद हम उसे बदल भी सकते। लेकिन नहीं दिखाई पड़ रहा है इसलिए हम उसे बदलने में भी असमर्थ हो गये हैं। वह भीतर बढ़ता जायेगा, एक ऐसे घाव की तरह, एक ऐसे फोड़े की तरह जिसे हमने छिपा लिया है और जिसे हम देखने को तैयार नहीं हैं।
मस्तिष्क एक फोड़ा हो गया है। अगर किसी दिन ऐसा संभव हो सका कि कोई मशीन ईजाद हो सकी और हम एक-एक आदमी के भीतर क्या चलता है उसे देखने में समर्थ हो सके तो शायद दुनिया में हर आदमी उसी क्षण आत्मघात कर लेगा। क्योंकि कोई भी इस बात के लिए तैयार नहीं होगा कि उसके भीतर क्या चलता है,

उसे कोई और देख ले। यह किसी न किसी दिन संभव हो जायेगा। और यह परमात्मा की बड़ी दया है कि उसने ऐसी खिड़की नहीं बनायी हमारे मस्तिष्क में, जिसमें से हम झांककर एक-दूसरे के भीतर क्या चलता है उसे देख लें।
आदमी भीतर दबाये बैठे हुए हैं कुछ और, बाहर वे जो कहते हैं वह बहुत और है। बाहर जो उनके चेहरे पर दिखायी पड़ता है वह कुछ और है, भीतर जो उनके चलता है वह बिल्कुल और है। हो सकता है, बाहर वे प्रेम की बातें कर रहे हों और भीतर घृणा के विचार चल रहे हों। हो सकता है, वे सुबह से मिलकर किसी आदमी से कह रहे हों कि नमस्कार! आपको देखकर बहुत आनंद हुआ। सुबह से आप मिल गये बड़ी खुशी हुई। और भीतर वे कह रहे हों कि इस दुष्ट का चेहरा सुबह से कैसे दिखायी पड़ गया!
अगर एक विन्डो हो, एक खिड़की हो और हम आदमी के सिर के भीतर झांक सकें तो बड़ी मुश्किल पड़ जाये, जीना कठिन हो जाये। जिससे हम मित्रता की बातें कर रहे हों, भीतर सोच रहे हों कि यह आदमी कब खतम हो जाये। ऊपर कुछ और है, भीतर कुछ और है और भीतर की तरफ हम देखने की हिम्मत भी नहीं करते कि भीतर हम झांकें और देखें।
एक रात ऐसा हुआ। एक घर में एक मां थी और उसकी बेटी थी। और उन दोनों को रात में उठकर नींद में चलने की बीमारी और आदत थी। कोई तीन बजे होंगे रात में, तब वह मां उठी और मकान के पीछे बगिया में पहुंच गयी। नींद में ही स्लीप वाकिंग की आदत थी, नींद में चलने की और बात करने की। वह मकान के पीछे बगिया में पहुंच गयी। उसकी लड़की भी उठी, और वह भी थोड़ी देर बाद बगिया में पहुंच गयी। जैसे ही उस बूढ़ी ने अपनी लड़की को देखा, वह जोर से चिल्लायी, "चांडाल, तूने ही मेरी युवा अवस्था छीन ली है। तूने ही मेरी जवानी छीन ली है। तू जब से पैदा हुई तब से मैं बूढ़ी होनी शुरू हो गयी। तू मेरी शत्रु है, तू न होती तो मैं अभी भी जवान होती।"
उस लड़की ने जैसे ही अपनी बूढ़ी मां को देखा, वह जोर से चिल्लायी कि "दुष्ट, तेरे ही कारण मेरा जीवन एक संकट और बंधन बन गया है। मेरे जीवन के हर प्रवाह में तू रोड़े की तरह खड़ी हुई है। मेरे जीवन के लिए तू एक जंजीर बन गयी है।"
और तभी मुर्गे ने बांग दी और उन दोनों की नींद खुल गयी। बूढ़ी ने लड़की
को देखते ही कहा, "बेटी! इतनी सुबह क्यों उठ आयी? कहीं तुझे सर्दी न लग जाये। चल, भीतर चल!" और उस लड़की ने जल्दी से अपनी बूढ़ी मां के पैर पड़े। सुबह से पैर पड़ने का उसका रोज का नियम था। और उसने कहा, कि "मां! तुम इतनी जल्दी उठ आयीं। तुम्हारी तबियत ठीक नहीं रहती है। इतनी जल्दी नहीं उठना चाहिए। आप चलिये और विश्राम करिये।" और नींद में उन्होंने यह कहा और जागकर उन्होंने यह कहा!
नींद में आदमी जो कहता है वह जागने के बजाय ज्यादा सच्चा होता है, क्योंकि ज्यादा भीतरी होता है। सपने में जो आप देखते हैं, वह आपकी कहीं ज्यादा असलियत है, बजाय उसके जो रोज आप बाजार और भीड़ में देखते हैं। भीड़ का चेहरा बनाया हुआ कृत्रिम चेहरा है। आप अपने गहरे में बिल्कुल दूसरे आदमी हैं।
ऊपर से आप कुछ अच्छे-अच्छे विचार चिपकाकर काम चला लेते हों, लेकिन भीतर विचारों की आग जल रही है। ऊपर से आप बिल्कुल शांत और स्वस्थ मालूम होते हो, भीतर सब अस्वस्थ और विक्षिप्त है। ऊपर से आप मुस्कुराते मालूम होते हैं, और हो सकता है कि सारी मुस्कुराहट भीतर आंसुओं के ढेर पर खड़ी हो। बल्कि बहुत संभावना यही है कि भीतर जो आंसू हैं, उनको छिपाने के लिए ही मुस्कुराहट का आपने अभ्यास कर लिया हो। आमतौर से आदमी यही करता है। नीत्शे से किसी ने एक बार पूछा कि तुम हमेशा हंसते रहते हो! इतने प्रसन्न हो! सच में ही क्या! नीत्शे ने कहा, "अगर तुमने पूछ ही लिया है तो मैं असलियत भी बता दूं। मैं इसलिए हंसता रहता हूं कि कहीं रोने न लगूं। इसके पहले कि रोना शुरू हो जाये, मैं हंसी से उसको दबा लेता हूं, भीतर ही रोक लेता हूं। मेरी हंसी दूसरों को धोखा दे देती होगी कि मैं खुश हूं। और मैं सिर्फ इसलिए हंसता हूं कि मैं इतना दुखी हूं कि हंसने से ही राहत मिल जाती है। अपने को समझा लेता हूं।"

बुद्ध को किसी ने हंसते नहीं देखा, महावीर को किसी ने हंसते नहीं देखा, क्राइस्ट को किसी ने हंसते नहीं देखा। कोई बात होनी चाहिए। शायद भीतर अब आंसू नहीं रहे जिन्हें छिपाने के लिए हंसने की जरूरत हो। शायद भीतर दुख नहीं रहा, जिसे ढांकने के लिए मुस्कुराहट सीखनी पड़ती हो। भीतर जो उल्टा था, वह विसर्जित हो गया है, इसलिए बाहर अब हंसी के फूल लगाने की कोई जरूरत नहीं रह गयी।
जिसके शरीर से दुर्गंध आती हो उसे सुगंध छिड़कने की जरूरत होती है, और जिसका शरीर कुरूप हो उसे सुंदर दिखायी पड़ने के लिए चेष्टा करनी पड़ती है। और जो भीतर दुखी है उसे हंसी सीखनी पड़ती है, और जिसके भीतर आंसू भरे हैं उसे मुस्कुराहट लानी पड़ती है। और जो भीतर कांटे ही कांटे से भरा है उसे बाहर से फूल चिपकाने पड़ते हैं।
आदमी बिल्कुल वैसा नहीं है जैसा दिखायी पड़ता है, उससे बिल्कुल उल्टा है। भीतर कुछ और है, बाहर कुछ और है। और यह बाहर जो हमने चिपका लिया है इससे दूसरे धोखे में आ जाते तो भी ठीक था, हम खुद ही धोखे में आ जाते हैं। यह जो बाहर हम दिखायी पड़ते हैं इससे दूसरे लोग धोखे में आते तो ठीक था, वह कोई बड़े आश्चर्य की बात न थी, क्योंकि लोग बाहर से ही देखते हैं। लेकिन हम खुद ही धोखे में आ जाते हैं, क्योंकि हम भी दूसरों की आंखों में अपनी बनी हुई तस्वीर को अपना होना समझ लेते हैं। हम भी दूसरों के जरिये अपने को देखते हैं, कभी सीधा नहीं देखते--जैसा कि मैं हूं, जैसा कि मेरे भीतर मेरा वास्तविक होना है।
दूसरों की आंखों में बनी हुई हमारी तस्वीर हमको भी धोखा दे जाती है और इसीलिए हम भीतर देखने से डरते हैं। हम लोगों की आंखों में, हम अपनी तस्वीर देखना चाहते हैं, अपने को नहीं देखना चाहते। लोग क्या कहते हैं। इसीलिए हम इतने उत्सुक होते हैं इस बात को जानने के लिए कि लोग मेरे बाबत क्या कहते हैं। इसके जानने की उत्सुकता के पीछे और कुछ भी नहीं है। उनकी आंखों में जो मेरी तस्वीर बनती है, उससे ही मैं अपने को पहचान लूंगा कि मैं कैसा हूं। बड़े आश्चर्य की बात है! स्वयं को पहचानने के लिए भी मुझे दूसरों की आंखों में झांकना पड़ेगा।
आदमी डरता है कि मेरे संबंध में लोग कुछ बुरा तो नहीं कहते। आदमी प्रसन्न होता है, लोग अगर उसके संबंध में अच्छा कहते हैं, क्योंकि उसका खुद का अपना ज्ञान, उनकी कही गयी बातों पर, उनके ओपीनियन पर निर्भर करता है। उसका अपना सीधा, इमीजियेट कोई ज्ञान नहीं है। उसे स्वयं अपने को जानने का सीधा-सीधा कोई अनुभव नहीं है। यह अनुभव हो सकता है, लेकिन यह अनुभव होता नहीं, हम तो इस अनुभव से बचने की कोशिश करते हैं।
मस्तिष्क के संबंध में पहली बात जाननी जरूरी हैः दूसरे क्या कहते हैं--यह नहीं; दूसरों को मैं कैसा दिखायी पड़ता हूं--यह भी नहीं; मैं कैसा हूं--इसे सीधा, इसका सीधा साक्षात, इसका सीधा एनकाउंटर करना जरूरी है। मुझे अपने एकांत में, अपने मन को पूरी तरह खोलकर देखना जरूरी है कि वहां क्या है। यह अत्यंत दुस्साहस का काम है। यह अपने हाथ से अपने भीतर छिपे हुए नर्क में प्रवेश करने का साहस है। यह अपनी नग्नता में स्वयं को देखने की हिम्मत, बड़ी हिम्मत है।
एक सम्राट था। उसके परिवार के लोग, उसके घर के लोग, उसके मित्र, उसके वजीर, सभी एक बात से बहुत हैरान थे। वह रोज महल के मध्य में बने एक कक्ष में प्रवेश करता। चाबी अपने पास ही रखता उस कक्ष की। भीतर से जाकर द्वार बंद कर लेता। और एक ही द्वार था उसमें, कोई खिड़की भी न थी। सब तरफ से दीवालें बंद थीं। एक घंटे वह रोज चौबीस घंटे में उस भवन के भीतर रहता। न उसकी पत्नियां जानती थीं, क्योंकि उसने कभी किसी को नहीं बताया। कोई पूछता तो वह हंसकर चुप रह जाता और न वह किसी को चाबी देता था। सारे घर में विस्मय था और आश्चर्य था। और सारे लोगों की उत्सुकता निरंतर बढ़ती चली गयी, वह वहां करता क्या है! यह किसी को भी पता नहीं था कि वह वहां करता क्या है!
एक घंटे वह उस बंद घर में होता था, फिर चुपचाप बाहर निकल आता, चाबी अपने पास रख लेता, दूसरे दिन फिर उस बंद घर में जाता। आखिर उत्सुकता अपनी चरम अवस्था पर पहुंच गयी और सारे घर के लोगों ने मिलकर साजिश की कि जानना

ही पड़ेगा कि बात क्या है! वजीर, उसकी पत्नियां, उसके लड़के, उसकी बेटियां, सब सम्मिलित थे उस साजिश में। और उन्होंने दीवाल में रात को एक छेद किया ताकि कल सुबह वे जान सकें कि वह आदमी करता क्या है! वहां जाकर भीतर होता क्या है रोज एक घंटा!
फिर दूसरे दिन जब वह सम्राट भीतर गया तो उन सबने उस छेद पर एक-एक ने आंख रखकर देखी। जिसने भी आंख रखी, वह तत्काल वहां से हट आया और कहने लगा--यह क्या कर रहे हैं! यह क्या करते हैं! लेकिन कोई भी नहीं कहता था, सम्राट वहां क्या कर रहा था। जो भी आंख छेद पर ले आता, जल्दी हट आता और कहता कि यह क्या करते हैं!
सम्राट ने वहां भीतर जाकर अपने सारे वस्त्र फेंक दिये और नग्न हो गया। और उसने हाथ आकाश की तरफ जोड़े और उसने कहा, "हे परमात्मा! वह जो कपड़े पहने हुए आदमी था, वह मेरी असलियत नहीं थी--वह मैं नहीं था--असलियत तो अब है।" और वह कूदने लगा और चिल्लाने लगा और गालियां बकने लगा और पागल की तरह व्यवहार करने लगा। तो जिसने भी आंख रखकर उस छेद पर देखा वह जल्दी हट आया और उसने कहा कि यह सम्राट क्या करते हैं! हम तो सोचते थे शायद कोई प्रार्थना करते होंगे, कोई योग-साधन करते होंगे। यह क्या करते हैं!
और वह सम्राट कहने लगा ईश्वर से कि, "वह जो मैं अब तक वस्त्र पहने हुए चुपचाप और शांत दिखायी पड़ता था वह बिल्कुल झूठा आदमी था। वह साधा हुआ आदमी था, वह कल्टीवेटेड था। वह मैंने कोशिश कर-करके बना रखा था। असली अब मैं यह हूं। यह है मेरी असलियत, यह मेरी नग्नता, और यह मेरा पागलपन! यह है मेरी असलियत। और अगर मेरी असलियत तुझे स्वीकार हो जाये तो ठीक है, क्योंकि मैं आदमियों को तो धोखा दे सकता हूं, तुझे मैं कैसे धोखा दे सकता हूं? आदमियों को तो मैं वस्त्र पहनकर दिखा सकता हूं कि मैं नग्न नहीं हूं, लेकिन तू तो जानता है भली-भांति कि मैं नग्न हूं, मैं तुझे कैसे धोखा दे सकता हूं? मैं आदमियों को तो दिखा सकता हूं कि बहुत शांत और आनंदित हूं, लेकिन तू तो मेरे भीतर तक जानता है। तुझे मैं कैसे धोखा दे सकता हूं? तेरे सामने तो मैं एक पागल हूं।"
परमात्मा के सामने हम सब एक पागल की भांति हैं। परमात्मा को छोड़ दें
एक तरफ, अगर हम भी अपने भीतर आंख ले जायेंगे तो हम अपने सामने ही एक पागल की भांति प्रगट होंगे। मस्तिष्क बिल्कुल विक्षिप्त हो गया है, लेकिन इस तरफ हमारा कोई ध्यान नहीं है, इसलिए इसे बदलने का हम उपाय भी नहीं कर पाते हैं। पहली बात है, स्वयं के मस्तिष्क का सीधा साक्षात्कार। कैसे यह साक्षात्कार हो सकता है, उसके दो-तीन सूत्र समझ लेने उपयोगी हैं। फिर इस मस्तिष्क को कैसे बदला जा सकता है, उसके बाबत भी विचार किया जा सकता है। मस्तिष्क के सीधे साक्षात्कार के लिए पहली तो बात यह है कि हम सब तरह का भय छोड़ दें अपने को जानने में। भय क्या है स्वयं को जानने में? भय यह है कि कहीं हम बुरे आदमी न हों। भय यह है कि कहीं हम बुरे आदमी न हों--हम तो अपने को अच्छे आदमी बनाये हुए हैं। हम तो अच्छे आदमी दिखायी पड़ते हैं। हम तो साधु हैं, हम तो सरल चित्त हैं। हम तो ईमानदार हैं, हम तो सत्यवादी हैं। भय यह है कि कहीं भीतर यह पता न चले कि हम बेईमान हैं। भय यह है कि कहीं यह पता न चल जाये कि हम झूठे हैं। भय यह है कि कहीं यह पता न चल जाये कि हम असाधु हैं, जटिल हैं, कपटी हैं, पाखंडी हैं। कहीं यह पता न चल जाये कि हम सज्जन नहीं हैं। भय यह है कि कहीं हम जो अपने को समझे हुए हैं वह तस्वीर झूठी न साबित हो जाये।
जिस आदमी को यह भय है, यह फियर है वह कभी मन का साक्षात नहीं कर सकता है। जंगल में जाना आसान है, अंधेरे में जाना आसान है, जंगली जानवरों के पास भी निर्भय होकर बैठ जाना आसान है, लेकिन हमारे भीतर जो जंगली आदमी छिपा है, उसके सामने निर्भय होकर खड़ा होना बहुत कठिन है, बहुत आरडुअस है, बहुत तपश्चर्यापूर्ण है। धूप में खड़े होने में कोई तपश्चर्या नहीं है, कोई भी बेवकूफ खड़ा हो सकता है। सिर के बल खड़े हो जाने में भी कोई कठिनाई नहीं है, कोई भी जड़-बुद्धि को सरकस के खेल सिखाये जा सकते हैं।
और न कांटों पर लेट जाना बहुत कठिन है--चमड़ा बहुत जल्दी तैयार हो जाता है, कांटों पर लेटने के लिए भी तैयार हो जाता है, एडजस्ट हो जाता है। लेकिन

कठिनाई अगर मनुष्य के जीवन में तो कोई एक है, और वह यह है कि वह जैसा है भीतर सीधा और साफ--चाहे बुरा, चाहे पागल, उसे वैसा ही जानने की हिम्मत और साहस।
इसलिए पहली बात है भय को छा.ेडकर साहस-पूर्वक स्वयं को देखने की तैयारी। यह तैयारी जिसके पास नहीं है, वह कठिनाई में पड़ जाता है। आत्मा पाने के लिए तो हम उत्सुक होते हैं, परमात्मा के दर्शन के लिए भी उत्सुक होते हैं, लेकिन अपने सीधे और सच्चे दर्शन का साहस भी हममें नहीं है तो परमात्मा और आत्मा दूर की बातें हो जाती हैं। सबसे पहली सचाई हमारा मन है, हमारा मस्तिष्क है। सबसे पहली सचाई हमारे विचारों का केंद्र है जिससे हम निकटतम संबंधित हैं। पहले तो उसे ही देखना और जानना होगा, पहचानना होगा। पहला सूत्र है, निर्भयता से स्वयं के मन को एकांत में जानने की कोशिश। आधा घंटे के लिए कम से कम रोज, मन जैसा है उसको वैसा ही सहज रूप से प्रगट होने का मौका देना चाहिए। बंद कर लें उस सम्राट की तरह एक कमरे में अपने को, और मन में जो भी उठता हो उसे मुक्त कर दें और उससे कहें कि जो भी तुझे सोचना है और जो भी तुझे विचारना है, वह सब उठने दें। सारा सेंसर जो हम बिठाये हुए हैं अपने ऊपर कि कोई चीज बाहर न निकल आए, वह सब छोड़ दें। और मन को एक फ्रीडम, एक मुक्ति दे दें कि जो भी उठता हो उठे, जो भी प्रगट होना चाहता हो प्रगट हो। न तो हम कुछ दबायेंगे, न हम कुछ रोकेंगे। हम तो यह जानने को तत्पर हुए हैं कि भीतर क्या है! बुरे और भले का निर्णय भी नहीं करना है, क्योंकि निर्णय करते ही दमन शुरू हो जाता है। जिस चीज को आप बुरा कहते हैं उस चीज को मन दबाने लगता है और जिसको आप अच्छा कहते हैं उसको ओढ़ने लगता है।
तो न तो बुरा कहना है, न भला कहना है। जो भी है मन में, जैसा भी है, उसे वैसा ही जानने के लिए हमारी तैयारी होनी चाहिए। तो इस भांति अगर मन को पूरा मुक्त छोड़ दिया जाए और वह जो भी सोचना चाहता हो, वह जो भी विचारना चाहता हो, जिन भी भावों में बहना चाहता हो, उनमें उसे बहने दिया जाये। बहुत घबराहट होगी, लगेगा कि हम पागल हैं क्या?
लेकिन जो भीतर छिपा है, उसे जान लेना अत्यंत जरूरी है, उससे मुक्त हो जाने के लिए। उससे मुक्त हो जाने के लिए पहली बात उसकी जानकारी और उसकी पहचान है। और उसकी पहचान न हो, उसकी जानकारी न हो तो जिस शत्रु को हम जानते नहीं, उससे हम जीत भी नहीं सकते। उससे जीतने का कोई रास्ता नहीं है। छिपा हुआ शत्रु--पीठ के पीछे खड़ा हुआ शत्रु--खतरनाक है उस शत्रु से, जो आंख के सामने हो, जिससे हम परिचित हों, जिसे हम पहचानते हों।
पहली बात है, मन के ऊपर से सारा सेंसर, सारा प्रतिबंध, जो हमने लगा रखा है, सब तरफ से कि मन को हम कहीं उसकी सहजता में प्रगट नहीं होने देते। मन की जितनी स्पॉनटेनिटी है, यूटिलिटी है, सब असहज हो गया है, सब झूठा कर डाला है, सब परदे ओढ़ लिये हैं, सब झूठे मुंह पहन लिये हैं, और कहीं से भी उसकी सीधी बात को हम प्रगट नहीं होने देते। उसे उसकी सीधी बात में प्रगट होने देना, अपने सामने कम से कम शुरू में, ताकि हम परिचित हो सकें मन के एक-एक अंश से, मन के जो भीतर छिपे हैं और दबा दिये गये हैं।
मन का बहुत हिस्सा अंधकार में दबाया हुआ है। वहां हम कभी दीया नहीं ले जाते। अपने ही घर के बाहर के बरामदे में जीते हैं, भीतर के सारे कमरों में अंधकार छाया हुआ है और वहां कितने कीड़े-मकोड़े और कितने जाल और कितने सांप-बिच्छू इकट्ठे हो गये हैं, इसका कोई सवाल नहीं। अंधकार में वे इकट्ठे हो ही जाते हैं। और हम डरते हैं वहां रोशनी ले जाने से, कि हमारा घर ऐसा है यह हम सोचना भी नहीं चाहते, यह हम कल्पना भी नहीं करना चाहते। यह भय छोड़ देना अत्यंत आवश्यक है, साधक के लिए।
मस्तिष्क, मन और विचारों के जगत में क्रांति लाने के लिए पहला काम है,
वह भय छोड़कर, निर्भय होकर स्वयं को जानने के लिए तैयार हो जाना।
दूसरी बात है, इन में से सारा सेंसर, सारा प्रतिबंध उठा लेना। और हमने बहुत प्रतिबंध लगा रखे हैं। हमारी शिक्षा ने, नैतिक शिक्षा ने, सभ्यता और संस्कृति ने बहुत प्रतिबंध लगा रखे हैं कि यह सोचना ही मत, इस तरह का विचार ही मत करना, यह बुरा विचार है, इसे आने ही मत देना। जब हम रोक लगा देते हैं

तो बुरे विचार नष्ट नहीं हो जाते, केवल हमारे प्राणों के और गहरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। रोक लगा देने से कोई विचार हमसे बाहर नहीं हो जाता और हमारे भीतर गहरे खून में प्रविष्ट हो जाता है। क्योंकि जिस पर हम रोक लगाते हैं वह भीतर से उठ रहा था, कहीं बाहर से नहीं आ रहा था।
ध्यान रहे, जो भी आपके मन में है वह कहीं बाहर से नहीं आ रहा है, आपके भीतर से आ रहा है। जैसे कोई झरना प्रकट हो रहा हो किसी पहाड़ से हम उसका दरवाजा बंद कर दें तो झरना इससे नष्ट नहीं हो जायेगा, और रास्ते खोजेगा पहाड़ में, और प्रवेश करेगा, और नये रास्ते खोजेगा प्रगट होने के। एक झरना होता, शायद दस झरने हो जायेंगे अब, दस टुकड़ों में धाराएं टूटकर प्रगट होने की कोशिश करेंगी। और अगर हम दस जगह से बंद कर दें तो सौ झरने हो जायेंगे। हमारे भीतर से कुछ आ रहा है, बाहर से नहीं। तो इस पर जितनी रोक हम लगाते हैं उतना ही यह कुरूप होकर, विकृत होकर नये-नये रास्ते लेता है, नयी- नयी ग्रंथियां निर्मित करता है, लेकिन हम निरंतर रोक लगाते रहते हैं। बचपन से ही हमारी शिक्षा की बुनियाद यह है कि मन में फलां चीज बुरी है, उसे रोक लेना है। वह रुकी हुई चीज नष्ट नहीं हो जाती, हमारे प्राणों में गहरे प्रविष्ट हो जाती है। और जितना हम रोकते जाते हैं वह उतनी ही गहरी होती चली जाती है, उतना हमें पकड़ती चली जाती है।
क्रोध बुरा है तो हम क्रोध को रोक देते हैं। फिर क्रोध का झरना हमारे सारे खून में फैल जाता है। काम बुरा है, लोभ बुरा है, यह बुरा है, वह बुरा है। जो-जो बुरा है उसे रोक देते हैं, अंत में हम पाते हैं कि जिसे-जिसे हमने रोका था वही हम हो गये हैं। रुका हुआ, छेड़ा गया, बांधे गये बांध वे जो झरने थे, उन्हें कहां ले जायेंगे?
और मन के कुछ नियम हैं--उनमें एक नियम यह है कि जिस चीज को हम रोकना चाहते हैं, जिस चीज से हम हटना चाहते हैं, जिससे हम बचना चाहते हैं, वही चीज हमारे चित्त का केंद्र बन जाती है, वह सेंट्रल हो जाती है। जिस चीज से हम बचना चाहते हैं वह हमारे केंद्र का आकर्षण बन जाती है, मन हमारा उसके पास चक्कर काटने लगता है। आप कोशिश करके देख लें किसी चीज से बचने की, रोकने की और आप पायेंगे, चित्त आपका वहीं घूमने लगा है।
तिब्बत में एक फकीर था मिलारेपा। उसके पास एक युवक आया और उसने कहा कि "मुझे कोई मंत्र सिद्धि करनी है, मुझे कोई शक्ति अर्जित करनी है, मुझे कोई मंत्र दे दें।" मिलारेपा ने कहा कि मंत्र हमारे पास कहां! हम तो फकीर हैं। मंत्र तो जादूगरों के पास होते हैं, मदारियों के पास होते हैं, तुम उनके पास जाओ। हमारे पास मंत्र कहां? हमारे पास सिद्धि का क्या संबंध?
लेकिन वह युवक जितना ही उस साधु ने मना किया, उतना ही उस युवक को लगा
कि जरूर यहां कुछ होना चाहिए, इसीलिए यह मना करता है। जितना साधु रोकने लगा और इनकार करने लगा उतना ही वह युवक साधु के पास जाने लगा।
जो साधु डंडे से किन्हीं को भगाते हैं, उनके पास बहुत भीड़ इकट्ठी हो जाती है। जो गाली देते हैं और पत्थर मारते हैं, उनके पास भीड़ और बढ़ जाती है। क्योंकि जरूर यहां कुछ होना चाहिए, नहीं तो यह पत्थर मारेगा और डंडे मारेगा? लेकिन हमें पता नहीं है कि चाहे अखबार में खबर निकलवाकर बुलावाया जाए लोगों को, चाहे पत्थर मारकर, तरकीब एक ही है, प्रोपेगेंडा दोनों में ही एक है। और दूसरी तरकीब ज्यादा कनिंग से भरी है। जब पत्थर मारकर लोगों को भगाया जाये, तो लोगों के यह भी ख्याल में नहीं आता कि हमें बुलाया जा रहा है। लेकिन पत्थर मारकर भगाना भी बुलाने की विधि है। और तब आदमी आता भी है और उसे ख्याल में भी नहीं आता है कि मैं बुलाया गया।
उस युवक ने समझा कि यह शायद कुछ छिपाना चाहता है, इसलिए वह और रोज आने लगा। आखिर में मिलारेपा परेशान हो गया तो उसने एक कागज पर मंत्र लिखकर दे दिया और कहा, इसे ले जाओ और आज अमावस की रात है तो अंधेरे में पांच बार इसको पढ़ लेना। बस पांच बार तुमने पढ़ लिया कि सिद्धि हो जायेगी। फिर तुम जो भी चाहते हो, वह कर सकोगे। जाओ और मेरा पीछा छोड़ो।
वह युवक भागा। उसने धन्यवाद भी नहीं दिया। वह सीढ़ियां उतर भी नहीं पाया था मंदिर की कि मिलारेपा ने कहा कि मेरे मित्र! एक बात बताना मैं भूल गया। एक कंडीशन भी है, एक शर्त भी है। जब उस मंत्र को पढ़ो तो बंदर का स्मरण

नहीं आना चाहिए। उस युवक ने कहा--"बेफिक्र रहिये, आज तक जिंदगी में कभी नहीं आया। कोई आने का कारण नहीं है। पांच ही बार तो पढ़ना है न, कोई हर्जा नहीं है।"
लेकिन भूल हो गयी उससे। वह पूरी सीढ़ियां उतर भी नहीं पाया था कि बंदर आना शुरू हो गया। वह बहुत घबराया। आंख बंद करता है तो बंदर हैं, बाहर देखता है तो जहां बंदर नहीं हैं वहां भी दिखाई पड़ते हैं, मालूम होते हैं कि बंदर हैं। रात है, वृक्षों पर हलचल होती तो लगता है कि बंदर हैं। घर पहुंचा, बहुत परेशान हुआ कि यह मामला क्या है! यह आज तक मुझे बंदर कभी ख्याल ही नहीं आया। मेरा कोई नाता-रिश्ता बंदरों से नहीं रहा, कोई पहचान नहीं रही। घर पहुंचा, स्नान किया, लेकिन स्नान करता जा रहा है और बंदर साथ हैं।
एक ही तरफ ख्याल रह गया है--बंदरों की तरफ। फिर मंत्र पढ़ने बैठता है। हाथ में कागज लेता है, आंख बंद करता है और बंदरों की भीड़ उसको चिढ़ा रही है, भीतर बंदर मौजूद हैं। वह बहुत घबरा गया। रात भर उसने कोशिश की। सब भांति करवट बदलीं, इस भांति बैठा, उस पद्मासन में बैठा, इस सिद्धासन में बैठा, भगवान के नाम लिये, हाथ जोड़े, गिड़गिड़ाया, रोया, कि पांच मिनट के लिये केवल इन बंदरों से छुटकारा दिला दो। लेकिन वे बंदर थे कि उस रात उसका पीछा छोड़ने को राजी नहीं हुए।
सुबह तक वह बिल्कुल पागल हो उठा। घबरा गया और समझ गया कि यह मामला हल होने का नहीं है। यह सिद्धि नहीं हो सकती। मैं समझता था बड़ी सरल है, साधु होशियार है। उसने शर्त कठिन लगा दी। पागल है लेकिन... अगर बंदरों के कारण ही रुकावट होती थी तो कम से कम बंदरों का नाम न लेता। तो शायद यह मंत्र सिद्ध भी हो जाता।
लेकिन सुबह वह साधु के पास गया रोता हुआ और उसने कहा, वापस ले लें अपना मंत्र। बड़ी गलती की है आपने, अगर बंदर ही इसकी रुकावट थे इस मंत्र में तो कृपा कर के कल न कहते, आज कह देते तो कोई हर्ज न होता था आपका? मुझे कभी बंदर याद भी नहीं आये थे। लेकिन रात भर बंदरों ने मेरा पीछा किया। अब अगले जन्म में आऊंगा, फिर हो सकता है कि यह मंत्र सिद्ध हो सके; क्योंकि अब इस जनम में तो यह मंत्र और बंदर संयुक्त हो गये हैं। अब इनसे छुटकारा संभव नहीं है।
यह जो बंदर संयुक्त हो गये मंत्र के साथ, यह कैसे संयुक्त हो गये? उसके
मन ने आग्रह किया कि बंदर नहीं होने चाहिए और बंदर हो गये। उसके मन ने बंदरों से छूटना चाहा और बंदर मौजूद हो गये। उसका मन बंदरों से बचना चाहा और बंदर आ गये।
निषेध आकर्षण है, इनकार आमंत्रण है, रोकना बुलाना है।
हमारे चित्त की जो इतनी रुग्ण दशा हो गयी है, वह इस सीधे-से सूत्र को न समझने की वजह से हो गयी है। क्रोध को हम नहीं चाहते कि आये और फिर क्रोध बंदर बन जाता है और आने लगता है। सेक्स को हम नहीं चाहते कि आये और फिर वह आता है और चित्त को पकड़ लेता है। लोभ को हम नहीं चाहते कि वह आये, अहंकार को हम नहीं चाहते कि वह आये, फिर वे सब आ जाते हैं। और जिन-जिनको हम चाहते हैं कि परमात्मा आये, आत्मा आये, मोक्ष आये, उनका कोई पता नहीं चलता कि वे आये। जिनको हम नहीं चाहते वे आते हैं और जिन्हें हम बुलाते हैं उनकी कोई खबर नहीं मिलती है। मन के इस सीधे-से सूत्र को न समझने से सारी विकृति पैदा हो जाती है।
तो दूसरी बात ध्यान में रखने की है कि मन में क्या आये और क्या न आये, इसका कोई आग्रह लेने की जरूरत नहीं है। जो भी आये उसे हम देखने को तैयार हैं। जो भी आये, हमारी तैयारी उसे सिर्फ देखने की है। हमारा आग्रह नहीं है कि क्या आये और क्या न आये। हमारी कोई शर्त नहीं, हमारी कोई कंडीशन नहीं, अनकंडीशनल, बेशर्त हम मन को देखने के लिए तत्पर हुए। हम सिर्फ जानना चाहते हैं कि मन अपनी वस्तुस्थिति में क्या है। हमारा कोई आग्रह नहीं है कि कौन आये और कौन न आये। हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।
दुनिया भर के विज्ञापनदाता इस सीधी-सी बात को समझते हैं, लेकिन धर्मगुरु अब तक नहीं समझ पाये। दुनिया भर के प्रोपेगेंडिस्ट इस बात को समझते हैं, लेकिन धर्मगुरु अब तक नहीं समझ पाये। और समाज को शिक्षा देने

वाले लोग भी नहीं समझ पाये। एक फिल्म के ऊपर लिख दिया जाता है, फार अडल्ट्स ओनली, सिर्फ प्रौढ़ लोगों के लिए। और बच्चे एक आने की मूंछ खरीदकर लगाकर पहुंच जाते हैं देखने के लिए। जानते हैं विज्ञापनदाता कि अगर बच्चों को बुलाना हो तो फिल्म के ऊपर लिखना जरूरी है कि सिर्फ प्रौढ़ों के लिए। स्त्रियों की पत्रिका है, "फार वीमेन ओनली"। उसको सिवाय पुरुषों के और कोई भी नहीं पढ़ता है, स्त्रियां तो कभी नहीं पढ़ती हैं। पुरुष ग्राहक हैं, मैंने पता लगवाया तो पता चला उसके अधिकतम ग्राहक पुरुष हैं! और बाजार में मैंने पत्रिका बेचने वाले एजेंटों से भी पूछा, तो उन्होंने कहा कि स्त्रियां कभी कोई मुश्किल से खरीदती हैं। स्त्रियां दूसरी पत्रिका खरीदती हैं उसका नाम है, "फार मैन ओनली।"
विज्ञापनदाता इस तरकीब को समझ गये कि आदमी का मन किस बात के प्रति आकर्षित होता है, लेकिन धर्मगुरु अब तक नहीं समझे! नीतिशास्त्री अब तक नहीं समझे! वे आदमी को अब भी बेवकूफियां सिखाये जाते हैं कि तुम क्रोध मत करो, क्रोध से लड़ो। क्रोध से लड़ने, और क्रोध से बचने वाला आदमी जीवन भर क्रोध के चक्कर में रहेगा। क्रोध से कभी मुक्त नहीं हो सकता। क्रोध से वह मुक्त होता है, जो क्रोध को जानने को उत्सुक होता है, लड़ने को उत्सुक नहीं। दूसरा सूत्र है, मन के किन्हीं भी रूपों के प्रति संघर्ष का भाव छोड़ दें, द्वंद्व का भाव छा.ेड दें, कांफ्लिट छोड़ दें, लड़ाई छोड़ दें। सिर्फ जानने का, सिर्फ समझने का, सिर्फ अंडरस्टैडिंग का... । मैं समझ लूं यह मेरा मन क्या है? इतने सरल भाव से मन में प्रवेश करना जरूरी है--दूसरी बात!
और तीसरी बातः मन में जो भी रूप उठे, उनका कोई जजमेंट, कोई निर्णय नहीं लेना है। कोई निर्णय नहीं लेना है कि यह जो उठ रहा है यह बुरा है, यह जो उठ रहा है यह अच्छा है। हमें इस बात का पता ही नहीं है कि बुराई और अच्छाई एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां बुराई है उसके ही दूसरी तरफ अच्छाई है। जहां अच्छाई है, उसके ही दूसरी तरफ बुराई है।
अच्छे आदमी के भीतर बुरा आदमी छिपा होता है, बुरे आदमी के भीतर अच्छा आदमी छिपा होता है। अच्छे आदमी का सिक्का अच्छाई का ऊपर की तरफ है, बुराई का भीतर की तरफ है। इसलिए कभी अच्छा आदमी अगर बुरा हो जाये तो बुरे से बुरे आदमी से भी बुरा आदमी सिद्ध होगा। और कभी बुरा आदमी अच्छा हो जाये तो अच्छे आदमी उसके सामने फीके पड़ जाते हैं, क्योंकि उसके भीतर बुरे आदमियों के भीतर अच्छाई बिल्कुल साबित छिपी रहती है, बुराई ऊपर होती है। अगर कभी वह करवट ले ले और अच्छा आदमी हो जाये, तो अच्छे आदमी फीके पड़ जाते हैं उसके सामने। बड़ी ताजी और छिपी हुई ताकत अच्छाई की उसके भीतर से प्रगट हो जाती है। वाल्मीकि या अंगुलीमाल इसी तरह के बुरे आदमी हैं जो एक दिन अच्छे आदमी हो जाते हैं तो सारे संत फीके पड़ जाते हैं उनके सामने।
अच्छा और बुरा आदमी अलग-अलग नहीं है, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। और इसलिए जो साधु है वह तीसरी ही तरह का आदमी है। उसके भीतर न अच्छाई होती है, न बुराई होती है, वह पूरे सिक्के को फेंक देता है। साधु अच्छा आदमी नहीं है, सज्जन संत नहीं है। सज्जन के भीतर दुर्जन छिपा ही होता है। दुर्जन के भीतर सज्जन हमेशा मौजूद होता है। संत बिल्कुल तीसरे तरह की घटना है। वह न अच्छा है, न बुरा है। वह तटस्थ हो गया है। उसका न अच्छाई से कोई संबंध है, न बुराई से। वह एक भिन्न ही दिशा में प्रविष्ट हो गया है। वहां अच्छे और बुरे का कोई सवाल नहीं है।
एक फकीर था। एक युवा फकीर था जपान के एक गांव में। उसकी बड़ी कीर्ति थी, उसकी बड़ी महिमा थी। सारा गांव उसे पूजता और आदर करता। उसके सम्मान में सारे गांव में गीत गाये जाते। लेकिन एक दिन सब बात बदल गयी। गांव की एक युवती को गर्भ रह गया और उसे बच्चा हो गया। और उस युवती को घर के लोगों ने पूछा कि किसका बच्चा है, तो उसने उस साधु का नाम ले दिया कि उस युवा फकीर का यह बच्चा है। फिर देर कितनी लगती है प्रशंसक शत्रु बनने में? कितनी देर लेते हैं? जरा सी भी देर नहीं लेते, क्योंकि प्रशंसक के मन में हमेशा भीतर तो निंदा छिपी रहती है। मौके की तलाश करती है, जिस दिन प्रशंसा खतम हो जाये उस दिन निंदा शुरू हो जाये। आदर देने वाले लोग, एक क्षण में अनादर देना

शुरू कर देते हैं। पैर छूने वाले लोग, एक क्षण में सिर काटना शुरू कर देते हैं, इसमें कोई भेद नहीं है इन दोनों में। यह एक ही आदमी की दो शक्लें हैं। वे सारे गांव के लोग फकीर के झोपड़े पर टूट पड़े। इनते दिनों का सप्रेस
था भीतर, इतनी श्रद्धा दी थी तो दिल में तो क्रोध इकट्ठा हो ही गया था कि यह आदमी बड़ी श्रद्धा लिये जा रहा है! आज अश्रद्धा देने का मौका मिला था तो कोई भी पीछे नहीं रहना चाहता था। उन्होंने जाकर उस फकीर के झोपड़े पर आग लगा दी। और जाकर उस बच्चे को, एक दिन के बच्चे को उस फकीर के ऊपर फेंक दिया।
उस फकीर ने पूछा कि बात क्या है? तो उन लोगों ने कहा, यह भी हमसे पूछते
हो कि बात क्या है? यह बच्चा तुम्हारा है, यह भी हमें बताना पड़ेगा कि बात क्या है? अपने जलते मकान को देखो, और अपने भीतर दिल को देखो, और इस बच्चे को देखो, और इस लड़की को देखो। हमसे पूछने की जरूरत नहीं, यह बच्चा तुम्हारा है।
वह फकीर बोला: "इज इट सो? ऐसी बात है, बच्चा मेरा है!" वह बच्चा रोने लगा तो उस बच्चे को चुप कराने के लिए गीत गाने लगा और वे लोग उसका मकान जलाकर वापस लौट गये। फिर वह अपने रोज के समय पर, दोपहर हुई और भीख मांगने निकला। लेकिन आज उस गांव में उसे कौन भीख देगा? आज जिस द्वार पर भी वह खड़ा हुआ, वह द्वार बंद हो गया। आज उसके पीछे बच्चों की टोली और लोगों की भीड़ चलने लगी, मजाक करती, पत्थर फेंकती। वह उस घर के सामने पहुंचा जिस घर की वह लड़की थी और जिस लड़की का वह बच्चा था। उसने वहां आवाज दी और उसने कहा कि मेरे लिए भीख मिले न मिले, लेकिन इस बच्चे के लिए तो दूध मिल जाये! मेरा कसूर भी हो सकता है, लेकिन इस बेचारे का क्या कसूर हो सकता है?
वह बच्चा रो रहा है, भीड़ वहां खड़ी है। उस लड़की के सहनशीलता के बाहर हो गयी बात। वह अपने पिता के पैर पर गिर पड़ी और उसने कहा, "मुझे माफ करें, मैंने साधु का नाम झूठा ही ले दिया। उस बच्चे के असली बाप को बचाने के लिए मैंने सोचा कि साधु का नाम ले दूं। साधु से मेरा कोई परिचय भी नहीं है।" बाप तो घबरा गया। यह तो बड़ी दुर्घटना हो गयी। वह नीचे भागा हुआ आया, फकीर के पैर पर गिर पड़ा और उससे बच्चा छीनने लगा।
और उस फकीर ने पूछा, "बात क्या है?" उसके बाप ने कहा, "माफ करें, भूल हो गयी, यह बच्चा आपका नहीं है।" उस फकीर ने पूछा "इज इट सो। ऐसी बात है कि यह बच्चा मेरा नहीं है!" तो उस बाप से उस गांव के लोगों ने कहा, "पागल हो तुम! तुमने सुबह ही क्यों नहीं इनकार किया?" तो उस फकीर ने कहा, "इससे क्या फर्क पड़ता था? बच्चा किसी न किसी का होगा ही। और एक झोपड़ा तुम जला ही चुके थे। अब तुम दूसरा जलाते। और एक आदमी को तुम बदनाम करने का मजा ले ही चुके थे, तुम एक आदमी को और बदनाम करने का मजा लेते। इससे क्या फर्क पड़ता था? बच्चा किसी न किसी का होगा, मेरा भी हो सकता है; इसमें क्या हर्जा! इसमें क्या... फर्क क्या पड़ गया।" तो लोगों ने कहा, "तुम्हें इतनी भी समझ नहीं है कि तुम्हारी इतनी निंदा हुई! इतना अपमान हुआ! इतना अनादर हुआ!"
उस फकीर ने कहा, "अगर तुम्हारे आदर की मुझे कोई फिक्र होती तो तुम्हारे अनादर की भी मुझे कोई फिक्र होती। मुझे तो जैसा ठीक लगता है वैसा मैं जीता हूं, तुम्हें जैसा ठीक लगता है, तुम करते हो। कल तक तुम्हें ठीक लगता था आदर करो तो तुम आदर करते थे। आज तुम्हें ठीक लगा, अनादर करें, तुम अनादर करते थे। लेकिन न तुम्हारे आदर से मुझे प्रयोजन है, न तुम्हारे अनादर से।" तो उन लोगों ने कहा, "भले आदमी, इतना तो सोचता कम से कम कि तू भला आदमी है और बुरा हो जायेगा।"
तो उसने कहा, "न मैं बुरा हूं, और न भला हूं। अब तो मैं वही हूं, जो मैं हूं। अब मैंने यह बुरे-भले के सिक्के छोड़ दिये। अब मैंने यह फिक्र छोड़ दी है कि मैं अच्छा हो जाऊं, क्योंकि मैंने अच्छा होने की जितना कोशिश की, मैंने पाया कि मैं बुरा होता चला गया। मैंने बुराई से बचने की जितनी कोशिश की, मैंने पाया कि भलाई उतनी दूर होती चली गयी। मैंने वह ख्याल ही छोड़ दिया। मैं बिल्कुल तटस्थ हो गया। और जिस दिन मैं तटस्थ हो गया, उसी दिन मैंने पाया कि न बुराई भीतर रह गई, न भलाई भीतर रह गई। और एक नयी चीज का जन्म हो गया है, जो सभी भलाइयों से ज्यादा भली है और जिसके पास बुराई की छाया भी नहीं होती।"

तो संत एक तीसरी तरह का व्यक्ति है। साधक की दिशा सज्जन होने की दिशा नहीं है। साधक की दिशा संत होने की दिशा है। इसलिए तीसरा सूत्र है, निर्णय न लें कि कौन-सी बात मन में अच्छी उठ रही है, कौन-सी बुरी उठ रही है। न कंडेमनेशन, न एप्रिसिएशन--न प्रशंसा और न निंदा। न तो यह कि यह बुरा है, न यह कि यह अच्छा है। मन की धारा के किनारे तटस्थ बैठ जायें, जैसे कोई नदी के किनारे बैठा हो और नदी बहती जाती है और देख रहा है--नदी में पानी भी बह रहा है, पत्थर भी बह रहे हैं, पत्ते भी बह रहे हैं, लकड़ियां भी बह रही हैं। वह चुपचाप देख रहा है किनारे बैठा हुआ।
ये तीन सूत्र सुबह की इस बैठक में मुझे आपसे कह देने थे। पहली बातः मन
के साक्षात के लिए अत्यंत अभय। दूसरी बातः मन के ऊपर कोई भी प्रतिबंध नहीं--अप्रतिबंध, बेशर्त। तीसरी बातः मन में जो विकल्प और विचार उठें उनके प्रति कोई निर्णय नहीं, कोई शुभ-अशुभ का भाव नहीं, एक तटस्थ दृष्टि। ये पहले तीन सूत्र हैं, मन की विकृति के साक्षात के लिए। फिर हम दोपहर और सांझ बात करेंगे इस विकृति के बाहर और ऊपर उठ जाने के लिए क्या किया जा सकता है, लेकिन इसमें बुनियादी बातें ख्याल में रखनी जरूरी हैं।
अब हम सुबह के ध्यान के लिए बैठेंगे। सुबह के ध्यान के संबंध में दो बातें समझ लें। फिर हम सुबह के ध्यान के लिए बैठेंगे।
सुबह का ध्यान बड़ी सीधी और सरल-सी प्रक्रिया है। असल में जीवन में जो
भी महत्वपूर्ण है वे सभी प्रक्रियाएं बड़ी सरल और सीधी होती हैं। जीवन में जितनी व्यर्थ बात होती है, उतनी ही जटिल और कान्फ्लिक्ट होती है। जीवन में जितनी श्रेष्ठ बात होती है, अत्यंत सरल और सीधी होती है, बिल्कुल सिंपल होती है।
बड़ी सीधी और सरल-सी प्रक्रिया है। इतना ही करना है कि चुपचाप बैठकर, मौन बैठकर चारों तरफ जो ध्वनियों का संसार है उसे चुपचाप सुनते रहना है। सुनते रहने के कुछ अदभुत परिणाम हैं। हम कभी सुनते ही नहीं। जब मैं यहां बोल रहा हूं तो आप सोचते होंगे, आप सुन रहे हैं तो आप बड़ी गलती में हैं। कान पर आवाज पड़ जाना ही सुनने के लिए पर्याप्त अर्थ नहीं है।
जब मैं बोल रहा हूं, अगर मेरे साथ-साथ आप सोच भी रहे हैं तो आप सुन नहीं रहे हैं, क्योंकि मन एक ही साथ एक ही क्रिया कर पाता है, दो क्रिया कभी भी नहीं। या तो आप सुन सकते हैं या सोच सकते हैं। जितनी देर आप सोचते हैं उतनी देर के लिए सुनना बंद हो जायेगा। जितनी देर आप सुनते हैं उतनी देर के लिए सोचना बंद हो जायेगा। तो जब मैं कह रहा हूं कि सुनना बड़ी अदभुत प्रक्रिया है। अगर आप सिर्फ शांति से सुनें तो भीतर सोचना अपने आप बंद हो जायेगा; क्योंकि मन के अनिवार्य नियमों में से एक है कि एक ही साथ मन दो काम करने में असमर्थ है--एकदम असमर्थ है।
एक आदमी बीमार पड़ा था। एक वर्ष से उसके पैर में लकवा लगा हुआ था। डाक्टर उसे कहते थे कि लकवा शरीर में मालूम नहीं पड़ता, आपके मन को भ्रम हो गया है। लेकिन वह आदमी कैसे मानता, उसे लकवा था!
फिर उसके मकान में आग लग गयी और आग लगी सारे घर के लोग भागे। वह लकवे में पड़ा हुआ आदमी भी भागकर बाहर निकल आया। वह साल भर से उठा ही नहीं था अपने बिस्तर से। जब वह बाहर आ गया तभी उसे ख्याल आया कि अरे! यह क्या मामला हो गया! मैं तो उठ भी नहीं सकता था। यह पैर चले कैसे?
उस आदमी ने मुझसे पूछा तो मैंने कहा, मन एक ही साथ दो बातें नहीं सोच सकता। लकवा लगा हुआ है, यह मन का एक ख्याल था, लेकिन मकान में आग लग गयी, मन पूरी तरह मकान की आग में संलग्न हो गया और वह पहला ख्याल खिसक गया मन से कि पैर में लकवा लगा हुआ है। और आदमी भागकर बाहर आ गया। मन एक ही चीज में तीव्रता से जाग सकता है।
यह जो सुबह का प्रयोग है, वह चारों तरफ पक्षियों के, हवाओं के गीत चलते हैं, सारी दुनिया के ध्वनियों का जाल बिछा हुआ है उसको चुपचाप सुनने का है। इतनी शांति से सुनते रहने का है, एक ही बात पर ध्यान देने का है कि मैं सुन रहा हूं। और जो भी हो रहा है उसे पूरी तरह सुन रहा हूं। टोटल लिसनिंग, कुछ भी नहीं कर रहा हूं, सिर्फ सुन रहा हूं।

मैं सुनने पर इसलिए जोर दे रहा हूं कि जैसे ही आप पूरी तरह सुनेंगे भीतर वह सोच-विचार का जो निरंतर जाल है वह एकदम शांत हो जायेगा। क्योंकि ये दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। तो आप पूरी फिक्र सुनने की तरफ लें। और यह पाजिटिव फिक्र है।
अगर आप विचार को निकालने की कोशिश करेंगे तो जो गलती मैंने अभी आपसे कही, वह शुरू हो जायेगी। यह निगेटिव फिक्र है। विचार को निकालने की कोशिश से कभी विचार नहीं निकल सकते, लेकिन मन की जो ताकत विचार करने में लगती है अगर वह ताकत किसी और धारा में प्रवाहित हो जाये तो विचार अपने-आप क्षीण हो जाते हैं। उनको... ।
उस आदमी को उसके डाक्टर कहते थे, कि तू यह ख्याल निकाल अपने मन से कि तुझे लकवा लगा हुआ है। तुझे लकवा लगा हुआ नहीं है। शरीर तेरा ठीक है। लेकिन वह आदमी जितनी कोशिश करता होगा निकालने की कि मुझे लकवा नहीं लगा हुआ है, जितनी बार यह कहता होगा कि मुझे लकवा नहीं लगा हुआ है, उतनी ही बार लकवे की याद आयेगी। उतनी बार वह जानता है कि लकवा मुझे लगा हुआ है। अगर नहीं लगा हुआ होता तो मैं दोहराता ही क्यों कि मुझे लकवा नहीं लगा हुआ है? वह जितनी बार दोहरायेगा कि मुझे लकवा नहीं लगा है उतनी ही बार वह अपने इस भाव को गहरा कर रहा है कि मुझे लकवा लगा हुआ है। वह मजबूत हो रहा है। इस आदमी के चित्त को डायवर्शन चाहिए था, उस आदमी को लकवे को रोकने की जरूरत नहीं थी। उसका चित्त पूरी तरह से कहीं और चला जाता तो लकवा विलीन हो जाता, क्योंकि चित्त का लकवा था। चित्त पूरा हट जाता तो लकवा विलीन हो जाता। मकान में आग लग गयी भाग्य से। कई बार ऐसा होता है कि किन्हीं के घर में दुर्भाग्य से आग लगती है, किन्हीं के घर में भाग्य से भी आग लग जाती है। उस आदमी के घर में भाग्य से आग लग गयी थी, तो सारा मन मकान से लगी आग पर चला गया। मन हट गया उस बात से जिसको पकड़े हुए था, वह ग्रंथि विलीन हो गयी। क्योंकि वह विचार की गं्रथि थी, उससे ज्यादा कोई ग्रंथि नहीं थी। असली में वहां कोई जंजीरें नहीं थीं, केवल विचार का जाल था। पूरा मन वहां से हट गया, विचार का जाल सूखकर निर्जीव हो गया, क्योंकि विचार के जो भी प्राण हैं वह हमारे ध्यान से उपलब्ध होते हैं।
विचार में अपने आप में कोई प्राण नहीं हैं। हम जितना ध्यान देते हैं विचार पर उतना ही वह जीवंत हो जाता है। जितना हमारा ध्यान हट जाता है उतना ही वह मुर्दा हो जाता है। अगर ध्यान बिल्कुल हट जाये, विचार निर्जीव हो जाते हैं, मर जाते हैं, उसी समय समाप्त हो जाते हैं।
तो इसीलिए मैं कह रहा हूं कि सुनने पर सारे ध्यान को जाने दें। पाजिटिवली, विधायक रूप से यह ख्याल करें कि एक चिड़िया की छोटी-सी आवाज भी मेरे बिना सुने न व्यतीत हो जाये, न निकल जाये। सब सुन लूं मैं। इंटीग्रेटिव चारों तरफ जो हो रहा है, वह मुझे सुनाई में आ जाये। तो आप अचानक पायेंगे कि मन एक गहरी शांति में उतरता जा रहा है, विचार क्षीण होते चले जा रहे हैं।
एक ही काम करना है। शरीर को शिथिल छोड़कर बैठ जाना है। कल मैंने आपसे कहा था कि मस्तिष्क को पहले जोर से खींचें। शायद वह आपकी समझ में नहीं आया, उसे शिथिल छोड़ दें, उसको मत खींचें। कोई जरूरी नहीं है। क्योंकि उसी में परेशान हो जायेंगे आप तो पीछे और गड़बड़ होगी, उसे छोड़ दें।
नहीं, वह कोई ध्यान का हिस्सा नहीं था। वह तो सिर्फ मैंने इसलिए आपको कहा था कि आपको यह ख्याल में आ सके कि खिंचा हुआ मस्तिष्क क्या है, और शिथिल मस्तिष्क क्या है? इसकी कोई फिक्र करने की बहुत जरूरत नहीं है, उसे छोड़ दें, शिथिल छोड़ें। मन को शांत छोड़ दें। सिर के जितने भी स्नायु खिंचे हुए हों, सिर की जो भी नसें खिंची हुई हों उनको रिलेक्स छोड़ दें, ढीला छोड़ दें। सवाल ढीला छोड़ने का है। सवाल यह नहीं है कि आप उसको खींचने की कला सीखें। खींचने की कला भूलनी है। वह मैंने सिर्फ इसलिए कहा था कि आपको दोनों कंट्रास्ट समझ में आ जायें कि खिंचा हुआ यह है और ढीला यह है। जो नहीं समझ में आता है, उसको छोड़ दें फिलहाल। शिथिल ही छोड़ें सीधा।

... तो सब लोग थोड़े एक-दूसरे पर फासले पर बैठ जायेंगे। एक-दूसरे को कोई छूता हुआ न हो। यह आगे की जगह का उपयोग कर लें। इधर... इधर आ जायें, इधर पीछे चले जायें। लेकिन कोई किसी को छूता हुआ न हो।
शरीर को बिल्कुल आराम से ढीला छोड़ देंगे और फिर आंख आहिस्ता से बंद कर लेंगे। आंख इतने धीमे-से बंद करनी है कि आंख पर कोई भार न पड़े। बीच में लेनी है आंख कि उस पर भार न पड़ जाये। आंख के स्नायुओं का संबंध मस्तिष्क से बहुत ज्यादा है, इसे बहुत ढीला छोड़ दें। जैसे छोटे-से बच्चे अपनी पलक बंद कर लेते हैं, ऐसे पलक को गिरा दें। पलक को धीरे-से गिर जाने दें शिथिल। फिर, फिर से सारे तंतुओं को बिल्कुल ढीला छोड़ दें। जैसे एक छोटे-से बच्चे का चेहरा होता है बिल्कुल शिथिल, कोई भी फिक्र नहीं है। बिल्कुल ढीला, रिलेक्स छोड़ दें। शरीर को भी ढीला छोड़ दें। जैसे ही आंख को ढीला छोड़ देंगे, श्वास अपने आप ढीली हो जायेगी, शांत हो जायेगी।
फिर अब एक ही काम करें कि चारों तरफ जो आवाजें हो रही हैं, चुपचाप सुनते रहें। कोई कौवा बोलेगा, कोई पक्षी आवाज करेगा, कोई बच्चा रास्ते पर बोलेगा। चुपचाप सुनते रहना है, सुनते रहना है, सुनते रहना है और भीतर कुछ शांत होता जा रहा है।
सुनें... दस मिनट के लिए चुपचाप सुनते रहें... सारा ध्यान सुनने पर फैल जाये। बस सुन रहे हैं और कुछ भी नहीं कर रहे हैं।
... सुनें, पक्षी बोल रहे हैं, हवायें वृक्षों को हिलायेंगी, और कोई आवाज न हो। चुपचाप सुनते रहें। सुनते-सुनते ही भीतर एक शांति का नाद शुरू हो जाएगा।
... मन शांत हो रहा है। सुनते रहें, सुनते रहें। मन शांत हो रहा है। मन शांत हो रहा है।... मन शांत हो गया, मन शांत हो गया, मन बिल्कुल शांत हो गया। एक गहरा सन्नाटा भीतर मौजूद है। सुनते रहें, आप सिर्फ सुनते रहें। सुनते- सुनते मन शांत हो जायेगा।
... मन शांत हो रहा है, मन शांत हो रहा है, मन शांत हो रहा है। सुनते रहें, सुनते रहें, मन बिल्कुल सन्नाटे में उतर रहा है। मन शांत हो रहा है। ... मन शांत हो गया है....मन बिलकुल शांत हो गया है...।
धीरे-धीरे दों-चार गहरी श्वास लें....प्रत्येक श्वास के साथ बहुत शांति आती हुई मालूम होगी। धीरे-धीरे दो-चार गहरी श्वास लें। फिर बहुत आहिस्ता से, धीरे से आख खोलें। जैसी शांति भीतर है वैसी ही बाहर भी प्रतीत होगी। धीरे-धीरे आख खोलें।
इस प्रयोग को दोपहर में कहीं किसी वृक्ष के नीचे अकेले में जाकर करें। यहां तो हम सिर्फ समझने को कर रहे हैं। आप अकेले में करेंगे तो ही परिणाम होगा।
सुबह की बैठक समाप्त हुई।

साधना पथ
बीसवां प्रवचन

ज्ञान के भ्रम से छुटकारा

मनुष्य के मन की दशा--छेड़े गये छत्ते की भांति मनुष्य के मन की दशा है। विचार और विचार और विचार और विचारों की यह भिनभिनाहट मक्खियों की तरह मनुष्य के मन को घेरे रहती है। इन विचारों में घिरा हुआ मनुष्य अशांति में, तनावों में और चिंता में जीता है। जीवन को जानने और पहचानने के लिए मन चाहिए एक झील की भांति शांत, जिस पर कोई लहर न उठती हो। जीवन से परिचित होने के लिए मन चाहिए एक दर्पण की भांति निर्मल, जिस पर कोई धूल न जमी हो। और हमारे पास मन है एक मधुमक्खियों के छत्ते की भांति। न तो वह दर्पण
है, न वह एक शांत झील है। और ऐसे मन को लेकर अगर हम सोचते हों कि हम कुछ जान सकेंगे, हम कुछ पा सकेंगे या हम कुछ हो सकेंगे तो हम ब.ड़ी भूल में हैं। विचारों की इस अति तीव्र धारा से मुक्त होना अत्यंत आवश्यक है। विचार
और विचार और विचार, स्वास्थ्य के लक्षण नहीं हैं, रुग्ण चित्त की दशा है। जब किसी का मन परिपूर्ण रूप से शुद्ध और स्वच्छ होता है, और स्वस्थ होता है तो विचार शून्य हो जाते हैं। विवेक शेष रह जाता है, और विचार शून्य हो जाते हैं। और जब कोई मन अस्वस्थ और बीमार होता है तो विवेक शून्य हो जाता है और केवल विचारों की भीड़ रह जाती है। हम विचारों की भीड़ में ही जीते हैं। सुबह से सांझ, सांझ से सुबह, जन्म से लेकर मृत्यु तक हम विचारों की एक भीड़ में ही जीते हैं।
इस भीड़ से कैसे मुक्त हुआ जाये? सुबह कुछ बातें हमने की हैं। कुछ उस संबंध में प्रश्न पूछे गये हैं, उन प्रश्नों के मैं अभी उत्तर दूंगा। पहली बात, विचारों से मुक्त होना दूसरा कदम है। पहला कदम तो यह है कि
हम विचारों का संग्रह न करें। क्योंकि एक आदमी एक तरफ विचारों का संग्रह करता चला जाये और दूसरी तरफ विचारों से मुक्त होना चाहे तो कैसे मुक्त हो सकेगा? एक आदमी वृक्ष के पत्तों से मुक्त होना चाहे और वृक्ष की जड़ों को पानी पिलाता चला जाये, तो कैसे वृक्ष के पत्तों से मुक्त हो सकेगा? लेकिन जड़ों को पानी पिलाते वक्त हमें यह ख्याल में ही नहीं आता है कि जड़ों और पत्तों का कोई संबंध है--कोई गहरा संबंध है। जड़ें अलग मालूम होती हैं, पत्ते अलग मालूम होते हैं, लेकिन पत्ते जड़ों से अलग नहीं हैं और जड़ों को दिया गया पानी पत्तों को ही मिलता है।
तो विचार हम संगृहीत करते हैं और विचार की जड़ों को पानी देते हैं और फिर जब विचार मन को बहुत बेचैन और अशांत करते हैं तो हम उनको शांत करने का उपाय भी करना चाहते हैं। इसके पहले कि किसी वृक्ष में पत्ते आने बंद हो जायें, हमें उसकी जड़ों को पानी देना बंद कर देना होगा।
हम विचारों की इस भीड़ को पानी देते हैं, वह हमें समझ लेना चाहिए कि हम किस भांति पानी देते हैं। और अगर वह समझ में आ जाये तो हम पानी देना बंद कर देंगे। फिर वृक्ष के कुम्हला जाने में बहुत देर नहीं है।
किस तरह हम पानी देते हैं?
पहली बात, हजारों वर्ष से आदमी के मन में यह भ्रम पैदा किया गया है कि तुम दूसरों के विचारों को संग्रह करके ज्ञान को उपलब्ध हो सकते हो। यह सरासर झूठी और एकदम गलत बात है। कोई मनुष्य किसी दूसरे के विचारों के संग्रह से कभी ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सका है। ज्ञान आता है भीतर से और विचार आते हैं बाहर से। ज्ञान होता है अपना और विचार होते हैं हमेशा पराये, हमेशा बारोड, हमेशा उधार। ज्ञान है निज की स्फुरणा, वह जो स्वयं के भीतर छिपा है उसका प्रगट हो जाना और विचार हैं दूसरों की जूठन को इकट्ठा करना--चाहे गीता से इकट्ठा कर लें, चाहे कुरान से, चाहे बाइबिल से, चाहे धर्मगुरुओं से इकट्ठा कर लें, चाहे शिक्षकों से।
जो भी हम दूसरे से इकट्ठा कर लेते हैं वह हमारा ज्ञान नहीं बनता, बल्कि वह हमारे अज्ञान को छिपाने का मार्ग और उपाय बन जाता है। और जिस आदमी का अज्ञान छिप जाता है वह आदमी जीवन में कभी ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सकता। चूंकि हमें यह ख्याल है कि यह हमारा ज्ञान है इसलिए उसे हम प्राणपन

से पकड़े रहते हैं। विचारों को हम पकड़े हुए हैं। हम उन्हें छोड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। नीचे से हम उनको सम्हाले हुए हैं, क्योंकि हमें यह ख्याल है यही हमारा ज्ञान है। अगर यह छूट गये तो, हम तो अज्ञानी हो जायेंगे; लेकिन स्मरण रखिये, विचारों को कोई कितना ही पकड़े रहे उससे ज्ञानी नहीं होता।
एक आदमी एक कुआं बनाता है--जमीन खोदता है, पत्थर निकालता है, मिट्टी निकालता है और फिर नीचे झरने फूटते हैं कुएं के और कुएं में पानी भर जाता है। कुएं में पानी मौजूद था, पानी कहीं से लाना नहीं पड़ा। केवल बीच में कुछ पत्थर और मिट्टी की पर्ते थीं उन्हें अलग कर देना पड़ा। कोई अवरोध थे, कोई बाधाएं थीं, उनको अलग कर दिया और पानी प्रगट हो गया। कुएं में पानी लाना नहीं पड़ता है, पानी आता है, लेकिन जो चीज बीच में रुकावट थी उसको दूर कर देना होता है।
ज्ञान भीतर मौजूद है, उसे कहीं से लाना नहीं है, उसके झरने भीतर छिपे हैं, केवल बीच की बाधाएं--पत्थर और मिट्टी अलग कर देनी है खोदकर और फिर ज्ञान के झरने प्रगट होने शुरू हो जायेंगे।
लेकिन कुआं भी बनता है और हौज भी बनती है। हौज के बनने का रास्ता अलग है। हौज बनाने में कहीं झरने नहीं खोजने पड़ते पानी के। हौज बनाने का रास्ता कुएं से बिल्कुल विपरीत है। हौज बनाने के लिए, मिट्टी-पत्थर खोदने नहीं पड़ते, लाकर जोड़ने पड़ते हैं और मिट्टी-पत्थर की दीवाल उठानी पड़ती है। फिर दीवाल भी बन जाती है, लेकिन पानी नहीं आता है। फिर तुम्हें दूसरों के कुओं से पानी उधार लाकर उस हौज में भर लेना पड़ता है। ऊपर से देखने पर हौज कुएं का धोखा देने लगती है। ऐसा लगता है कि कुआं आ गया। हौज में पानी दिखायी पड़ता है, कुएं में भी पानी दिखायी पड़ता है। लेकिन हौज और कुएं के पानी में जमीन-आसमान का फर्क है।
पहला फर्क तो यह है कि हौज के पास अपना कोई पानी नहीं है। और जो पानी अपना नहीं, उससे दुनिया में कभी कोई प्यास नहीं बुझती। हौज के पास जो भी है, उधार है। और उधार बहुत जल्दी बासा हो जाता है और सड़ जाता है। क्योंकि जो उधार है वह जीवंत नहीं होता, वह मृत होता है। हौज अगर भरी रहेगी तो सड़ जायेगी, बहुत जल्दी बदबू फेंकने लगेगी।
लेकिन कुएं के पास अपने जल के स्रोत होते हैं, कुआं सड़ नहीं जाता। और कुएं के पास अपना पानी होता है। इसलिए हौज और कुएं के प्राणों में दो अलग प्रक्रियाएं चलती हैं। हौज चाहती है कि मेरे पानी को कोई छीन न ले, क्योंकि मेरा पानी गया कि मैं खाली हो जाऊंगी। और कुआं चाहता है कि कोई मेरे पानी को उलीच ले, कोई मेरे पानी को ले ले ताकि मुझमें और नया पानी भर जाये--ताजा और ज्यादा जीवंत। कुआं पुकारता है कि मेरे पानी को ले लो और बांट लो! और हौज पुकारती है कि दूर रहना, मेरे पानी को मत छूना, मेरे पानी को मत लेना। हौज चाहती है कि किसी के पास पानी हो तो वह भी यहां लाकर डाल दो मुझमें, ताकि मेरी संपदा बढ़ जाये। और कुआं चाहता है कि किसी के पास पात्र हो तो पानी ले जाये, ताकि जो पानी बासा पड़ गया है--बहुत दिन का भरा हुआ हो गया है, उससे मैं मुक्त हो जाऊं और नया पानी मुझे उपलब्ध हो जाये।
कुआं बांटना चाहता है, हौज संग्रह करना चाहती है। कुएं के पास झरने हैं जो सागर से जुड़े हैं। कुआं छोटा-सा दिखायी पड़ता है, लेकिन गहरे में अनंत से जुड़ा हुआ है। हौज कितनी ही बड़ी दिखायी पड़ती हो, उसका संबंध किसी से भी नहीं है, वह अपने में ही समाप्त है और बंद है। उसके पास कोई झरने नहीं है। उसके पास कोई दूर से जोड़ने वाले कोई मार्ग नहीं हैं, इसीलिए अगर कोई हौज से जाकर कहे कि सागर भी होता है। हौज हंसेगी--कहेगी "कहीं सागर होता है! सब हौजें होती हैं। कहीं कोई सागर नहीं है।" क्योंकि हौज को सागर का कोई पता नहीं है!
लेकिन अगर कोई कुएं से कहे कि कुआं तू बहुत अच्छा है तो कुआं सोचेगा
कि मेरा अपना क्या है--सब सागर का है, मैं हूं कहां? मेरे पास जो भी आता है वह दूर किसी और से जुड़ा है। कुएं का अपना कोई अहंकार नहीं हो सकता कि "मैं हूं।" हौज का अपना अहंकार होता है कि "मैं हूं"। और बड़े मजे की बात तो यह है

कि कुआं बहुत बड़ा है और हौज बहुत छोटी। कुएं के पास अपनी संपदा है और हौज के पास अपनी कोई संपदा नहीं है।
आदमी का मन भी कुआं बन सकता है या हौज बन सकता है--ये दो ही रास्ते हैं आदमी की बुद्धि के बन जाने के। और जिस आदमी की बुद्धि हौज बन जाती है वह आदमी धीरे-धीरे पागल हो जाता है।
और हम सबकी बुद्धि हौज बन गयी है। हमने कुआं बनाया नहीं, हमने हौज बनायी है। हम दुनिया भर से बातों को इकट्ठा कर लेते हैं--किताबों से, शास्त्रों से, उपदेशों से और उन सबको इकट्ठा कर लेते हैं और सोचते हैं हम ज्ञानी हो गये हैं। हम हौज की गलती में पड़ गये। हौज समझ ली कि हम कुआं हो गये। भ्रम पैदा हो सकता है, क्योंकि दोनों में पानी दिखायी पड़ता है।
एक पंडित के पास भी ज्ञान दिखायी पड़ता है, एक ज्ञानी के पास भी ज्ञान दिखायी पड़ता है। लेकिन पंडित हौज है और ज्ञानी कुआं है। इन दोनों में फर्क है। और यह फर्क इतना गहरा और बुनियादी है जिसका कोई हिसाब नहीं। क्योंकि पंडित का ज्ञान उधार और बासा और सड़ा हुआ ज्ञान है। दुनिया में जितना उपद्रव हुआ है वह पंडित के ज्ञान से हुआ है। हिंदू और मुसलमान के बीच जो झगड़ा है वह किसका झगड़ा है? दो ज्ञानियों का झगड़ा है। जैन और हिंदू के बीच जो विरोध है, वह दो ज्ञानियों का विरोध है। वह पंडितों का विरोध है, वह उन मस्तिष्कों का विरोध है जो हौज हैं, सड़े हुए हैं, उधार और बासे।
सारी दुनिया में जो इतने उपद्रव हुए हैं, वे हौज बन गये मस्तिष्कों के कारण हैं। नहीं तो आदमी हैं दुनिया में--न कोई ईसाई है, न कोई हिंदू है, न कोई मुसलमान है, न कोई जैन है; लेकिन हौजों के लेबल हैं। क्योंकि जिस हौज ने जिस-जिस कुएं से पानी उधार भरा है वह उसी... उसी कुएं का लेबल अपने ऊपर चिपकाये हुए हैं कि मैंने तो गीता से पानी लिया है तो मैं हिंदू हूं; मैंने कुरान से पानी लिया है तो मैं मुसलमान हूं। लेकिन ज्ञानी तो किसी से पानी लेता नहीं है, पानी उसके भीतर से आता है, परमात्मा से आता है। इसलिए न वह हिंदू हो सकता है, न वह मुसलमान हो सकता है, न वह ईसाई हो सकता है।
ज्ञानी किसी संप्रदाय का नहीं हो सकता। लेकिन पंडित बिना संप्रदाय के होना असंभव है। पंडित जब भी होगा, संप्रदाय का ही होगा। हमने अपने मन को एक बासी, उधार चीज बना लिया है। फिर इसको हम पकड़ते हैं। जैसा मैंने कहा--हौज चिल्लाती है मेरे पानी को मत छीन लेना। पानी गया तो मैं खाली और रिक्त और एम्पटी हो जाऊंगी, मेरे भीतर तो कुछ भी नहीं बचेगा। मेरी संपदा तो उधार इकट्ठी की हुई है, इसलिए कोई छीन न ले।
स्मरण रहे, जो संपदा छीनने से कम हो जाती है, वह हमेशा उधार और झूठी होती है। जो संपदा छीनने से और बढ़ जाती हो, वही संपदा केवल सत्य होती है। जो संपत्ति बंट जाने से समाप्त हो जाती है वह संपत्ति ही नहीं, केवल संग्रह है। और जो संपत्ति बंटने से और बढ़ जाती हो, वही संपत्ति है।
संपत्ति का लक्षण ही यह है कि वह बंटने से बढ़नी चाहिए। बंटने से घटती हो तो वह संपत्ति नहीं है और जिस संपत्ति में यह भय है कि यह बंटने से घट जायेगी, उसको सम्हालने में इतनी विपत्ति पैदा हो जाती है जिसका कोई हिसाब नहीं। तो सब उधार संपत्ति विपत्ति बन जाती है, संपत्ति कभी भी नहीं बन पाती। फिर डर पैदा होता है कि यह कहीं घट न जाये; तो उसे हम जोर से पकड़ते हैं। हम अपने विचारों को जोर से पकड़े हुए हैं। हम उनको प्राणों से भी ज्यादा सम्हाले हुए हैं। यह मन में जितना कचरा इकट्ठा हो गया है, यह आकस्मिक नहीं है। यह हमने योजना की है, इसको इकट्ठा किया है और इसको सम्हाले हुए हैं। तो अगर हम यह सोचते हों कि विचारों के संग्रह से ज्ञान उत्पन्न हो सकता है तो हम विचारों से कभी मुक्त नहीं हो सकते। कैसे मुक्त हो सकेंगे? जड़ों को पानी देंगे और पत्ते काटेंगे, यह नहीं हो सकता। इसलिए पहली बुनियादी बात यह समझ लेनी जरूरी है कि ज्ञान बात ही अलग है और विचारों का संग्रह बिल्कुल ही अलग बात है। संग्रह ज्ञान नहीं है, दूसरों से लिये गये विचार ज्ञान नहीं है। दूसरों से इकट्ठे किये गये विचार, मनुष्य को सत्य के या स्वयं के निकट नहीं ले जाते। यह ज्ञान झूठा है, यह स्यूडो नालेज है, यह मिथ्या ज्ञान है जो हम दूसरे से इकट्ठा कर लेते हैं। इससे भ्रम पैदा होता

है कि ज्ञान मिल गया और ज्ञान मिलता भी नहीं, ज्ञान से हम वंचित ही रह जाते हैं।
यह ज्ञान वैसा ही है जैसे तैरने के संबंध में कोई शास्त्र पढ़ लें और तैरने के संबंध में इतना जान लें कि अगर उसे प्रवचन करना हो तो प्रवचन कर दे, अगर किताब लिखनी हों तो किताब लिख दे, लेकिन कोई आदमी उसे नदी में धक्का दे दे तो हमें पता चल जाये कि वह तैरना कितना जानता था। उसने किताबों से तैरने के संबंध में सब बातें पढ़ ली थीं। वह तैरने के बाबत ज्ञानी मालूम पड़ता था, लेकिन तैरने का उसे कोई भी पता नहीं।
एक मुसलमान फकीर हुआ नसरुद्दीन। वह एक नदी पार कर रहा था एक नाव में बैठकर। मल्लाह ने उससे... रास्ते में दोनों की कुछ बातचीत हुई। नसरुद्दीन बड़ा ज्ञानी आदमी समझा जाता था। ज्ञानियों को हमेशा यह कोशिश रहती है कि किसी को अज्ञानी सिद्ध करने का मौका मिल जाये तो वह छोड़ नहीं सकते हैं। तो उसमें मल्लाह अकेला था, मल्लाह से पूछा कि भाषा जानते हो? उस मल्लाह ने कहा, "भाषा! बस जितना बोलता हूं, उतना ही जानता हूं। पढ़ना-लिखना मुझे कुछ पता नहीं है।"
नसरुद्दीन ने कहा, "तेरा चार आना जीवन बेकार हो गया, क्योंकि जो पढ़ना नहीं जानता उसकी जिंदगी में क्या उसे ज्ञान मिल सकता है? बिना पढ़े, पागल! कहीं ज्ञान मिला है?" लेकिन मल्लाह चुपचाप हंसने लगा।
फिर आगे थोड़े चले और नसरुद्दीन ने पूछा, कि तुझे गणित आता है? उस मल्लाह ने कहा, "नहीं, गणित मुझे बिल्कुल नहीं आता है, ऐसे ही दो और दो चार जोड़ लेता हूं, यह बात दूसरी है।"
नसरुद्दीन ने कहा, "तेरा चार आना जीवन और बेकार चला गया, क्योंकि जिसे गणित ही नहीं आता, जिसे जोड़ ही नहीं आता है वह जिंदगी में क्या जोड़ सकेगा, क्या जोड़ पायेगा। अरे, जोड़ना तो जानना चाहिए, तो कुछ जोड़ भी सकता था। तू जोड़ेगा क्या? तेरा आठ आना जीवन बेकार हो गया।"

फिर जोर का तूफान आया और आंधी आयी और नाव उलटने के करीब हो गयी। उस मल्लाह ने पूछा, "आपको तैरना आता है?" नसरुद्दीन ने कहा, "मुझे तैरना नहीं आता।" उसने कहा, "आपकी सोलह आना जिंदगी बेकार जाती है। मैं तो चला। न मुझे गणित आती है और न मुझे भाषा आती है, लेकिन मुझे तैरना आता है। तो, मैं तो जाता हूं और आपकी सोलह आना जिंदगी बेकार हुई जाती है।"
जिंदगी में कुछ जीवंत सत्य हैं जो स्वयं ही जाने जाते हैं, जो किताबों
से नहीं जाने जा सकते हैं, जो शास्त्रों से नहीं जाने जा सकते हैं। आत्मा का सत्य या परमात्मा का; स्वयं ही जाना जा सकता है और कोई जानने का उपाय नहीं है।
लेकिन शास्त्रों में सब बातें लिखी हैं, उनको हम पढ़ लेते हैं, उनको हम समझ लेते हैं, वे हमें कंठस्थ हो जाती हैं, वे हमें याद हो जाती हैं। दूसरों को बताने के काम भी आ सकती हैं, लेकिन उससे कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है।
विचार का संग्रह ज्ञान का लक्षण नहीं है अज्ञान का ही लक्षण है। क्योंकि जिस आदमी के पास अपने विवेक की शक्ति जाग्रत हो जाती है, वह विचार के संग्रह से मुक्ति पा लेता है। फिर उसे संग्रह करने का कोई सवाल नहीं रह जाता, वह स्वयं ही जानता है। और जो स्वयं जानना है, वह... वह मन को मधुमक्खियों का छत्ता नहीं रहने देता है--मन को एक दर्पण बना देता है, एक झील बना देता है।
हमारा मन मधुमक्खियों का भिनभिनाता छत्ता है। इसलिए कि इन मधुमक्खियों को हमने पाला है और हमने ज्ञान समझकर इन विचारों को जगह दी है। अपने घर में इनको ठहराया है, इनको निवासी बनाया है। और हमने अपने मन को एक धर्मशाला बना दी है कि जो भी आए ठहर जाये। बस एक बात का ख्याल लेकर आ जाए, वह ज्ञान के वस्त्र पहन कर आ जाए, फिर हमारी धर्मशाला में ठहरने का उसे हक है। यह धर्मशाला में भीड़ बढ़ती चली गयी है। और यह भीड़ इतनी बढ़ गयी है कि मालिक कौन है, तय करना मुश्किल हो गया है इस भीड़ के बीच। और वे जो मेहमान

बन गये हैं, वे इतना शोरगुल मचाते हैं--जो सबसे ज्यादा चिल्लाता है वही मालिक मालूम होता है। और मालिक कौन है इसका हमें कोई पता नहीं चलता है। हर विचार जोर से चिल्लाता है कि मैं मालिक हूं और भीतर जो मालिक है वह धर्मशाला की भीड़ में, उसका हमें कोई पता चलना संभव नहीं रह गया। कोई विचार निकलने के लिए राजी नहीं है। जिसको हमने ठहरा लिया है वह कैसे निकले? जिसको हमने बुलाया है वह कैसे निकले? जिसको हमने निमंत्रण देकर बुलाया था आज वह कैसे निकल जायेगा? मेहमान को बुला लेना आसान है, निकालना उतना आसान नहीं है। और मेहमान आ गए हैं हजारों साल से। मेहमान आदमी के मन में इकट्ठे होते चले गये हैं। आज इनको विदा करने को अगर मैं आपसे कहूं तो ये एकदम से विदा नहीं हो सकते, लेकिन अगर बुनियाद हम समझ लें तो ये विदा हो सकते हैं। पहली बुनियाद, दूसरों का सीखा हुआ सारा विचार व्यर्थ है, अगर हमें यह स्पष्ट हो जाये तो हमने जड़ काट दी विचारों के इकट्ठे होने की। फिर हमने जड़ काट दी। फिर हमने जड़ में पानी देना बंद कर दिया। क्योंकि यह भ्रम कि यह ज्ञान है, इसीलिए हम सोचते हैं!
एक संन्यासी, एक वृद्ध संन्यासी अपने एक युवा भिक्षु के साथ एक जंगल पार कर रहा था। रात उतर आयी, अंधेरा घिरने लगा। तो उस बूढ़े संन्यासी ने युवा संन्यासी को पूछा कि बेटे रास्ते में कोई डर तो नहीं है, कोई भय तो नहीं है? रास्ता बड़ा जंगल का बीहड़... अंधेरी रात उतर रही है, कोई भय तो नहीं है?
युवा संन्यासी बहुत हैरान हुआ, क्योंकि संन्यासी को... और भय का सवाल
ही नहीं उठना चाहिए। संन्यासी को भय का कहां सवाल है! चाहे रात अंधेरी हो और चाहे उजाली, और चाहे जंगल हो और चाहे बाजार हो। संन्यासी को भय उठे, यही आश्चर्य की बात है! और इस बूढ़े को आज तक कभी भी नहीं उठा था। आज क्या गड़बड़ हो गयी है, इसे भय क्यों उठता है? कुछ न कुछ मामला गड़बड़ है!
फिर और थोड़ा आगे बढ़े। रात और गहरी होने लगी। उस बूढ़े ने फिर पूछा कि कोई भय तो नहीं है? हम जल्दी दूसरे गांव तो पहुंच जायेंगे? रास्ता... कितना फासला है?
फिर वे एक कुएं पर हाथ-मुंह धोने को रुके। उस बूढ़े ने अपने कंधे पर डाली हुई झोली उस युवक को दी और कहा, संभाल कर रखना। उस युवक को ख्याल हुआ कि झोली में कुछ न कुछ होना चाहिए, अन्यथा न भय का कारण है और न संभालकर रखने का कारण है।
संन्यासी भी कोई चीज संभालकर रखे तो गड़बड़ हो गई। फिर संन्यासी होने
का कोई मतलब ही न रहा। संभालकर जो रखता है, वही तो गृहस्थ है। सब संभाल-संभालकर रखता है, इसीलिए गृहस्थ है। संन्यासी को क्या संभालकर रखने की बात है?
बूढ़ा हाथ-मुंह धोने लगा। और उस युवक ने उस झोली में हाथ डाला, और देखा सोने की एक ईंट झोली में है। वह समझ गया कि भय किस बात में है। उसने ईंट उठाकर जंगल में फेंक दी और एक पत्थर का टुकड़ा उतने ही वजन का झोली के भीतर रख दिया। बूढ़ा जल्दी से हाथ-मुंह धोकर आया और उसने जल्दी से झोली ली, टटोला, वजन देखा, और झोली कंधे पर रखी और चल पड़ा।
और फिर कहने लगा थोड़ी दूर चलकर कि "रात बड़ी हुई जाती है, रास्ता हम कहीं भटक तो नहीं गये हैं? कोई भय तो नहीं है?"
उस युवक ने कहा, "अब आप निर्भय हो जाइये, भय को मैं पीछे फेंक आया।"
वह तो घबड़ा गया। उसने जल्दी से झोली में हाथ डाला--देखा, वहां तो एक पत्थर का टुकड़ा रखा हुआ था। एक क्षण को तो वह ठगा-सा खड़ा रह गया और फिर हंसने लगा और उसने कहा, "मैं भी खूब पागल था। इतनी देर पत्थर के टुकड़े को लिए था तब भी मैं भयभीत हो रहा था, क्योंकि मुझे यह ख्याल था कि यह सोने की ईंट भीतर है। था पत्थर का वजन, लेकिन ख्याल था कि सोने की ईंट भीतर है तो उसे सम्हाले हुए था।" फिर जब पता चल गया कि पत्थर है, उठाकर उसने पत्थर फेंक दिया। झोली एक तरफ रख दी और युवक से कहा, "अब रात यहीं सो जायें, अब कहां परेशान होंगे, कहां रास्ता खोजेंगे।" फिर रात वे वहीं सो गये।
तो जिस विचार को आप सोने की ईंट समझे हुए हैं, अगर वह सोने की ईंट दिखायी पड़ती है तो आप उसको सम्हाले रहेंगे, सम्हाले रहेंगे, उससे आप मुक्त

नहीं हो सकते। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूं वह सोने की ईंट नहीं है। वहां बिल्कुल पत्थर का वजन है। जिसको आप ज्ञान समझे हैं, वह जरा भी ज्ञान नहीं है, वह सोना नहीं है, वह बिल्कुल पत्थर है।
दूसरों से मिला हुआ ज्ञान बिल्कुल पत्थर है। खुद से आया हुआ ज्ञान ही सोना होता है। जिस दिन आपको यह दिखायी पड़ जायेगा कि झोली में ईंट सम्हाले हुए हैं, पत्थर सम्हाले हुए हैं, उसी दिन मामला खतम हो गया। अब उस ईंट को उठाकर फेंकने में कठिनाई नहीं रह जायेगी।
कचरे को फेंकने में कठिनाई नहीं रह जाती, सोने को फेंकने में कठिनाई होती है। जब तक आपको लग रहा है कि यह विचार ज्ञान है, तब तक आप इसे नहीं फेंक सकते हैं। यह मन आपका एक उपद्रव का स्थल बना ही रहेगा, बना ही रहेगा, बना ही रहेगा। आप लाख उपाय करेंगे, कोई उपाय काम नहीं करेगा। क्योंकि आप बहुत गहरे में चाहते हैं कि यह बना रहे, क्योंकि आप समझते हैं यह ज्ञान है। जीवन में सबसे बड़ी कठिनाइयां इस बात से पैदा होती हैं कि जो चीज जो नहीं है, वह उसको हम समझ लें, तो सारी कठिनाइयां पैदा होनी शुरू हो जाती हैं। पत्थर को कोई सोना समझ ले तो मुश्किल शुरू हो गयी। पत्थर को कोई पत्थर समझ ले, मामला खतम हो गया।
तो हमारे विचार की संपदा वास्तविक संपदा नहीं है--इस बात को समझ लेना जरूरी है। कैसे समझें! क्या मेरे कहने से आप समझ लेंगे? अगर मेरे कहने से समझ लिए तो यह समझ उधार हो जायेगी, यह समझ बेकार हो जायेगी। क्योंकि यह मैं कह रहा हूं और आप समझ लेंगे। मेरे कहने से समझने का सवाल नहीं है, आपको देखना पड़े, खोजना पड़े, पहचानना पड़े।
वह युवक अगर उस बूढ़े से कहता कि चले चलिये, कोई फिक्र नहीं है, आपके झोले में ईंट है, पत्थर है, कोई सोना नहीं है, तो इससे कोई फर्क पड़ने वाला नहीं था, जब तक कि बूढ़ा देख न ले कि उसके झोले में ईंट है, सोने की है या पत्थर की! युवक कहता तो कोई बात ख्याल में आने वाली न थी। हंसता लड़के पर कि लड़का है, नासमझ है, कुछ पता नहीं। या हां भी भर देता तो वह हां झूठी होती, भीतर गहरे में वह ईंट को सम्हाले ही रहता। लेकिन खुद देखा तो फर्क पड़ गया। तो अपने मन की झोली में देखना जरूरी है कि जिन्हें हम ज्ञान समझ रहे हैं, वह विचार-ज्ञान है, उनमें ज्ञान जैसा कुछ भी है या कि सब फिजूल कचरा हमने इकट्ठा कर रखा है। गीता के श्लोक इकट्ठे कर रखे हैं, वेदों के वचन इकट्ठे कर रखे हैं, महावीर, बुद्ध के शब्द इकट्ठे कर रखे हैं और उन्हीं को लिये बैठे हुए हैं और उन्हीं का हिसाब लगाते रहते हैं। उनका अर्थ निकालते रहते हैं, टीकायें पढ़ते रहते हैं और टीकायें लिखते रहते हैं और एक-दूसरे को समझाते रहते हैं और समझते रहते हैं।
यह बिल्कुल पागलपन पैदा हो गया है। इससे कोई संबंध नहीं है ज्ञान का। इससे जीवन में कोई ज्योति नहीं फूटेगी, कोई किरण पैदा नहीं होगी। और इस कचरे को इकट्ठा करके आप इस भ्रम में पड़ जायेंगे कि हमने ब.हुत संपदा इकट्ठी कर ली है, हम बड़े मालिक हैं, हमारे पास बहुत-कुछ है, हमारी तिजोरी भरी हुई है और इसी के साथ आप जीवन को व्यतीत कर देंगे और नष्ट कर देंगे। एक संन्यासी, एक युवा संन्यासी एक आश्रम में ठहरा था। एक बूढ़े संन्यासी के निकट सान्निध्य को आया था, लेकिन दो-चार दिन में ही उसे लगा कि इस बूढ़े को कुछ भी पता नहीं है। रोज वही बातें, रोज वही बातें सुन-सुनकर हैरान हो गया। सोचा छोड़ दूं इस आश्रम को, कहीं और खोजूं, यह मेरे लिए जगह नहीं है। किसी और गुरु की तलाश करूं।
लेकिन जिस दिन छोड़ने को था, उसी दिन एक संन्यासी और उस आश्रम में मेहमान हुआ। और रात आश्रम के अंतेवासी इकट्ठे हुए और उनकी बातें हुईं। उस नये संन्यासी ने इतनी ज्ञान की बातें कीं, ऐसी सूक्ष्म और बारीक, ऐसी गहरी और प्रगाढ़ कि छोड़ने वाले युवा संन्यासी को लगा कि गुरु हो तो ऐसा हो। दो घंटे में उसने मंत्र-मुग्ध कर दिया। उसके मन को यह भी ख्याल हुआ कि हमारे बूढ़े गुरु के मन को बड़ी पीड़ा होती होगी। आज बड़ी आत्म-ग्लानि लगती होगी कि मैं बूढ़ा हो गया और मैं कुछ भी नहीं जान पाया और यह आगंतुक इतना जानता है। दो घंटे बाद जब बात बंद हुई तो उस आये हुए संन्यासी ने बूढ़े गुरु की तरफ देखा और उस वृद्ध से पूछा कि, "आपको मेरी बातें कैसी लगीं?" उस बूढ़े ने

कहा, "मेरी बातें? बातें तुम करते थे, लेकिन तुम्हारी उसमें कोई भी बात नहीं थी। और मैं तो बहुत गौर से सुनता था कि तुम कुछ बोलो, लेकिन तुम कुछ बोलते ही नहीं हो!" तो उस युवक ने कहा, "दो घंटे मैं नहीं तो और कौन बोलता था?"
तो उस बूढ़े ने कहा, "अगर मुझसे पूछते हो सचाई और ईमानदारी की बात, तो तुम्हारे भीतर से किताबें बोलती थीं, शास्त्र बोलते थे, लेकिन तुम जरा भी नहीं बोलते थे। तुमने एक शब्द भी नहीं बोला। जो तुमने इकट्ठा कर लिया है उसी का वमन करते थे, उसी को तुम उल्टी करते थे, उसी को तुम बाहर निकालते थे। और तुम्हारे वमन और उल्टी से मैं बहुत घबरा गया कि तुम बड़े बीमार आदमी हो। तुम दो घंटे तक उलटते ही रहे, जो तुम्हारे पेट में इकट्ठा था। और सारा कमरा तुमने गंदगी और बदबू से भर दिया। मुझे तो ज्ञान की सुगंध जरा भी नहीं आयी, क्योंकि बाहर से जो भीतर ले जाया जाये और फिर बाहर फेंक दिया जाये, उसमें वमन की दुर्गंध हो जानी बिल्कुल ही निश्चित है। तुम तो कुछ भी नहीं बोले, एक शब्द भी तुम्हारा अपना नहीं था।
वह जो युवा संन्यासी छोड़ना चाहता था आश्रम, उसी आश्रम में रुक गया। आज उसे पहली दफा पता चला कि जानने और जानने में बहुत फर्क है। एक जानना वह है जो हम बाहर से इकट्ठा कर लेते हैं। एक जानना वह है जिसका भीतर से जन्म होता है। बाहर से जो इकट्ठा कर लेते हैं वह हमारा बंधन हो जाता है, वह हमें मुक्त नहीं करता है और भीतर से जो आता है वह हमें मुक्त करता है।
तो, पहली बात भीतर खोज कर लेने की है कि मैं जो जानता हूं, वह मैं जानता हूं? यह अपने जानने के एक-एक विचार और एक-एक शब्द से पूछ लेना जरूरी है यह मैं जानता हूं? और अगर उत्तर आये कि यह मैं नहीं जानता हूं तो आपकी जिंदगी में सोने की ईंट धीरे-धीरे पत्थर की ईंट हो जायेगी। और उत्तर आयेगा कि आप नहीं जानते, क्योंकि दुनिया में सबको धोखा देना संभव है, अपने को धोखा देना संभव नहीं है।
कोई आदमी खुद को धोखा नहीं दे सकता। जो आप नहीं जानते वह आप नहीं जानते। अगर मैं आपसे पूछूं, आप ईश्वर को जानते हैं? और अगर आप सिर हिलायें कि हां मैं जानता हूं, तो आप बेईमान हैं। अपने से पूछें भीतर कि मैं ईश्वर को जानता हूं या कि मैंने सुनी-सुनाई बातें मान ली हैं कि ईश्वर है? मैं जानता हूं! और अगर नहीं जानता तो ऐसे ईश्वर का दो कौड़ी भी मूल्य नहीं है। जिसको मैं नहीं जानता वह मेरी जिंदगी को थोड़े ही बदल सकता है। जिस ईश्वर को मैं जानता हूं वही ईश्वर मेरी जिंदगी की क्रांति बन सकता है।
जिस ईश्वर को मैं नहीं जानता वह दो कौड़ी का मूल्य नहीं रखता, वह ईश्वर झूठा है, वह ईश्वर है ही नहीं, क्योंकि वह सब उधार है, उससे मेरी जिंदगी में कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है। अगर मैं आपसे पूछूं, आप आत्मा को जानते हैं और आप कहें हां हम जानते हैं, क्योंकि हमने किताब में पढ़ा हुआ है, क्योंकि हमारे मंदिर में जो पंडित जी पढ़ाते हैं वे समझाते हैं कि हां, आत्मा होती है।
आदमी को जो भी सिखा दिया जाये वह तोतों की तरह याद कर लेता है। इस याद
कर लेने से जानने का कोई संबंध नहीं है। अगर आप हिंदू घर में पैदा हुए हैं तो आप दूसरे तरह के तोते हो जाते हैं और जैन घर में पैदा हुए हैं तो दूसरी तरह के तोते हो जाते हैं। और मुसलमान घर में हुए हैं तो तीसरी तरह के तोते हो जाते हैं, लेकिन सब जगह आप तोते बन जाते हैं। जो-जो आपको सिखा दिया जाता है, उसी को आप जिंदगी भर दोहराये चले जाते हैं। और चूंकि आपके आसपास भी आप ही जैसे तोते होते हैं, इसलिए कोई ऐतराज भी नहीं करता है, कोई इनकार भी नहीं करता है। तोते सिर हिलाते हैं कि बिल्कुल ठीक कह रहे हैं आप, क्योंकि यही उन्होंने भी सीखा है जो आपने सीखा है।
धर्म सभाओं में जाइए, वहां धर्मगुरु समझा रहे हैं और बाकी लोग सिर हिलाते हैं कि बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। क्योंकि जो वे सीखे बैठे हैं, वही वे भी सीखे बैठे हैं। और दोनों सीखे बैठे हुए हैं और दोनों सिर हिला रहे हैं कि हां! बिल्कुल ठीक बात कही जा रही है, हमारी किताब में भी यही लिखा हुआ है, हमने भी यही पढ़ा हुआ है।

सारी मनुष्य-जाति को ज्ञान का धोखा दिया गया है। एक साजिश, एक शड्यंत्र है आदमी के साथ ज्ञान के धोखे का। इस सारे ज्ञान को झाड़-पोंछकर बाहर फेंक देने की जरूरत है, तो कभी आपकी जिंदगी में वह ज्ञान भी आ सकता है जिसके आलोक में ईश्वर का अनुभव हो जाये और आत्मा की ज्योति दिखाई पड़ जाये। इस झूठे ज्ञान से वह संभावना नहीं है। यह रोशनी ही नहीं है, घर अंधेरा पड़ा है, दीया बुझा हुआ है और समझा-समझाकर लोग कह रहे हैं, दीया जला हुआ है। और बार-बार सुनने और समझने के कारण हम भी कहने लगे हैं कि दीया जला हुआ है, क्योंकि कहीं डर भी है! वे कहते हैं कि अगर दीया जला हुआ नहीं दिखा तो नर्क चले जाओगे। तो दीया जला हुआ दिखता है, हमको भी दिखने लगता है धीरे-धीरे। एक सम्राट था। एक अदभुत, अजनबी आदमी ने एक दिन सुबह ही आकर उस सम्राट
को कहा, क्या आपने सारी पृथ्वी जीत ली है? आपको आदमियों जैसे वस्त्र शोभा नहीं देते। मैं आपके लिए देवताओं के वस्त्र ला दूंगा। सम्राट के मन को लोभ पकड़ा। बुद्धि तो कहती थी कि देवताओं के वस्त्र कहां होंगे? देवता भी कहीं होंगे, इस पर भी बुद्धि को शक होता है, लेकिन राजा को लोभ पकड़ा, कि हो सकता है देवता कहीं हों और वस्त्र आ जायें तो मैं पृथ्वी पर पहला आदमी रहूंगा मनुष्य के इतिहास में जिसने देवताओं के वस्त्र पहने। और यह आदमी अगर धोखा भी देगा तो क्या धोखा देगा!
वह बड़ा सम्राट था। अरबों-खरबों रुपये उसके पास ऐसे ही पड़े थे। दस-पचास हजार रुपये ले भी जायेगा तो हर्ज क्या है। उसने उस आदमी को कहा, अच्छा ठीक है। क्या खर्च होगा?
उस आदमी ने कहा, कम से कम एक करोड़ रुपया लग जायेगा, क्योंकि देवी- देवताओं तक पहुंचने में बड़ी रिश्वत खिलानी पड़ती है। कोई आदमी ही था.ेडे रिश्वत लेता है, देवी-देवता भी बड़े होशियार हैं, वे भी रिश्वत मांगते हैं। और आदमी थोड़े-बहुत पैसे से राजी हो जाता है, गरीब आदमी है! देवी-देवता थोड़े पैसे से राजी नहीं होते। भारी ढेर हो तभी उनकी नजर में पड़ता है, नहीं तो नजर में नहीं पड़ता। तो बड़ी मुश्किल है लेकिन एक करोड़ कम से कम खर्च होगा! राजा ने कहा, "अच्छा कोई हर्ज नहीं, लेकिन ध्यान रहे, धोखा दोगे तो जिंदगी से हाथ धो बैठोगे। और तुम्हारे मकान पर आज से तलवारों का पहरा रहेगा।" एक करोड़ रुपया उस आदमी को दे दिया गया और उसके मकान पर पहरा बिठा दिया गया। सारी बस्ती में लोग चकित थे और हैरान थे और विश्वास नहीं आता था--कहां देवी, कहां देवता, कहां देवताओं का स्वर्ग! और यह आदमी न कहीं जाता दिखता था, न कहीं आता दिखता था। मकान के भीतर था और उसने कहा, छह महीने के भीतर मैं वस्त्र ले आऊंगा। शक तो सभी को था, लेकिन राजा निश्चिंत था, क्योंकि नंगी तलवारों का पहरा था। वह आदमी भाग नहीं सकता था, धोखा नहीं दे सकता था। लेकिन वह आदमी राजा से बहुत ज्यादा समझदार था।
छह महीने बाद ठीक दिन पर वह एक बहुत खूबसूरत पेटी लेकर बाहर निकला और उसने सैनिकों से कहा कि, "राजमहल चलें, दिन आ गया और वस्त्र आ गये।"
सारी राजधानी इकट्ठी हो गई। दूर-दूर के राजे-महाराजे देखने इकट्ठे हो गए। भारी जलसा मनाया गया। वह आदमी जब दरबार में ही पेटी लेकर आ गया तब तो शक का कोई कारण ही नहीं रहा। उसने लाकर पेटी रख दी। पेटी का ढक्कन खोला, हाथ भीतर डाला और खाली हाथ बाहर निकाला और राजा से कहा, "यह पगड़ी लें।" राजा ने देखा, "पगड़ी तो कुछ दिखाई नहीं पड़ती, हाथ खाली है।"
और तभी उस आदमी ने कहा, "एक स्मरण आप को दिला दूं, देवताओं ने कहा है कि
जो अपने ही बाप से पैदा हुआ होगा उसी को पगड़ी और वस्त्र दिखाई पड़ेंगे। आपको पगड़ी दिखाई पड़ती है न?"
राजा ने कहा, "बिल्कुल दिखायी पड़ती है। वह पगड़ी वहां थी नहीं, हाथ खाली
था और सारे दरबारी ताली बजाने लगे। उनको भी पगड़ी नहीं दिखायी पड़ती थी, लेकिन वे सभी कहने लगे आगे बढ़कर, "ऐसी सुंदर पगड़ी तो हमने कभी देखी नहीं थी। पगड़ी बहुत सुंदर है, बड़ी अदभुत है, आदमी ने कभी देखी नहीं यह पगड़ी तो!" अब जब सभी दरबारी कहने लगे कि पगड़ी बहुत सुंदर है, राजा मुश्किल में
पड़ गया। और उस आदमी ने कहा, "अच्छा अपनी पगड़ी निकालिये और यह पगड़ी पहन लीजिये।"

वह पगड़ी उसने अलग कर दी और वह झूठी पगड़ी जो थी ही नहीं, वह राजा ने पहन ली। पगड़ी तक ही बात होती तो ठीक थी, लेकिन राजा दिक्कत में पड़ गया। धीरे- धीरे कोट भी उतर गया, फिर आखिरी वस्त्र भी उतरने का वक्त आ गया। राजा नंगा होने लगा, लेकिन सारे दरबारी चिल्ला रहे हैं, कि बहुत सुंदर वस्त्र हैं! अदभुत! ऐसे वस्त्र कभी देखे नहीं। क्योंकि जो दरबारी जोर से नहीं कहेगा, लोग शक करेंगे कि पता नहीं अपने पिता से पैदा हुआ है या किसी और से पैदा हुआ है!
और जब सारी भीड़ चिल्लाती हो तो एक-एक आदमी को यह लगा कि मेरी आंखें गलत देखती होंगी। या मैं ही अपने पिता के बाबत गलती में रहा अब तक। बाकी सारे लोग कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे। इतने लोग गलत तो नहीं कह सकते। इतनी मेजॉरिटी, इतना बहुमत! जब सभी कहते हैं तो ठीक कहते होंगे। इतना लोकतांत्रिक है कि सभी ठीक कह रहे हैं। जब इतने लोग कह रहे हैं! सभी तो गलती में नहीं हो सकते। मैं अकेला गलती में हो सकता हूं, इसलिए अगर चुपचाप रह जाऊं तो लोग समझेंगे कि मुझे दिखाई नहीं पड़ रहा।
राजा डरा, अब अंतिम वस्त्र उतारे या न उतारे? एक तरफ यह था कि सारा दरबार नग्न देख लेगा और दूसरी तरफ यह डर था कि यह नग्नता तो फिर भी ठीक है, लेकिन अगर दुनिया को यह पता चल गया कि मैं अपने बाप से पैदा नहीं हुआ तो और मुश्किल हो जायेगी। अब बड़ी मुश्किल थी--इधर गिरे तो कुआं, उधर गिरे तो खाई। आखिर नग्नता को ही स्वीकार करना ठीक था। कम से कम पिता तो बचते थे, वंश तो बचता था। नंगा ही देख लेंगे लोग और क्या! जब सबको वस्त्र दिखायी पड़ रहे हैं तो हो सकता है दिखाई पड़ रहे हों। और मैं ही गलती में हूं और व्यर्थ की झंझट हो जाये। तो उसने अंतिम वस्त्र भी छोड़ दिया। वह नंगा का नंगा खड़ा हो गया। फिर उस आदमी ने कहा कि, महानुभाव, देवताओं के वस्त्र पहली दफा पृथ्वी
पर उतरे हैं। आपकी शोभा-यात्रा निकलनी चाहिए। रथ पर आपको गांव में घुमाया जाना चाहिए। राजा बहुत डरा, लेकिन अब कोई रास्ता न था।
जब आदमी पहली कड़ी पर गलती कर जाता है, तो फिर किसी भी कड़ी पर रुकना बहुत मुश्किल हो जाता है। फिर लौटना मुश्किल हो जाता है। ईमानदारी पहली कड़ी पर अगर नहीं की गयी तो फिर आगे की कड़ियों पर आदमी और बेईमानी, और बेईमानी में गिरता चला जाता है, फिर उसे मुश्किल हो जाता है कहां से लौटे, क्योंकि हर कड़ी और कड़ी में बांधने का रास्ता बन जाती है।
अब वह मुश्किल में पड़ गया था, अब इनकार नहीं कर सकता था। रथ पर बैठकर उसकी शोभा-यात्रा निकली है। हो सकता है आप भी उस नगर में रहे हों, क्योंकि बहुत लोग उस नगर में थे और सबने वह शोभा-यात्रा देखी और आप भी रहे होंगे तो आपने भी उन वस्त्रों की तारीफ की होगी; क्योंकि कौन चूकता है, कौन मौका छोड़े। सब लोग जोर से तारीफ करने लगे कि वस्त्र बहुत सुंदर हैं। सुनते ही सुनते एक बच्चे ने जो अपने बाप के कंधे पर बैठा हुआ भीड़ में आ गया था, उसने भर यह कहा था कि "पिताजी, राजा तो नंगा मालूम होता है।" उसके बाप ने कहा, "नासमझ चुप रह, अभी तेरी उम्र कम है, अभी तुझे अनुभव नहीं है। जब तुझे अनुभव होगा, तुझे भी वस्त्र दिखायी पड़ने शुरू हो जायेंगे। मुझको वस्त्र दिखायी पड़ते हैं।"
बच्चे कभी-कभी सत्य कह देते हैं, लेकिन बूढ़े उनके सत्य को टिकने नहीं देते, क्योंकि बूढ़ों का अनुभव ज्यादा है। और अनुभव बड़ी खतरनाक बात है। क्योंकि अनुभव के कारण ही उस बूढ़े ने कहा, चुप रह! जब तुझे अनुभव होगा तुझे भी वस्त्र दिखायी पड़ेंगे। हम सबको दिखायी पड़ रहे हैं। हम पागल हैं? कभी- कभी बच्चे कह देते हैं, यह भगवान की मूर्ति में हमें भगवान नहीं दिखायी पड़ते हैं। तो बूढ़े कहते हैं, चुप! हमको भगवान दिखायी पड़ रहे हैं। वह रामचंद्र जी खड़े हुए हैं। अनुभव होगा, तुझको भी दिखायी पड़ेंगे।
आदमी एक म्यूचुअल डिसेप्शन में, एक पारस्परिक धोखे में बंधा हुआ है।
और जब सारे लोग एक ही धोखे में बंधे होते हैं, तो दिखायी पड़ना मुश्किल हो जाता है। आपको खोज लेना जरूरी है कि जिन ज्ञान के वस्त्रों को आप वस्त्र समझ रहे हैं, वे वस्त्र हैं या कि आप उन वस्त्रों में भी नग्न खड़े हुए हैं? यह कसौटी अपने एक-एक विचार को कसकर देख लेने की है कि यह मैं जानता हूं?

अगर नहीं जानते हैं तो नर्क जाने को तैयार हो जाना, लेकिन इस झूठे ज्ञान को पकड़ने को तैयार मत होना।
क्योंकि यह ईमानदारी की पहली शर्त है कि जो आदमी नहीं जानता जिस बात को, कह दे कि मैं नहीं जानता हूं। यह बेईमानी की शुरुआत है। और ब.ड़ी बेइमानियां दिखायी नहीं पड़तीं, छोटी बेइमानियां दिखायी पड़ती हैं। एक आदमी दो पैसे की बेईमानी करता है, तो हमें दिखायी पड़ती है और एक आदमी पत्थर की मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर कहता है कि हे परमपिता! हे परमेश्वर! और पूरी तरह जानता है कि पत्थर की मूर्ति के सामने हाथ जोड़ रहा है, यहां कोई परमेश्वर, कोई परमपिता दिखायी नहीं पड़ रहा है, और यह आदमी ईमानदार और धार्मिक मालूम होता है, इससे ज्यादा बेईमान और धोखेबाज आदमी जमीन पर खोजना कठिन है! यह बिल्कुल धोखे की बात कह रहा है, यह बिल्कुल सरासर झूठी बात कह रहा है जिसका इसके भीतर कोई एहसास नहीं हो रहा है। लेकिन इतना साहस नहीं जुटा पाता है कि इस बात को समझ ले कि मैं यह क्या कह रहा हूं? यह मैं क्या कर रहा हूं?
धार्मिक आदमी वह है और धार्मिक होने की शुरुआत इस बात में है, कि वह ठीक से इस बात को पहचान ले कि "क्या मैं जानता हूं और क्या मैं नहीं जानता हूं?" वह आदमी धार्मिक नहीं है जो कहे कि मैं ईश्वर को जानता हूं और आत्मा को जानता हूं। मैंने स्वर्ग देख लिया और नर्क देख लिया। वह आदमी धार्मिक है जो कहे कि मुझे तो कुछ भी पता नहीं है, मैं बिल्कुल अज्ञानी हूं। मुझे कोई भी ज्ञान नहीं है, मुझे अपना ही पता नहीं है, मैं कैसे कहूं कि मैं ईश्वर को जानता हूं! सामने मकान के जो पत्थर पड़ा है, उसको भी मैं नहीं जानता हूं। मैं परमात्मा को जानता हूं, कैसे कहूं?
जिंदगी बहुत रहस्यपूर्ण है, अज्ञात है। मुझे कुछ भी पता नहीं है, मैं
तो बिल्कुल अज्ञानी हूं। अगर आप अज्ञानी होने का साहस कर सकते हैं, इस स्वीकृति का कि मैं अज्ञानी हूं तो आपके विचारों के जाल से छुटकारे का रास्ता शुरू हो जाता है अन्यथा शुरू नहीं होगा। यह बात एक समझ लेने की है कि हम अत्यंत अज्ञानी हैं, हमें कुछ भी पता नहीं है। और जो भी हमें पता मालूम पड़ता है कि पता है वह बिल्कुल झूठा, उधार और बासा है। वह हौज की तरह है, वह कुएं की तरह नहीं है। और अगर जीवन में एक कुआं बनाना है तो हौज के भ्रम से मुक्त हो जाना अत्यंत जरूरी है।

प्रश्न--अस्पष्ट ध्वनि-मुद्रण!

कोई अभिप्राय नहीं है। मैं तो कृष्णमूर्ति जी को जानता नहीं, एक बात। दूसरी बात, जब मैं कुछ कह रहा हूं, और अगर आप तौलते हैं कि वह किसके साथ समानता रखता है, और किस के साथ असमानता रखता है, तो आप मुझे सुन ही नहीं पायेंगे। आप उस तौल में ही समय खराब कर देंगे। और यह बिल्कुल असंभव है कि दो आदमियों की बात समान हो, क्योंकि दो आदमी समान नहीं हैं। दो पत्ते समान नहीं हैं, दो पत्थर समान नहीं हैं। कुछ शब्दों की समानता हो सकती है, कुछ ऊपरी समानता हो सकती है किसी बात में, लेकिन जगत में एक-एक आदमी इतना भिन्न और पृथक है, कि ठीक-ठीक, समान कुछ भी नहीं हो सकता है।
लेकिन उसे अगर तौलने बैठें कि किस चीज से मेरी बात समान है; गीता से मिलती है, कृष्णमूर्ति जी से मिलती है, कि रामकृष्ण से मिलती है, कि महावीर से मिलती है तो आप मेरी बात नहीं सुन पायेंगे, क्योंकि बीच में यह रामकृष्ण और कृष्णमूर्ति और महावीर बीच में इतना उपद्रव खड़ा कर देंगे कि मेरी बात आप तक नहीं पहुंच पाएगी। सीधा आपसे मेरा कोई संबंध नहीं पैदा हो पायेगा।
तो मुझे पता नहीं, लेकिन इतनी प्रार्थना है कि उसे तौलने की और समानता बिठाने की या असमानता देखने की कोई जरूरत ही नहीं है। वह बात ही फिजूल है, उसका कोई प्रयोजन ही नहीं है। उससे कुछ हित भी नहीं होता।
लेकिन हमारे जीवन में कुछ सामान्य आदतें बन गई हैं, उनमें एक तुलना की आदत है। हम बिना तौले आंक ही नहीं सकते। कोई भी बात हमें आंकनी है तो हम

कंपेअर किए बिना, तौले बिना नहीं सोच सकते कि यह बात कैसे हो सकती है। और जब भी हम तुलना करते हैं, तभी भूल शुरू हो जाती है।
अगर हम एक चमेली के फूल को गुलाब के फूल से तौलें तो भूल शुरू हो जाती है। चमेली का फूल चमेली का फूल है, और गुलाब का फूल गुलाब का फूल है, और घास का फूल घास का फूल है। न तो घास के फूल से गुलाब का फूल आगे है, न पीछे है। घास का फूल अपनी निजता में जीता है, गुलाब का फूल अपनी निजता में जीता है।
न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है, न कोई समान है, न कोई असमान है, प्रत्येक अपने ही जैसा है और कोई किसी जैसा नहीं है।
अगर चीजों की यह इंडिविजुअलिटी, इनका व्यक्तित्व, उनका अनूठापन हमें दिखायी पड़ना शुरू हो जाए तो हम तौलना बंद कर देंगे।
लेकिन हमारी तौलने की आदत--एक छोटे-से बच्चे को भी हम तौलते हैं। हम कहते हैं कि देखो, दूसरा बच्चा तुझसे आगे निकल गया, तू पीछे रह गया; हम बच्चे के साथ अन्याय कर रहे हैं। क्योंकि दूसरा बच्चा दूसरा बच्चा है, यह बच्चा है, यह बच्चा है! इन दोनों के बीच तौल की कोई गुंजाइश नहीं है। ये दोनों बिल्कुल भिन्न हैं अपने होने में। ये अपनी निजता में, अपनी आथेंटिसिटी में बिल्कुल अलग हैं, इनका कोई संबंध नहीं है।
लेकिन हमारी तौल की आदतें--हमारी शिक्षा भी तौलना सिखाती है, हमारे विचार भी तौलना सिखाते हैं। बिना कंपेअर किए हम हिसाब ही नहीं लगा पाते। और इसका परिणाम यह होता है कि हम सीधे किसी व्यक्ति को नहीं समझ पाते, न सीधे किसी विचार को समझ पाते हैं, बीच में और बहुत-सी बातें खड़ी हो जाती हैं।
तो मैं तो इतनी ही प्रार्थना करूंगा, मुझे तो पता नहीं कितनी समानता
हो सकती है, कितनी असमानता हो सकती है, मैंने तौला नहीं। और आपसे प्रार्थना करूंगा आप भी न तौलें। और मुझे और उनको ही नहीं किसी को भी कभी किसी से मत तौलें।
लेकिन यह सिलसिला चलता है कि महावीर और बुद्ध में कितनी समानता है, और क्राइस्ट में और मोहम्मद में कितनी समानता है, और कृष्ण और राम में कितनी समानता है--सब पागलपन है! कोई समानता-असमानता का सवाल नहीं, क्योंकि प्रत्येक बस अपने ही जैसा है, दूसरे से उसका कोई वास्ता ही नहीं, दूसरे से उसका कोई संबंध ही नहीं। कितना ही क्यों न फिजूल हो क्योंकि जब समानता ही नहीं है तो असमानता कहने का भी कोई कारण नहीं है।
प्रत्येक अपने जैसा अलग ही है। और इस जगत में दो व्यक्ति पुनरुक्त नहीं होते, दो घटनायें पुनरुक्त नहीं होतीं। दो अनुभव पुनरुक्त नहीं होते, रिपिटीशन जैसी चीज होती ही नहीं जीवन में। जीवन बिल्कुल ही सतत अनूठेपन को पैदा किए चला जाता है। इसलिए तौलने की कोई जरूरत नहीं है। न हिसाब लगाने की जरूरत है।
कृष्णमूर्ति जी को सुनते हो तो उन्हें सीधा समझने की जरूरत है, मुझे सुनते हो तो मुझे सीधा सुनने की जरूरत है। अपने पड़ोसी को सुनते हो तो उसे सीधा सुनने की जरूरत है। अपनी पत्नी की बात सुनते हो तो उसे भी सीधा सुनने की जरूरत है। दो के बीच में तीसरा खड़ा हुआ कि कठिनाई और विवाद होने शुरू हो जाते हैं। दो के बीच तीसरे की कोई भी जरूरत नहीं है। सीधा, इमीजिएट, सीधा हमारा संपर्क और संबंध होना चाहिए।
अगर मैं एक गुलाब के फूल के पास खड़ा हूं और मुझे वह फूल ख्याल आ जायें
जो मैंने कल देखे थे, और सोचने लगूं कितनी समानता है इस फूल में और उन फूलों में, तो इस फूल को देखना बंद हो जाएगा। एक बात तय है क्योंकि वह फूल जो बीच में आ गए हैं उनकी छाया इस फूल को नहीं देखने देगी। अगर इस फूल को देखने में जो मेरे सामने है, तो वे सारे फूल भूल जाने जरूरी हैं, जो मैंने कभी देखे हों। उनको बीच में लाना इस फूल के साथ अन्याय हो जायेगा। और इस फूल की याद भी साथ ले जाने की जरूरत नहीं है कि कल कहीं किसी दूसरे फूल को देखते वक्त यह फिर बीच में आ जाए। तो न कृष्णमूर्ति जी को यहां लाइये। मुझे सुनने से कहीं इस ख्याल में मत पड़ जाइये कि कल किसी और को सुनते हुए मुझे बीच में खड़ा कर लें, तो फिर उस आदमी के साथ अन्याय होना शुरू हो जायेगा।

जिंदगी को सीधा देखिए, किसी को बीच में लेने की कोई भी जरूरत नहीं है।
न कोई समान है, न कोई असमान है। प्रत्येक बस अपने जैसा है और प्रत्येक अपने जैसा हो, यही मेरी कामना है।
प्रत्येक अपने जैसा होना चाहिए, यही मुझे जीवन का बुनियादी सूत्र दिखाई पड़ता है। लेकिन अब तक हम इसके लिए राजी नहीं हो सके हैं। अब तक मनुष्य जाति इस बात के लिए राजी नहीं हो सकी कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके जैसा वह है, उसको स्वीकार कर ले। हम कोशिश करते हैं वह किसी और जैसा हो जाये। महावीर जैसा हो जाए, बुद्ध जैसा हो जाए, गांधी जैसा हो जाए। यह एक-एक आदमी के व्यक्तित्व का सीधा अपमान है। जब हम किसी से कहते हैं, तुम गांधी जैसे हो जाओ, तो हमने इतना भारी अपमान किया उस व्यक्ति का जिसका कोई हिसाब नहीं। क्योंकि वह अगर गांधी होने को पैदा हुआ था तो गांधी हो चुके हैं, इसकी क्या जरूरत है! इस आदमी को यह कहना कि तुम गांधी जैसे हो जाओ, यह कहना है कि तुम्हें तुम्हारे जैसे होने का कोई हक नहीं है। तुम्हें किसी और की कापी होने का, किसी का अनुकरण होने का ही हक है। तुम केवल कार्बन कापी ही हो सकते हो, तुम मूल प्रति नहीं हो सकते। इस आदमी का अपमान है।
तो मैं तो नहीं कहता कि कोई किसी जैसा हो जाए। मैं तो यही कहता हूं, हरेक अपने जैसा हो जाए। तो यह दुनिया एक अदभुत सुंदर दुनिया बन सकती है। अभी तक हमने यही कोशिश की है कि कोई किसी जैसा हो जाए, कोई किसी जैसा हो जाए। और इसीलिए हम तुलना करते हैं, इसीलिए हम विचार करते हैं, इसीलिए हम खोजते हैं। कोई भी आवश्यकता नहीं, अत्यंत अनावश्यक है ऐसा सोचना।
इस संबंध में कुछ और प्रश्न होंगे तो रात हम फिर उन पर बात करेंगे।
फिर मैं अंत में दोहरा दूं--एक ही बात मैंने कही है, जो बहुत बुनियादी है। अपने ज्ञान को कसें, खोजें कि वह आपका अपना है या किसी और का। और अगर आपको दिखायी पड़ जाये कि वह किसी और का है तो वह व्यर्थ हो जायेगा। और जिस दिन आपको दिखायी पड़ जाये कि मेरे पास अपना अभी कोई ज्ञान नहीं, उसी क्षण से आपके भीतर अपने ज्ञान के जन्म की किरण उतरनी शुरू होती है। उसी क्षण से एक क्रांति शुरू हो जाती है।
फिर कोई और प्रश्न होंगे तो रात उन पर हम बात करेंगे। दोपहर की बैठक पूरी हुई।

साधना पथ
इक्कीसवां प्रवचन

विश्वास-मात्र से छुटकारा

विचार की शृंखलाओं में मनुष्य एक कैदी की भांति बंधा है। इस कारागृह
की नींव में कौन-से पत्थर लगे हैं, उन पत्थरों में एक पत्थर के संबंध में दोपहर हमने बात की। दूसरे और उतने ही महत्वपूर्ण पत्थर के संबंध में अभी रात हमें बात करनी है। अगर बुनियाद के ये दो पत्थर हट जायें--सीखे हुए ज्ञान को ज्ञान समझने की भूल समाप्त हो जाये और दूसरा और पत्थर जिसकी मैं अभी बात करूंगा, वह हट जाये तो मनुष्य विचारों के जाल से अत्यंत सरलता से ऊपर उठ सकता है।
दूसरा कौन-सा पत्थर है? कौन-से दूसरे आधार पर मनुष्य के मन में विचारों का भवन और विचारों का जाल गूंथा गया और खड़ा किया गया है, शायद आपको ख्याल में भी न हो। यह ख्याल भी न होगा कि हम इतने अंतर्विरोधी, सेल्फ-कंट्राडिक्टरी विचारों से कैसे भर गये हैं!
हमारी दशा उस बैलगाड़ी की भांति है जिसमें चारों तरफ बैल जोत दिये गये हों और उन सभी बैलों को भगाने की कोशिश की जा रही हो, ताकि हम मंजिल तक पहुंच जायें। उस बैलगाड़ी के प्राण संकट में पड़ गये हैं, उसका अस्थि-पंजर ढीला हुआ जाता है। चारों तरफ बैलों से खींच रहे हैं, विरोधी दिशाओं में। वह बैलगाड़ी कहीं पहुंच सकती है? कोई मंजिल पर उसका पहुंचना हो सकता है? एक ही मंजिल हो सकती है उसकी। उस बैलगाड़ी की मौत हो सकती है, और कोई मंजिल नहीं हो सकती। वह बैलगाड़ी मर जायेगी। चारों तरफ बैल उसकी हड्डियां और अस्थि-पंजर खींचकर निकल जायेंगे और तो कुछ भी नहीं हो सकता। लेकिन वह बैलगाड़ी कहीं पहुंच नहीं सकती। क्योंकि चारों तरफ विरोधी दिशाओं में एक ही साथ बैल जुते हुए हैं।
हमारे मन के विचारों का अंतर्द्वंद्व हमारे प्राण लिये लेता है। हमारे सब विचार असंगत और स्व-विरोधी हैं--एक-दूसरे के विरोध में खड़े हुए हैं। और हमारे सब विचारों के बैल हमारे मन को अलग-अलग दिशाओं में खींच रहे हैं और हम उसके बीच पीड़ित और परेशान हैं। यह जो सेल्फ-कंट्राडिक्शन है, यह जो अंतर्विरोध है विचारों का, यह हमारे ख्याल में भी नहीं है कि हमारे भीतर किस भांति बैठा हुआ है।
मैं एक बहुत बड़े डाक्टर के घर में मेहमान था। सुबह ही कहीं जाने को मैं और वह डाक्टर दोनों घर के बाहर निकलते थे कि डाक्टर के छोटे बच्चे को छींक आ गयी। और उस डाक्टर ने कहा, थोड़ी देर रुक जायें, दो मिनट रुक जायें फिर हम चलेंगे। मैंने कहा कि तुम बड़े अजीब डाक्टर मालूम होते हो, क्योंकि डाक्टर को तो कम से कम पता होना चाहिए कि छींक आने का क्या कारण होता है और छींक आने से किसी के कहीं जाने और रुक जाने का क्या संबंध है? डाक्टर को भी यह पता न हो तो फिर आश्चर्य हो गया!
मैंने उन डाक्टर को कहा कि, अगर मैं बीमार पड़ जाऊं और मरने की भी हालत
आ जाये तो भी आपसे इलाज करवाने को राजी नहीं हो सकता हूं। मेरी दृष्टि से तो आपका प्रमाण-पत्र छीन लिया जाना चाहिए कि आप डाक्टर हो! यह बात गलत है। छींक आने से आप रुकते हो, बड़ी हैरानी की बात है। वह कहने लगे बचपन से सुना हुआ ख्याल काम करता है। बचपन से सुना हुआ ख्याल भी काम कर रहा है। और वह डाक्टर भी हो गये हैं। वे एफ.आर.सी.एस. भी हो गए हैं लंदन से जाकर। और ये दोनों विचार एक साथ मौजूद हैं। छींक आती है तो पैर रुकते हैं और वह भली- भांति जानते हैं कि निपट बेवकूफी है! छींक से रुकने का कोई भी संबंध नहीं है। ये दोनों विचार एक साथ मन में किसी के बैठे काम कर रहे हैं।
हमारे भीतर इस तरह के हजारों विचार एक साथ बैठे हुए हैं और वे सब विचार हमें खींच रहे हैं अलग-अलग दिशाओं में। और तब हमारी यह अस्त-व्यस्त दशा हो गयी है--जो हमें दिखायी पड़ती है। यह जो आदमी बिल्कुल पागल मालूम होता है, यह इसीलिए मालूम होता है। यह पागल न होगा तो और क्या होगा? विक्षिप्तता बिल्कुल स्वाभाविक है। क्योंकि हजारों-हजारों वर्षों
से अनंत-अनंत अंतर्विरोधी विचार एक ही मनुष्य के मन में इकट्ठे हो गये

हैं। हजारों पीढ़ियां एक साथ एक-एक आदमी के भीतर जी रही हैं। हजारों सैंचुरियां एक साथ एक आदमी के भीतर बैठी हुई हैं। पांच हजार साल पहले का ख्याल भी बैठा है और अत्याधुनिक समय का ख्याल भी उसके भीतर बैठा है। और इन दोनों विचारों में कोई तुक और कोई सामंजस्य नहीं हो सकता है।
हजारों दिशाओं से पैदा हुए ख्याल उसके भीतर बैठे हैं, हजारों तीर्थंकरों और पैगंबरों, अवतारों और गुरुओं के ख्याल उसके भीतर बैठे हुए हैं, और इन सबने एक अदभुत बात की है। दुनिया के सारे धर्म, सारे शिक्षक, सारे उपदेशक एक बात पर राजी रहे हैं--और किसी बात पर राजी नहीं रहे--और वे इस बात पर राजी रहे हैं, आदमी को समझाने के लिए कि जो हम कहते हैं उस पर विश्वास करो। सभी यह कहते हैं कि जो हम कहते हैं उस पर विश्वास करो।
और सब बातों में विरोध हैं। हिंदू कुछ और कहता है, मुसलमान कुछ और कहता है, जैन कुछ और कहते हैं, ईसाई कुछ और कहते हैं। लेकिन एक मामले में वे सब सहमत हैं कि हम जो कहते हैं, उस पर विश्वास करो। और ये सब विरोधी बातें कहते हैं। और आदमी के प्राणों पर इन सारे लोगों की विरोधी बातें पड़ती हैं और वे सभी चिल्लाते हैं कि हम जो कहते हैं उस पर विश्वास करो। और आदमी बेचारा गरीब है और कमजोर है, इन सब की बातों पर विश्वास कर लेता है। वे सब एक-दूसरे की बातों पर हसंते हैं, लेकिन खुद की बेवकूफियों पर कोई भी नहीं हंसता है।
अगर ईसाई कहते हैं कि जीसस क्राइस्ट कुंवारी कन्या से पैदा हुए हैं
और जो इस बात को नहीं मानेगा वह नर्क में पड़ेगा; इस बात को मानना बिल्कुल जरूरी है, नहीं तो नर्क जाना पड़ेगा। और गरीब, कमजोर आदमी डरता है कि नर्क जाने से बचने के लिए कोई हर्जा भी क्या है! हुए होंगे जीसस क्राइस्ट कुंवारी कन्या से पैदा तो मान लेने में हर्ज क्या है। और नर्क जाने की जरूरत क्या है इस बात के पीछे। वह मान लेता है कि ठीक कहते हैं--होंगे। सारी दुनिया के बाकी लोग हंसते हैं--मुसलमान हंसते हैं, जैन हंसते हैं, हिंदू हंसते हैं कि यह पागलपन की बात है। कुंवारी लड़की से बच्चा पैदा कैसे हो सकता है? निहायत नासमझी की बात है।
लेकिन मुसलमान कहते हैं कि मोहम्मद अपनी घोड़ी पर बैठे हुए सदेह मोक्ष चले गये। इस पर ईसाई हंसते हैं, इस पर हिंदू हंसते हैं, इस पर जैन हंसते हैं कि यह क्या पागलपन की बात है। पहली तो बात यह है कि घोड़ी तो मोक्ष जा ही नहीं सकती। घोड़ा होती तो जा भी सकती थी, क्योंकि स्त्रियों को मोक्ष जाने की कोई व्यवस्था नहीं है, पुरुष तो मोक्ष जा भी सकता है। एक तो घोड़ी जा ही नहीं सकती मोक्ष। घोड़ा होती तो बर्दाश्त भी कर लेती, यह बात चल भी सकती थी। और फिर सदेह कोई स्वर्ग, मोक्ष कैसे जा सकता है? देह तो यहीं छोड़ देनी पड़ती है, देह तो पृथ्वी की चीज है। कोई मोहम्मद पूरी देह को साथ लिए हुए मोक्ष नहीं जा सकते! इस पर सब हंसते हैं, ईसाई भी हंसते हैं, जैन भी, हिंदू भी। लेकिन मुसलमान कहते हैं कि यह मानो! अगर नहीं मानोगे तो नर्क चले जाओगे। नर्क में सड़ाये जाओगे, कष्ट भोगोगे। यह बात माननी ही पड़ेगी और नहीं मानोगे तो जानते हो, भली-भांति जान लेना, एक ही ईश्वर है जगत में और एक ही उसका पैगंबर है मोहम्मद। अगर नहीं उसकी बात मानी तो बड़े कष्ट में पड़ सकते हो। आदमी को डरवाया जाता है कि मानो, तो आदमी मान लेता है कि शायद यह ठीक हो। जैन हंसते हैं मुसलमानों पर, ईसाइयों पर। लेकिन जैन कहते हैं कि महावीर का गर्भ एक ब्राह्मण स्त्री के पेट में आया। लेकिन जैन तीर्थंकर कहीं ब्राह्मणों के घर में पैदा हो सकते हैं? असली और ऊंची जाति तो क्षत्रिय है, तो तीर्थंकर हमेशा क्षत्रियों के घर में पैदा होते हैं। ब्राह्मणों के घर में पैदा नहीं होते। ब्राह्मण भिखमंगे के घर में कहीं तीर्थंकर पैदा हो सकते हैं? तो महावीर का जन्म तो एक ब्राह्मणी के गर्भ में आया था। लेकिन देवताओं ने देखकर कि यह तो बड़ी गलती हुई जा रही है; कहीं तीर्थंकर ब्राह्मण के घर में पैदा हो सकते हैं? उन्होंने रातों-रात उसका गर्भ निकालकर एक क्षत्राणी के गर्भ में रख दिया और क्षत्राणी की लड़की निकालकर उस ब्राह्मणी के गर्भ में रख दी।
सारी दुनिया के लोग हंसते हैं कि बड़े मजाक की बातें हैं ये। एक तो देवताओं को क्या मतलब कि किसी का गर्भ बदलें और यह बात हो कैसे सकती है?

सारी दुनिया हंसती है, लेकिन जैन नाराज होते हैं कि अच्छा हंसते रहो, तुमको पता नहीं है कि हमारे तीर्थंकर ने जो कहा है और जो तीर्थंकर के बाबत कहा गया है, वह बिल्कुल सत्य है। जो नहीं मानेगा, वह कष्ट भोगेगा नर्क में, हमें कोई फिक्र नहीं है, तुम भोगते रहो।
ये सारे लोग दुनिया के इकट्ठे होकर आदमी से विश्वास मांगते हैं। ये
सब कहते हैं कि विश्वास करो। और इन सबकी बातें... एक जमाना था कि आदमी को सबकी बातें पता नहीं थीं। अपने-अपने घेरे थे, अपने-अपने घेरे की बातें पता थीं तो इतनी उलझन न थी। अब दुनिया बहुत करीब आ गयी है और सबको सबकी बातें पता चल गयी हैं तो आदमी की उलझन बिल्कुल पागलपन पर पहुंच गयी है। अब उसकी समझ के बाहर हो गया है कि यह सब शोरगुल किस बात के लिए मचाया जा रहा है। यह कौन-सी बात मनवाना चाहते हैं, क्या मनवाना चाहते हैं?
लेकिन कोई बहुत अच्छी हालत पहले भी न थी। अगर हिंदू को मुसलमान की बातें पता नहीं थीं, अगर जैन को ईसाई की बातें पता नहीं थीं तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता था। जैन भी जरूरी रूप से एक ही बात नहीं कहते। दिगंबर कुछ और कहते हैं, श्वेतांबर कुछ और कहते हैं और ऐसी-ऐसी बातों पर मतभेद है कि जानकर हैरानी होगी। हम आंखें फाड़े रह जायेंगे कि यह भी कोई मतभेद की बातें हैं!
जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में एक तीर्थंकर हुए मल्लीनाथ। दिगंबर कहते हैं वे पुरुष थे और श्वेतांबर कहते हैं वे स्त्री थे। श्वेतांबर कहते हैं, वे मल्लीबाई थे; दिगंबर कहते हैं, वे मल्लीनाथ थे। और दोनों कहते हैं कि हमारी बात नहीं मानोगे तो नर्क जाना पड़ेगा। दिगंबर कहते हैं, स्त्री तो कभी तीर्थंकर हो ही नहीं सकती, यह तो बात ही झूठी है, इसलिए वे पुरुष ही थे। वह मल्लीनाथ थे, मल्लीबाई नहीं थे। हद हो गयी, एक आदमी के बाबत इस पर भी विवाद हो सकता है कि वह स्त्री है या पुरुष है! और जो नहीं मानेगा उसके लिए नर्क का फल है और कष्ट भोगना पड़ता है। तो हम जो कहते हैं उसे मान लो।
और सारी दुनिया में आदमियों के मन पर विश्वास दिलाने वाले इन लोगों
की शिक्षाओं ने एक उत्पात खड़ा कर दिया है और आदमी का मन इन सारी बातों में घबराया हुआ खड़ा रह गया है। वह सबकी सुन लेता है और उस सबके प्रभाव उसके भीतर छूट जाते हैं और फिर ये विरोधी दिशाओं में उसके प्राणों को खींचने लगते हैं।
फिर इन धर्मों से, सबके बाद में आया कम्युनिज्म। उसने कहा, सब धर्म अफीम का नशा है। इसमें कोई सार नहीं है, ईश्वर बिल्कुल झूठ है, यह सब बकवास है। असली धर्म तो वह है जो मार्क्स कहते हैं। कम्युनिज्म असली धर्म है। इसको मानना चाहिए और कुछ भी नहीं मानना चाहिए। बाइबिल गलत, गीता गलत, कुरान गलत, वह दास कैपिटल जो है वही असली धर्म-ग्रंथ है, उसको ही मानना चाहिए। उन्होंने एक नया... ।
फिर इसके पीछे विज्ञान आया, उसने कहा कि ये सब बातें फिजूल हैं। जो भी बातें धर्म-ग्रंथों में लिखी हैं, वे कोई भी ठीक नहीं। ठीक तो जो विज्ञान कहता है वही है। और एक वैज्ञानिक मर भी नहीं पाता है कि दूसरा वैज्ञानिक कहता है कि वह गलत था, ठीक जो कहते हैं वह यह है। वह आदमी जिंदा ही रहता है और तीसरा वैज्ञानिक कहता है कि वह बात सब गड़बड़ थी, जो ठीक है वह मैं कहता हूं। और उसे भी पक्का भरोसा नहीं कि दो दिन नहीं बीत पायेंगे, कोई चौथा आदमी कहेगा कि यह सब गलत था। जो कहता हूं मैं, वह ठीक है।
आदमी के मन पर यह सत्य के दावेदारों ने उसके चित्त के भीतर विचारों का
एक ऐसा जाल खड़ा कर दिया है जो बहुत विरोधी है और सब दिशाओं में खींचता है। और इस जाल को खड़ा करने में भय का, फीयर का उपयोग किया गया है कि अगर आप नहीं मानते हैं तो नर्क है।
भय का और प्रलोभन का उपयोग किया गया है इस जाल को खड़ा करने में। यह जो विश्वास का जाल जबरदस्ती आदमी पर थोपा गया है इसके पीछे भय और प्रलोभन के सीक्रेट, सूत्र काम में लाये गये हैं। अगर मान लोगे तो स्वर्ग है और नहीं मानोगे तो नर्क है।

ये सारे धर्मगुरु वही करते रहे हैं जो आज के विज्ञापनदाता कर रहे हैं।
लेकिन विज्ञापनदाता इतने बोल्ड, इतने हिम्मतवर नहीं हैं। लक्स टायलेट को बेचने वाले कहते हैं कि फलां सुंदरी कहती है कि लक्स टायलेट लगाने से मैं सुंदरी हो गयी। जो लगायेगा वह सुंदर हो जायेगा, जो नहीं लगायेगा वह असुंदर हो जायेगा। तो भय पकड़ता है कि कहीं मैं असुंदर न हो जाऊं। तो आदमी लक्स टायलेट साबुन खरीद लाता है। जैसे कि लक्स टायलेट जब नहीं थी तो लोग सुंदर नहीं थे। जैसे कि किल्योपेट्रा, मुमताज, और नूरजहां सुंदर न रही हों, क्योंकि लक्स टायलेट तो थी नहीं। अभी ज्यादा हिम्मत नहीं बढ़ी उनकी, नहीं तो आगे वे कहेंगे कि जो लक्स टायलेट नहीं लगायेगा, फलाने तीर्थंकर कहते हैं, फलाने पैगंबर कहते हैं, फलाने जगदगुरु कहते हैं कि वह नर्क जायेगा, वह स्वर्ग नहीं जा सकता। स्वर्ग में तो केवल उनको ही प्रवेश मिलेगा जो लक्स टायलेट साबुन का उपयोग करते हैं।
आदमी को डरवाया जा सकता है। स्वर्ग वे ही लोग जायेंगे जो पनामा सिगरेट पीते हैं, क्योंकि सिगरेट पीना और पिलाना--पनामा सिगरेट पीना और पिलाना बहुत उम्दा बात है। और जिसने पनामा सिगरेट नहीं पी उसको नर्क में रहना पड़ेगा। और हिंदुस्तानी बनी हुई बीड़ी पीना पड़ेगी, उसे वहां बहुत कष्ट झेलने पड़ेंगे। और अगर कोई विश्वास नहीं करता तो खुद फल भोगेगा। जो विश्वास करता है उसको शुभ फल मिलते हैं, जो विश्वास नहीं करता है उसको अशुभ फल मिलते हैं।
लेकिन अभी इतनी हिम्मत आधुनिक विज्ञापनदाताओं में नहीं आयी है। वे पुराने विज्ञापनदाता बड़े हिम्मतवर लोग थे। उन्होंने सरासर झूठी बातें कहकर भी आदमी को डरवा दिया और भयभीत कर दिया और हम उन बातों को मानते रहे और चुपचाप सुनते रहे हैं और चुपचाप स्वीकार करते रहे।
असल में कोई भी असत्य अगर बहुत बार दोहराया जाये, हजारों साल तक दोहराया जाये तो उसके दोहराने से वह सत्य जैसा प्रतीत होने लगता है। झूठी से झूठी बात अगर कोई आदमी दोहराये ही चला जाये और दोहराये ही चला जाये तो आपको धीरे-धीरे विश्वास पकड़ने लगता है कि शायद बात ठीक ही होगी, नहीं तो इतने दिन तक कैसे दोहराई जा सकती थी।
एक गांव में एक गरीब किसान शहर से जाकर एक बकरी का बच्चा खरीद लाया।
वह बकरी के बच्चे को लेकर अपने गांव की तरफ चला और शहर के दो-चार बदमाश लोगों ने सोचा कि किसी भांति यह बकरी का बच्चा छीन लिया जाये तो अच्छा आज का भोजन का और एक उत्सव का आनंद आ जायेगा। कुछ मित्रों को बुला लेंगे और भोज हो जायेगा, लेकिन छीन कैसे लिया जाये?
वह गांव का गंवार बड़ा तगड़ा और मजबूत आदमी मालूम पड़ता था। वे शहर के शैतान जरा कमजोर थे। उससे छीनना झगड़े की बात थी, उपद्रव हो सकता था। तो फिर कोई होशियारी से काम लिया जाये। तो उन्होंने एक तरकीब तय की और जब वह गांव का आदमी शहर से बाहर निकलने को था, तो एक बड़े रास्ते पर उन पांच-छह लोगों में से एक आदमी उसे मिला और कहा कि, "नमस्कार! जयराम जी।"
उस आदमी ने जयराम जी की। और उस आदमी ने ऊपर देखा और कहा कि "अरे! यह आप कुत्ते का बच्चा सिर पर लिये चले जा रहे हैं? --वह बकरी के बच्चे को अपने कंधे पर रखकर जा रहा था। --यह कुत्ता कहां से खरीद लाये? बड़ा अच्छा कुत्ता ले आये!"
वह किसान आदमी हंसा। उसने कहा, "पागल हो गये हैं आप? कुत्ता नहीं है, बकरी को खरीदकर लाया हूं, बकरी का बच्चा है।" उस आदमी ने कहा कि, "अरे गांव में कुत्ते को लिये मत पहुंच जाना, नहीं तो लोग पागल समझेंगे। यह बकरी समझ रहे हो इसको?"
और वह आदमी अपने रास्ते पर चला गया। और वह किसान हंसा कि बड़ी अजीब बात है। फिर भी उसने एक दफा पैर टटोलकर देखे कि कहीं कुत्ता तो नहीं है, क्योंकि उस आदमी को क्या प्रयोजन था। देखा कि बकरी ही है।
निश्चिंत होकर आगे बढ़ा था कि दूसरी गली पर दूसरा आदमी मिला। उसने कहा कि, "नमस्कार, बड़ा अच्छा कुत्ता ले आये हैं। मैं भी कुत्ता खरीदना चाहता हूं। कहां से खरीद लिया आपने?" अब उतनी हिम्मत से वह किसान नहीं कह सका कि

यह कुत्ता नहीं है। क्योंकि अब दूसरा आदमी कह रहा था और दो-दो आदमी धोखे में नहीं हो सकते थे। फिर भी वह हंसा। और उसने कहा कि कुत्ता नहीं है साहब, बकरी है। वह आदमी कहने लगा, "किसने कहा बकरी है? किसी ने बेवकूफ बनाया मालूम होता है। यह बकरी है?" वह आगे अपने रास्ते पर चला गया। उस आदमी ने फिर जाकर बगल की गली में उस बकरी को उतारकर देखा कि देख लेना चाहिए कि क्या गड़बड़ है, लेकिन बकरी ही थी। ये दो आदमी धोखा खा गये। लेकिन डर उसके भीतर भी पैदा हो गया कि मैं किसी भ्रम में तो नहीं हूं।
अब की बार वह उसको लेकर डरा-डरा हुआ सा सड़क से जा रहा था कि तीसरा आदमी मिला। और उसने कहा कि नमस्कार! यह कुत्ता कहां से ले आये? अब की बार तो उसकी हिम्मत ही नहीं पड़ी कि यह कह दे कि यह बकरी है। उसने कहा कि, "जी यहीं से खरीद लाया हूं।" अब हिम्मत बहुत मुश्किल थी जुटाना कि कह सके कि यह बकरी है। थोड़ी देर में सोचा कि इसको गांव लेकर जाना कि नहीं, यह दो-चार-पांच रुपये गये सो एक तरफ, गांव में बदनामी होगी, लोग पागल समझेंगे।
जब वह यह सोच ही रहा था तो पांचवां आदमी मिला। कहा कि वाह, गजब कर दिया!
आज तक कुत्ते को कंधे पर लिये किसी को नहीं देखा। क्या बकरी समझ रहे हो इसको?
उस आदमी ने देखा कि एकांत है, कोई नहीं है। उस बकरी को छोड़कर वह भागा अपने गांव की तरफ कि इसे यहीं छोड़ देना बेहतर है। जो पांच रुपए गये वे गये, पागलपन से तो बच जाना चाहिए। वे पांच आदमी उस बकरी को उठाकर ले गये।
पांच आदमियों ने बार-बार दोहराया और उस आदमी के लिए कठिनाई हो गयी यह बात को मानने में कि जो पांच कहते हैं वे गलत कहते हैं। और जब कहने वाले गेरुआ वस्त्र पहने हों तब और मुश्किल हो जाती है। और जब कहने वाले सचाई और ईमानदारी के मूर्तिमंत रूप हों तब तो और कठिन हो जाता है। और जब कहने वाले ईमानदार हों, जगत के त्याग करने वाले हों, तब तो और भी मुश्किल हो जाती है, क्योंकि उनकी बात पर अविश्वास करने की कोई वजह ही नहीं रह जाती। और यह भी जरूरी नहीं है कि वह आपको धोखा दे रहे हों। सौ में से निन्यान्नबे मौके ये हैं कि वे भी धोखा खाये हुए लोग हैं और उनको भी धोखा दिया जा रहा है। वे बेईमान हैं यह जरूरी नहीं है, लेकिन वे भी उसी चक्कर में हैं जिसमें आप हैं।
एक बात तय है कि जब तक आदमी को विश्वास करने के लिए कहा जायेगा, तब तक आदमी का शोषण जारी रहेगा, बिलीफ करने के लिए जब तक कहा जाएगा तब तक आदमी शोषण से मुक्त नहीं हो सकता। फिर चाहे वह विश्वास हिंदू का हो, चाहे जैन का, चाहे मुसलमान का, चाहे किसी का भी--कम्युनिस्ट का हो, गैर कम्युनिस्ट का हो, किसी का भी हो--जब तक आदमी से यह कहा जायेगा कि हम जो कहते हैं उस पर विश्वास कर लो और नहीं विश्वास करोगे तो दुख पाओगे और विश्वास करोगे तो सुख पाओगे; जब तक कि यह तरकीब काम लायी जाएगी तब तक आदमी के भीतर जो विचारों का जाल खड़ा होता है, उसे तोड़ने का साहस जुटा पाना बहुत कठिन है। मैं आपसे क्या कहना चाहता हूं; मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि अगर अपने भीतर जो जाल बन गया है, हजारों सदियों का हाथ है उसमें, सैकड़ों वर्षों के प्रभाव हैं उसके भीतर; अगर उनसे छुटकारा पाना है तो एक बात निश्चित मान लेनी चाहिए कि विश्वास से ज्यादा आत्मघातक और कोई चीज नहीं है। एक बात निश्चित समझ लेनी चाहिए कि विश्वास करना, अंधा विश्वास, आंख बंद किये चुपचाप मान लेना यही हमारे जीवन की आज तक की पंगुता का बुनियादी कारण रहा है।
लेकिन सभी लोग कहते हैं, विश्वास करो। हां, वे यह जरूर कहते हैं, दूसरे
पर मत करो मुझ पर करो। इतना वे जरूर कहते हैं कि दूसरों पर विश्वास मत करो, क्योंकि दूसरे गलत हैं, मैं सही हूं, मुझ पर विश्वास करो।
मैं आपसे कहना चाहता हूं, किसी पर भी विश्वास करना घातक है और आपके जीवन को नुकसान पहुंचायेगा। विश्वास नहीं, विश्वास बिल्कुल भी नहीं। विश्वास के आधार पर जो खड़ा होगा, वह अंधी दुनिया में प्रवेश कर रहा है और उसके जीवन में कभी आंखों वाली रोशनी नहीं उतर सकती। उसके जीवन में कभी प्रकाश उपलब्ध नहीं हो सकता। वह कभी स्वयं जानने में समर्थ नहीं हो पायेगा जिसने दूसरों पर विश्वास कर लिया है।

तो मैं क्या कह रहा हूं, अविश्वास करें आप? नहीं! अविश्वास की भी कोई जरूरत नहीं है। लेकिन हमें यह ख्याल है कि जब हम विश्वास नहीं करते, तो हम अनिवार्य रूप से अविश्वास करते हैं। यह बिल्कुल गलत ख्याल है। इन दोनों से अलग चित्त की अवस्था भी है जो न विश्वास करती है, न अविश्वास करती है, क्योंकि अविश्वास भी विश्वास का ही रूप है। वह जो डिस-बिलीफ है, वह भी बिलीफ का ही रूप है। जब हम कहते हैं, मैं ईश्वर पर विश्वास नहीं करता--तो हम क्या कहते हैं? --हम यह कहते हैं कि हम ईश्वर के न होने पर विश्वास करते हैं। जब हम कहते हैं, हम आत्मा पर विश्वास नहीं करते हैं; तो हम यह कह रहे हैं कि हम आत्मा के न होने पर विश्वास करते हैं।
विश्वास और अविश्वास दोनों एक ही तरह की चीजें हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। विश्वास पाजिटिव बिलीफ है और अविश्वास निगेटिव बिलीफ है। विश्वास विधायक श्रद्धा है और अविश्वास निषेधात्मक श्रद्धा है, लेकिन दोनों श्रद्धा हैं। और वही आदमी भीतर के जाल से मुक्त हो सकता है जो श्रद्धा और विश्वास से ही मुक्त हो जाता है--जो समस्त दूसरे की तरफ देखने की दृष्टि और इच्छा से मुक्त हो जाता है; जो यह ख्याल ही छोड़ देता है कि कोई और मुझे सत्य दे सकता है। जब तक मुझे यह ख्याल है कि कोई और मुझे सत्य दे सकता है, तब तक मैं किसी न किसी रूप में बंध जाऊंगा। एक से छूटूंगा तो दूसरे से बंध जाऊंगा, दूसरे से छूटूंगा तो मैं तीसरे से बंध जाऊंगा, लेकिन मेरा बंधन से छुटकारा नहीं हो सकता है। और एक से छूटकर दूसरे से बंध जाना हमेशा राहतपूर्ण होता है।
एक आदमी मर जाता है, और चार आदमी उसकी अर्थी को उठाकर मरघट ले जाते हैं। एक कंधा दुखने लगता है तो दूसरे कंधे पर अर्थी के डंडे को रख लेते हैं। थोड़ी देर राहत मिलती है, थका हुआ कंधा! ... फिर दूसरा कंधा थक जाता है। थोड़ी देर में दूसरा कंधा भी थक जाता है, फिर कंधा बदल लेते हैं। जो विश्वास बदलता है, वह केवल कंधे बदल रहा है, बोझ हमेशा मौजूद रहता है, कोई फर्क नहीं पड़ता। थोड़ी देर के लिए राहत मिल जाती है।
एक आदमी हिंदू से मुसलमान हो जाता है, मुसलमान से जैन हो जाता है, जैन
से ईसाई हो जाता है, सब धर्मों को छोड़कर कम्युनिस्ट हो जाता है या कुछ और हो जाता है। जब तक वह आदमी एक विश्वास को छोड़कर दूसरे विश्वास को पकड़ता है तब तक उस आदमी के चित्त के बोझ में कोई अंतर नहीं आता, केवल कंधे बदल जाते हैं लेकिन थोड़ी देर को राहत मिलती है। और राहत का और कोई भी अर्थ नहीं है। मैंने सुना हैः एक गांव में दो आदमी थे। एक आदमी आस्तिक था, परम आस्तिक था और एक आदमी नास्तिक था, परम नास्तिक था। उन दोनों लोगों की वजह से गांव बड़ा परेशान था। ऐसे लोगों की वजह से गांव हमेशा ही परेशानी में पड़ जाते हैं, क्योंकि आस्तिक दिन-रात गांव को समझाता था ईश्वर के होने की बात और नास्तिक दिन-रात खंडन करता था। गांव के लोग बड़ी मुश्किल में पड़ गये थे कि किसके साथ जायें और किसके साथ न जायें। आखिर गांव के लोगों ने यह तय किया कि हम बहुत मुश्किल में पड़ जायेंगे। इन दोनों आदमियों को कहा जाये कि तुम दोनों गांव के सामने विवाद करो। जो जीत जायेगा हम उसी के साथ हो जायेंगे। यह परेशानी हमारे सिर पर मत डालो। तुम दोनों विवाद कर लो। जो जीत जायेगा हम उसी के साथ हो जायेंगे।
एक रात, पूर्णिमा की रात, गांव में विवाद का आयोजन हुआ। सारे नगर के लोग इकट्ठे हुए। आस्तिक ने अपनी आस्तिकता की बातें समझायीं, सब दलीलें दीं, नास्तिकता का खंडन किया। नास्तिक ने आस्तिकता का खंडन किया, नास्तिकता के पक्ष में सारी दलीलें दीं। रात भर विवाद चला और सुबह जो परिणाम हुआ वह यह हुआ कि आस्तिक रात भर में नास्तिक हो गया और नास्तिक आस्तिक हो गया। उन दोनों को एक-दूसरे की बातें जंच गयीं। गांव की मुसीबत पुरानी की पुरानी बनी रही। वह कोई हल न हुआ। वे एक-दूसरे से कन्विंस हो गए, वे एक-दूसरे से राजी हो गये और गांव की परेशानी वहीं रही, क्योंकि फिर भी गांव में एक नास्तिक रहा और एक आस्तिक रहा, कुल जोड़ वही रहा।
हम भी जीवन में एक विश्वास को बदलकर दूसरे विश्वास पर चले जायें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। हमारे प्राणों की परेशानी वही रहती है। इससे कोई भेद

नहीं पड़ता। प्राणों की परेशानी न हिंदू के कारण है, न मुसलमान के, न जैन के कारण है, न ईसाई के, न कम्युनिस्ट के कारण है, न फासिज्म के कारण।
प्राणों की परेशानी इस कारण है कि आप विश्वास करते हैं। जब तक आप विश्वास करते हैं तब तक आप बंधन को आमंत्रित करते हैं, तब तक आप कारागृह में जाने को खुद निमंत्रण देते हैं अपने को। और तब तक आप किसी न किसी रूप में, कहीं न कहीं बंधे हुए होंगे।
और बंधा हुआ आदमी, बंधा हुआ मन विचारों से कैसे मुक्त हो सकता है? जिन विचारों को वह प्राणपण से पकड़ता हो और विश्वास करता हो उनसे कैसे मुक्त हो सकता है? वह उनसे कैसे छुटकारा पा सकता है? उनसे छुटकारा कठिन है। छुटकारा उनसे हो सकता है, अगर हम बुनियाद के पत्थर को हटा दें। विश्वास, बिलीफ बुनियाद का पत्थर है सारे विचारों के जाल के नीचे। विश्वास के आधार पर मनुष्य को विचारों में दीक्षित किया गया है और जब विचार मन को जोर से पकड़ लेते हैं तो भय भी पकड़ता है कि अगर मैंने इनको छोड़ दिया तो फिर क्या होगा। तो आदमी पूछता है कि अगर इससे बेहतर कुछ मुझे पकड़ने को पहले बता दें तो मैं उसे छोडूं भी, लेकिन पकड़ना ही छोडूं, यह उसके ख्याल में नहीं आ पाता।
और मन की फ्रीडम, मन की स्वतंत्रता और मन की मुक्ति विश्वासों के परिवर्तन में नहीं, विश्वास-मात्र से मुक्त हो जाने में है।
बुद्ध एक गांव में गये थे। एक अंधे आदमी को कुछ लोग उनके पास लाये और
उन मित्रों ने कहा कि, "यह आदमी अंधा है और हम इसके परम मित्र हैं। और हम इसे सब भांति समझाने की कोशिश करते हैं कि प्रकाश है, लेकिन यह मानने को राजी नहीं होता और इसकी दलीलें ऐसी हैं कि हम हार जाते हैं। और हम जानते हैं कि प्रकाश है, हमें देखते हुए हारना पड़ता है। यह आदमी हमसे कहता है, मैं प्रकाश को छूकर देखना चाहता हूं। अब हम प्रकाश का स्पर्श कैसे करवायें? यह आदमी कहता है छोड़ो, स्पर्श न हो सके तो मैं सुनकर देखना चाहता हूं, मेरे पास कान हैं। तुम प्रकाश में आवाज करो, मैं सुन लूं। छोड़ो, यह भी न हो सके तो मैं स्वाद लेकर देख लूं, या प्रकाश में कोई गंध हो तो गंध लेकर देख लूं।
कोई उपाय नहीं है। प्रकाश तो आंख से देखा जा सकता है और आंख इसके पास नहीं है। और यह आदमी यह कहता है कि तुम फिजूल ही मुझे अंधा सिद्ध करने को प्रकाश की बातें करते हो। तुम भी अंधे मालूम होते हो, प्रकाश की ईजाद तुमने मुझे अंधा बताने के लिए तय कर ली है। तो हमने सोचा, आप इस गांव में आये हैं, शायद आप इसको समझा सकें।
बुद्ध ने कहा कि, "मैं इसे समझाने के पागलपन में नहीं पड़ूंगा।" आदमी
की आज तक मुसीबत ही उन लोगों ने की है जिन लोगों ने आदमी को ऐसी बातें समझाने की कोशिशें की हैं जो उनको दिखाई नहीं पड़तीं। मनुष्य के ऊपर उपदेशक बड़ी महामारी सिद्ध हुआ है। वे ऐसी बातें समझाता है जो उसको दिखाई नहीं पड़तीं।
तो बुद्ध ने कहा कि मैं यह गलती करने वाला नहीं हूं, मैं यह समझाने वाला नहीं हूं कि प्रकाश है। मैं तो इतना कह सकता हूं कि इस आदमी को तुम गलत जगह ले आये हो। मेरे पास लाने की जरूरत न थी। किसी वैद्य के पास ले जाओ जो इसकी आंख का इलाज कर सके। इसे उपदेश की नहीं, उपचार की जरूरत है। तुम्हारे समझाने का सवाल नहीं, तुम्हारी समझायी गयी बात पर विश्वास करने का सवाल नहीं। इसकी आंख ठीक होनी चाहिए और आंख ठीक हो जाये तो तुम्हें समझाने की जरूरत न पड़ेगी, यह खुद ही देख सकेगा, खुद ही जान सकेगा।
उनको बात ठीक जंची। बुद्ध ने कहा है कि, मैं तो धर्म को उपदेश नहीं मानता हूं, उपचार मानता हूं। तो इसे ले जाओ। लोग उस अंधे को ले गये और भाग्य की बात थी कि वह अंधा कुछ महीनों के इलाज से ठीक हो गया। बुद्ध तो दूसरे गांव चले गये थे। वह अंधा आदमी ठीक हो गया था। वह बुद्ध के चरण छूने गया और उसने उन्हें प्रणाम किया और उसने कहा कि "मैं गलती में था। प्रकाश तो था, लेकिन मेरे पास आंख नहीं थी।" लेकिन बुद्ध ने कहा, "तू गलती में जरूर था, लेकिन तूने जिद्द की, कि जब तक आंख न होगी तब तक मैं मानने को राजी न होऊंगा तो तेरे आंख का इलाज भी हो सका। अगर तू मान लेता उन मित्रों की बात

कि तुम कहते हो तो ठीक है, तो बात वहीं खतम हो जाती। आंख के इलाज का सवाल ही नहीं उठता।"
जो लोग विश्वास कर लेते हैं, वे विवेक तक नहीं पहुंच पाते। जो लोग चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं, वे स्वयं के अनुभव तक नहीं पहुंच पाते। जो अंधे हैं और पकड़ लेते हैं कि दूसरे कहते हैं प्रकाश है तो जरूर होगा, फिर उनकी यात्रा वहीं बंद हो जाती है। यात्रा तो तब होती है जब बेचैनी बनी रहे, बनी रहे, बनी रहे, बेचैनी छूटे नहीं। और बेचैनी तभी होती है जब मुझे लगता है कि कोई चीज है, लोग कहते हैं लेकिन मुझे दिखाई नहीं पड़ती तो मैं कैसे मान लूं? मैं ही देखूं तो मानूं! यह बैचैनी मन में हो कि मेरे पास आंख हो तो मैं स्वीकार करूं।
विश्वास दिलाने वाले लोगों ने यह कहा है कि तुम्हें अपने आंख की कोई फिकर नहीं है। महावीर के पास आंख थी वह काफी है, बुद्ध के पास आंख थी वह काफी है। हर एक को आंख की क्या जरूरत है? सबको आंख की क्या जरूरत है! गीता में तो आंख है फिर तुम्हें क्या जरूरत है। गीता पढ़ो और मजा करो। कृष्ण को दिखाई पड़ता था, उन्होंने कह दिया। अब सभी को देखने की क्या जरूरत है कि हर एक को देखना चाहिए। तुम तो विश्वास करो। बताने वाले और देखने वाले बता गये हैं, तुम्हारा काम विश्वास करना है। ज्ञान तो उपलब्ध हो गया है, अब तुम्हें जानने की क्या जरूरत है?
तो आदमी को अंधा रखने के लिए इस उपदेश ने काम किया। अधिकतम लोग पृथ्वी
पर अंधे रह गये और अधिकतम लोग आज भी अंधे हैं। और जैसी स्थिति चल रही है शायद अधिकतम लोग आगे भी अंधे रहेंगे। क्योंकि अंधेपन को तोड़ने की जो बुनियादी कीमिया होती है, अंधेपन को तोड़ने की जो प्यास होती है उसकी हत्या कर दी गयी है। विश्वास देकर उसको समाप्त कर दिया गया है।
कहा जाना चाहिए यह कि चाहे कृष्ण की आंख कितनी भी अच्छी हो और कितनी
भी दूर देखती हो, और महावीर की आंख कितनी भी सुंदर हो, कमल जैसी हो और कितनी ही दूर तक दिखाई पड़ता हो लेकिन महावीर की आंख महावीर की आंख है, मेरी आंख नहीं है। और मेरी छोटी-मोटी आंख सही, कमल जैसी न सही, घास के फूल जैसी सही, लेकिन मेरी आंख मेरे पास होगी तो ही मुझे दिखाई पड़ सकता है। तो मैं तो अपनी ही आंख की खोज करूंगा, दूसरों की आंखों की पूजा करने से मुझे कुछ उपलब्ध नहीं होगा।
लेकिन स्वयं की आंख की खोज शुरू तब होती है जब हम दूसरों की आंख का आसरा छोड़ देते हैं। जब तक कोई सब्स्टीट्यूट है आदमी के लिए, जब तक कोई चीज पूर्ति कर रही है उसकी, तब तक खोज-बीन पैदा नहीं होती।
जब कोई सहारा नहीं है, और कोई पूर्ति नहीं है और कोई मार्ग नहीं है दूसरे से मिलने वाला, तब आदमी के भीतर वह चुनौती जन्म लेती है कि वह अपने मार्ग की खोज में निकलता है, खुद की आंख की तलाश करता है।
आदमी बहुत आलसी है और अगर उसे बिना मेहनत किये ज्ञान मिल जाता हो तो
वह काहे के लिए मेहनत करे, किसलिए उपाय करे। अगर बिना खोजे हुए विश्वास कर लेने से ही मोक्ष उपलब्ध हो जाता हो, तो फिर मोक्ष तक की यात्रा हम अपने पैरों से क्यों करें। और जब कोई यह कहता हो कि तुम हमको मान लो, हम तुम्हें मोक्ष पहुंचा देंगे तो फिर हम इतना श्रम क्यों लें, क्योंकि उतनी दूर तक जायें... ! जब कोई कहता है कि हमारी नाव में बैठ जाओ, हम पार लगा देंगे तो बात खतम हो गयी, हम चुपचाप नाव में बैठ जाते हैं और सो जाते हैं।
लेकिन कोई आदमी किसी दूसरे की नाव में कहीं भी नहीं पहुंच सकता है। और किसी दूसरे की आंख से न देख सकता है, न कभी देखा है, न कभी देखेगा। अपने ही पैर से चलना होता है, अपनी ही आंख से देखना होता है, अपने ही हृदय की धड़कन में जीना होता है। खुद ही जीना होता है, और खुद ही मरना होता है। न तो मेरी जगह कोई जी सकता है और न मेरी जगह कोई मर सकता है। मेरी कोई जगह नहीं ले सकता, न मैं आपकी जगह ले सकता हूं। दुनिया में अगर कुछ असंभव है तो यह एक बात असंभव है कि कोई किसी की जगह ले ले।
दो सैनिक दूसरे महायुद्ध में एक युद्ध-स्थल पर पड़े थे। एक सैनिक बिल्कुल मरने के करीब था। उसे इतनी चोट पहुंची थी कि उसके बचने की कोई आशा

नहीं थी। घड़ी, आधा-घड़ी में उसके प्राण निकल जायेंगे। दूसरा सैनिक चोट तो खाया हुआ था लेकिन जिंदा था और मरने की कोई बात न थी। दोनों मित्र थे। मरते हुए सैनिक ने अपने मित्र को गले मिलाया और कहा कि अब मैं बिदा लेता हूं और मेरे बचने की कोई संभावना नहीं है।
जो मित्र जिंदा रहने को था अभी, उसने कहा, एक काम करो मरने के पहले। एक काम करो। मरते हुए मित्र ने उस जिंदा सैनिक को कहा कि एक काम करो--मेरी जो किताब है, मेरे नाम की जो किताब है, मेरा जो रिकार्ड है, वह तुम ले लो और तुम्हारी किताब का रिकार्ड मुझे दे दो। तुम्हारा रिकार्ड खराब है, तुम्हारे रिकार्ड में बहुत असम्मानजनक बातें हैं, तो हम किताबें बदल लें अपनी। मैं तो मर ही रहा हूं। तुम्हारी किताब और तुम्हार नंबर मैं ले लेता हूं, अधिकारी समझेंगे कि तुम मर गए, और अधिकारी समझेंगे कि मैं जिंदा हूं। और मेरी किताब का रिकार्ड अच्छा है, तुम्हें अच्छी गति मिल सकेगी और आगे अच्छा प्रमोशन मिल सकेगा, तुम्हारी इज्जत बढ़ जाएगी। तो जल्दी करो यह किताब और नंबर बदल लो।
मरते हुए मित्र की यह आकांक्षा बिल्कुल ठीक थी, क्योंकि सैनिक के पास नंबर ही होता है, कोई नाम तो होता नहीं। सैनिक के पास तो रिकार्ड की किताब होती है, कोई आत्मा तो होती नहीं। यह ठीक था, बदलाहट कर ली जाए तो ठीक होगा, वह तो मर ही रहा है। तो एक बुरा आदमी मर जाएगा और अच्छा आदमी बच जाएगा। लेकिन जो आदमी जिंदा रहने को था उसने कहा कि, क्षमा करो। मैं तुम्हारी किताब तो ले सकता हूं, तुम्हारा नंबर भी ले सकता हूं। लेकिन फिर भी मैं, मैं ही रहूंगा और मैं आदमी बुरा हूं सो मैं आदमी बुरा रहूंगा। मैं शराब पीता हूं सो मैं शराब पीऊंगा, मैं वेश्यालय जाता हूं तो मैं वेश्यालय जाऊंगा। तो तुम्हारी अच्छी किताब कितनी देर तक अच्छी रह पाएगी, किताब कितनी देर तक किसी को धोखा दे पाएगी। उलटे दो आदमी बुरे हो जाएंगे। तुम तो बुरे हो ही जाओगे कि मर गए, एक बुरा आदमी मर गया और एक बुरा आदमी जिंदा रहेगा ही। तो अभी कम से कम एक अच्छा आदमी मर गया यह लोग कहेंगे। तुम्हें फूल चढ़ायेंगे, वह भी चढ़ाने नहीं आएंगे और बुरा आदमी तो जिंदा रहेगा। क्योंकि तुम मेरी जगह नहीं हो सकते, मैं तुम्हारी जगह नहीं हो सकता हूं।
तुम्हारा प्रेम तो ठीक कहता है कि हम जगह बदल लें।
लेकिन जिंदगी के नियम के बाहर है यह बात। कोई जगह नहीं बदली जा सकती।
न कोई किसी की जगह जी सकता है और न मर सकता है। न कोई किसी की जगह जान सकता है, न कोई किसी की जगह आंखों को उपलब्ध हो सकता है।
लेकिन विश्वास दिलाने वाले लोगों ने आज तक यही समझाया है कि तुम दूसरे की आंख से देखो--तीर्थंकर की आंख से देखो, अवतार की आंख से देखो और हम इस पर विश्वास करते चले आये हैं, इसलिए हम एक अंधे जाल में ग्रसित हो गये हैं। और यह हजारों शिक्षकों ने इतने जोर से शोरगुल मचाया है और हजारों शिक्षकों के अनुयायियों ने इतने जोर से आवाजें की हैं, इतने जोर से उन्होंने घबराहट पैदा की है नर्क की, और स्वर्ग का प्रलोभन पैदा किया है कि हमने धीरे-धीरे सबकी ही बातें मान लीं। और उन सबकी बातों ने हमारे भीतर एक ऐसा विरोधाभास खड़ा कर दिया है कि हमारे जीवन की गाड़ी टूट सकती है, लेकिन कहीं पहुंच नहीं सकती।
इसलिए पहला समझदार व्यक्ति के लिए जो काम है करने जैसा वह यह है, कि वह अपने सारे अंतर्विरोधी विश्वासों को एक साथ तिलांजलि दे दे और वह क्षमा मांग ले कि मैं विश्वास नहीं करूंगा, मैं जानना चाहता हूं। जिस दिन मुझे ज्ञान उपलब्ध होगा उस दिन मैं मान लूंगा, उसके पहले मेरे लिये मानने जैसी कोई चीज नहीं हो सकती है। यह धोखा है, यह आत्म-प्रवंचना है। मैं अपने को धोखा नहीं दे सकता कि मैं बिना जाने हुए कहूं कि मैं जानता हूं, मैं बिना पहचाने हुए कहूं कि मैं पहचानता हूं। मैं झूठी स्वीकृति दूं, यह मेरे लिए संभव नहीं है।
इसका मतलब यह नहीं है कि आप अस्वीकार कर रहे हैं। इसका कुल मतलब यह है
कि आप स्वीकार-अस्वीकार दोनों से अपने को तटस्थ खड़ा कर रहे हैं। आप यह कह रहे हैं कि हम इन दोनों में राजी नहीं हैं। न हम कहते हैं कि महावीर गलत हैं, न हम कहते हैं कि सही हैं। हम इतना ही कहते हैं कि महावीर जो कहते हैं

वह मैं नहीं जानता हूं, इसलिए मुझे हां और ना कहने का कोई भी हक नहीं। जिस दिन मैं जानूंगा उस दिन हां कहूंगा, जानूंगा कि गलत कहते हैं तो ना कहूंगा, लेकिन अभी मैं जानता नहीं, इसलिए मैं कैसे हां कहूं और कैसे ना कहूं?
अगर यह हमारे चित्त की दशा हो कि हम हां और ना कहने से बच जायें, तो हमारे मन का जाल आज और अभी और यहीं टूट सकता है। तो जाल के टूटने में फिर कोई नीचे आधार नहीं रह जाता है, फिर वह पत्तों का एक महल रह जाता है जो जरा में गिर जायेगा। अभी वह पत्थरों का महल है, क्योंकि नीचे बहुत बुनियाद में सख्त पत्थर रखे हुए हैं और वह पत्थर हमें दिखाई नहीं पड़ते, बल्कि हमको तो यही कहा जाता है कि जो श्रद्धा करते हैं वे ही धार्मिक हैं, जो श्रद्धा नहीं करते वे अधार्मिक हैं।
और मैं आपसे कहता हूं, जो श्रद्धा करता है वह भी धार्मिक नहीं है, जो अश्रद्धा करता है वह भी धार्मिक नहीं है। धार्मिक तो वह है जो सच्चा है। और सच्चे का मतलब यह है कि जो नहीं जानता उस पर श्रद्धा नहीं करता, जो नहीं जानता उस पर अश्रद्धा नहीं करता। वह निपट ईमानदारी से यह घोषणा कर देता है कि मैं नहीं जानता हूं, मैं अज्ञानी हूं, इसलिए मेरी स्वीकृति-अस्वीकृति का कोई भी सवाल नहीं है।
क्या इस मध्य-बिंदु पर आप अपने चित्त को ले जाने की सामर्थ्य और साहस जुटा सकते हैं? जुटा सकते हैं तो यह भवन विचारों का तत्क्षण गिर सकता है, इसके गिरने में कोई भी कठिनाई नहीं।
तीन सूत्र मैंने सुबह कहे थे। एक सूत्र मैंने दोपहर को कहा और एक आपसे अभी कहा। इन पांचों सूत्रों पर ध्यान से विचार करना आप। मेरी बात मानकर ही इनको उपयोग में मत ले आना, अन्यथा मैं भी फिर एक उपदेशक ही आपके लिए हो जाता हूं। मैंने कहा, इसलिए मत मान लेना। क्योंकि मेरी बात हो सकती है सभी गलत हों और आप दिक्कत में पड़ जायें, मेरी बात सभी झूठी हों और व्यर्थ हों और आप दिक्कत में पड़ जायें, इसलिए मेरी बात को मत मान लेना। सोचना, खोजना, देखना और अगर ऐसा लगे कि इसमें कोई सचाई है अपने अनुभव में, अपने मन की खोज-बीन में, अपने मन की खिड़की से झांकने पर लगे कि इन बातों में कोई सचाई है तो फिर वह सचाई आपकी अपनी हो जायेगी, फिर मेरी नहीं रह जाती। फिर वह मेरी आंख नहीं, वह आपकी अपनी आंख हो जाती है और तब आप जो करते हैं वह आपके जीवन को विवेक, जागृति, जागरण की दिशा में ले जाने का मार्ग बन जाता है। और विश्वास करके आप जो करते हैं वह आपको और अंधकार में और मूर्च्छा में और बेहोशी में ले जाता है। इस सूत्र पर भी ध्यान से विचार करना उपयोगी है।
अब हम रात्रि के ध्यान के लिए बैठेंगे। तो थोड़ी-सी बातें ध्यान के लिए समझ लें। कुछ प्रश्न ध्यान के लिए पूछे हैं, उनको मैं समझा दूं थोड़ा-सा और फिर हम ध्यान के लिए बैठेंगे।

एक मित्र ने पूछा हुआ है ध्यान के संबंध में, कि क्या नाम-जप, कोई पवित्र मंत्र का जप सहयोगी नहीं हो सकता है?

बिल्कुल भी सहयोगी नहीं हो सकता बल्कि बाधक हो सकता है। क्योंकि जब
आप कोई मंत्र जपते हैं, तब आप एक विचार को ही बार-बार पुनरुक्त करते हैं। मंत्र यानी एक विचार। जब आप कोई नाम जपते हैं तो एक शब्द को ही बार-बार दोहराते हैं। शब्द यानी विचार का एक अंश, एक टुकड़ा, एक हिस्सा। तो विचार को ही दोहराकर अगर आप विचार से मुक्त हो जाना चाहते हों तो आप गलती में हैं। जितनी देर आप एक ही विचार को दोहराते रहेंगे उतनी देर तक दूसरे विचार आपको आते हुए नहीं मालूम पड़ेंगे। क्योंकि मन का नियम जैसा मैंने आपसे कहा, एक चीज पर अटका रहेगा। लेकिन जिस विचार को आप दोहरा रहे हैं, यह भी उतना ही विचार है जितने दूसरे विचार हैं। इसके दोहराने से कोई हित नहीं है। बल्कि अहित यह है कि एक ही शब्द को बार-बार दोहराने से मन में मूर्च्छा पैदा होती है, निद्रा पैदा होती है। कोई भी एक शब्द को ले लें और उसे बार-बार दोहरायें तो आपके भीतर नींद पैदा होगी, जागरण पैदा नहीं होगा। रिपिटीशन जो है किसी भी शब्द का, निद्रा लाने का सूत्र है। तो अगर नींद न आती हो आपको

रात में तो राम-राम जपना, ओम-ओम जपना सहयोगी हो सकता है नींद लाने में, लेकिन आत्म-ज्ञान में नहीं।
अब हम रात्रि के ध्यान के लिए बैठेंगे। इसमें आपको सो नहीं जाना है। शरीर शिथिल कर देना है, सांस शिथिल छोड़ देनी है, मन शांत कर लेना है, लेकिन सो नहीं जाना है, भीतर परिपूर्ण जागे रहना है। इसीलिए मैंने कहा कि बाहर का सब सुनते रहना है, क्योंकि अगर आप सुन रहे हैं तो आप जागे रहेंगे और अगर आप नहीं सुन रहे हैं तो आपके सो जाने की संभावना है। नींद अच्छी बात है, नींद बुरी बात नहीं है, लेकिन नींद को ध्यान मत समझ लेना। नींद बहुत अच्छी बात है। नींद जरूर लेनी चाहिए, लेकिन नींद ध्यान नहीं है, यह ध्यान रखना चाहिए।
विवेकानंद ने पहली दफा अमरीका में जब ध्यान की बात कही तो एक अखबार ने
एक लेख लिखा और उस लेख में लिखा कि विवेकानंद जो कह रहे हैं वह तो बड़ी अच्छी बात है, वह तो नान मेडिसिनल ट्रांक्विलाइजर जैसा मालूम होता है, बिना दवा के नींद की दवा मालूम होती है। नींद लाने की अच्छी तरकीब है। तो नींद लाना हो तो बात दूसरी है, लेकिन ध्यान लाना हो तो बात बिल्कुल दूसरी है।
तो यहां जो हम प्रयोग कर रहे हैं उसमें सब शिथिल हो जायेंगे, सब सुनते जायेंगे, लेकिन भीतर पूरी तरह जागे रहना है। उस जागे रहने के सूत्र पर कल हम और बात करेंगे, तो और स्पष्ट समझ में आ सकेगी।
इस प्रयोग को करने के पहले दो-तीन बातें ख्याल में ले लें--एक तो यह बड़ा सरल-सा प्रयोग है। आप कोई बहुत कठिन काम कर रहे हैं, ऐसा भय न ले लेना मन में। क्योंकि जिस काम को हम कठिन समझ लेते हैं वह कठिन हो जाता है--कठिन होने के कारण नहीं, हमारे समझने के कारण। जिस काम को हम सरलता से लेते हैं वह सरल हो जाता है। कठिनता हमारी दृष्टि में होती है।
हमें समझाया गया है हजारों सालों से कि ध्यान बड़ी कठिन चीज है। यह तो किन्हीं दुर्लभ लोगों को उपलब्ध होती है, यह तो तलवार की धार पर चलना है और यह तो फलां है, ढिकां है। इन सब बातों ने हमारे मन में ऐसा भाव पैदा कर दिया है कि यह तो कुछ लोगों का काम है, यह सब लोगों के लिए हो नहीं सकता। हमारे लिए तो यही हो सकता है कि भजन-कीर्तन करें, राम-राम जपा करें या कहीं अपना कोई अखंड पाठ बिठा दें और माइक लगाकर जोर-जोर से चिल्लायें कि खुद का भी लाभ हो, पास-पड़ोस के लोगों का भी लाभ हो, हम से यही हो सकता है। यह ध्यान वगैरह तो कुछ थोड़े-से लोगों की बात है। यह झूठी बात है।
ध्यान प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव है। ध्यान इतनी सरल बात है कि ऐसा कोई आदमी खोजना ही कठिन है जिसके लिए ध्यान न हो सके। लेकिन उसकी तैयारी, उस सरलता के भीतर प्रवेश करने की भूमिका और पात्रता उसे इकट्ठी करनी होती है। बहुत सरल बात है, उतनी ही सरल बात, जितनी कि कोई सरल से सरल बात हो सकती है। कली जैसे फूल बनती है उतनी ही सरल बात है कि मनुष्य का चित्त ध्यान बन जाये, लेकिन फूल बने इसके लिए खाद चाहिए, पानी चाहिए, रोशनी चाहिए। ऐसे ही मन ध्यान बने इसके लिए कुछ जरूरतें हैं, उन्हीं जरूरतों की हम बात कर रहे हैं।
कल हमने शरीर की जरूरतों की बात की। आज हमने बुद्धि, मस्तिष्क से कैसे
हम पात्रता ले आएं, मस्तिष्क के जाल से छूट सकें, उसकी बात की। और कल हम हृदय की तीसरे केंद्र की बात करेंगे। हृदय और मस्तिष्क दोनों सुलझ जाएं, तो तीसरे केंद्र पर हमारा प्रवेश, पहुंचना एकदम सरल हो जाता है।
शायद कुछ नये लोग होंगे तो उनको मैं कह दूं कि अभी हम ध्यान के लिए लेटेगे। यह रात्रि का ध्यान है, सोते समय करने का है, इसलिए लेट कर करने का है। तो सब लोग अपनी-अपनी जगह बना लें और कोई किसी को बिना छूए हुए लेट जाए। कुछ लोग यहां ऊपर आ जाएं, कुछ आगे फर्श पर आ जाएं।
हां, बातचीत नहीं करेंगे, क्योंकि बातचीत का ध्यान से कोई भी संबंध नहीं है। हां, अपनी जगह बना लें और बातचीत बिलकुल न करें। क्योंकि जिस काम के लिए हम जा रहे हैं उसका बातचीत का क्या नाता है। इधर आगे हट आएं वहां भीतर जगह न हो तो, यहां आगे दों-चार लोग हट आएंगे। लेकिन वहां भीतर ऐसे न पड़े रहें कि वहां मुसीबत में पड़े हैं और किसी तरह लेटे हुए हैं, तो क्या

ध्यान हो पाएगा। फिर बहुत मुश्किल हो जाएगी। इसलिए अगर आपको ठीक जगह न मिली हो तो आगे हट आएं।
(ठहर जाइए एक मिनट। यह माइक चलने देना।)
हां, जल्दी आप कर लें इंतजाम, ताकि फिर प्रकाश बुझाया जा सके।
(ठहर जाइए, अभी जला रहने दें, सबको लेट जाने दें।)
आप लोग बैठे रहने का इरादा है, जगह नहीं है वहां, तो यहां आगे कुछ लोग
हट कर आ सकते हैं जिनको जगह नहीं है।
जगह छोड़ना अपनी बड़ी मुश्किल बात होती है। जो जिस जगह है वहीं बैठा रहना चाहता है, ऐसा है न। ठीक है! और खयाल रखें कि आपके कारण किसी दूसरे व्यक्ति को जरा भी बाधा न हो। क्योंकि आपको यह तो हक है कि अपना ध्यान खराब कर लें, लेकिन यह हक नहीं है कि किसी दूसरे का ध्यान खराब हो। ठीक है! प्रकाश बुझा दें।
सबसे पहले आंख को धीरे से बंद कर लें। आंख बंद कर लें। बहुत धीरे से आंख बंद कर लें। फिर सारे शरीर को ढीला छोड़ दें। बिलकुल ढीला, जैसे शरीर में कोई प्राण नहीं हैं। बिलकुल ढीला छोड़ दें। शरीर को एकदम शिथिल और ढीला छोड़ दें। एकदम शांत और ढीला छोड़ दें, जैसे शरीर में कोई प्राण ही नहीं हैं-- शरीर बिलकुल ढीला छोड़ दिया गया। फिर मैं सुझाव दूंगा, मेरे साथ अनुभव करें।
शरीर शिथिल हो रहा है... अनुभव करें, शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर रिलैक्स हो रहा है....ढीला छूट रहा है... धीरे-धीरे शरीर विश्राम को उपलब्ध हो रहा है। शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है... शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर बिलकुल शिथिल होता जा रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो रहा है....शरीर शिथिल हो गया है...।
श्वास शांत हो रही है... भाव करें, श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत
हो रही है....श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत हो रही है....श्वास शांत होती जा रही है... श्वास शांत हो रही है....श्वास बिलकुल शांत हो गई है...।
भाव करें, मन शांत हो रहा है... मन मौन हो रहा है....मन मौन हो रहा है....मन मौन होता जा रहा है....मन मौन होता जा रहा है....मन भी बिलकुल मौन हो गया है...मन भी शांत हो गया है...।
अब दस मिनट के लिए बिलकुल शांत पड़े रह जाएं। लेकिन भीतर जागे रहें, होश से भरे रहें। बाहर की कोई भी ध्वनि हो शांति से सुनते रहें। ध्यान रखें, सो नहीं जाना है, जागे रहना है।
शरीर सो गया, मन सो गया, लेकिन हम जागे हुए हैं। चुपचाप सुनते रहें, कोई भी ध्वनि हो चुपचाप सुनते रहें। सुनते ही सुनते, सुनते ही सुनते मन एक बिलकुल गहरे शून्य में उतर जाएगा। सुनें....दस मिनट के लिए चुपचाप सुनते रहें...।
मन शांत होता जा रहा है....मन शांत होता जा रहा है....मन शांत होता जा रहा है....मन बिलकुल शांत हो गया है....मन बिलकुल शांत हो गया है....मन शांत हो गया है....मन शांत हो गया है.. मन शांत हो गया है....मन शांत हो गया है....मन शांत हो गया है....मन बिलकुल शांत हो गया है....मन शांत हो गया है....मन शांत हो गया है...।
जागे रहें, भीतर होश से भरे रहें। एक गहरे सन्नाटे में प्रवेश हो रहा है। बिलकुल होश से भरे रहें। एक गहरी शांति में प्रवेश हो रहा है।
मन शांत हो गया है....मन शांत हो गया है... और गहरे डूब जाएं, और गहरे डूब जाएं....मन बिलकुल शांत हो गया है...। एक गहरा सन्नाटा पैदा हो गया, एक बिलकुल शून्य पैदा हो गया। और गहरे डूब जाएं, और गहरे डूब जाएं, बिलकुल शून्य में चले जाएं। मन शून्य हो गया है...।
अब धीरे-धीरे दो-चार गहरी श्वास लें...प्रत्येक श्वास के साथ और भी शांति मालूम होगी। धीरे-धीरे दो-चार गहरी श्वास लें....फिर बहुत आहिस्ता से आंख खोलें....जैसी शांति भीतर है वैसी ही शांति बाहर भी मालूम होगी। धीरे- धीरे आंख खोलें, बहुत आहिस्ता से आंख खोलें। फिर उतने ही आहिस्ता से धीरे-

धीरे उठ कर बैठ जाएं। गड़बड़ न हो, सब अपनी जगह चुपचाप बैठ जाएं। चुपचाप अपनी जगह बैठ जाएं।
यह तो हमने प्रयोग किया समझने के लिए। अभी रात सोते समय इस प्रयोग को करें और फिर प्रयोग करने के बाद चुपचाप सो जाएं। सोने के पहले अपने कमरे में जाकर इस प्रयोग को करें और प्रयोग को करके सो जाएं।
रात की बैठक समाप्त हुई।

साधना पथ
बाईसवां प्रवचन

हृदय-वीणा के सूत्र

विचार का, थिंकिग का केंद्र मस्तिष्क है, और भाव का, फीलिंग का केंद्र हृदय है, और संकल्प का, विलिंग का केंद्र नाभि है। विचार, चिंतन, मनन मस्तिष्क से होता है। भावना, अनुभव, प्रेम, घृणा और क्रोध हृदय से होते हैं। संकल्प नाभि से होता है। विचार के केंद्र के संबंध में कल थोड़ी-सी बातें हमने कीं।
पहले दिन मैंने आपको कहा था कि विचार के तंतु बहुत कसे हुए हैं, उन्हें शिथिल करना है। विचार पर अत्यधिक तनाव और बल है। मस्तिष्क अत्यंत तीव्रता से खिंचा हुआ है। विचार की वीणा के तार इतने खिंचे हुए हैं कि उनसे संगीत पैदा नहीं होता, तार ही टूट जाते हैं, मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है और मनुष्य विक्षिप्त हो गया है। ये विचारों की वीणा के तार थोड़े शिथिल करने अत्यंत जरूरी हो गए हैं, ताकि वे सम-स्थिति में आ सकें और संगीत उत्पन्न हो सके।
विचार से ठीक उल्टी स्थिति हृदय की है। हृदय के तार बहुत ढीले हैं। उन्हें थोड़ा कसना जरूरी है, ताकि वे भी सम-स्थिति में आ सकें और संगीत पैदा हो सके। विचार के तनाव को कम करना है और हृदय के ढीले तारों को थोड़ा कसाव देना है।
विचार और हृदय के दोनों तार अगर सम अवस्था में आ जायें, मध्य में आ जायें, संतुलित हो जायें तो वह संगीत पैदा होगा जिस संगीत के मार्ग से नाभि के केंद्र तक की यात्रा की जा सकती है।
विचार कैसे शिथिल हों, वह हमने कल बात की है। भाव, हृदय के तार कैसे कसे जा सकें वह बात हमें आज सुबह करनी है।
इसके पहले कि हम ठीक से हृदय के संबंध में, भाव के संबंध में कुछ समझें, मनुष्य-जाति एक बहुत लंबे अभिशाप के नीचे जी रही है, उसे समझ लेना जरूरी है। उसी अभिशाप ने हृदय के तारों को बिल्कुल ढीला कर दिया है। और वह अभिशाप यह है कि हमने हृदय के सारे गुणों की निंदा की है।
हृदय की जो भी क्षमताएं हैं, उन सबको हमने अभिशाप समझा है, वरदान नहीं समझा। और यह भूल इतनी संघातक है और इस भूल के पीछे इतनी नासमझी और इतना अज्ञान है जिसका कोई हिसाब नहीं। क्रोध की हमने निंदा की है, अभिमान की हमने निंदा की है, घृणा की हमने निंदा की है, राग की हमने निंदा की है, हर चीज की हमने निंदा की है। और बिना यह समझे हुए कि हम जिन चीजों की प्रशंसा करते हैं वे इन्हीं चीजों के रूपांतरण हैं।
हमने क्षमा की प्रशंसा की है और क्रोध की निंदा की है और बिना इस बात
को समझे हुए कि क्षमा क्रोध की शक्ति का ही परिवर्तित रूप है। हमने घृणा की निंदा की है और प्रेम की प्रशंसा की है, और बिना यह समझे कि घृणा में जो ऊर्जा प्रगट होती है वही रूपांतरित होकर प्रेम में प्रगट होती है। उन दोनों के पीछे प्रगट होने वाली शक्ति भिन्न-भिन्न नहीं है। हमने अभिमान की निंदा की है और विनम्रता की प्रशंसा की है बिना यह समझे हुए कि अभिमान में जो ऊर्जा प्रगट होती है वही विनम्रता बन जाती है। उन दोनों चीजों में बुनियादी विरोध नहीं है, वे एक ही चीज के परिवर्तित बिंदु हैं।
जैसे वीणा के तार बहुत ढीले हैं या बहुत कसे हैं, उन्हें छूता है संगीतज्ञ तो उनसे बेसुरा संगीत पैदा होता है जो कानों को अखरता है और चित्त को घबड़ाता है। वह जो बेसुरापन पैदा हो रहा है, अगर उसके विरोध में आकर कोई तारों को तोड़ डाले और वीणा को पटक दे और कहे कि इस वीणा से बहुत बेसुरा संगीत पैदा होता है, यह तो तोड़ देने जैसी है; तो वीणा तो वह तोड़ सकता है, लेकिन वह भी याद रख ले कि संगीत भी उसी वीणा से पैदा हो सकता था, जिससे बेसुरे स्वर पैदा होते थे। बेसुरापन वीणा का कसूर नहीं था, वीणा अव्यवस्थित थी, इस बात की भूल थी। वही वीणा सुव्यस्थित होती तो जिन तारों से बेसुरापन पैदा होता था, उन्हीं से प्राणों को मुग्ध कर देने वाला संगीत पैदा हो सकता था।

स्वर और बेस्वर एक ही तार से पैदा होने वाली चीजें हैं, यद्यपि बिल्कुल विरोधी मालूम होती हैं और दोनों के परिणाम विरोधी हैं। और दोनों में एक आनंद की तरफ ले जाती है, एक दुख की तरफ ले जाती है, लेकिन दोनों के बीच में एक ही तार है और एक ही वीणा है। वीणा अव्यवस्थित हो, अराजक हो तो बेसुरापन पैदा होता है।
मनुष्य के हृदय से क्रोध पैदा होता है; अगर मनुष्य का हृदय सुव्यवस्थित, संयोजित, संतुलित नहीं है। वही हृदय संतुलित हो जाये तो जो शक्तियां क्रोध में प्रगट होती हैं, वे ही शक्तियां क्षमा में प्रगट होनी शुरू हो जाती हैं। क्षमा क्रोध का ही रूपांतरण है।
अगर कोई बच्चा बिना क्रोध के पैदा हो जाये तो एक बात निश्चित है, उस बच्चे के जीवन में क्षमा कभी भी प्रगट नहीं हो सकती। अगर किसी बच्चे के हृदय में घृणा की कोई संभावना न हो, तो उस बच्चे के हृदय में प्रेम की भी कोई संभावना नहीं रह जायेगी।
लेकिन हम इस भूल के नीचे जीये हैं अब तक, कि ये दोनों विरोधी चीजे हैं
और इसमें एक का विनाश करेंगे तो दूसरा विकसित होगा। यह बिल्कुल ही भूल भरी बात है, इससे ज्यादा खतरनाक कोई शिक्षा नहीं हो सकती, अमनोवैज्ञानिक। अत्यंत अबुद्धिपूर्ण यह बात है। क्रोध के विनाश से क्षमा उत्पन्न नहीं होती, क्रोध के रूपांतरण से, क्रोध के ट्रांसफार्मेशन से, क्रोध के परिवर्तन से क्षमा उपलब्ध होती है। क्षमा क्रोध का नष्ट हो जाना नहीं है, बल्कि क्रोध का संतुलित और संगीतपूर्ण हो जाना है।
इसलिए अगर हम क्रोध के विरोध में हैं और क्रोध को नष्ट करने का उपाय
कर रहे हैं, तो हम वीणा को ही तोड़ने का उपाय कर रहे हैं। और इससे एक ऐसा मनुष्य पैदा होगा जो अत्यंत दीन-हीन होगा, जिसके हृदय की कोई भी शक्तियां विकसित नहीं हो पायेंगी। यह वैसे ही है जैसे किसी आदमी ने अपने घर के पास खाद का ढेर लगा रखा हो, उसके घर के आस पास गंदगी फैल रही हो, बदबू फैल रही हो, और वह आदमी परेशान हो कि माली तो कहता था कि खाद लाने से फूल पैदा होते हैं और फूलों से सुगंध आती है, और हमारे घर में हमने खाद लाकर रख ली है तो दुर्गंध फैल रही है, घर बदबू से भरा जा रहा है, जीना मुश्किल हुआ जा रहा है। खाद लाने से जरूर फूल पैदा हो सकते हैं, लेकिन घर में खाद को भर लेने
से नहीं। खाद का रूपांतरण होता है। बीजों के माध्यम से खाद फूलों में प्रवेश करती है और खाद की जो दुर्गंध थी वह एक दिन फूलों की सुगंध में परिवर्तित हो जाती है। लेकिन खाद को घर में भर लेने से तो कोई पागल हो जायेगा और खाद को फेंक देने से उसके फूल निर्जीव हो जायेंगे, निस्तेज हो जायेंगे। लेकिन खाद का रूपांतरण है, दुर्गंध सुगंध में परिवर्तित हो सकती है।
इसी कीमिया, इसी केमिस्ट्री का, इसी अल्केमी का नाम योग है। इसी अल्केमी का नाम धर्म है। जो जीवन में व्यर्थ है उसको सार्थक की दिशा में परिवर्तित करने की जो कला है वही धर्म है।
लेकिन धर्म के नाम पर हम आत्मघात कर रहे हैं, सुसाइड कर रहे हैं। धर्म
के नाम पर हमारी चेतना परिवर्तित नहीं होती, कोई बुनियादी भूलों के भीतर हम जी रहे हैं, कोई गहरी अभिशाप की छाया हमको पकड़े हुए है। हृदय इसलिए अविकसित रह गया कि हृदय के मौलिक गुणों के ही विरोध में हम खड़े हो गये। यह बात थोड़ी समझ लेनी जरूरी है।
मैं देख पाता हूं कि मनुष्य का अगर ठीक-ठीक विकास हो तो उसके जीवन में क्रोध का भी अपना अनिवार्य स्थल है, क्रोध की भी अपनी जगह है, उसके संपूर्ण जीवन के चित्र में क्रोध का भी अपना रंग है। और अगर उसे हम बिल्कुल अलग कर दें तो उसके जीवन का चित्र किन्हीं न किन्हीं अर्थों में अधूरा रह जायेगा, उसमें कोई रंग की कमी रह जायेगी। लेकिन बचपन से ही हम सिखाना शुरू करते हैं कि इन सारी चीजों को अलग कर देना, और अंधों की तरह हम बच्चों के पीछे पड़ जाते हैं इन सारी चीजों को अलग कर देने के लिए। अलग करने का कुल एक ही परिणाम हो सकता है कि जो-जो हम बुरा कहते हैं बच्चा उसे दबाकर बैठ जाये, अपने भीतर सप्रेस कर ले; दमन कर ले। दमित हृदय शिथिल हृदय होगा, उसके तार

ठीक-ठीक खिंच नहीं पायेंगे और फिर यह जो दमन होगा, यह होगा बुद्धि के द्वारा, क्योंकि सब शिक्षा बुद्धि से गहरे नहीं जाती।
आप किन्हीं भी बच्चे को सिखायें कि क्रोध बुरा है, तो आपकी यह शिक्षा हृदय तक पहुंचने वाली नहीं है। हृदय के पास सुनने के लिए कोई कान नहीं है और हृदय के पास सोचने के लिए कोई शब्द नहीं है। यह सारी शिक्षा बुद्धि में जायेगी और बुद्धि हृदय को परिवर्तित नहीं कर सकती है, तो एक कठिनाई पैदा हो जायेगी। बुद्धि सोच लेती है कि क्रोध करना बुरा है।
आप रोज क्रोध करते हैं और पीछे पछताते हैं कि क्रोध करना बुरा है, आगे मैं क्रोध नहीं करूंगा। लेकिन यह बुद्धि का केंद्र सोच रहा है और हृदय के केंद्र को इस बात की कोई खबर नहीं कि क्रोध बुरा है और अब आगे क्रोध नहीं करूंगा। कल फिर सुबह आप उठते हैं और जरा-सी बात पर क्रोध फिर शुरू हो जाता है। आप बहुत हैरान होते हैं कि मैंने पच्चीसों दफे तय किया कि मैं अब क्रोध नहीं करूंगा, यह क्रोध फिर क्यों आ जाता है! मैं कितनी बार पश्चात्ताप कर चुका, फिर भी क्रोध क्यों आ जाता है?
आपको पता ही नहीं है कि क्रोध करने वाला केंद्र अलग और पश्चात्ताप और विचार करने वाला केंद्र बिल्कुल अलग है। जो केंद्र निर्णय करता है कि मैं क्रोध नहीं करूंगा वह बिल्कुल भिन्न है और जो केंद्र क्रोध करता है वह बिल्कुल भिन्न है। ये बिल्कुल दो अलग केंद्र हैं, इसलिए पश्चात्ताप और निर्णय का कोई परिणाम आपके क्रोध पर कभी भी नहीं पड़ता। आप क्रोध भी किये जाते हैं और पश्चात्ताप भी किये जाते हैं और दुखी भी हुए चले जाते हैं। जीवन भर आपको ख्याल में भी नहीं आता कि कहीं ये दोनों केंद्र इतने पृथक तो नहीं हैं कि इनका एक का निर्णय दूसरे तक पहुंच ही नहीं पाता।
आदमी एक आंतरिक विघटन में, एक डिसइंटीग्रेशन में पड़ जाता है। हृदय का केंद्र और ही तरह से काम करता है, उस केंद्र के विकास के लिए कुछ और ही रास्ते हैं। बुद्धि उस केंद्र में बाधा देगी तो वह केंद्र केवल शिथिल और अस्त-व्यस्त होगा, एनार्किक होगा। और हम सबका हृदय का केंद्र बिल्कुल ही अराजक हो गया है, बिल्कुल अव्यवस्थित हो गया है। पहली बात, निश्चित ही क्रोध रूपांतरित होना चाहिए, लेकिन नष्ट नहीं।
यह पहला सूत्र हृदय के तारों को कसने के लिए यह है--हृदय के गुणों का विकास, विध्वंस नहीं। यह पहला सूत्र ठीक से समझ लेना जरूरी है। हृदय के सारे गुणों का विकास, विध्वंस नहीं। आप थोड़े मुश्किल में पड़ेंगे, थोड़ा सोच में पड़ेंगे कि क्रोध का भी विकास करना चाहिए? मैं आपको कहूंगा निश्चित ही विकास होना चाहिए, क्योंकि विकसित क्रोध ही फिर एक दिन रूपांतरित होकर क्षमा बन सकता है, अन्यथा कभी भी क्षमा जीवन में उत्पन्न नहीं हो सकती। क्रोध की अपनी गरिमा और अपना गौरव है। दुनिया में जो बड़े से बड़े क्षमाशाली लोग हुए हैं, अगर आप उनका जीवन पढ़ेंगे तो आप पायेंगे कि वे अपने प्राथमिक दिनों में बड़े से बड़े क्रोधी लोग थे।
दुनिया में जो बड़े से बड़े ब्रह्मचारी हुए हैं, अगर आप उनका जीवन पढ़ेंगे तो पायेंगे कि अपने प्राथमिक जीवन में उनसे ज्यादा कामुक, उनसे ज्यादा सेक्सुअल और कोई भी नहीं था। गांधी के जीवन में इतना ब्रह्मचर्य फलित हुआ, यह गांधी के प्राथमिक जीवन की अति कामुकता का फल है। गांधी अति कामुक थे।
जिस दिन गांधी के पिता की मृत्यु हुई, चिकित्सकों ने कह दिया था कि पिता आज रात बच नहीं सकेंगे, उस रात भी गांधी अपनी पत्नी से दूर नहीं रह सके। वह अंतिम रात थी। बाप के मरने की रात थी। उस रात पिता के पास बैठना सहज ही स्वाभाविक था, क्योंकि अंतिम बिदा थी, इसके बाद पिता से फिर मिलना नहीं हो सकता था। लेकिन आधी रात गये गांधी अपनी पत्नी के पास पहुंच गये। वहां पिता मरे, तब पत्नी के पास बिस्तर पर ही गांधी थे। इसकी एक बहुत तीव्र चोट गांधी के चित्त पर पहुंची। गांधी का बाद का सारा ब्रह्मचर्य इसी चोट से विकसित हुआ। यह जो अति कामुक चित्त था, ये ठीक, इसकी सारी ऊर्जा और सारी शक्ति ब्रह्मचर्य की तरफ फलित हो गयी।
यह कैसे हो सका? यह इसलिए हो सका कि शक्तियां हमेशा तटस्थ होती हैं, सिर्फ दिशाओं का परिवर्तन होता है। जो शक्ति सेक्स की तरफ बहती थी, वह

सारी शक्ति विपरीत दिशा की तरफ बहनी शुरू हो गयी। लेकिन शक्ति थी तो विपरीत बह सकी और शक्ति ही न हो तो विपरीत क्या खाक बहेगी! शक्ति हो तो दूसरी दिशा में भी जा सकती है, लेकिन शक्ति ही न हो तो दूसरी दिशा में क्या जायेगी, कौन-सी चीज जायेगी?
सारी शक्तियां ठीक-ठीक विकसित होनी चाहिए। मनुष्य को नैतिक शिक्षाओं
के भ्रम ने अत्यंत दीन-हीन, इम्पोटेंट, अत्यंत वीर्यहीन बना दिया है। पुराने लोग हमसे ज्यादा गहरे अर्थों में जीवन को अनुभव करते थे।
अकबर के दरबार में दो राजपूत युवक आए। दोनों भाई थे और अकबर से जाकर उन्होंने कहा कि "हम कोई नौकरी खोजने की तलाश में निकले हैं।" अकबर ने कहा, "तुम करना क्या जानते हो?" उन्होंने कहा, "हम और तो करना कुछ नहीं जानते, लेकिन हम बहादुर लोग हैं। हो सकता है हमारी आपको कोई जरूरत हो।" अकबर ने कहा, "बहादुरी का प्रमाण-पत्र लाये हो कोई? क्या सबूत है कि तुम बहादुर हो?" वे दोनों हंसने लगे। और फिर उन्होंने कहा, "बहादुरी का भी कोई प्रमाण-पत्र होता है? हम बहादुर हैं।" अकबर ने कहा, "बिना प्रमाण-पत्र के नौकरी नहीं मिल सकती।" वे दोनों हंसे, उन्होंने तलवारें निकालीं और एक-दूसरे की छाती में एक सैकेंड में वे तलवारें घुस गयीं। अकबर तो देखता रह गया। वे दोनों जवान जमीन पर पड़े थे, लहू का फव्वारा बह रहा था, लेकिन वे हंस रहे थे। उन्होंने कहा कि, "अकबर, तुझे पता ही नहीं कि बहादुरी का एक ही प्रमाण-पत्र हो सकता है, और वह मौत है। और तो कोई प्रमाण-पत्र नहीं हो सकता।" वे दोनों मर गये। अकबर की आंख में आंसू आ गये। उसकी कल्पना भी न थी कि यह ऐसी घटना घट जायेगी।
एक राजपूत सेनापति को उसने बुलाकर कहा कि, "एक बड़ी दुर्घटना हो गयी।
दो राजपूत लड़कर हत्या कर लिए। मैंने पूछ लिया प्रमाण-पत्र!" उस राजपूत ने कहा, "आपने बात ही गलत पूछी। यह तो किसी भी राजपूत के खून को खौला देती। बहादुरी का कोई और प्रमाण-पत्र हो सकता है, सिवाय मौत के! सिर्फ कायर और कमजोर सर्टिफिकेट ला सकते हैं कि हां यह बहादुरी का सर्टिफिकेट हमारे पास लिखा हुआ रखा है। हम फलां आदमी से लिखवाकर लाए हैं, कि यह बहादुर है। क्योंकि कोई बहादुर किसी आदमी से लिखवा सकता है कि मैं बहादुर हूं! कोई केरेक्टर सर्टिफिकेट ला सकता है? आपने बात ही गलत पूछी। आपको पता ही नहीं है कि राजपूत से कैसे पूछना चाहिए! ठीक किया और यही हो सकता था, और कोई रास्ता ही नहीं था। यही सीधा विकल्प।"
यह जो, इतना तीव्र क्रोध है, जो इतनी तेजस्विता है, यह व्यक्तित्व की बड़ी महिमापूर्ण गरिमा है। इससे सारी मनुष्य-जाति हीन होती चली जाती है। आदमी की सारी तेजस्विता, सारा वीर्य नष्ट होता चला जाता है और हम समझते हैं कि हम बहुत अच्छी शिक्षाओं के अंतर्गत यह कर रहे हैं। यह बहुत अच्छी शिक्षाओं के अंतर्गत नहीं हो रहा है। बच्चों का सारा विकास गलत नियमों के अनुकूल हो रहा है, उनके भीतर पुरुष का कुछ भी विकसित नहीं होता।
एक बहुत प्रसिद्ध लामा ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि जब मैं पांच वर्ष का था, तो मुझे विद्यापीठ में पढ़ने के लिए भेजा गया। रात को मेरे पिता ने मुझसे कहा--तब मैं कुल पांच वर्ष का था--रात को मेरे पिता ने मुझसे कहा कि कल सुबह चार बजे तुझे विद्यापीठ भेजा जायेगा। और स्मरण रहे, सुबह तेरी बिदाई के लिए न तो तेरी मां होगी और न मैं मौजूद रहूंगा। मां इसलिए मौजूद नहीं रखी जा सकती कि उसकी आंखों में आंसू आ जायेंगे। और रोती हुई मां को छोड़कर तू जायेगा तो तेरा मन पीछे की तरफ, पीछे की तरफ होता रहेगा और हमारे घर में ऐसा आदमी कभी पैदा नहीं हुआ जो पीछे की तरफ देखता हो। मैं इसलिए मौजूद नहीं रहूंगा कि अगर तूने एक भी बार घोड़े पर बैठकर पीछे की तरफ देख लिया तो तू मेरा लड़का नहीं रह जायेगा, फिर इस घर के दरवाजे तेरे लिए बंद हो जायेंगे। नौकर तुझे विदा दे देंगे सुबह। और स्मरण रखें, यह घोड़े पर से पीछे लौटकर मत देखना। हमारे घर में कोई ऐसा आदमी नहीं हुआ जो पीछे की तरफ लौटकर देखता हो। और अगर तूने पीछे की तरफ लौटकर देखा तो समझ लेना, इस घर से फिर तेरा कोई नाता नहीं।
पांच वर्ष के बच्चे से ऐसी अपेक्षा? पांच वर्ष का बच्चा सुबह चार बजे उठा दिया गया और घोड़े पर बिठा दिया गया। नौकरों ने उसे बिदा कर दिया। चलते

वक्त नौकर ने भी कहा, "बेटे होशियारी से! मोड़ तक दिखाई पड़ता है, पिता ऊपर से देखते हैं। मोड़ तक पीछे लौटकर मत देखना। इस घर में सब बच्चे ऐसे ही बिदा हुए, लेकिन किसी ने पीछे लौटकर नहीं देखा। और जाते वक्त नौकर ने कहा, कि तुम जहां भेजे जा रहे हो वह विद्यापीठ साधारण नहीं है। वहां देश के जो श्रेष्ठतम पुरुष... उस विद्यापीठ से पैदा होते हैं। वहां बड़ी कठिन परीक्षा होगी प्रवेश की। तो चाहे कुछ भी हो जाये, हर कोशिश करना कि उस प्रवेश-परीक्षा में प्रविष्ट हो जाओ। क्योंकि वहां से असफल हो गये तो इस घर में तुम्हारे लिए कोई जगह नहीं रह जायेगी।"
पांच वर्ष का लड़का, उसके साथ ऐसी कठोरता! वह घोड़े पर बैठ गया और उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मेरी आंखों में आंसू भरने लगे, लेकिन पीछे लौटकर कैसे देख सकता हूं उस घर को, पिता को... जिस घर को छोड़कर जाना पड़ रहा है मुझे अनजान में। इतना छोटा हूं। लेकिन लौटकर नहीं देखा जा सकता, क्योंकि मेरे घर में कभी किसी ने लौटकर नहीं देखा। और अगर पिता ने देख लिया तो फिर इस घर से हमेशा के लिए वंचित हो जाऊंगा, इसीलिए कड़ी हिम्मत रखी और आगे की तरफ देखता रहा, पीछे लौटकर नहीं देखा।
इस बच्चे के भीतर कोई चीज पैदा की जा रही है। इस बच्चे के भीतर कोई संकल्प जगाया जा रहा है, जो इसके नाभि-केंद्र को मजबूत करेगा। यह बाप कठोर नहीं है, यह बाप बहुत प्रेम से भरा हुआ है। और हमारे सब मां-बाप गलत हैं जो प्रेम से भरे हुए दिखाई पड़ रहे हैं, वे भीतर के सारे केंद्रों को शिथिल किये दे रहे हैं। भीतर कोई बल, कोई संबल खड़ा नहीं किया जा रहा है।
वह स्कूल में पहुंच गया। पांच वर्ष का छोटा-सा बच्चा, उसकी क्या सामर्थ्य और क्या हैसियत! स्कूल के प्रधान ने, विद्यापीठ के प्रधान ने कहा कि यहां की प्रवेश-परीक्षा कठिन है। दरवाजे पर आंख बंद करके बैठ जाओ और जब तक मैं वापिस नहीं आऊं तब तक आंख मत खोलना, चाहे कुछ भी हो जाये। यही तुम्हारी प्रवेश-परीक्षा है। अगर तुमने आंख खोल ली तो हम वापस लौटा देंगे, क्योंकि जिसका अपने ऊपर इतना भी बल नहीं है कि कुछ देर तक आंख बंद किये बैठा रहे, वह और क्या सीख सकेगा? उसके सीखने का दरवाजा खतम हो गया, बंद हो गया। फिर तुम उस काम के लायक नहीं हो, फिर तुम जाकर और कुछ करना। पांच वर्ष के छोटे-से बच्चे को... !
वह बैठ गया दरवाजे पर आंख बंद करके। मक्खियां उसे सताने लगीं, लेकिन आंख खोलकर नहीं देखना है, क्योंकि आंख खोलकर देखा तो मामला खतम हो जायेगा। छोटे-मोटे जो दूसरे बच्चे स्कूल में आ-जा रहे हैं, कोई उसे धक्का देने लगा है, कोई उसको परेशान करने लगा है, लेकिन आंख खोलकर नहीं देखना है, क्योंकि आंख खोलकर देखा तो मामला फिर खराब हो जायेगा। और नौकरों ने आते वक्त कहा है कि अगर प्रवेश-परीक्षा में असफल हो गये तो यह घर भी तुम्हारा नहीं।
एक घंटा बीत गया, दो घंटे बीत गये, वह आंख बंद किये बैठा है और डरा हुआ
है कि कहीं भूल से भी आंख न खुल जाये और आंख खोलने के सब टेम्पटेशन मौजूद हैं वहां। रास्ता चल रहा है, बच्चे निकल रहे हैं, मक्खियां सता रही हैं, कोई बच्चे उसे धक्के देते जा रहे हैं, कोई बच्चा कंकड़ मार रहा है। और उसे आंख खोलने का तब मन होता है कि देखें कि अब... तब गुरु नहीं आया। एक घंटा, दो घंटा, तीन घंटा, चार घंटा--उसने लिखा है कि छह घंटे!
और छह घंटे बाद गुरु आया और उसने कहा, "बेटे, तेरी प्रवेश-परीक्षा पूरी
हो गयी। तू भीतर आ, तू संकल्पवान युवक बनेगा। तेरे भीतर संकल्प है, तेरे भीतर विल है, तू जो चाहे कर सकता है। पांच-छह घंटे इस उम्र में आंख बंद करके बैठना बड़ी बात है।" उसने उसे छाती से लगा लिया और उसने उसे कहा, "तू हैरान मत होना, वे बच्चे तुझे सताने नहीं... सता नहीं रहे थे, वे बच्चे भेजे गये थे। उन्हें कहा गया था कि तुझे थोड़ा परेशान करेंगे ताकि तेरा आंख खोलने का ख्याल आ जाये।"
उस लामा ने लिखा है, उस वक्त तो मैं सोचता था मेरे साथ बड़ी कठोरता बरती
जा रही है, लेकिन अब जीवन के अंत में मैं धन्यवाद से भरा हूं उन लोगों के प्रति जो मेरे प्रति कठोर थे। उन्होंने मेरे भीतर कुछ सोयी हुई चीजें पैदा कर दीं, कोई सोया हुआ बल जग गया।

लेकिन हम उल्टा कर रहे हैं--बच्चे को डांटना भी मत, मारना भी मत! और अभी
तो सारी दुनिया में कार्पोरल पनिशमेंट बिल्कुल बंद कर दिया गया है। बच्चे को कोई चोट नहीं पहुंचायी जा सकती, कोई शारीरिक दंड नहीं दिया जा सकता। यह निहायत बेवकूफी से भरी बात है, क्योंकि जिन बच्चों को किसी तरह का दंड नहीं दिया जा सकता--दंड अत्यंत प्रेमपूर्ण था, वह शत्रुता नहीं थी बच्चों के प्रति--क्योंकि उनके भीतर सोये हुए कुछ सेंटर्स, उसी के अंतर्गत जागते थे। उनके भीतर रीढ़ खड़ी होती थी, मजबूत होती थी। उनके भीतर कोई बल पैदा होता था। उनके भीतर क्रोध भी जगता था और अभिमान भी जगता था और उनके भीतर कोई रीढ़ खड़ी होती थी।
हम बेरीढ़ के आदमी पैदा कर रहे हैं, जो जमीन पर सरक सकते हैं लेकिन बाज पक्षियों की तरह आकाश में नहीं उड़ सकते। एक सरकता हुआ, रेंगता हुआ आदमी हम पैदा कर रहे हैं जिसके पास कोई रीढ़ नहीं। और हम सोचते हैं कि हम दया और प्रेम और नीति के अंतर्गत यह कर रहे हैं। और उसको भी हम यही सिखाते हैं कि क्रोध मत करना, उसको भी हम यही सिखाते हैं कि तेरे भीतर कोई तेजस्विता प्रगट न हो, तू बिल्कुल शांत और ढीला-ढाला आदमी बनना, शिथिल।
इस आदमी के जीवन की कोई आत्मा नहीं हो सकती, इस आदमी के भीतर कोई आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा के लिए जैसी तीव्र सारे हृदय की भावनाएं होनी चाहिए, वे उसके भीतर कोई भी नहीं होने वाली हैं।
एक मुसलमान खलीफा था उमर। एक शत्रु से बारह वर्षों से उसका युद्ध चलता था। बामुश्किल आखिरी लड़ाई में उसने शत्रु के घोड़े को मार डाला और उसकी छाती पर सवार हो गया, शत्रु के। उसने भाला उठाया और वह छाती में छेदने को था, तभी उस शत्रु ने उमर के ऊपर थूक दिया। उमर ने भाला अलग फेंक दिया, उठकर खड़ा हो गया। वह शत्रु हैरान हुआ। उसने कहा कि उमर, बारह वर्षों के बाद ऐसा अवसर तुम्हें मिला था, इसे क्यों चूकते हो? उमर ने कहा, "मैं तो सोचता था कि तू मेरे मुकाबले का दुश्मन है, लेकिन थूककर तूने मेरे मुंह पर ऐसी नीचता प्रगट की है कि अब तुझे मारने का कोई सवाल नहीं रहा। तूने ऐसी नीचता जाहिर की है, जो एक बहादुर का लक्षण नहीं। मैं तो सोचता था कि तू मेरे मुकाबले का आदमी है, इसलिए बारह साल से लड़ाई चलती थी।
लेकिन जब भाला उठाकर मैं तेरे ऊपर मारने लगा, तूने मेरे ऊपर थूक दिया
जो एक बहादुर का लक्षण नहीं। तो तुझे मारकर मारने का पाप लेने वाला मैं हूं--दुनिया क्या कहेगी कि कमजोर आदमी को मारा, जो थूकने की ताकत रखता था और कोई ताकत नहीं। इसलिए बात खतम हो गयी, अब तुझे मारने का पाप मैं लेने वाला नहीं हूं।
ये जो लोग थे, अदभुत लोग थे। दुनिया में अस्त्र-शस्त्रों और मशीनों की ईजाद ने आदमी के भीतर जो भी महत्वपूर्ण था, उस सबको नष्ट कर दिया। सीधी लड़ाइयों का अपना मूल्य था। मनुष्य के भीतर छिपी हुई चीजों को वे प्रगट कर देती थीं। आज एक सैनिक कोई सीधी लड़ाई नहीं लड़ता। हवाई जहाज में उड़कर बम पटक देता है, उससे बहादुरी का कोई संबंध नहीं। उससे भीतर के गुणों का कोई वास्ता नहीं। एक मशीनगन पर बैठकर बटन दबाता रहता है, उससे कोई वास्ता नहीं।
तो आदमी की जिंदगी में जो भी छिपा हुआ था, उसके जगने की सारी संभावना क्षीण हो गयी और तब आदमी इतना दीन-हीन, इतना दुर्बल दिखायी पड़ता है तो कोई आश्चर्य नहीं है! उसका आथेंटिक बींइग पैदा ही नहीं हो पाता। उसके भीतर सारे तत्व जुड़कर खड़े नहीं हो पाते।
और हमारी शिक्षायें सब हैरानी से भरने वाली हैं। मेरी दृष्टि में मनुष्य के भीतर के सारे गुणों का तीव्रतम, चरम विकास होना चाहिए, पहली बात। और चरम विकास हो तो ही इस चरम बिंदु पर ट्रांसफार्मेशन हो सकता है। सब परिवर्तन चरम बिंदुओं पर होते हैं, नीचे कोई परिवर्तन नहीं होते। पानी को हम गरम करते हैं तो पानी कुनकुना होकर भाप नहीं बनता। कुनकुना पानी भी पानी ही होता है, लेकिन सौ डिग्री पर जब चरम, अपनी गर्मी को उपलब्ध होता है तो एक क्रांति होती है। पानी भाप बनना शुरू हो जाता है। पानी सौ डिग्री पर भाप बनता है, और उसके पहले भाप नहीं बनता; कुनकुना पानी भाप नहीं बनता है।

हम सब कुनकुने आदमी हैं, हमारी जिंदगी में भी कोई परिवर्तन नहीं होते। हमारी जिंदगी में भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकते, क्योंकि एक विशिष्ट डिग्री तक हमारे चित्त की, हमारे हृदय की सारी शक्तियां विकसित होनी चाहिए तो उनमें क्रांति हो सकती है, तो उनमें परिवर्तन हो सकता है। क्रोध की एक ठीक-ठीक तेजस्विता उपलब्ध हो तो ही क्षमा में परिवर्तन हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता।
लेकिन हम तो क्रोध के शत्रु हैं, हम तो लोभ के शत्रु हैं, हम तो राग के शत्रु हैं, तो हम कुनकुने आदमी हो जाते हैं, ल्यूकवार्म आदमी हो जाते हैं।
बस कुनकुना-कुनकुनी जिंदगी रहती है, उसमें कोई क्रांति कभी नहीं हो पाती। और इस कुनकुनेपन का इतना घातक मनुष्य के ऊपर असर हुआ है जिसका कोई हिसाब नहीं।
मेरी दृष्टि में यह पहली बात ध्यान में लेने की है कि हमारे व्यक्तित्व के, हमारे हृदय के सारे गुण ठीक से विकसित हों और ठीक से विकसित क्रोध भी एक अपना सौंदर्य रखता है, जो हमें दिखायी नहीं पड़ता है। ठीक से विकसित क्रोध का भी अपना सौंदर्य है, ठीक से विकसित क्रोध का भी व्यक्तित्व में अपना तेज है, अपनी ऊर्जा है, अपना अर्थ है, अपना मीनिंग है। वह व्यक्तित्व को अपने ढंग का सहयोग देता है, अपना कंट्रीब्यूशन करता है, व्यक्तित्व को अपना दान देता है। हृदय की जितनी भावनाएं हैं, वे सब तीव्रतम रूप से विकसित होनी चाहिए।
और, पहली बात--विध्वंस नहीं, उनका विकास।
दूसरी क्या बात है! दूसरी बात है, दमन नहीं, दर्शन। क्योंकि जितना हम हृदय की भावनाओं का दमन करते हैं उतना ही हृदय हमारा अचेतन और अनकांशस होता चला जाता है।
जिस चीज को हम दबाते हैं वह हमारी आंख से ओझल और अंधेरे में सरक जाती
है। हृदय की सारी शक्तियों का स्पष्ट दर्शन होना चाहिए। अगर आपको क्रोध आ जाये तो राम-राम जपकर उसको दबाने की कोशिश मत करिये। क्रोध आ जाये तो एकांत कमरे में बैठकर, द्वार बंद करके क्रोध पर ध्यान करिये। उस क्रोध को पूरी तरह देखिये कि यह क्रोध क्या है, यह क्रोध की शक्ति क्या है? मेरे भीतर यह क्रोध कहां से पैदा होता है, क्यों पैदा होता है, किस भांति मेरे चित्त को घेर लेता है, और मुझे प्रभावित... ?
एकांत में मेडिटेशन करिये क्रोध पर, ध्यान करिये क्रोध पर। क्रोध को पूरा देखिये, समझिये, पहचानिये--कहां से पैदा होता है, क्यों पैदा होता है? तो आप धीरे-धीरे क्रोध के मालिक हो जायेंगे। और जो आदमी अपने क्रोध का मालिक हो जाता है, उसके हाथ में एक बड़ी शक्ति आ गयी, उसके हाथ में एक बड़ा बल आ गया। वह आदमी बलशाली हो गया, वह आदमी आत्मबली हो गया।
तो क्रोध से लड़ने का उतना सवाल नहीं है, जितना क्रोध को जानने का सवाल है। क्योंकि स्मरण रखें, ज्ञान से बड़ी कोई भी शक्ति नहीं है और अपनी ही शक्तियों से लड़ने से बड़ी कोई मूर्खता नहीं है। क्योंकि जो अपनी ही शक्तियों से लड़ता है वह इसी तरह की गलती कर रहा है, जैसे कोई आदमी अपने ही दोनों हाथों को लड़ाने लगे। तो दोनों हाथ लड़ेंगे, कोई हाथ जीत नहीं सकेगा कभी भी, क्योंकि दोनों हाथ मेरे ही हैं, दोनों हाथों के पीछे से मैं ही लड़ रहा हूं। दोनों हाथों में मेरी ही शक्ति प्रवाहित हो रही है, तो दोनों हाथों की लड़ाई में मेरी ही शक्ति नष्ट हो रही है। कोई जीत नहीं सकता। दोनों हाथों में न तो बायां जीतेगा, न तो दायां जीतेगा। एक बात तय है कि दोनों हाथों की लड़ाई में मैं हार जाऊंगा। मेरी सारी शक्ति व्यर्थ और अपव्यय हो जायेगी।
जब आप क्रोध से लड़ते हैं तो क्रोध में जो शक्ति है वह किसकी है? वह आपकी ही है। क्रोध में जो शक्ति प्रगट हो रही है वह आपकी है, जो लड़ रहा है वह आप हैं। आप अपने को ही तोड़कर लड़ेंगे तो आप खंडित से खंडित होते चले जायेंगे, डिसइंटीग्रेशन इसका परिणाम होगा, आप अखंड व्यक्ति नहीं रह जायेंगे। और अपने ही भीतर जो व्यक्ति अपने से ही लड़ता है, पराजय के अतिरिक्त उसके जीवन में कोई उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। हो ही नहीं सकती,

वह असभंव है। लड़िये मत, जानिये अपनी शक्तियों को, पहचानिये, उनसे परिचित हो जाइए।
इसलिए दूसरा सूत्र हैः दमन नहीं, दर्शन। सप्रेस मत करिए। जब भी, जो भी शक्ति भीतर उठती है--हम एक अपरिचित शक्तियों का समूह हैं। हम बहुत अनजान शक्तियों का केंद्र हैं, जिन शक्तियों का हमें कोई परिचय नहीं, कोई बोध नहीं। हजारों साल पहले भी आकाश में बिजली चमकती थी, आदमी डरता था, भयभीत होता था, हाथ जोड़कर बैठ जाता था, कि भगवान आप नाराज हो गए हैं, यह क्या हो गया है, घबराता था! बिजली जो थी वह भय का कारण थी। लेकिन आज हम जानते हैं, बिजली हमने बांध ली है, आज बिजली भय का कारण न रही, सेवक बन गयी। आज घर-घर में उससे प्रकाश होता है, बीमार का इलाज होता है, मशीन चलती है। आदमी की सारी जिंदगी आज उससे प्रभावित है, उससे संचालित है, उसकी मालिक हो गयी। लेकिन हजारों साल तक आदमी सिर्फ डरता था क्योंकि बिजली को जानता नहीं था कि बिजली क्या है। एक बार जान लिया कि क्या है, तो हम उसके मालिक हो गये। ज्ञान मालिक बना देता है। हमारे भीतर भी बहुत बिजलियों से भी बड़ी ताकतें प्रज्वलित हैं, चमकती हैं। क्रोध चमकता है, घृणा चमकती है, प्रेम चमकता है, हम घबरा जाते हैं, डर जाते हैं कि यह क्या हो रहा है, क्योंकि इन सारी शक्तियों को हम जानते नहीं कि ये क्या हैं!
अपनी जिंदगी को एक प्रयोगशाला बनाइये और भीतर की उन सारी ताकतों को जानने, निरीक्षण करने, पहचानने के प्रयास में संलग्न हो जाइये। भूलकर भी दमन तो करिये मत, भूलकर भयभीत मत होइये, लेकिन जो भी भीतर है उसे जानने की फिक्र करिये। क्रोध आ जाये तो सौभाग्य समझिये और जो आदमी क्रोध में आपको ला दे उसको धन्यवाद दीजिये कि उसने एक मौका दिया है। आपके भीतर एक ताकत जग गयी है, अब आप उसको देख सकेंगे। और एकांत में उस ताकत को शांति से देखिये, पहचानिये, खोजिये--वह क्या है?
जितना आपका यह जानना बढ़ेगा, जितनी आपकी यह अंडरस्टेंडिंग गहरी होगी, उतने ही आप अपने क्रोध के मालिक हो जायेंगे, उतना ही आप पायेंगे, वह आपके हाथ में खेलने वाली एक ताकत हो गयी है। और जिस दिन आप क्रोध के मालिक हैं उस दिन आप क्रोध को परिवर्तित कर सकते हैं, उसको बदल सकते हैं।
जिसके हम मालिक हैं उसे हम बदल सकते हैं, जिसके हम मालिक नहीं उसे हम बदलेंगे कैसे? और जिससे आप लड़ते हैं, ध्यान रखें, उसके आप मालिक कभी भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि शत्रु का मालिक होना असंभव है, केवल मित्र का ही मालिक हुआ जा सकता है, और अपने ही भीतर की ताकतों के अगर आप शत्रु हो गये, तो आप कभी उनके मालिक नहीं हो सकते।
प्रेम के अतिरिक्त कोई विजय नहीं। यह जो भीतर सारी शक्तियों का अनंत भंडार है--न तो घबराइये इससे, न इसकी निंदा करिये, इसको पहचानने चलिए कि क्या-क्या छिपा है आदमी के भीतर।
आदमी के भीतर इतना छिपा है जिसका कोई हिसाब नहीं। हम अभी आदमी की शुरुआत भी नहीं हैं। दस-पच्चीस हजार साल में शायद जो आदमी होगा, हम उससे उतने ही फासले पर हो जायेंगे जैसे बंदर हमसे फासले पर हो गया। वह बिल्कुल नयी जाति हो सकती है, क्योंकि आदमी के भीतर कितनी शक्तियां हैं उनका अभी हमें कोई बोध नहीं।
वैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य के मस्तिष्क का अभी कोई आधे से ज्यादा हिस्सा बिल्कुल बेकार पड़ा हुआ है, उसका कोई उपयोग ही नहीं हो रहा है। मस्तिष्क का थोड़ा-सा हिस्सा काम कर रहा है, बाकी सारा हिस्सा बंद पड़ा है। यह जो बाकी हिस्सा है, यह व्यर्थ तो नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति में कुछ भी व्यर्थ नहीं है। हो सकता है आदमी का अनुभव, आदमी का ज्ञान विकसित हो तो यह बंद पड़ा हुआ हिस्सा भी सक्रिय हो जाये और काम करने लगे। और तब मनुष्य और क्या जान सके, उसके लिए हम कुछ भी नहीं कह सकते।
एक आदमी अंधा है तो उसके लिए प्रकाश जैसी चीज दुनिया में नहीं रह जाती। प्रकाश है ही नहीं उसके लिए। आंख नहीं है तो प्रकाश नहीं है। जिन प्राणियों के पास आंख नहीं है, उन्हें पता भी नहीं हो सकता है कि प्रकाश है भी जगत में। उन्हें कल्पना भी नहीं हो सकती, वे सपना भी नहीं देख सकते कि प्रकाश भी है जगत में। हमारे पास पांच इंद्र्रियां हैं। कौन कह सकता है कि

छठवीं इंद्रिय होती तो हम कुछ और चीजें जानते जो कि जगत में हों, कौन कह सकता है कि सात इंद्रियां होतीं तो हम और भी चीजें जानते जो कि जगत में हों! और कौन कह सकता है कि इंद्रियों की कितनी सीमा है, वे कितनी हो सकती हैं!
हम जो जानते हैं वह अत्यल्प है, और हम जो जीते हैं वह उससे भी अत्यल्प है। हमारे भीतर हम जितना जानेंगे, जितना भीतर प्रवेश करेंगे, जितना परिचित होंगे, उतना ही ज्यादा हमारी जीवन-शक्ति विकसित होती है और हमारी आत्मा सघन होती है।
दूसरा सूत्र ध्यान में लेने जैसा है, कि हम अपनी किसी भी शक्ति का दमन
न करें, बल्कि उसे जानें, पहचानें, खोजें, देखें। और इसी के साथ एक हैरानी का अनुभव आपको होगा कि अगर आप क्रोध को जानने गये, अगर आपने बैठकर शांति से क्रोध को देखने और दर्शन का प्रयास किया तो आप एक हैरानी से भर जायेंगे कि जैसा आप दर्शन करने को प्रवृत्त होंगे, वैसा ही क्रोध विलीन होगा। जैसे ही आप क्रोध को निरीक्षण करेंगे, वैसे ही क्रोध तिरोहित हो जायेगा। तब आपको एक बात दिखायी पड़ेगी कि क्रोध आपको पकड़ता है मूर्च्छा में। जब आप होश से भरते हैं तो क्रोध विलीन हो जाता है। अगर आपके मन में कामुक भावना उठी है और आप उसका निरीक्षण करने चले गये हैं तो आप पायेंगे, वह विसर्जित हो गयी है। तब आप पायेंगे कि काम पैदा होता है मूर्च्छा में और निरीक्षण करने से विलीन हो जाता है।
तो आपके हाथ में एक अदभुत सूत्र उपलब्ध हो जायेगा। वह यह कि मूर्च्छा
के अतिरिक्त क्रोध और काम और लोभ का मनुष्य के ऊपर कोई बल नहीं है। और जैसे ही वह निरीक्षण करता है, होश से भरता है, अवेअरनेस से भरता है, वैसे ही क्रोध विलीन हो जाता है।
एक मेरे मित्र थे, उनको बहुत क्रोध की बीमारी थी। वे मुझसे कहे, कि मैं
तो बहुत परेशान हो गया हूं और अब मेरे वश के बाहर है यह बात। आप ही कुछ रास्ता मुझे बता दें। मुझे कुछ भी न करना पड़े, क्योंकि मैं तो हैरान हो गया हूं। मुझे अब आशा नहीं रही कि मैं कुछ कर सकता हूं, इस क्रोध के बाहर हो सकता हूं।
मैंने उन्हें एक कागज पर लिखकर दे दिया एक छोटा-सा वचन कि "अब मुझे क्रोध आ रहा है।" और मैंने कहा, इस कागज को अपनी खीसे में रखें और जब भी आपको क्रोध आये, निकालकर कृपा करके इसको पढ़ लें और फिर वापिस रख दें। मैंने कहा, इतना तो आप कर ही सकते हैं। इससे ज्यादा तो... यह तो इतना अत्यल्प है कि इससे कम और करने के लिए क्या आपसे प्रार्थना की जाये। इस कागज को पढ़ लिया करें और वापस रख लिया करें। उन्होंने कहा हां, यह मैं कोशिश करूंगा।
कोई दो-तीन महीने बाद मुझे मिले। मैंने कहा, क्या हिसाब? उन्होंने कहा, मैं तो हैरान हो गया। इस कागज ने तो मंत्र का काम किया। क्रोध आता और मैं इसको निकालता हूं। निकालता हूं तभी मेरे हाथ-पैर ढीले हो जाते हैं। हाथ खीसे में डाला और मुझे ख्याल आया कि क्रोध आ रहा है। कोई बात ढीली हो जाती है, भीतर से वह पकड़ चली जाती है, वह जो ग्रिप है क्रोध की, वह जो प्राणों को पकड़ लेने की बात है पंजे में, वह बात एकदम ढीली पड़ जाती है। हाथ खीसे में गया और उधर हाथ ढीला पड़ा और अब तो पढ़ने की भी जरूरत नहीं पड़ती। क्रोध आने का ख्याल आता है कि वह भीतर खीसे में पड़ी चिट दिखायी पड़ने लगती है।
वह मुझसे पूछने लगे कि इस चिट का ऐसा कैसे परिणाम हुआ है, इसका क्या रहस्य है? मैंने कहा, इसमें कोई भी रहस्य नहीं है, सीधी-सी बात है। चित्त की जो भी विकृतियां हैं, चित्त की जो भी अराजकताएं हैं, चित्त का जो भी असंतुलन है वह मूर्च्छा में ही पकड़ता है, होश आया कि वह विलीन हो जाता है। तो निरीक्षण के दो फल होंगे--ज्ञान विकसित होगा इन सारी शक्तियों का,
और ज्ञान मालिक बनाता है। और दूसरा परिणाम होगा कि ये शक्तियां जिस रूप में अभी पकड़ती हैं पागल की तरह, उस रूप में इनके पकड़ने की सामर्थ्य क्षीण हो जायेगी, शिथिल हो जायेगी। और धीरे-धीरे आप पायेंगे कि पहले तो क्रोध आ जाता है तब आप निरीक्षण करते हैं। फिर धीरे-धीरे आप पायेंगे, क्रोध आता है

और साथ ही निरीक्षण आ जाता है। फिर धीरे-धीरे आप पायेंगे, क्रोध आने को होता है और निरीक्षण आ जाता है। और जिस दिन क्रोध के पहले निरीक्षण का बोध आ जाता है उस दिन क्रोध के पैदा होने की कोई संभावना नहीं रह जाती, कोई विकल्प नहीं रह जाता।
पश्चात्ताप मूल्य का नहीं है, पूर्व-बोध मूल्य का है। क्योंकि पश्चात्ताप होता है पीछे। पीछे कुछ भी नहीं किया जा सकता, पीछे रोना-धोना बिल्कुल ही व्यर्थ है, क्योंकि जो हो चुका, उसे अब न करना असंभव है, जो हो चुका उसे अन-डन करना असंभव है। क्योंकि अतीत की तरफ लौटने की कोई गुंजाइश नहीं, कोई मार्ग नहीं, कोई द्वार नहीं। लेकिन जो नहीं हुआ, उसे बदला जा सकता है। पश्चात्ताप का मतलब ही यह है कि पीछे जो जलन पकड़ लेती है। वह उसका कोई मतलब नहीं है, वह बिल्कुल ना-समझी से भरा हुआ है। क्रोध किया वह गलती हो गयी और फिर पश्चात्ताप किया वह दोहरी गलती हो रही है। वह व्यर्थ ही आप परेशान हो रहे हो, उसका कोई मूल्य नहीं है। पूर्व-बोध, पूर्व-बोध तब विकसित होगा जब हम निरीक्षण करें, धीरे-धीरे चित्त की सारी वृत्तियों का निरीक्षण करें।
दूसरा सूत्र हैः दर्शन, दमन नहीं।
और तीसरा सूत्र हैः रूपांतरण, ट्रांसफार्मेशन। चित्त की प्रत्येक वृत्ति रूपांतरित होती है, हो सकती है। हर चीज के अनेक रूप हैं, हर चीज अपने से विपरीत रूपों में भी परिवर्तित हो सकती है। ऐसी कोई भी वृत्ति नहीं है, ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो शुभ की दिशा में, मंगल की दिशा में प्रवाहित न की जा सके। और स्मरण रखें कि जो चीज अशुभ बन सकती है, वह अनिवार्य-रूपेण शुभ बन सकती है। जो चीज अमंगल बन सकती है, वह अनिवार्य-रूपेण मंगल बन सकती है। मंगल और अमंगल, शुभ और अशुभ दिशाएं हैं। सिर्फ रूपांतरित, सिर्फ दिशा परिवर्तित हो और सारी चीज दूसरी हो जाती है।
एक आदमी दिल्ली के पास से भागा चला जा रहा था, और उसने किसी को पूछा कि दिल्ली कितनी दूर है? उस आदमी ने कहा, अगर आप सीधे ही भागे चले जाते हैं तो सारी पृथ्वी का चक्कर लगायेंगे तब दिल्ली उपलब्ध हो सकेगी, क्योंकि दिल्ली की तरफ आपकी पीठ है। और अगर आप पीछे लौट पड़ते हैं तो दिल्ली से ज्यादा निकट और कोई भी गांव नहीं है। दिल्ली केवल लौटने, पीछे देखने की बात है और आप दिल्ली पहुंच जायेंगे। वह आदमी भागे जा रहा है जिस दिशा में, उस दिशा में पूरी पृथ्वी की परिक्रमा करे तो ही पहुंच सकता है। और लौट पड़े तो पहुंचा ही हुआ है, अभी और यहीं पहुंच सकता है।
हम जिन दिशाओं में बहे जाते हैं उन दिशाओं में ही बहते रहें तो हम कहीं भी नहीं पहुंच सकते, पृथ्वी की परिक्रमा लेकर भी नहीं पहुंच सकते। क्योंकि पृथ्वी छोटी है और चित्त बड़ा है। पृथ्वी की परिक्रमा एक आदमी पूरी भी कर ले, लेकिन चित्त की परिक्रमा असंभव है, वह बहुत बड़ा है, बहुत विराट है, बहुत अनंत है। पृथ्वी की परिक्रमा पूरी भी हो जायेगी एक दिन, वह आदमी वापिस दिल्ली आ सकता है, लेकिन चित्त और भी बड़ा है पृथ्वी से, उसकी पूरी परिक्रमा बहुत लंबी है।
तो फिर लौटने का बोध, दिशा परिवर्तन का, वापिस लौटने का, रूपांतरण का बोध--तीसरी बात ध्यान में रखने की है।
अभी हम जैसे भी बहे जा रहे हैं, हम गलत बहे जा रहे हैं। तो गलत का क्या सबूत है? गलत का सबूत है कि हम जितने बहते हैं उतने खाली होते हैं, जितने बहते हैं उतने दुखी होते हैं, जितने बहते हैं उतने अशांत होते हैं, जितने बहते हैं उतने अंधकार से भरते हैं, तो निश्चित ही हम गलत बहे जा रहे हैं। आनंद एकमात्र कसौटी है जीवन की। जिस जीवन में आप बहे जा रहे हैं अगर वहां आनंद उपलब्ध नहीं होता है, तो जानना चाहिए आप गलत बहे जा रहे हैं। दुख गलत होने का प्रमाण है और आनंद ठीक होने का प्रमाण है, इसके अतिरिक्त कोई कसौटी नहीं। न किसी शास्त्र में खोजने की जरूरत है, न किसी गुरु से पूछने की जरूरत है। कसने की जरूरत है कि मैं जहां बहा जा रहा हूं वहां मुझे आनंद बढ़ता जा रहा है, गहरा होता जा रहा है--तो मैं ठीक जा रहा हूं। और अगर दुख बढ़ता जा रहा है, पीड़ा बढ़ती जा रही है, चिंता बढ़ती जा रही है--तो मैं गलत जा रहा हूं।

इसमें किसी को मान लेने का भी सवाल नहीं है। अपनी जिंदगी में खोज कर लेने का सवाल है कि हम रोज दुख की तरफ जाते हैं या रोज आनंद की तरफ जाते हैं। अगर आप अपने से पूछेंगे तो कठिनाई नहीं होगी।
बूढ़े भी कहते हैं कि हमारा बचपन बहुत आनंदित था। इसका मतलब क्या हुआ
कि वे गलत बह गये। क्योंकि बचपन तो शुरुआत थी जिंदगी की, और वे आनंदित थे और अब वे दुखी हैं। शुरुआत आनंद थी और अंत दुख ला रहा है तो जीवन गलत बहा। होना उल्टा चाहिए था। होना यह चाहिए था कि बचपन में जितना आनंद था वह रोज-रोज बढ़ता चला जाता। बुढ़ापे में आदमी कहता है कि बचपन सबसे दुख की स्थिति थी, क्योंकि वह तो जीवन का प्रारंभ था, वह तो जीवन की पहली कक्षा थी।
अगर एक विद्यार्थी विश्वविद्यालय में पढ़ने जाये और कहे कि पहली कक्षा में ज्यादा ज्ञान था और अब धीरे-धीरे ज्ञान कम होता जा रहा है तो हम कहेंगे कि तुम पढ़ रहे हो, तुम ज्ञान की तरफ बढ़ रहे हो? हद हैरानी की बात है! पहली कक्षा में अज्ञान ज्यादा था यह समझ में आने वाली बात थी, ज्ञान कम था यह समझ में आने वाली बात है, और अब ज्ञान बढ़ना था, अज्ञान कम होना था।
जीवन की पहली कक्षा में लोग कहते हैं कि बहुत सुख था। कवि गीत गाते हैं कि बचपन बड़ा आनंदपूर्ण था। पागल होंगे ये कवि। क्योंकि अगर बचपन आनंदपूर्ण था तो जिंदगी तुमने गंवायी, या जिंदगी उपलब्ध की! तो अच्छा था कि तुम बचपन में मर जाते तो तुम सुखी मर जाते। अब तुम व्यर्थ ही दुखी मरोगे। तो धन्यभागी हैं वे, जो बचपन में मर गये।
जो आदमी जितना जिंदा रह रहा है उतना आनंद बढ़ना चाहिए, लेकिन हमारा आनंद घटता है। वे कवि गलत नहीं कहते, वह जीवन के अनुभव की बात कह रहे हैं बेचारे! ठीक ही कह रहे हैं। हमारा आनंद घटता ही चला जाता है। रोज-रोज हमारा सब घटता चला जा रहा है, रोज बढ़ना था। तो हम कुछ गलत जाते हैं। हमारी जीवन-दिशा कुछ भूल भरे मार्गों पर प्रवाहित होती है। हमारी ऊर्जा कुछ गलत प्रवाहित होती है। इसकी निरंतर खोज-बीन, इसका परीक्षण, इसकी कसौटी मन में साफ होनी चाहिए। और अगर आपको साफ हो जाये कसौटी और खोज स्पष्ट हो जाए कि मैं गलत बह रहा हूं, तो ठीक बहने के लिए दुनिया में कोई आपको बाधा नहीं दे रहा है सिवाय आपके। अतिरिक्त आपके, इस जगत में आपको ठीक बहने के लिए कोई भी बाधा नहीं दे रहा है।
दो फकीर एक संध्या अपने झोपड़े पर पहुंचे। वे चार महीने से बाहर थे और
अब वर्षा आ गयी थी तो अपने झोपड़े पर वापस लौटे थे। लेकिन झोपड़े के करीब आकर, जो आगे युवा फकीर था, वह एकदम क्रोध से भर गया और दुखी हो गया। वर्षा की हवाओं ने आधे झोपड़े को उड़ा दिया था, आधा ही झोपड़ा बचा था। वे चार महीने भटककर आये थे इस आशा में कि वर्षा में अपने झोपड़े में विश्राम कर सकेंगे, पानी से बच सकेंगे, यह तो मुश्किल हो गयी। झोपड़ा आधा टूटा हुआ पड़ा था, आधा छप्पर उड़ा हुआ था।
उस युवा संन्यासी ने लौटकर अपने बूढ़े साथी को कहा कि यह तो हद हो गयी। इन्हीं बातों से तो भगवान पर शक आ जाता है, संदेह हो जाता है। महल खड़े हैं पापियों के नगर में, उनका कुछ बाल-बांका नहीं हुआ। हम गरीबों की झोपड़ी, जो दिन-रात उसी की प्रार्थना में समय बिताते हैं, वह आधी छप्पर टूट गयी। इसीलिए मुझे शक हो जाता है कि भगवान है भी! यह प्रार्थना है भी! क्या हम सब गलती में पड़े हैं, हम पागलपन में पड़े हैं? हो सकता है पाप ही असली सचाई हो, क्योंकि पाप के महल खड़े रह जाते हैं और प्रार्थना करने वालों के झोपड़े उड़ जाते हैं।
वह क्रोध से भर गया और निंदा से भर गया और उसे अपनी सारी प्रार्थनाएं व्यर्थ मालूम पड़ीं। लेकिन वह जो बूढ़ा साथी था, वह हाथ आकाश की तरफ जोड़कर खड़ा हो गया और उसकी आंखों से आनंद के आंसू बहने लगे। युवक तो हैरान हुआ! उसने कहा, क्या करते हैं आप? उस बूढ़े ने कहा, मैं परमात्मा को धन्यवाद देता हूं, क्योंकि जरूर ही... आंधियों का क्या भरोसा था, पूरा झोपड़ा भी उड़ाकर ले जा सकती थीं। भगवान ने यह बीच में कोई बाधा दी होगी इसलिए आधा छप्पर बचा। नहीं तो आंधियों का क्या भरोसा था, पूरा छप्पर भी उड़ सकता था। हम गरीबों की भी उसे फिक्र है और ख्याल है तो उसे धन्यवाद दे दें। हमारी प्रार्थनाएं

सुनी गयी हैं, हमारी प्रार्थनाएं व्यर्थ नहीं गयीं। नहीं तो आधा छप्पर बचना मुश्किल था।
फिर वे रात दोनों सोये। सोच ही सकते हैं आप, दोनों अलग-अलग ढंग से सोये। क्योंकि जो क्रोध और गुस्से से भरा था और जिसकी सारी प्रार्थनाएं व्यर्थ हो गयीं, वह रात भर करवट बदलता रहा और रात भर उसके मन में न मालूम कैसे-कैसे दुःस्वप्न चलते रहे, चिंताएं चलती रहीं। वह चिंतित था। वर्षा ऊपर खड़ी थी, बादल आकाश में घिर गये थे, आधा छप्पर उड़ा हुआ था, आकाश दिखायी पड़ रहा था। कल वर्षा शुरू होगी, फिर क्या होगा?
दूसरा बहुत गहरी नींद सोया, क्योंकि जिसके प्राण धन्यवाद से भरे हैं,
और ग्रेटीट्यूड से और कृतज्ञता से उसकी निद्रा जैसी सुखद निद्रा और किसकी हो सकती है! वह सुबह उठा और नाचने लगा और उसने एक गीत गाया और उस गीत में उसने कहा, कि हे परमात्मा! हमें पता भी न था कि आधे झोपड़े का इतना आनंद हो सकता है। अगर हमें पहले से पता होता तो हम तेरी हवाओं को कष्ट भी न देते, हम खुद ही आधा छप्पर अलग कर देते। ऐसी आनंददायी नींद तो मैं कभी सोया ही नहीं। आधा छप्पर नहीं था, तो जब भी रात आंख खुली तो तेरे आकाश के तारे भी दिखायी पड़े, तेरे घिरते हुए बादल भी दिखायी पड़े। अब तो बड़ा आनंद होगा, वर्षा आने को है, कल से पानी पड़ेगा, हम आधे छप्पर में सोये भी रहेंगे और रात तेरी बूंदों की आवाज, तेरी बूंदों का संगीत भी हमारे पास ही पड़ता रहेगा। हम पागल रहे अब तक। हमने कई बरसातें ऐसे ही पूरे छप्पर के भीतर छिपे हुए बिता दीं। हमें पता भी न था कि आधे छप्पर का भी कोई आनंद हो सकता है। अगर हमें मालूम होता, हम तेरी आंधियों को तकलीफ भी न देते, हम खुद ही आधा छप्पर अलग कर देते।
उस दूसरे युवक ने पूछा, कि मैं यह क्या सुन रहा हूं, यह सब क्या बकवास है? यह क्या पागलपन है? यह तुम क्या कहते हो?
तो उस बूढ़े ने कहा, मैंने बहुत खोजा और मैंने यह अनुभव कर लिया कि जिस बात से दुख बढ़ता हो वह जीवन-दिशा गलत है और जिस बात से आनंद बढ़ता हो वह जीवन-दिशा सही है। मैंने भगवान को धन्यवाद दिया, मेरा आनंद बढ़ा। तुमने भगवान पर क्रोध किया तुम्हारा दुख बढ़ा। तुम रात बेचैन रहे, मैं रात शांति से सोया। अभी मैं गीत गा पा रहा हूं और तुम क्रोध से जले जा रहे हो। बहुत पहले मुझे समझ में आ गया कि जो आनंद बढ़ाता है वही जीवन-दिशा सही है। और मैंने अपनी सारी चेतना को उसी तरफ प्रवाहित किया है। मुझे पता नहीं भगवान है या नहीं, मुझे पता नहीं उसने हमारी प्रार्थनाएं सुनी या नहीं सुनीं। लेकिन सबूत है मेरे पास कि मैं आनंदित हूं और नाच रहा हूं और तुम रो रहे हो और क्रोधित हो और परेशान हो। मेरा आनंद, मैं जैसा जी रहा हूं, उसके सही होने का सबूत है। तुम्हारा दुख, तुम जैसे जी रहे हो, उसके गलत होने का सबूत है।
तीसरी बात है, निरंतर इस बात का परीक्षण कि किन दिशाओं से मेरा आनंद घनीभूत होता है। किसी से पूछने जाने की कोई भी जरूरत नहीं है। वह रोज-रोज की जिंदगी में, रोज-रोज कसौटी हमारे पास है। आनंद की कसौटी है। जैसे पत्थर पर सोने को कसते हैं और जांच लेते हैं, क्या सही है और गलत है। और सुनार फेंक देता है, जो गलत है उसे एक तरफ और जो सही है उसे तिजोरी में रख लेता है।
आनंद की कसौटी पर रोज-रोज कसते रहें, क्या है सही और क्या है गलत! जो गलत है वह फिंक जायेगा, जो सही है उसकी संपदा धीरे-धीरे इकट्ठी हो जायेगी। ये तीन सूत्र सुबह के लिए। फिर रात्रि इस संबंध में कुछ और बातचीत होगी, तो वह आपसे बात की जा सकेगी।
अब हम सुबह के ध्यान के लिए बैठेंगे।
थोड़े फासले पर एक-दूसरे से बैठ जायेंगे तो ठीक होगा। थोड़े फासले से, एक-दूसरे से कोई छूता हुआ न हो। वे बात समझ लें, शायद कुछ मित्र नए हों। बहुत सीधी-सी, सरल-सी बात है जो करनी है। पर अकसर ऐसा होता है कि जो सरल बातें होती हैं, वे ही करने में कठिन मालूम पड़ती हैं। क्योंकि हमें सरल बातें करने की कोई आदत ही नहीं है। कठिन बातें करने की तो हम सबको आदत है लेकिन सरल बातें करने की कोई आदत नहीं है। यह बड़ी सरल-सी और सीधी-सी बात है

कि हम थोड़ी देर के लिए शरीर को बिल्कुल शिथिल और शांत छोड़ दें। आंखों को आहिस्ता से बंद करके बस बैठे रहेंगे, कुछ करेंगे नहीं। और फिर चुपचाप आसपास जो आवाजें होंगी उनको सुनते रहेंगे, सिर्फ सुनते रहेंगे। और सिर्फ सुनने, जस्ट लिसनिंग, भीतर एक शांति को और गहराई को पैदा करनी शुरू कर देगी।
जापान में तो ध्यान के लिए वे जो शब्द उपयोग करते हैं, वह शब्द भी बड़ा मजेदार है। उस शब्द को वे कहते हैं--झाझेन। और झाझेन का मतलब होता है, "जस्ट सिटिंग, डूइंग नथिंग।" इतना ही मतलब होता है, कुछ नहीं करना और चुपचाप बैठे रहना। ध्यान के लिए जो शब्द है जापानी में वह है--झाझेन--कुछ नहीं करना, बस बैठे रहना। बड़ा अर्थपूर्ण है। कुछ भी नहीं करना है, चुपचाप बैठे रहना है।
आंखें बंद हैं, कान खुले हुए हैं तो कान सुनते रहेंगे, तो चुपचाप सुनते रहें। चुपचाप सुनते रहें, सुनते रहें और सुनते ही सुनते आप पायेंगे कि भीतर एक गहरी शांति और शून्य पैदा होना शुरू हो गया है। उसी शून्य में निरंतर गति करनी है--गहरे से गहरे, गहरे से गहरे। उसी शून्य के द्वार से किसी दिन उसके दर्शन हो जाते हैं जो पूर्ण है। शून्य के मार्ग से इतनी उपलब्धि हो जाती है जो पूर्ण है। और ऐसे शांत होते-होते, होते-होते, पक्षियों को सुनते-सुनते, बाहर की आवाजों को सुनते-सुनते एक दिन वह आवाज सुनायी पड़ने लगती है, जो भीतर की आवाज है। तो चुपचाप बैठकर हम सुनेंगे। पहली बात--शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दें। आराम से, आंख आहिस्ता से बंद
कर लें। आंख की पलक धीरे-से छोड़ दें, कोई भार न पड़े आंख पर। आंख बंद कर लें, शरीर को ढीला छोड़ दें। बिल्कुल शांत बैठे जायें, सिर्फ बैठे हुए हैं और कुछ भी नहीं कर रहे हैं। ये चारों तरफ पक्षी हैं और आवाजें हैं, इनको चुपचाप सुनते रहें, सुनें। चारों तरफ की आवाज को सुनते रहें। बस सुनते रहें, और कुछ भी न करें। धीरे-धीरे भीतर कोई चीज शांत होती जाएगी, कोई चीज सैटल होती चली जाएगी। भीतर एक... बस सुनते जायेंगे, भीतर एक शांति उतरती आएगी। दस मिनिट के लिए चुपचाप सुनते रहें। बिल्कुल आराम से सुनते रहें... सुनते रहें... मन शांत हो गया, मन शांत हो गया, मन शांत हो गया, मन शांत हो गया, मन शांत हो गया। सुनते रहें... मन शांत हो गया। सुनते रहें... मन शांत हो गया, मन बिल्कुल शांत हो गया, मन शांत हो गया, मन शांत हो गया। बड़े गहरे सन्नाटे में... एक-एक आवाज सुनते रहें, पक्षी बोल रहे हैं, सुनें! ... एक-एक आवाज सुनते रहें....चिड़िया गीत गा रही हैं, सुनें. मन शांत होता जा रहा है....।
आज सुबह कि बैठक समाप्त।

साधना पथ
तेईसवां प्रवचन

"मैं" से मुक्ति

मेरे प्रिय आत्मन्!
आज शिविर की अंतिम बैठक है और बिदा की इस बैठक में कुछ अंतिम सूत्रों
पर मुझे आपसे बात करनी है।
मनुष्य के मस्तिष्क में, मनुष्य की बुद्धि में तीव्र तनाव है और यह तनाव विक्षिप्तता के करीब पहुंच गया है। इस तनाव को शिथिल कर लेना है। और ठीक इसके साथ ही मनुष्य के हृदय में बड़ी शिथिलता है, मनुष्य के हृदय के तार बहुत ढीले छूट गये हैं। उन्हें वापस कस लेना है। यह हृदय के तार कैसे कसे जायेंगे, इस संबंध में थोड़े-से सूत्र मैंने सुबह कहे। और अंतिम सूत्र की बात अभी करनी है।
मनुष्य के हृदय के तार ही मनुष्य की जीवन-वीणा के सबसे बड़े संगीत के स्रोत हैं। और जिस समाज के पास हृदय खो जाता है और जिस मनुष्य के पास और जिस सदी के पास हृदय क्षीण हो जाता है, उस सदी और उस युग के पास जो भी श्रेष्ठ है, जो भी सुंदर है, जो भी सत्य है, वह सब भी विलीन हो जाता है। और अगर हम चाहते हैं कि सत्य, सुंदर और शिव जीवन में प्रविष्ट हो तो बिना हृदय के तारों को वापस संयोजित किए कोई और रास्ता नहीं है।
हृदय के तार-संयोजन की, हृदय के तारों के ठीक-ठीक अवस्था में आ जाने की, जहां संगीत पैदा हो सके, जो दिशा है, उस दिशा का नाम ही प्रेम है। इसलिए मैं प्रेम को प्रार्थना भी कहता हूं, प्रेम को प्रभु-प्राप्ति का मार्ग भी कहता हूं, प्रेम को परमात्मा भी कहता हूं। प्रेम के अतिरिक्त जो प्रार्थना है वह झूठी और थोथी और व्यर्थ है। प्रेम के अतिरिक्त प्रार्थना के जो शब्द हैं उनका कोई भी मूल्य नहीं। और प्रेम के अतिरिक्त जो परमात्मा की तरफ यात्रा करने को उत्सुक हुआ हो, वह कभी भी परमात्मा तक नहीं पहुंच सकेगा। प्रेम सूत्र है हृदय की वीणा को संगीतपूर्ण बनाने का। प्रेम के संबंध में ही कुछ समझ लेना जरूरी है।
पहला तो भ्रम यह है कि हम सोचते हैं, हम सभी प्रेम को जानते हैं। यह भ्रम इतना घातक है जिसका कोई हिसाब नहीं। क्योंकि जो चीज हमें जानी हुई प्रतीति होती है; उसकी साधना की तरफ, उसे जगाने की तरफ हम कोई प्रयास नहीं करते हैं।
मनुष्य-जाति को बड़े से बड़े इल्यूजन, बड़े से बड़े जो भ्रम हैं, उनमें एक भ्रम यह है कि हम प्रेम को जानते हैं। हर आदमी को यह भ्रम है कि हम प्रेम को जानते हैं। लेकिन हमें यह पता ही नहीं कि जो प्रेम को जान लेगा वह साथ ही परमात्मा को जानने की क्षमता को भी उपलब्ध हो जाता है। अगर हम प्रेम को जानते हैं तो जीवन में कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है, लेकिन हमारे जीवन में तो सभी कुछ जानने को शेष हैं। तो जिस प्रेम को हम प्रेम समझते हैं वह प्रेम नहीं होगा, हमने किसी और ही बात को प्रेम समझ लिया होगा। हमने चित्त की किसी और ही दशा को प्रेम का नाम दे दिया होगा। और जब तक यह भ्रम न टूट जाये तब तक, जब हमें ख्याल ही है कि प्रेम हमें उपलब्ध है, तो हम प्रेम की तलाश और खोज कैसे करेंगे? इसलिए पहली बात तो यह ध्यान में लेने की है कि हमें प्रेम का कोई भी पता नहीं है।
जीसस क्राइस्ट एक दोपहर, भरी दोपहरी में, तेज धूप में रास्ते के किनारे एक बगिया के वृक्ष के नीचे रुके। धूप थी तेज और वे थके-मांदे थे। वृक्ष की छाया के तले सोए रहे। उन्हें पता भी न था कि वह मकान किसका है, वह वृक्ष किसका है, वह बगीचा किसका है। उस जमाने की एक अत्यंत सुंदरी, वेश्या का वह बगीचा था, मेग्दलीन का।
मेग्दलीन ने अपनी खिड़की से झांककर देखा, कोई एक अदभुत व्यक्ति वृक्ष
के नीचे सोया है। ऐसा सुंदर व्यक्ति उसने कभी भी नहीं देखा था। क्योंकि एक सौंदर्य तो शरीर का है और एक सौंदर्य आत्मा का भी है। शरीर का सौंदर्य तो बहुत दिखाई पड़ता है, आत्मा का सौंदर्य कभी-कभी दिखाई पड़ता है। और फिर आत्मा का सौंदर्य प्रगट होता है तो कुरूप से कुरूप शरीर भी सुंदरतम बन

जाता है। उसने बहुत सुंदर लोग देखे थे। उसके द्वार पर सुंदर लोगों की भीड़ लगी रहती थी। उसके द्वार पर सभी को प्रवेश मिलना मुश्किल था। लेकिन ऐसा सुंदर आदमी उसने कभी देखा ही न था। वह मेग्दलीन जैसे किसी जादू से खिंची हुई वृक्ष के नीचे पहुंच गई।
जीसस क्राइस्ट उठकर जाने को थे, उनका विश्राम पूरा हो गया था। मेग्दलीन ने कहा कि आप इतनी कृपा नहीं करेंगे कि मेरे घर में चलकर विश्राम करें। क्राइस्ट ने कहा, मैंने विश्राम किया और यह तुम्हारा ही घर था, तुम्हारा ही वृक्ष था, अब तो मेरे चलने का समय आ गया है, मैं चलूं। लेकिन फिर कभी थका-मांदा इस राह से गुजरा तो जरूर तुम्हारे मकान में विश्राम करूंगा।
मेग्दलीन को यह बात अपमानजनक मालूम पड़ी। बड़े-बड़े राजकुमार उसके द्वार से खाली हाथ लौट जाते थे, द्वार ही नहीं खुलते थे। एक राह चलते भिखारी को उसने कहा था कि मेरे घर में विश्राम करें, और वह आदमी इनकार करता था। मेग्दलीन के लिए यह बात अपमानजनक थी। उसने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं, किंचित नहीं। आपको भीतर चलना ही पड़ेगा कि आप मेरे प्रेम के लिए इतना भी नहीं कर सकेंगे कि मेरे घर में दो क्षण विश्राम करें!
क्राइस्ट ने कहा, तुमने कहा तो मैं तुम्हारे घर में प्रवेश पा ही गया। क्योंकि कहने के अतिरिक्त और घर कहां है। तुमने कहा तो मैं तुम्हारे घर में पहुंच गया। और तुम अगर यह कहती हो कि क्या मैं इतना प्रेम नहीं दिखा सकूंगा! तो मैं तुमसे कहूंगा कि तुमने बहुत लोग देखे होंगे जिनने तुमसे कहा होगा कि हम तुम्हें प्रेम करते हैं, उनमें से कोई भी तुम्हें प्रेम नहीं करता था। जबकि वे प्राण से किसी और ही चीज को प्रेम करते हैं। और मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि मैं ही सही अर्थों में, थोड़े-से लोगों में से एक हूं, जो तुम्हें प्रेम करता हूं और प्रेम कर सकता हूं। क्योंकि प्रेम वही कर सकता है जिसके हृदय में प्रेम उत्पन्न हो गया हो।
हम सब प्रेम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हमारे भीतर प्रेम की कोई धारा
ही नहीं है। और जब हम कहते हैं किसी को कि हम प्रेम करते हैं तो असल में हम प्रेम नहीं करते हैं, हम उससे प्रेम मांगते हैं। हम सभी प्रेम मांगते हैं। और जो खुद ही प्रेम मांग रहा है वह प्रेम कैसे दे सकेगा!
भिखमंगे सम्राट कैसे हो सकते हैं? मांगने वाले देने वाले कैसे हो सकते हैं?
हम सभी एक-दूसरे से प्रेम मांगते हैं। हमारे प्राण भिखारी हैं। हम मांगते हैं कि कोई हमें प्रेम दे दे। पत्नी पति से प्रेम मांगती है, पति पत्नी से प्रेम मांगता है। मां बेटे से प्रेम मांगती है, बेटे मां से प्रेम मांगते हैं। मित्र मित्र से प्रेम मांगते हैं। हम सब एक-दूसरे से प्रेम मांगते हैं, बिना यह जाने हुए कि हम जिससे प्रेम मांग रहे हैं, वह भी हमसे प्रेम मांग रहा है। दो भिखारी एक-दूसरे के सामने झोली फैलाये हुए खड़े हैं।
जब तक कोई आदमी प्रेम मांगता है, तब तक वह प्रेम देने में समर्थ नहीं
हो सकता है। प्रेम की मांग इस बात की खबर है कि उसके भीतर प्रेम का झरना नहीं है, अन्यथा वह बाहर से प्रेम क्यों मांगता। प्रेम वही दे सकता है जिसका प्रेम की मांग के ऊपर उठना हो गया है, जो देने में समर्थ हो गया है। प्रेम एक दान है, भिक्षा नहीं। प्रेम एक मांग नहीं है, प्रेम एक भेंट है। प्रेम भिखारी नहीं है, प्रेम सम्राट है। प्रेम सिर्फ देना ही जानता है, मांगना जानता ही नहीं।
हम प्रेम को जानते हैं? मांगने वाला प्रेम प्रेम नहीं हो सकता है। और स्मरण रहे कि जो प्रेम को मांगता है उसे इस जगत में कभी भी प्रेम नहीं मिल सकेगा। जीवन के कुछ अनिवार्य नियमों में से, शाश्वत नियमों में से, एक नियम यह है कि जो प्रेम को मांगता है, उसे प्रेम कभी नहीं मिलता है। जो प्रेम बांटता है उसे प्रेम मिलता है। लेकिन उसे प्रेम की कोई मांग नहीं होती। जो प्रेम मांगता है, उसे प्रेम मिलता ही नहीं।
प्रेम तो उसी द्वार पर आता है जिस द्वार पर प्रेम की मांग मिट जाती है। जो मांगना बंद कर देता है, उसके घर पर वर्षा शुरू हो जाती है। और जो

मांगता रहता है उसका घर बिना वर्षा के रह जाता है, क्योकि मांगने वाले चित्त की यह पात्रता नहीं कि प्रेम उसकी तरफ बहे। मांगने वाले चित्त की यह ग्राहकता नहीं है, रिसेप्टिविटी नहीं है कि प्रेम उस द्वार पर आये। वह तो देने वाला और बांट देने वाला चित्त ही उस ग्राहकता को, उस पात्रता को उपलब्ध होता है, जिस द्वार पर आकर प्रेम दस्तक देता है और कहता है मैं आ गया हूं, द्वार खोलो।
हमारे द्वारों पर प्रेम ने आकर कभी दस्तक दी है? नहीं दी है। क्योंकि
हम अभी प्रेम को देने में ही समर्थ नहीं हो सके हैं। और यह भी स्मरण रहे कि हम जो देते हैं वही हम पर, वापस हम पर लौट आता है। जीवन के दूसरे शाश्वत नियमों में से एक यह है कि हम जो देते हैं वही हम पर वापस लौट आता है।
सारा जगत एक प्रतिध्वनि से ज्यादा नहीं है। हम घृणा देते हैं, घृणा वापस लौट आती है, हम क्रोध देते हैं, क्रोध वापस लौट आता है। हम गालियां देते हैं, गालियां वापस लौट आती हैं। हम कांटे फेंकते हैं, कांटे वापस लौट आते हैं। हमें वही उपलब्ध हो जाता है जो हमने फेंका था, वही अनंतगुना होकर हम पर ही वापस लौट आता है। और अगर हम प्रेम बांटते हैं तो प्रेम भी अनंतगुना होकर हम पर वापस लौट आता है।
हम पर प्रेम अनंतगुना होकर वापस लौटा! अगर नहीं लौटा तो जान लेना कि प्रेम हमने बांटा नहीं और प्रेम हम बांटते कैसे? प्रेम हमारे पास है ही नहीं और प्रेम हमारे पास होता तो हम प्रेम को द्वार-द्वार मांगते हुए क्यों फिरते? हम जगह-जगह भिखारी क्यों बनते, हम क्यों मांगते कि हमें प्रेम चाहिए?
एक फकीर था फरीद। उसके गांव के लोगों ने उससे कहा, "फरीद, अकबर तुझे बहुत आदर देता है। अकबर से प्रार्थना कर कि हमारे गांव में एक स्कूल, एक मदरसा खुलवा दे।" फरीद ने कहा, "मैंने आज तक किसी से कुछ मांगा नहीं। मैं तो फकीर हूं, मैं तो सिर्फ देना ही जानता हूं।" गांव के लोग बड़े हैरान हुए! "हम तो समझते हैं कि फकीर मांगता है, तुम कहते हो फकीर देना ही जानता है? फिर भी हम पर कृपा करो। हम यह सूक्ष्म और गंभीर बातें नहीं समझ सकते। तुम तो कृपा करो और एक मदरसा खुलवा दो।"
गांव के लोग नहीं माने तो फरीद अकबर से मिलने गया। सुबह ही सुबह जल्दी पहुंच गया, ताकि घर ही मिलना हो जाये। अकबर उस समय अपनी मस्जिद में नमाज पढ़ रहा था। फरीद उसके पीछे जाकर खड़ा हो गया। अकबर की नमाज पूरी हो गयी, प्रार्थना पूरी हो गयी। तो उसने दोनों हाथ ऊपर उठाये और कहा, "हे परमात्मा! मेरे धन को बढ़ा, मेरी संपत्ति को बढ़ा, मेरे राज्य को बढ़ा।" फरीद वापस लौट पड़ा।
अकबर उठा, लौटकर देखा, फरीद वापस लौटता है। भागा, रास्ते पर रोका, और कहा कैसे आये और वापस लौट चले? फरीद ने कहा, "मैंने सोचा था कि तू एक सम्राट है। मैंने पाया कि तू भी एक भिखारी है। हमने सोचा था कि हम गांव के लिए मांग लेंगे एक मदरसा। हमें पता भी नहीं था कि तू भी मांगता है अभी कि धन और बढ़ जाये, संपत्ति और बढ़ जाये। और एक भिखारी से मांगना तो शोभा योग्य नहीं है। हम सोचे कि तू एक सम्राट है और पाया कि तू भी एक भिखारी है, तो हम वापस लौट जाते हैं।"
हम सभी भिखारी हैं और हम सभी भिखारियों से मांगे चले जा रहे हैं, वह जो उनके पास नहीं है। और जब हमें नहीं मिलता है तो हम रोते हैं, और चिल्लाते हैं, और दुखी होते हैं, और पाते हैं कि हमें प्रेम नहीं मिल रहा है।
प्रेम कहीं बाहर से मिलने वाली बात नहीं है। प्रेम तो भीतर के अंतस-जीवन का संगीत है। कोई प्रेम आपको दे नहीं सकता। प्रेम आपमें जन्म ले सकता है, लेकिन कोई बाहर से आपको मिल नहीं सकता है। न कहीं कोई दुकान है, न कहीं कोई बाजार है, न कहीं कोई बेचने वाला है कि जहां से आप प्रेम खरीद लें। किसी भी मूल्य पर प्रेम नहीं खरीदा जा सकता।
प्रेम तो अंतर्स्फुरण है। वह तो भीतर कोई सोयी हुई शक्ति का जाग जाना है। और हम सब प्रेम को बाहर खोजते हैं। हम सब प्रेम को प्रेमी में खोजते हैं जो कि बिल्कुल ही झूठी और फिजूल बात है।

प्रेम को खोजना है अपने में। और हमारी तो कल्पना में भी नहीं आ सकता
है कि स्वयं के भीतर प्रेम कैसे होगा। क्योंकि प्रेम हमें हमेशा प्रेमी का ख्याल दिलाता है, किसी और का ख्याल दिलाता है। लेकिन हमारे भीतर कैसे प्रेम पैदा होगा यह हमें स्मरण में नहीं है, इसलिए हमारे भीतर कोई शक्ति प्रेम की पड़ी ही रह जाती है। क्योंकि हमें ख्याल ही नहीं है हम बाहर मांगते रहते हैं उसे, जो कि हमारे भीतर था। और चूंकि हम बाहर मांगते रहते हैं इसलिए भीतर दृष्टि नहीं जाती, और भीतर जिसका जन्म हो सकता था उसका जन्म नहीं हो पाता है।
प्रेम प्रत्येक मनुष्य की अनिवार्य संपदा है जो जन्म के साथ ही लेकर
हर आदमी पैदा होता है। धन आदमी साथ लेकर पैदा नहीं होता। धन सामाजिक संपदा है, लेकिन प्रेम आदमी साथ लेकर पैदा होता है। वह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, वह उसकी निजी संपदा है, वह उसके साथ है, वह उसका पाथेय है; जो जन्म के साथ उसे मिला और जीवन-भर उसका साथ दे सकता है। लेकिन बहुत कम सौभाग्यशाली हैं जो भीतर देखते हैं कि प्रेम कहां है और कैसे खोजा जाये और कैसे जन्मे?
तो हम तो जन्म जाते हैं और हमारी संपदा की गठरी बंधी ही रह जाती है, वह खुल ही नहीं पाती है। और हम दूसरों के द्वारों पर भीख मांगते फिरते हैं, हाथ फैलाये फिरते हैं क्योंकि हमें प्रेम चाहिए। सारी दुनिया में एक ही मांग है कि हमें प्रेम चाहिए और सारी दुनिया में एक ही शिकायत है कि हमें प्रेम नहीं मिलता। और जब प्रेम नहीं मिलता है तो हम दोष देते हैं दूसरों को कि लोग बुरे हैं, इसलिए प्रेम नहीं मिलता। पत्नी पति को कहती है कि तुम गड़बड़ हो इसलिए प्रेम मुझे नहीं मिलता है। पति पत्नी को कहता है कि तुममें कुछ भूल है इसलिए मुझे प्रेम नहीं मिलता। हर एक, हर एक दूसरे को दोषी ठहराता है कि मुझे प्रेम नहीं मिल पाता। और इसका किसी को ख्याल ही नहीं है कि प्रेम कभी किसी को बाहर से मिलता है?
प्रेम आंतरिक संपदा है और प्रेम ही हृदय-वीणा का संगीत है। आदमी की हृदय-वीणा बड़ी गड़बड़ हो गयी है। उससे वह संगीत पैदा ही नहीं होता, जिसके लिए वह बनी है। यह संगीत कैसे पैदा हो सकता है? और कौन-सी बाधा इस संगीत के पैदा होने में खड़ी हो गयी है? और कौन-सी गांठ है जो गठरी को बांधे है और खुलने नहीं देती? कभी उस गांठ पर आपने ख्याल किया? कभी आपने सोचा कि वह गांठ क्या हो सकती है?
एक अभिनेता मर गया था। वह एक बहुत कुशल अभिनेता था, कुशल कवि था, नाटककार था। उसकी मृत्यु हो गयी थी। मरघट पर उसे बिदा करने बहुत लोग इकट्ठे हुए थे। जिस फिल्म कंपनी में वह अभिनेता था, उसका डायरेक्टर, उसका मालिक भी आया था। उस मालिक ने उस अभिनेता के शोक में बोलते हुए, दुख में बोलते हुए कुछ बातें कहीं।
उस मालिक ने कहा, "इस अभिनेता को अभिनेता बनाने वाला मैं ही हूं। यह मैं ही था जिसने इसे अंधकारपूर्ण गलियों से निकालकर प्रकाशित राजपथों पर पहुंचाया। यह मैं ही था जिसने सबसे पहले इसे पहले नाटक में जगह दी। मैं ही था जिसने इसकी पहली किताब प्रकाशित करवायी। मैं ही था जिसके कारण यह सारी दुनिया में ख्याति उपलब्ध कर पाया।" वह उतना ही कह पाया था, मैं भी उस मरघट पर मौजूद था, हो सकता है आप में से भी कोई मौजूद रहा हो। इतना ही वह कह पाया था कि वह मुर्दा जो बंधा हुआ पड़ा था, एकदम उठकर बैठ गया। और उसने कहा, एक्सक्यू.ज मी सर, माफ करिये मुझे, हू इज टू बी बरीड हियर--यू आर आई? इधर कब्र में किसको गड़ाया जाने वाला है, आपको या मुझको? आप किसके संबंध में बातें कर रहे हैं?
वह डायरेक्टर कहे चला जा रहा था कि मैं ही हूं जिसने इसे प्रकाश में लाया, मैं ही हूं जिसने इसकी किताब छपवायी, मैं ही हूं जिसने इसको नाटक में पहली जगह दी, मैं ही हूं... !
मुर्दा भी बरदाश्त नहीं कर सका इस "मैं" के शोरगुल को। वह उठ आया और कहा कि माफ करिये, एक बात बता दीजिये कि कब्र में किसको गड़ाया जाना है, मुझको या आपको? आप किसके संबंध में बोल रहे हैं? मुर्दे भी बरदाश्त नहीं

कर पाते इस "मैं" के स्वर को और हम जिंदा आदमी इस "मैं" के स्वर को गुंजाये चले जाते हैं! जिंदा आदमी कैसे बरदाश्त कर सकते हैं?
और आदमी के भीतर दो ही स्वर होते हैं। जिस आदमी के भीतर "मैं" का स्वर होता है, उसके अंदर प्रेम का स्वर नहीं होता है। और जिसके भीतर प्रेम का स्वर होता है, उसके भीतर "मैं" का स्वर नहीं होता है। ये दोनों एक साथ नहीं होते। यह असंभावना है।
यह वैसी ही असंभावना है जैसे एक बार अंधकार ने जाकर भगवान को यह प्रार्थना की थी कि सूरज मेरे पीछे पड़ा हुआ है, मुझे बहुत परेशान कर रहा है। सुबह से मेरा पीछा करता है, सांझ तक मुझे थका डालता है। और रात मैं सोकर विश्राम भी नहीं कर पाता कि दूसरे दिन फिर सुबह से मेरे पीछे पड़ जाता है। मेरी समझ में नहीं आता कि मैंने कभी कोई कसूर किया हो, कोई भूल-चूक की हो, कभी इसे नाराज किया हो। फिर क्यों मेरे पीछे यह चल रहा है, यह अनंत उपद्रव मेरे पीछे क्यों पड़ा हुआ है? मैंने क्या बिगाड़ा है?
फिर भगवान ने सूरज को बुलाया और कहा कि तुम बेचारे अंधकार के पीछे क्यों पड़े हो? वह वैसे ही छिपता फिरता है, जगह-जगह शरण लेता फिरता है और तुम उसका पीछा क्यों करते हो चौबीस घंटे, तुम्हें जरूरत!
सूरज ने कहा, कौन अंधकार? मेरा अब तक उससे मिलना भी नहीं हुआ। मैं उसे पहचानता भी नहीं हूं। कौन अंधकार? कैसा अंधकार? मैंने उसे अब तक देखा नहीं, मेरी कोई मुलाकात नहीं, लेकिन अगर भूल-चूक हो गयी हो अनजाने तो आप उसे मेरे सामने बुला दें, मैं क्षमा मांग लूं। मैं क्षमा मांगने को बिल्कुल तैयार हूं, और पहचान लूं तो फिर दुबारा उसका पीछा भी न करूं। सुनते हैं, इस बात को हुए भी हजारों-अरबों साल हो गये। वह भगवान की फाइल में बात वहीं पड़ी है। अभी तक भगवान अंधकार को सूरज के सामने ला नहीं सके और आगे भी न ला सकेंगे, यह मैं कहे देता हूं। वह कितने ही सर्वशक्तिशाली हों मगर अंधकार को सूरज के सामने लाने की शक्ति भी सर्वशक्तिशाली में नहीं है। क्योंकि अंधकार और सूरज एक साथ खड़े नहीं हो सकते।
नहीं खड़े हो सकते तो कुछ कारण हैं। कारण यह है कि अंधकार की अपनी कोई सत्ता नहीं है, कि सूरज के सामने खड़ा हो जाए। अंधकार तो केवल सूरज की अनुपस्थिति है, एब्सेंस है। तो एक ही चीज की एब्सेंस और प्र.ेजेंस एक ही साथ कैसे हो सकती है! एक ही चीज मौजूद और गैर-मौजूद, एक ही साथ कैसे हो सकती है? अंधकार तो केवल अनुपस्थिति है सूरज की, गैर-मौजूदगी है। अंधकार अपने आप में कुछ भी नहीं है। वह केवल सूरज का न होना है, वह केवल प्रकाश का न होना है। तो प्रकाश के सामने प्रकाश का न होना कैसे खड़ा हो सकता है? दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं? इसलिए भगवान समर्थ नहीं हो सकेंगे।
और भी एक चीज, इसी भांति अहंकार और प्रेम भी एक साथ नहीं हो सकते। अहंकार भी अंधकार की भांति है। वह प्रेम की अनुपस्थिति है, वह प्रेम की एब्सेंस है। वह प्रेम की मौजूदगी नहीं है। हमारे भीतर प्रेम अनुपस्थित है इसलिए हमारे भीतर "मैं" का स्वर, "मैं" का स्वर बजता चला जाता है, बजता चला जाता है। और हम इस "मैं" के स्वर को उठाकर कहते हैं, कि "मैं" प्रेम करना चाहता हूं, मैं प्रेम देना चाहता हूं, मैं प्रेम पाना चाहता हूं।" आप पागल हो गये हैं! "मैं" का और प्रेम का कोई संबंध न कभी हुआ है और न हो सकता है। और यही "मैं" प्रेम की आवाज किये चला जाता है--"मैं" प्रार्थना करना चाहता हूं, "मैं" परमात्मा को पाना चाहता हूं, "मैं" मोक्ष जाना चाहता हूं।
ये वैसी ही बातें हैं जैसे अंधकार कहे कि मैं सूरज से गले मिलना चाहता हूं, मुझे सूरज का आलिंगन करना है। मुझे सूरज से प्रेम करना है। मुझे तो सूरज के घर में मेहमान बनना है। अंधकार जैसी ही ये बातें कहे वैसी ही "मैं" की ये बातें हैं, कि मुझे प्रेम करना है, मुझे प्रार्थना करनी है, मुझे परमात्मा से मिलना है।
"मैं" के लिए यह द्वार नहीं है, क्योंकि "मैं" प्रेम की ही अनुपस्थिति है। "मैं" प्रेम का ही अभाव है और जितना हमारा यह "मैं" का स्वर हम मजबूत करते चले जायेंगे, उतना ही हमारे भीतर प्रेम की संभावना क्षीण होती चली

जायेगी। अहंकार जितना होगा, उतना ही प्रेम नहीं होगा; अहंकार पूरा हो जायेगा, प्रेम की पूरी मृत्यु हो जायेगी।
हमारे भीतर कोई प्रेम नहीं हो सकता है, क्योंकि हम खोजेंगे तो हम पायेंगे कि हमारे भीतर "मैं" का स्वर चौबीस घंटे बज रहा है। हम श्वास लेते हैं तो "मैं" के साथ, हम पानी पीते हैं तो "मैं" के साथ। हम रास्ते पर चलते हैं तो "मैं" के साथ, हम मंदिर में प्रवेश करते हैं तो "मैं" के साथ। मैं के अतिरिक्त हमारे जीवन में और क्या है?
हमारे वस्त्र, हमारे "मैं" के वस्त्र हैं। हमारे पद, हमारे "मैं" के पद हैं। हमारा ज्ञान, हमारे "मैं" का ज्ञान है। हमारी तपश्चर्या, हमारी सेवा, हमारे "मैं" की सेवा है। हमारा सब-कुछ; हमारा संन्यास भी हमारे "मैं" का संन्यास है। "मैं" संन्यासी हूं, ऐसा स्वर भीतर तीव्रता से उठता है। "मैं" कोई गृहस्थ नहीं हूं, "मैं" कोई साधारण-जन नहीं हूं; "मैं" संन्यासी हूं, "मैं" सेवक हूं, "मैं" ज्ञानी हूं, "मैं" धनी हूं, "मैं" यह हूं, "मैं" वह हूं।
लेकिन यह जो "मैं" के आसपास खड़ा किया हुआ भवन है, यह प्रेम से अपरिचित
रह जायेगा। और तब हृदय की वीणा पर वह संगीत पैदा नहीं हो सकेगा जो प्राणों को प्राणों के पास ले जाये, जो प्राण के केंद्र में ले जाये, जो जीवन के मध्य में ले जाये, जो जीवन के सत्य से परिचित करा दे, वह द्वार ही नहीं खुलेगा, वह द्वार ही बंद रह जायेगा।
यह बात केंद्रीय रूप से समझ लेने की है कि आपका "मैं" कितना वजनी है, कितना गहरा है! और कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप उसको और वजन दिये जाते हैं? और गहरा किये जाते हैं, रोज-रोज उसको मजबूत किये जाते हैं? अगर आप उसको मजबूत किये चले जा रहे हैं अपने ही हाथों से, तो फिर आप यह आशा छोड़ दें कि आपके भीतर प्रेम--प्रेम का आविर्भाव हो सकता है! वह प्रेम की बंद गांठ खुल सकती है, वह प्रेम की संपदा उपलब्ध हो सकती है! --फिर यह ख्याल ही छोड़ दें। फिर इसमें कोई उपाय नहीं।
इसलिए मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप प्रेम करने को लग जायें, क्योंकि अहंकार यह भी कह सकता है कि "मैं" प्रेमी हूं और "मैं" प्रेम करता हूं। और अहंकार के नीचे जो प्रेम है वह एकदम झूठा है, इसलिए मैंने कहा है कि हमारा सारा प्रेम झूठा है क्योंकि वह अहंकार के नीचे है और अहंकार की छाया है। और स्मरण रहे, कि अहंकार के अंतर्गत जो प्रेम है वह घृणा से भी खतरनाक है, क्योंकि घृणा स्पष्ट और सीधी और साफ है। और प्रेम शकल बदल कर आया हुआ है, उसे पहचानना मुश्किल हो जायेगा।
अहंकार के नीचे जो प्रेम से आपको अपनी छाती से लगाता है, आप थोड़ी देर में ही पायेंगे कि वे हाथ नहीं थे, वे लोहे की जंजीरें थीं जिन्होंने आपके प्राणों को जकड़ लिया था। अहंकार के नीचे जो प्रेम, आपको अच्छी-अच्छी बातें कहता है और मधुर वचन कहता है और गीत गाता है, थोड़ी देर में ही आपको पता चलेगा कि वे गीत केवल प्रारंभिक प्रलोभन थे, उन गीतों के भीतर बहुत जहर था। और जो प्रेम फूलों की शकल लेकर आता है अहंकार की छाया में, फूल को पकड़ते ही आपको पता चलेगा कि भीतर बड़े कांटे थे, जिन्होंने आपको छेद दिया है।
मछलियां पकड़ने लोग जाते हैं और कांटों के ऊपर आटा लगाकर मछलियां पकड़ते हैं। और अहंकार मालिक बनना चाहता है दूसरे लोगों का, पजेस करना चाहता है उनको और तब वह प्रेम का आटा लगाकर गहरे कांटे से लोगों को छेद लेता है। प्रेम के धोखे में जितने लोग दुख और पीड़ा पाते हैं उतने लोग किसी नर्क में भी पीड़ा और दुख नहीं पाते। प्रेम के इस डिसइल्यू.जन में, सारी पृथ्वी और सारी मनुष्य की जाति नर्क भोगती है। लेकिन फिर भी यह ख्याल नहीं आता कि अहंकार के नीचे प्रेम झूठा है, इसलिए यह सारा नर्क पैदा होता है। अहंकार जिस प्रेम में जुड़ा है वह प्रेम जेलॅसी का, ईर्ष्या का एक रूप है। और इसलिए प्रेमी जितने जेलॅस होते हैं, जितने ईर्ष्यालु होते हैं उतना कोई भी ईर्ष्यालु नहीं होता। अहंकार से जो प्रेम जुड़ा है वह घृणा का, दूसरे को पजेस करने का, दूसरे के मालिक बन जाने की तरकीब और साजिश है। वह एक कान्सप्रेसी है; इसलिए प्रेम करने की बातें करने वाले लोग जितने लोगों

की गर्दन कस लेते हैं, उतना और कोई भी नहीं कसता। यह सारी स्थिति अहंकार के नीचे प्रेम के कारण पैदा होती है और अहंकार के साथ प्रेम का कभी भी कोई संबंध नहीं हो सकता।
जलालुद्दीन एक गीत गाता था। और बड़ा प्यारा गीत गाता था। और वह गांव-गांव जाता और उस गीत को जरूर दोहराता और जब भी लोग कहते कि परमात्मा के संबंध में हमें कुछ बताओ तो वह उसी गीत को गाने लगता। वह गीत बड़ा अदभुत था। उस गीत में एक प्रेमी अपनी प्रेयसी के द्वार पर गया और उसने जाकर द्वार की सांकल खटखटायी। और भीतर प्रेयसी ने पूछा कि, "कौन हो तुम?"
उस प्रेमी ने कहा--जैसे सभी प्रेमी कहते हैं--कि मैं हूं तेरा प्रेमी! भीतर फिर सन्नाटा हो गया। भीतर से फिर कोई उत्तर नहीं आया। भीतर से फिर कोई आवाज न आयी। वह प्रेमी जोर से दरवाजा खटखटाने लगा, लेकिन भीतर जैसे कोई था ही नहीं। वह जोर से चिल्लाने लगा कि भीतर सन्नाटा क्यों हो गया? उत्तर दो, मैं तुम्हारा प्रेमी आया हूं। लेकिन जितनी जोर से वह कहने लगा, मैं तुम्हारा प्रेमी आया हूं, वह घर उतना ही मरघट जैसे सन्नाटे से भर गया। वहां से कोई उत्तर आना बंद हो गया।
तब उसने सिर पीटा द्वार पर और उसने कहा, एक बार तो उत्तर दो। भीतर से
एक ही उत्तर आया कि इस घर में दो के लिए जगह नहीं हो सकती। और तुम कहते हो, मैं आया हूं तुम्हारा प्रेमी। और एक मैं यहां पहले से ही मौजूद हूं। यहां दो के लिए जगह नहीं हो सकती। प्रेम का द्वार केवल उनके लिए ही खुलता है जो "मैं" को छोड़ आये होते हैं। अभी तुम जाओ, आना फिर कभी।
वह प्रेमी वापस लौट गया और वर्षों उसने तपश्चर्या की और वर्षों उसने साधना की और वर्षों उसने प्रार्थना की। और कितने ही चांद बड़े हुए और छोटे हुए, और कितने ही सूरज निकले और ढले, और कितने वर्ष बीते और फिर वह वापस लौट आया उस द्वार पर, और उसने आकर द्वार पर फिर दस्तक दी। फिर वही प्रश्न! फिर कोई किसी से पूछने लगा, "कौन हो तुम?" इस बार उस प्रेमी ने कहा, "तू ही है, मैं नहीं।"
जलालुद्दीन कहते थे कि द्वार खुल गये, लेकिन मेरा मन अभी द्वार खुलवाने को राजी नहीं होता। जलालुद्दीन को मरे बहुत वर्ष हो गये, इसलिए अब उनको कहने का कोई रास्ता नहीं है कि द्वार अभी नहीं खुल सकते थे, द्वार लगे ही नहीं जो खुलवा दिये! क्योंकि जो कहता है कि "तू ही है" उसे अपने "मैं" के होने का पूरा पता है। जो कहता है कि "तू" ही है, उसे अपने "मैं" के होने का पूरा पता है--क्योंकि जिसे "मैं" का पता नहीं रह जाता है उसे "तू" का भी पता नहीं रह जाता।
तो गलत है यह बात कि प्रेम में एक ही समाता है। गलत है यह बात कि प्रेम में दो तो समाते ही नहीं; लेकिन गलत है यह बात कि प्रेम में एक ही समाता है। प्रेम में न तो दो रह जाते हैं और न एक रह जाता है। क्योंकि जहां एक है, जान लेना दूसरा भी मौजूद है। क्योंकि एक का बोध दूसरे को ही हो सकता है। जहां "तू" मौजूद है वहां "मैं" भी मौजूद है। तो मैं तो अभी वापस लौटा देता हूं। उस प्रेमी ने कहा, "तू ही है, मैं नहीं हूं।" लेकिन जो यह कहता है कि मैं नहीं हूं, तू ही है; वह है, वह पूरी तरह से है। वह केवल तरकीब सीखकर आ गया है। पहली दफा उसने सुन लिया था, उसने कहा कि "मैं हूं" तो द्वार बंद रह गये। इतने वर्षों में वह सोच-विचारकर आ गया कि मुझे क्या कहना चाहिए। मुझे कहना चाहिए कि भी "मैं नहीं हूं, तू ही है।" लेकिन कौन कहेगा, किसलिए कहेगा? और जिसको "तू" का पता है, उसे "मैं" का भी पता है।
यह ख्याल में रहे कि "तू" जो है, वहां "मैं" की ही छाया है। जिसका "मैं" मिट जाता है, उसके लिए "तू" भी शेष नहीं रह जाता है।
तो मैं तो उसे वापस लौटा देता हूं। फिर उस प्रेयसी ने कह दिया, कि यहां कोई जगह नहीं दो के लिए। और वह चिल्लाने लगा और कहने लगा कि अब दो कहां? अब तो मैं हूं ही नहीं, तू ही है!
लेकिन वह प्रेयसी कहने लगी, तुम वापस लौट जाओ, तुम तरकीब सीखकर आ गये हो, लेकिन अभी दो मौजूद हैं। अगर दो मौजूद न होते तो द्वार खुलवाने की तुम कोशिश भी नहीं करते, क्योंकि कौन द्वार खुलवाता और किस के द्वार खुलवाता? तुम वापस लौट जाओ। प्रेम के घर में दो नहीं समा सकते।

और वह प्रेमी वापस लौट गया। और फिर वर्ष आये और गये लेकिन फिर वह लौटकर नहीं आया, फिर वह कभी लौटा ही नहीं। फिर तो उसकी प्रेयसी ही उसे खोजती हुई उसके पास पहुंच गयी।
तो, मैं तो यही कहता हूं कि जिस दिन हमारे "मैं" की छाया विलीन हो जाती है, और जिस दिन न तो "मैं" बचता है और न तो "तू" बचता है, उस दिन आपको परमात्मा को खोजने नहीं जाना पड़ता, परमात्मा आपको खोजता चला आता है।
आज तक कोई मनुष्य परमात्मा को नहीं खोज सका, क्योंकि मनुष्य की यह सामर्थ्य कहां कि परमात्मा को खोज ले? लेकिन जब कोई मनुष्य मिटने को राजी हो गया है, न हो जाने को राजी हो गया है, शून्य हो जाने को राजी हो गया है, तो परमात्मा उसे जरूर खोज लेता है। परमात्मा ही खोजता है मनुष्य को, मनुष्य कभी परमात्मा को नहीं खोजता है। क्योंकि खोजने में भी, सीकिंग में भी अहंकार मौजूद रहता है कि "मैं" खोज रहा हूं, मुझे ईश्वर को पाना है।
मैंने धन पा लिया, मैंने पार्लियामेंट में जगह पा ली, मैंने बड़ा मकान बना लिया, अब आखिरी एक मंजिल और रह गयी कि मुझे ईश्वर को भी पाना है। मैं कैसा ऐसा हो सकता हूं कि बिना ईश्वर को पाये और छोड़ दूं! यह मेरी आखिरी विजय का मामला है। यह विजय करनी ही है। मुझे ईश्वर को भी पाना है। यह अहंकार की ही घोषणा और आग्रह और खोज है।
इसलिए धार्मिक आदमी वह नहीं है जो ईश्वर को खोजने निकल पड़ता है। धार्मिक आदमी वह है जो अपने "मैं" को खोजने निकलता है और जितना ही खोजने जाता है, पाता है "मैं" तो है नहीं। और जिस दिन "मैं" नहीं रह जाता है, उस दिन वह गांठ खुल जाती है जो प्रेम को सम्हाले हुए है।
तो अंतिम बात है, अपने "मैं" को खोजने चले जाइये, आत्मा को खोजने नहीं; क्योंकि आत्मा का आपको कोई पता नहीं है। परमात्मा को खोजने नहीं, क्योंकि परमात्मा की आपको दूर की भी खबर नहीं। जिसकी खबर ही नहीं है उसे खोजियेगा कैसे? जिसका कोई पता ही नहीं मालूम उसको ढूंढ़ियेगा कहां? जिसका कोई ओर-छोर नहीं, कोई कोर-ठिकाना नहीं, जिसका कोई पता-ठिकाना नहीं, जिसके निवास की कोई खबर नहीं, उसे खोजियेगा कहां? पागल हो जाइयेगा, कहीं भी खोज नहीं पाइयेगा। लेकिन हां, एक बात का हमें पता है। अपने इस "मैं" का पता है। तो सबसे पहले इस "मैं" को ही खोज लेना चाहिये कि क्या है, और कहां है, और कौन है? और जैसे ही उसे खोजने जाइयेगा वैसे ही आप हैरान हो जायेंगे कि यह "मैं" तो नहीं है। यह तो बिल्कुल ही झूठी खबर थी, यह तो मेरी ही कल्पना थी कि मैं सोचता था कि "मैं" भी हूं, यह तो मेरा ही पाला-पोसा भ्रम था।
छोटे बच्चे पैदा होते हैं, काम चलाने के लिए हम उनका नाम रख लेते हैं। किसी को कहते हैं राम, किसी को कहते हैं कृष्ण, किसी को कुछ और कहते हैं। किसी का कोई नाम नहीं होता, काम चलाऊ नाम रख लेते हैं, लेकिन बाद में निरंतर सुनते-सुनते आदमी को यह भ्रम हो जाता है कि यह मेरा नाम है--मैं राम हूं, मैं कृष्ण हूं। और अगर राम को गाली दे दें तो लड़ने को खड़ा हो जायेगा कि आपने मुझे गाली दे दी। और राम कहां से ले आया वह नाम!
कोई जन्म के साथ कोई नाम लेकर पैदा नहीं होता। हर आदमी अनाम पैदा होता है, लेकिन सोशल यूटिलिटी है नाम की। एक सामाजिक उपादेयता है, उपयोगिता है। बिना नाम के चिट लगानी और लेबल लगानी मुश्किल है, इसलिए नाम रख लेते हैं। तो दूसरों को पुकारने के लिए नाम रख लेते हैं। वह एक सामाजिक उपयोगिता है और खुद को अगर बार-बार नाम लेकर पुकारें तो बड़ा भ्रम पैदा होगा कि हम खुद को पुकार रहे हैं कि किसी और को, इसलिए खुद को पुकारने के लिए "मैं", "मैं" खुद को पुकारने के लिए एक नाम, एक संज्ञा है। और नाम दूसरों को पुकारने के लिए एक संज्ञा है। दोनों ही संज्ञाएं कल्पित, सामाजिक उपयोगिताएं हैं, सोशल युटिलिटी है। और इन्हीं दो संज्ञाओं के आसपास हम सारे जीवन के भवन को खड़ा कर लेते हैं। जो केवल दो कोरे शब्द हैं और कुछ भी नहीं है। जिनके पीछे कोई सत्य नहीं, जिनके पीछे कोई सब्सटेंस नहीं; जिनके पीछे कोई वस्तु नहीं; सिर्फ नाम, सिर्फ संज्ञाएं हैं।
एक दफा ऐसी भूल हो गयी। एक छोटी-सी लड़की थी एलाइस। और एलाइस भटकती- भटकती परियों के देश में पहुंच गयी। जब वह परियों की रानी के पास पहुंची तो रानी ने उस एलाइस से पूछा, एक छोटा सा प्रश्न पूछा, डिड यू मीट समबडी, आन

दि वे टुवर्ड्स मी? तुम्हें कोई मिला रास्ते में मेरी तरफ आते हुए? कोई तुम्हें मिला रास्ते में मेरी तरफ आता हुआ? एलाइस ने कहा, "नोबडी।" एलाइस ने कहा, "कोई भी नहीं।"
लेकिन रानी समझी कि "नोबडी" नाम का कोई आदमी इसको मिला। और भ्रम मजबूत
हो गया, क्योंकि फिर रानी का डाकिया, चिट्ठी-पत्री लाने वाला मेसेंजर, वह आया और रानी ने उससे भी पूछा, "डिड यू मीट समबडी, यू विल सी हिम।" उसने भी कहा, "नोबडी।" उसने भी कहा, कोई नहीं मिला। कोई नहीं।
रानी ने कहा कि बड़ी अजीब बात है। क्योंकि रानी समझी कि "नोबडी" नाम का कोई आदमी एलाइस को भी मिला, इसको भी मिला। तो उसने अपने मेसेंजर को कहा कि "इट सीम्स नोबडी वाक्स स्लोअर देन यू।" उसने कहा कि इसका मतलब है कि वह जो "नोबडी" नाम का आदमी है, वह जो "कोई नहीं" नाम का आदमी है, वह बहुत धीमा चलता है।
लेकिन उस वाक्य के दो अर्थ हो गये। उसका एक अर्थ हुआ कि इससे पता चलता
है कि तुमसे धीमा कोई भी नहीं चलता। वह मेसेंजर डरा, क्योंकि मेसेंजर की यही खूबी होनी चाहिए कि वह तेज चलता है। तो उसने कहा कि नहीं, नहीं! "नोबडी वाक्स फास्टर देन मी।" मुझसे तेज कोई भी नहीं चलता है।
लेकिन रानी ने कहा, "बड़ी मुश्किल हो गयी, तुम कहते हो कि "नोबडी" तुमसे तेज चलता है। तो रानी ने कहा, "दिस नोबडी वाक्स फास्टर देन यू। देन ही मस्ट हेव रीच्ड रीसेंटली।" तो उसको अब तक आ जाना चाहिए था, अगर वह तुमसे तेज चलता है। तो वह बेचारा मेसेंजर... अब उसको ख्याल आया कि कुछ गलती हो रही है। उसने कहा, "नोबडी इ.ज नोबडी", "कोई नहीं, कोई नहीं" है।
लेकिन रानी बोली, "यह भी कोई समझने की बात है। मैं जानती हूं कि नोबडी इ.ज नोबडी। लेकिन हू इ.ज दैट, टैल मी। उसको अब तक आ जाना चाहिए था। वह है कहां?"
आदमी के साथ ऐसी ही भाषा की भूल हो जाती है। सब नाम "नोबडी" हैं। किसी नाम का इससे ज्यादा मतलब भी नहीं है। सब "मैं" का ख्याल नोबडी है, इससे ज्यादा कोई मतलब नहीं है। लेकिन भाषा की भूल से ऐसा ख्याल पैदा होता है कि, "मैं कुछ हूं। मेरा नाम कुछ है।"
आदमी मर जाता है, पत्थरों पर लिख जाता है नाम कि शायद पत्थर बच जायेंगे पीछे, लेकिन पता नहीं हमें कि जितनी रेत बन गयी है समुद्रों के किनारे, वह सभी कभी पत्थर थे। सब पत्थर रेत साबित होते हैं। रेत पर लिख दो नाम, या पत्थर पर लिख दो नाम, एक ही बात है। दुनिया की इस लंबी कथा में रेत और पत्थर में कोई फर्क नहीं। समुद्र के किनारे बच्चे लिख आते हैं रेत पर अपना नाम। सोचते होंगे कि कल लोग निकलेंगे और देखेंगे। लेकिन समुद्र की लहरें आती हैं, रेत को पोत जाती हैं। बूढ़े हंसते हैं, "अरे पागल हो! रेत पर लिखे नाम का कोई मतलब नहीं।" लेकिन बूढ़े पत्थरों पर लिखते हैं और उनको पता नहीं कि सब रेत पत्थर से बनती है। बूढ़े और बच्चों में कोई फर्क नहीं। बेवकूफी में हम सब बराबर एक ही उम्र के हैं।
एक सम्राट चक्रवर्ती हो गया। चक्रवर्ती का मतलब कि वह सारी पृथ्वी का मालिक हो गया। ऐसा मुश्किल से ही कभी होता है। चक्रवर्तियों को एक--एक विशेषता उपलब्ध होती थी जो कि किसी को उपलब्ध नहीं होती है। कथा है पुरानी। चक्रवर्तियों को एक सौभाग्य मिलता था जो कि किसी को नहीं मिलता था। और वह यह था कि सुमेरु पर्वत पर, स्वर्ग में जो पर्वत है, उस पर्वत पर उनको हस्ताक्षर करने का मौका मिलता था। यह मौका सबको नहीं मिलता था। कभी कोई चक्रवर्ती होता है अनंत काल में, जो सारी पृथ्वी को जीत लेता है तब उसे सुमेरु पर्वत पर हस्ताक्षर करने का मौका मिलता है। वह जो सुमेरु पर्वत है, वह सबसे अडिग चट्टान है सारे जगत में।
एक व्यक्ति चक्रवर्ती हो गया, वह बहुत खुश हुआ। यह सौभाग्य उसको मिला
कि अब वह सुमेरु पर्वत पर जाकर हस्ताक्षर करेगा। वह बड़े ठाट-बाट से, बड़े फौज-फांटे लेकर स्वर्ग के द्वार पर पहुंच गया। द्वारपाल ने उसको कहा कि, "आप आ गये? लेकिन यह भीड़-भाड़ भीतर नहीं जा सकेगी। आपको अकेला ही जाना पड़ेगा। और साथ में आप कुछ हथौड़ी वगैरह नाम खोदने के लिए कोई सामान ले आये हैं?" उसने कहा, "मैं सामान ले आया हूं।"

तो उसने कहा कि, "पहले तो आपको यह करना पड़ेगा, सुमेरु पर्वत अनंत पर्वत है, लेकिन इतने चक्रवर्ती हो गये कि अब उस पर दस्तखत करने को जगह ही नहीं बची। तो आपको पहले तो किसी का नाम मिटाना पड़ेगा फिर दस्तखत करने पड़ेंगे क्योंकि जगह ही नहीं बची है, सारा पर्वत भर गया है।"
अंदर गया। पर्वत था अनंत। कई हिमालय समा जायें उसकी उप-चोटियों में,
और उस पर इंच भर जगह न बची थी। उसने तो सोचा था अनंत काल में एकाध चक्रवर्ती होता है, लेकिन उसे पता ही नहीं था कि कितना काल अनंत हो चुका है कि अनंतकाल में भी एक चक्रवर्ती हो तो भी पर्वत भर गया है; उधर कोई जगह नहीं है। वह बड़ा उदास और हैरान हो गया। पहरेदार कहने लगा, आप उदास न हों। मेरे पिता भी यही काम करते थे, उनके पिता भी यही काम करते थे, उनके पिता भी यही काम करते थे। हम हमेशा पीढ़ी दर पीढ़ी यही सुनते आये हैं कि जब भी दस्तखत करने पड़ते हैं, जगह मिटाकर ही करने पड़ते हैं। कभी जगह खाली नहीं मिलती। चक्रवर्ती वापस लौटने लगा। उसने कहा, "जब नाम मिटाकर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं तो पागलपन है। क्योंकि मैं करके गया और कल कोई दूसरा आकर मिटाकर कर देगा और जहां पहाड़ इतना बड़ा है और इतने नाम हैं, पढ़ता कौन होगा? और मतलब क्या रहा? मुझे क्षमा कर दो, मैं भूल में पड़ गया हूं। बात व्यर्थ हो गयी है।"
लेकिन इतने समझदार लोग कम होते हैं। पत्थर पर नाम लिखवाते हैं, मंदिर
पर नाम लिखवाते हैं, स्मारक बनवाते हैं, नाम लिखवाते हैं और भूल ही जाते हैं कि बिना नाम के पैदा हुए थे। नाम कोई अपना था नहीं। तो पत्थर खराब किया अलग, मेहनत करवायी सो अलग और बिदा होते हैं तब अनाम बिदा होते हैं। अपना कोई नाम नहीं था।
"नाम" है बाहर के जगत से दीखने वाला भ्रम और "मैं" है भीतर की तरफ से दीखने वाला भ्रम। "मैं" और "नाम" एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। "नाम" दिखता है बाहर की तरफ से, "मैं" दिखता है भीतर की तरफ से। और जब तक यह नाम और मैं का भ्रम शेष रहता है तब तक वह गांठ नहीं खुलती है जिससे प्रेम उत्पन्न होता है।
तो अंतिम बात मुझे यह कहनी है कि थोड़ा खोजें, थोड़ा सुमेरु पर्वत पर जायें और देखें कि कितने हस्ताक्षर हो गये हैं। आपको भी करने हैं उनमें मिटाकर? थोड़ा पहाड़ों के किनारे जायें और उनको रेत बनते देखें। थोड़ा समुद्रों के किनारे बच्चों को दस्तखत करते देखें। चारों तरफ अपने को देखें कि हम क्या कर रहे हैं। हम कहीं रेत पर हस्ताक्षर करने में जीवन व्यय तो नहीं कर रहे हैं? और अगर ऐसा लगे तो थोड़ी खोजबीन करें, इस "मैं" के भीतर घुसें और खोजें और खोजें। एक दिन आप पायेंगे कि "मैं" नोबडी है। वहां कोई भी नहीं है। वहां एक गहरा सन्नाटा और शांति है। वहां कोई भी "मैं" नहीं है। और जिस दिन यह पता चल जाता है, कि भीतर कोई "मै" नहीं है, उसी दिन सबका पता चल जाता है; जो है, जो वस्तुतः है--जो अस्तित्व है, जो आत्मा है, जो परमात्मा है।
इसलिए मैं कहता हूं कि प्रेम द्वार है परमात्मा का, और अहंकार द्वार
है अज्ञान का। अहंकार द्वार है अंधकार का, और प्रेम द्वार है प्रकाश का। यह अंतिम बात बिदा होते आपसे कह देनी थी। तो प्रेम पर इस दिशा से थोड़ी खोज करना, लेकिन वह खोज अहंकार की खोज से शुरू होगी और प्रेम की उपलब्धि पर पूरी होगी। तो इस तरफ से थोड़ा खोजना कि यह अहंकार की छाया सच में है, है यह कहीं, है कहीं अहंकार? कहीं हूं "मैं"? जो आदमी इस खोज में निकलता है, वह "मैं" को तो नहीं पाता है, लेकिन परमात्मा को पा लेता है। "मैं" की खूंटी से जो बंधा है, उनके जगत में, उनके सागर में, प्रेम के सागर में उनकी कोई यात्रा नहीं। यह अंतिम बात आपसे कहनी है; वैसे यही प्रथम भी है, यही अंतिम भी है।
"मैं" ही प्रथम है मनुष्य के जीवन का और "मैं" ही अंतिम है। "मैं" में
ही बंधा हुआ आदमी दुख पाता है। और "मैं" से मुक्त होकर आनंद को उपलब्ध हो जाता है। "मैं" के अतिरिक्त और कोई कहानी नहीं और कोई कथा नहीं। "मैं" के अतिरिक्त और कोई सपना नहीं, और "मैं" के अतिरिक्त और कोई असत्य नहीं।

तो इस "मैं" को खोज लें, और प्रेम के द्वार खुल जायेंगे। "मैं" की चट्टान टूट जाये और पीछे से प्रेम के झरने बहने शुरू हो जायेंगे। हृदय तब प्रेम के संगीत से भरता है और जहां हृदय प्रेम के संगीत से भरता है, वहां फिर एक और नयी यात्रा शुरू होती है जिसे शब्दों में कहना कठिन है। वह फिर जीवन के केंद्र पर ले जाती है और पहुंचा देती है।
यह थोड़ी-सी बातें अंतिम जाते समय आपसे मुझे कहनी थीं, वह मैंने कहीं।
अब हम रात्रि के ध्यान के लिए बैठेंगे। दस मिनट के लिए हम रात्रि का ध्यान करेंगे। और फिर हम बिदा हो जायेंगे। और मैं इस आशा में और परमात्मा की इस प्रार्थना में आपको बिदा दूंगा, परमात्मा सबको यह सौभाग्य दे कि वे प्रेम को उपलब्ध हो सकें। परमात्मा सबको यह सौभाग्य दे कि वह "मैं" की बीमारी से छूट सकें। परमात्मा सबको यह सौभाग्य दे कि जो उसके पास ही है, वह उसे मिल जाए।
एक भिखारी मर गया था एक बहुत बड़े नगर में। परमात्मा ने कहा, आधुनिक भिखारी जैसे न मर जाना। और वह भिखारी चालीस वर्षों से सिर्फ एक ही जगह बैठकर भीख मांगते हुए मर गया था। भीख मांगते-मांगते सोचा था, कि भीख मांगते-मांगते सम्राट हो जाऊंगा। लेकिन भीख मांगते कभी कोई सम्राट होता है? तो भीख तो आदमी जितनी मांगता है उतना ही बड़ा भिखारी होता है।
तो जिस दिन उसने शुरू किया था, छोटा भिखारी था, जिस दिन मरा तो बड़ा भिखारी था। लेकिन सम्राट नहीं हुआ था, फिर मर गया। तो मरनेवाले के साथ जो पास-पड़ोस के लोग व्यवहार करते हैं, वही उसके साथ भी किया। उसकी लाश को फिंकवा दिया, जलवा दिया। जिस जमीन पर वह बैठा था, वहां चिथड़े उसके पड़े थे, गंदगी पड़ी थी, उसमें आग लगवा दी। और फिर पड़ोस के लोगों को ख्याल आया, कि यह भिखारी चालीस वर्ष तक इसी जमीन को गंदा करता रहा, तो थोड़ी-सी जमीन भी खुदवाकर फेंक दें। सो उन्होंने थोड़ी-सी जमीन भी खुदवाकर फेंक दी।
और देखते ही वे हैरान रह गये! काश, भिखारी जिंदा होता तो वह भी पागल हो उठता, जमीन खोदते ही पाया कि वहां तो बहुत बड़ा खजाना गड़ा हुआ है, जिस पर बैठा हुआ भिखारी भीख मांगता था। लेकिन उस भिखारी को पता भी नहीं था, कि मैं इस जमीन पर बैठकर भीख मांगता हूं; अगर वहां खोद लूं तो सम्राट हो जाऊंगा। भीख मांगने की कोई जरूरत नहीं रह जायेगी।
लेकिन उस बेचारे को क्या पता, उसकी आंखें बाहर लगी थीं, हाथ बाहर फैले थे, भीख मांगते-मांगते मर गया था। वे सारे पड़ोस के लोग चकित खड़े रह गये, कि कैसा यह भिखारी था! इस पागल को यह भी पता न चला कि मैं जिस जमीन पर बैठा हूं वहां खजाने हैं! न कोई सामान लेकर गया।
लेकिन उन पड़ोस के लोगों को आश्चर्य से भरे हुए देखा तो मैंने उनसे कहा, कि पागलो! तुम भिखारी की फिक्र मत करो। छोड़ दो भिखारी की फिक्र। कभी तुम भी अपनी-अपनी जमीन खोदकर देख लेना, कहीं ऐसा न हो कि तुम भी मर जाओ और दूसरे लोग तुम पर हंसें। वे मर जाते हैं, उन पर दूसरे लोग हंसते हैं कि बड़ा पागल था यह आदमी, कुछ भी न पा सका। और उन्हें पता नहीं कि उनके मरने की दूसरे लोग रास्ता देख रहे हैं ताकि वे भी हंसेंगे कि बड़ा पागल था यह आदमी, और कुछ भी न पा सका।
जो मर जाता है उस पर जिंदा लोग हंसते हैं, लेकिन जो जिंदा आदमी अपने पर हंसने का ख्याल भी जिसे पैदा हो जाता है, उसकी जिंदगी बदल जाती है। वह दूसरा आदमी हो जाता है।
अगर इन तीन दिनों में आपको अपने ही जिंदगी पर हंसने का ख्याल आ जाए तो बात पूरी हो गयी। और आपको ख्याल आ जाए उस जगह खोदने का जहां आप खड़े हैं, तो बात पूरी हो गयी। तो मैंने जो कहा, उसका परिणाम फिर निश्चित आ सकता है। अंत में यही प्रार्थना करता हूं, कि आप भिखारी ही नहीं मर जायेंगे, सम्राट होकर ही मरेंगे। पड़ोस के लोगों को हंसने का मौका नहीं देंगे, इसकी प्रार्थना करता हूं। तीन दिन तक मेरी बातों को इतने शांति, इतने प्रेम से सुना उसके लिए बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं, मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

अब हम रात्रि के ध्यान के लिए बैठेंगे। तो आप सब थोड़ी-थोड़ी जगह बना लें ताकि आप लेट सकें। अंतिम ध्यान है इसलिए इसका पूरा उपयोग करना है। सब लोग थोड़े फासले पर हो जायें।
हां, बातचीत न करें, कोई बातचीत न करें। और जो लोग दूसरे बैठे हैं, वे
हट आयें बाहर। कोई किसी को छूता हुआ न हो। वहां से हट जायेंगे बाहर, जहां जगह है वहां हट जायें। बातचीत बिल्कुल भी नहीं। क्योंकि बातचीत का कोई संबंध ही नहीं। यहां आगे आ जायें कुछ लोग, और ध्यान रखें कि आपके कारण किसी के ध्यान में जरा भी बाधा न पड़े। किसी के भी कारण किसी दूसरे को जरा भी बाधा न पड़े, और बस लेट जायें, फिर प्रकाश बुझा दिया जाए। इसको ध्यान में लेंगे, कि किसी के कारण किसी को जरा भी बाधा न हो।
सबसे पहले शरीर को बिल्कुल शिथिल छोड़कर लेट जायें। बिल्कुल ढीला छोड़ दें, जैसे शरीर में कोई प्राण ही नहीं है। शरीर बिल्कुल ढीला छोड़ दें। जैसे शरीर में कोई प्राण ही नहीं है। शरीर बिल्कुल ढीला छोड़ दें। आंख फिर धीरे-से बंद कर लें। आंख बंद कर लें।
आंख बंद कर ली है, शरीर ढीला छोड़ दिया है। अब मैं सुझाव देता हूं, मेरी तरह अनुभव करेंगे तो ठीक वैसा ही परिणाम उसके अनुसार मन में होता जाएगा। अनुभव करें, शरीर शिथिल हो रहा है, शरीर शिथिल हो रहा है, शरीर शिथिल
हो रहा है, शरीर शिथिल हो रहा है, शरीर शिथिल हो रहा है। अनुभव करें शरीर शिथिल होता जा रहा है, शरीर शिथिल होता जा रहा है, शरीर शिथिल होता जा रहा है, शरीर शिथिल होता जा रहा है।... शरीर बिल्कुल शिथिल छोड़ दें और भाव करें, शरीर शिथिल हो गया। शरीर शिथिल हो गया। शरीर शिथिल हो गया। शरीर शिथिल हो गया।
श्वास शांत होती जा रही है। भाव करें, श्वास शांत हो रही है। श्वास शांत हो रही है। श्वास शांत हो रही है। श्वास शांत हो रही है। भाव करें, श्वास शांत हो रही है। श्वास शांत हो गयी है। श्वास शांत हो गयी है। श्वास शांत हो गयी है। श्वास शांत हो गयी है। श्वास शांत हो गयी है।
मन भी शून्य हो रहा है। मन भी शांत हो रहा है। मन शांत हो रहा है। भाव करें, मन शांत हो रहा है। मन शांत हो गया। मन भी शांत हो गया। मन शांत... ! अब दस मिनट के लिए भीतर जागे रहें, बाहर की सब ध्वनियों को चुपचाप सुनते रहें। भीतर जागे रहें, सो नहीं जाना है। भीतर होश से भरे रहें। भीतर जागे रहें और चुपचाप सुनते रहें। सिर्फ सुनते रहें। रात के सन्नाटे को सुनते रहें। सुनते ही सुनते एक बहुत गहरा शून्य उत्पन्न होगा।
सुनें! दस मिनट के लिए चुपचाप सुनते रहें... शांत सुनते रहें। मन बिल्कुल शून्य होता जा रहा है। मन शून्य होता जा रहा है। मन शून्य हो गया है। मन शून्य हो गया है। मन शून्य हो गया है।
मन बिल्कुल शून्य हो गया है। मन शून्य हो रहा है। चारों तरफ बन गये शून्य में डूबते जायें। मन शून्य हो रहा है। मन शून्य हो रहा है। मन शून्य हो रहा है। मन शून्य हो रहा है।
... मन शांत हो रहा है। मन शून्य हो रहा है।
और गहरे डूबते जायें। मन शून्य हो रहा है। मन शून्य हो रहा है। मन बिल्कुल शून्य हो गया है... ।
मन शून्य हो गया है....मन शून्य हो गया है... और गहरे डूब जाएं, बिलकुल गहरे डूब जाएं। मन शून्य हो गया है....मन शून्य हो गया है...।
धीरे-धीरे दों-चार गहरी श्वास लें....प्रत्येक श्वास के साथ बहुत शांति अनुभव होगी। धीरे-धीरे दो-चार गहरी श्वास लें....प्रत्येक श्वास के साथ शांति अनुभव होगी। फिर धीरे-धीरे आंख खोलें....बाहर भी वैसी ही शांति प्रतीत होगी जैसी भीतर है। धीरे-धीरे आंख खोलें....फिर बहुत आहिस्ता से उठ कर बैठ जाएं। जरा भी गड़बड़ न हो, आस--पास किसी को परेशानी न हो। धीरे से उठ कर बैठ जाएं।
बातचीत नहीं करेंगे।
(प्रकाश जला दें।)
हमारी अंतिम बैठक पूरी हुई।

साधना पथ
चौबीसवां प्रवचन

वर्तमान में जीएं; मौन, नासाग्र-दृष्टि

प्रिय!
आपको बुलाया और आप आ गये। शायद आपको ठीक ख्याल भी न हो कि किसलिए बुलाया गया। यदि आपने सोचा हो कि मैं यहां कुछ बोलूंगा और आप सुनेंगे तो आपने ठीक नहीं सोचा। बोलने के लिये तो मैं गांव-गांव में खुद ही आ जाता हूं और आप मुझे सुन लेते हैं। यहां सिर्फ सुनने के लिए आने की कोई जरूरत नहीं है। यहां कुछ करने का ख्याल हो तो ही आने की सार्थकता है। मेरी तरफ से मैंने कुछ करने को आपको यहां बुलाया। क्या करने को बुलाया इन तीन दिनों में?
आने वाले तीन दिनों में उस करने की दिशा में ही कुछ बातें मैं आपसे कहूंगा, इस आशा में कि आप केवल उन्हें सुनेंगे नहीं, बल्कि इन तीन दिनों में कम से कम उनका प्रयोग करेंगे। और यह मेरी समझ है कि सत्य की दिशा में एक भी कदम उठा लिया जाये तो उसे वापस नहीं लौटाया जा सकता है, यह असंभावना है। असत्य की तरफ उठाया गया कदम वापस उठाना ही पड़ता है और सत्य की तरफ उठाया गया कदम कभी भी वापिस नहीं उठाया जा सकता।
तो अगर तीन दिनों में जरा-सा भी कदम उठाया तो आगे वह कदम उठता ही रहेगा, उस कदम से पीछे नहीं लौटा जा सकता है। मैं कुछ कहूंगा, मेरे कहने से कुछ होने वाला नहीं है। अगर उसके साथ आप प्रयोग करते हैं तो यह आश्वासन मेरी तरफ से है कि जितनी पाने की आपने कल्पना की हो जीवन में, उससे बहुत ज्यादा पाया जा सकता है।
बहुत थोड़े श्रम से हम कितनी आंतरिक संपदा पा सकते हैं, इसका हमें कुछ
भी पता नहीं। पता हो भी कैसे, जब हम पा लें तभी पता चल सकता है, दूसरा कोई रास्ता भी नहीं। लेकिन हजारों वर्षों से आदमी एक आश्चर्यजनक चक्कर में उलझ गया है। वह चक्कर सुनने, समझने और विचार करने का चक्कर है। कई बार ऐसा होता है कि बहुत सोचते-विचारते रहने वाले लोग कुछ भी नहीं कर पाते हैं। दुनिया में जितना सोच-विचार बढ़ता चला गया है, उतनी ही सक्रिय होने की हमारी क्षमता क्षीण होती चली गयी। हमारी स्थिति तो उस मेजर जैसी हो गयी है, जैसा मैंने सुना है कि पहले महायुद्ध में एक अमरीकी विचारक भी युद्ध की सेना में भर्ती हो गया। विचारक का काम ही विचार करना है। बस, वह एक ही काम जानता है--सोचना, सोचना।
मिलिट्री में भर्ती किया गया तो पूरी तरह स्वस्थ था, कोई रुकावट नहीं पड़ी। डाक्टरों ने उसे इजाजत दी। सारे अंग, सारा शरीर ठीक था। आंखें ठीक थीं, सब तरह से वह स्वस्थ था, योग्य था, लेकिन किसी डाक्टर को यह कभी भी कल्पना नहीं हो सकती थी कि वह पूरी तरह स्वस्थ आदमी, कुछ भी करने में असमर्थ है सिवाय सोचने के। इसका पता भी कैसे चल सकता था! आपको देखकर भी यह पता नहीं चलता, किसी को देखकर यह पता नहीं चलता।
वह भर्ती भी हो गया और पहले ही दिन जब कवायद में खड़ा हुआ और उसको सिखाने वाले शिक्षक ने कहा, लेफ्ट टर्न, बायें घूम जायें, तो सारे सैनिक घूम गये, वह खड़ा ही रहा। उस शिक्षक ने कहा, महाशय! क्या आपको सुनायी नहीं पड़ता।
उसने कहा, सुनायी मुझे बिल्कुल ठीक पड़ता है, लेकिन बिना सोचे-विचारे मैं कुछ भी कर नहीं सकता हूं। मैं सोच रहा हूं कि बायें घूमना या नहीं घूमना।
उसके शिक्षक ने कहा कि, तब तो बड़ी कठिनाई है। इतना सोच-विचार करियेगा
तो इस सैनिक की जिंदगी में चलना बहुत मुश्किल है। बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन कोई रास्ता न था। वह बिना सोचे-विचारे कुछ कर ही नहीं सकता था। और सोच-विचारकर करता तो भी ठीक था, वह इतना सोच-विचार करता था कि करने
का समय ही निकल जाता था और सोच-विचार में और नये सोच-विचार पैदा हो जाते थे जिनकी शृंखला का कोई अंत नहीं है। पीछे पता चला कि उस व्यक्ति ने शादी करनी चाही थी, और किसी युवती ने उससे निवेदन किया था। वह तीन वर्ष तक सोचता

रहा पक्ष में और विपक्ष में। तीन वर्ष के बाद भी वह निर्णय नहीं कर पाया कि शादी करना ठीक है या नहीं करना ठीक है। अपनी यह खबर देने उस युवती के घर तीन वर्ष बाद गया कि क्षमा करना, मैं अभी निर्णय नहीं कर पाया हूं। लेकिन तब तक उस स्त्री के तीन बच्चे हो चुके थे, उसकी शादी हो चुकी थी।
उस आदमी को किसी काम का न जानकर... लेकिन चूंकि वह भर्ती हो गया था और प्रसिद्ध विचारक था, किसी न किसी काम में रखना जरूरी था। तो उसे जो सैनिकों का भोजनालय था वहां उसे भेज दिया गया, वहां छोटा-मोटा काम वह कर सकेगा। और पहले ही दिन उसे मटर के दाने चुनने के लिये दिये गये कि बड़े दानों को अलग कर दे और छोटे दानों को अलग। घंटे भर बाद जब उसका शिक्षक पहुंचा तो वह सिर से हाथ लगाये हुए बैठा था। दाने वैसे के वैसे रखे थे। उसने पूछा, महाशय क्या यह भी नहीं कर सके आप?
उसने कहा, करूं जरूर, लेकिन पहले सोच लूं। यह तो साफ हो गया कि बड़े दाने भी हैं, छोटे दाने भी हैं, लेकिन कुछ बीच के दाने हैं उनको कहां करना है और जब तक उनका निर्णय न हो जाये, तब तक तो फिजूल की उलझन में पड़ने से कोई सार नहीं है। मैंने बहुत सोचा कि बीच के दाने किस तरफ, छोटे दानों की तरफ कि बड़े दानों की तरफ, क्योंकि बीच के दाने न तो छोटे हैं और न बड़े। या दोनों हैं।
पता नहीं, उस आदमी का पीछे क्या हुआ! जो हुआ होगा वह हम सोच सकते हैं। लेकिन हम सारे लोग भी जीवन के मसले में करीब-करीब वैसे ही आदमी हैं। यहां मैंने बुलाया है आपको सोच-विचार के लिये जरा भी नहीं। यहां बुलाया है कुछ कदम उठाने को। निश्चित ही सोच-विचार करना हो तो मैं अकेला काफी हूं, लेकिन कदम उठाना हो तो आप मुझसे ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। साधना शिविर में मैं गौण हूं, महत्वपूर्ण आप हैं। मैं नहीं हूं महत्वपूर्ण क्योंकि कदम आपको उठाना है।
तीन दिनों की मेरी चेष्टा यही होगी कि सिवाय उन बातों के आपसे कुछ भी बात न करूं, जो सहयोगी हों आपको आंतरिक जीवन में ले जाने के लिये। जो परमात्मा के मंदिर की यात्रा में सीढ़ियां बन सकें उनकी ही मैं बात करना चाहता हूं।
लेकिन प्रत्येक सीढ़ी चढ़ने से सीढ़ी बनती है, उसके पहले वह सिर्फ पत्थर होती है। जब तक कोई उस पर चढ़ता नहीं तब तक उसे सीढ़ी नहीं कहा जा सकता है, वह चढ़ने से ही सीढ़ी बनती है। अगर किसी मंदिर पर कोई भी न जाता हो तो उस मंदिर के सामने पत्थर पड़े हैं ऐसा कहना पड़ेगा, ऐसा नहीं कि उस मंदिर के सामने सीढ़ियां हैं। क्योंकि पत्थर सीढ़ी तभी बनता है जब कोई उस पर चढ़ता है। और यह भी ध्यान रहे, कुछ नासमझ सीढ़ियों को भी पत्थर बना लेते हैं और उनसे ही अटक जाते हैं और कुछ समझदार पत्थरों पर भी चढ़ते हैं और उनको सीढ़ियां बना लेते हैं। हम क्या करेंगे? क्या करने को मैंने आपको यहां बुला भेजा है? कौन-सी यात्रा है?
एक यात्रा बाहर की है जो हम सब कर रहे हैं और उस यात्रा में चाहे हम सफल हों या असफल, चाहे हम उस यात्रा में कुछ पा लें या न पा लें--एक बात निश्चित है, पाने वाले और न पाने वाले बाहर की यात्रा के जगत में आखिर में एक जगह पहुंचते हैं जहां पाते हैं दोनों ही असफल हो गये हैं--वे भी जो सफल थे और वे भी जो असफल थे। मौत जब करीब आती है तो बाहर की हमारी सारी सफलता- असफलता पोंछकर समाप्त कर देती है। हम खाली के खाली आदमी रह जाते हैं। लेकिन जो लोग भीतर की यात्रा भी करते हैं, उनकी तो मौत कभी आती नहीं, क्योंकि भीतर जाकर वे जानते हैं कि वहां जो है उसकी कोई मृत्यु नहीं है। वह सदा से है, था, होगा।
एक अनंत यात्रा है अंतस की, एक अनंत जीवन है, एक अमृत जीवन है। जो उस जीवन को जान लेते हैं फिर मृत्यु उनसे कुछ भी नहीं छीन पाती है। और जो सफलता मृत्यु छीन लेती हो उसे सिर्फ नासमझ सफलता कहते होंगे, क्योंकि जो छीनी जा सकती है उसे सफलता कैसे कहा जा सकता है? जो नहीं छीनी जा सकती, जो नहीं तोड़ी जा सकती, जो नहीं चुराई जा सकती, ऐसी कोई संपदा हम खोज लें तो ही वह संपदा है। ऐसी ही संपदा की खोज के लिये यह आमंत्रण था और आप आये दूर-दूर से।

लेकिन यह आना अभी बाहर का आना हुआ। नारगोल तक पहुंच जाना एक बात है।
वह भी बाहर की यात्रा है। मेरे सामने आकर बैठ जाना एक बात है। वह भी बाहर की यात्रा है। मुझे सुनना भी एक बात है। वह भी बाहर की यात्रा है। अब इन तीन दिनों में उस भीतर की यात्रा करनी है जहां आप हैं, जहां प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा है, जहां चेतना का मंदिर है। अपने से ही हम अपरिचित हैं। नहीं जानते--क्या हूं, कौन हूं, कहां से हूं, क्यों हूं? कुछ भी पता नहीं! अंधे की तरह जीते हैं और समाप्त हो जाते हैं। क्या यही जीवन स्वीकार कर लेना है, क्या यही जीवन पर्याप्त है? निश्चित ही यह जीवन आपको पर्याप्त नहीं लगता होगा, इसीलिये आप आये हैं।
फिर और कौन-सा जीवन हो सकता है और उस जीवन में हम कैसे प्रवेश कर सकते हैं? आज की रात तो कुछ बहुत प्राथमिक और प्रारंभिक बातों पर ही मैं आपसे बात करूंगा, फिर कल सुबह से गहरी यात्रा की बात करनी है। लेकिन, जो प्राथमिक और प्रारंभिक बातें हैं वे गौण नहीं हैं। किसी भी यात्रा में पहला कदम अंतिम कदम से गौण नहीं होता। बल्कि सच तो यह है कि पहला कदम ही असली कदम होता है। जिन्होंने पहला उठा लिया, वे अंतिम उठा भी सकते हैं। लेकिन जिन्होंने पहला ही नहीं उठाया उनके अंतिम के उठाने का तो कोई सवाल नहीं है। तो प्राथमिक और छोटी-छोटी बातें ही पहली इस चर्चा में मैं कहूंगा।
एक, सबसे पहले जरूरत जो करने की है वह यह कि आप शरीर से तो यहां आ गये हैं साधना शिविर में, मन से भी आ जाना चाहिये। शरीर से आ जाना एकदम आसान है। मन सदा पीछे की तरफ दौड़ता रहता है। मन सदा अतीत की तरफ भागता रहता है। हम सदा वहां होते हैं जहां से हम आ गये हैं। हम सदा भूतपूर्व होते हैं, हम कभी भी वर्तमान में नहीं होते। जहां हम थे वहां हमारा मन होता है; जहां हम आ गये हैं वहां नहीं। जो क्षण हमारे पास से गुजर रहा है वहां हम नहीं होते, जो बीत गया, गुजर गया वहीं हमारा चित्त होता है।
और इसका कारण है। क्योंकि, हमने आज तक चित्त को स्मृति के साथ जोड़ रखा है। हमने कांशसनेस को मेमोरी के साथ जा.ेड रखा है। हमने यह मान रखा है कि मेरी स्मृति ही मेरी चेतना है, मेरी याददाश्त ही मेरी आत्मा है, यह भ्रांति है, बुनियादी भ्रांति है। और साधक के लिये जानना चाहिये कि पीछे जो बीत गया है वह बिल्कुल बीत चुका है। उसकी कोई रूप-रेखा, उसका कोई अस्तित्व कहीं नहीं रह गया है सिवाय हमारी स्मृति के। कृपा करें उसे स्मृति से भी बीत जाने दें। अतीत हो चुका, जा चुका, उसे चला जाने दें। यहां आ गये हैं तो पूरी तरह आ जायें।
इन तीन दिनों में अगर यहीं रहें, इसी सागर तट पर, इसी सागर के गर्जन को सुनते हुए, इन्हीं सरू वृक्षों की छाया में, इसी आकाश के, इन्हीं तारों के, इसी चांद की चांदनी में, तो कुछ काम हो सकता है। वर्तमान में होना साधक के लिये पहली शर्त है, टु बी इन दि प्रेजेंट--वह जो है, वहां। लेकिन हम मरते ही नहीं अतीत के प्रति, उसको ढोते चलते हैं, ढोते चलते हैं।
पतझड़ में जाकर देखें किसी जंगल में पत्ते गिर गये हैं, जिन पर कभी सूरज की रोशनी चमकती थी और हवाएं जिन्हें बुलाती थीं, झूले देती थीं, वे पत्ते अचानक गिर गये हैं, पतझड़ आ गया। वे फूल जिन पर भौंरे गीत गाते थे अब नहीं हैं, जा चुके। शाखाएं नंगी खड़ी हैं, वृक्ष ने अपनी खोल तक छोड़ दी है, छाल तक छोड़ दी है, वृक्ष बिल्कुल मर गया है, न फूल हैं, न पत्ते, न कोई गीत गुनगुनाता है, न कहीं छाया है, न कहीं हरियाली है। वृक्ष बिल्कुल सूख गया, वृक्ष बिल्कुल मर गया है। लेकिन थोड़े ही दिन में देखेंगे, आ गये नये पत्ते! पुराने की जगह छा गया नया रंग। फिर फूल आ गये और भी ताजे, और भी नये। फिर गीत, फिर गुनगुन, फिर पक्षी बसने लगे, फिर यात्री ठहरकर छाया लेने लगे। यह वृक्ष फिर से नया हो गया, फिर से जवान। इस वृक्ष को कोई कीमिया, कोई राज मालूम है। यह मरने का राज जानता है। पतझड़ में मर गया है, सब छोड़ दिया था जो पुराना था। अब फिर नया हो गया--फिर जीवंत, फिर ताजा, फिर युवा।
लेकिन आदमी इस राज को भूल गया है। इसलिये आदमी बूढ़े से बूढ़ा ही होता चला जाता है। उसका बुढ़ापा बोझ की तरह बढ़ता चला जाता है। शरीर बूढ़ा होगा, लेकिन आत्मा के बूढ़े होने की कोई भी जरूरत नहीं। शरीर बूढ़ा होगा, लेकिन

चेतना हम बूढ़ी कर लेते हैं। जोड़ते चले जाते हैं बीते पत्तों को जो गिर चुके--उन फूलों को जो अब नहीं हैं, उन गीतों को जो फूलों पर गूंजे थे, उन पक्षियों को जो कभी ठहरे थे, उन यात्रियों को जो छाया में विश्राम किये थे। उन सबको हम इकट्ठा किये चले जाते हैं। अतीत का बोझ बढ़ता चला जाता है, बढ़ता चला जाता है, और आदमी की आत्मा उसी बोझ के नीचे जर्जर, दीन-हीन, बूढ़ी होती चली जाती है।
शरीर से कोई आदमी बूढ़ा हो जाये लेकिन अगर उसकी आत्मा रोज ही युवा हो
और यह राज जानती हो रोज अतीत के प्रति मर जाने का--जो हो चुका, हो चुका; जा चुका, जा चुका। नहीं अब वह नहीं है कहीं भी। मैं भी वहां क्यों बंधा रहूं! जैसे सांप छोड़ देता है केंचुल अपनी, छोड़ दूं अतीत की केंचुल को, बढ़ जाऊं आगे।
तो आदमी का शरीर बूढ़ा हो जायेगा, लेकिन आंखें नहीं, आत्मा नहीं। और तब बूढ़े आदमी के भीतर से भी सतत यौवन, वह सतत जीवन, वह जो सदा नया है, वह झांकना शुरू कर देता है। और इतना ही यौवन, इतनी ही ताजगी, इतनी ही सरलता, इतना ही ताजापन, नयापन चाहिए तब कोई व्यक्ति परमात्मा के मंदिर की तरफ यात्रा करने में सफल हो पाता है।
बूढ़ा आदमी परमात्मा तक कभी नहीं पहुंचता है, नहीं पहुंच सकता। बूढ़ा आदमी सिर्फ कब्र तक पहुंचता है और कहीं नहीं। लेकिन ध्यान रहे, मैं बूढ़े आदमी को--शरीर से बूढ़े आदमी को--बूढ़ा आदमी नहीं कह रहा हूं। शरीर से तो सभी बूढ़े होते हैं--बुद्ध भी, महावीर भी, कृष्ण भी, क्राइस्ट भी; लेकिन कुछ लोग आत्मा से ताजे, नये और जवान रह जाते हैं।
वे जो लोग आत्मा में, चेतना में ताजे और नये हैं, वे प्रभु के मंदिर में प्रवेश करते हैं।
क्यों? क्योंकि प्रभु के मंदिर का अर्थ ही क्या है सिवाय इसके कि वह जीवन का मंदिर है। प्रभु के मंदिर का अर्थ ही क्या है और! एक ही अर्थ है कि वह जीवन है। और जीवन में तो वे ही प्रवेश कर सकते हैं जो सतत अतीत को, मुर्दा को छोड़कर पुनरुज्जीवित होने की क्षमता जुटा लेते हैं। मरना पड़ता है साधक को रोज, ताकि वह रोज नया जन्म ले सके।
इन तीन दिनों के शिविर में पहली बात, मर जायें अतीत के प्रति, जहां से
आ गये हैं वहां अब नहीं हैं। न कोई संबंधी है आपका, न कोई गांव, न कोइ धंधा, न कोई नाम, न कोई जाति, न कोई धर्म--वह था! अब कहां है, भीतर कहां है वह? कहां हैं वे नाम, कहां हैं वे जातियां, कहां हैं वे संबंध। वहां कौन है धनी, कौन है निर्धन, कौन है हिंदू, कौन है मुसलमान। जाने दें उसे। उसकी कोई रेखा मन पर न रह जाये।
आज रात जब सोयें तो अतीत के प्रति पूरी तरह मर जायें ताकि सुबह नया आदमी, नयी चेतना आपके भीतर जन्मे और प्रगट हो। वही चेतना जीवन के मंदिर में प्रवेश दिला सकती है। वही चेतना स्वयं को जानने में समर्थ बना सकती है। वही चेतना, उसी चेतना के दर्पण में सत्य का प्रतिबिंब बनता है और तो कोई रास्ता नहीं। जिन लोगों के मनों पर अतीत की धूल की पर्त जमी है उनके मन के दर्पण कभी भी सत्य की परछाईं नहीं बना पायें तो इसमें आश्चर्य क्या, दोष किसका है?
पहला सूत्र, मरना सीखें, रोज-रोज मरना। पल-पल मरना सीखें, एक-एक क्षण मरने की कला जाननी चाहिए, अगर जीवन की कला सीखनी है। आये आप और मुझे गाली दे गये। दिन बीत गया, कभी के आप जा चुके, कभी की गाली गूंजी और शून्य में खो गयी और मैं हूं कि गाली सुने चला जा रहा हूं। मैं हूं कि आप मेरे सामने ही खड़े हैं। माह बीत गये, वर्ष बीत गये, कहीं उस गाली की कोई रूप-रेखा न रही, कहीं खोजने जाऊं तो धुआं भी जो कभी था शायद मिल जाये, लेकिन वह गाली तो अब कहीं भी नहीं मिलेगी। वह आदमी कहां, वह घड़ी कहां, वह क्षण कहां, लेकिन मैं हूं कि उसी में जीये चला जा रहा हूं। वर्ष बीत गया, लेकिन मैं वहीं ठहर गया जहां गाली दी गयी थी।
एक दिन सुबह बुद्ध बैठे थे एक वृक्ष के पास। एक आदमी आया था क्रोध से
और उनके ऊपर थूक दिया था और भरसक जितनी गाली दे सकता था, दी थी। बुद्ध ने उस थूक को अपनी चादर से पोंछ लिया था और कहा था कि मेरे मित्र! कुछ और कहना है?

वह मित्र चौंका होगा क्योंकि वह शत्रु होकर आया था और उसे आशा न थी कि जिसका वह शत्रु होकर गया है, वह भी मित्र उसे मान सकता है। वह चौंका, चौंका इसलिए भी कि उसने थूका था, कुछ कहा न था।
लेकिन बुद्ध पूछने लगे, "कुछ और कहना है?" बुद्ध का भिक्षु था आनंद, वह क्रोध से भर आया। और उसने कहा, कि "भगवान कैसी बात करते हैं आप, थूका है उस अशिष्ट व्यक्ति ने और आप पूछते हैं और कुछ कहना है!"
बुद्ध ने उसे छोड़ दिया और आनंद को समझाने लगे। कहने लगे, "आनंद तू समझा नहीं। वह कुछ कहना चाहता है जरूर, लेकिन क्रोध है ज्यादा और शब्द पड़ जाते हैं छोटे। नहीं शब्दों में कह पाता है इसलिए थूककर कहता है। कोई प्रेम से भरा जाता है, नहीं कह पाता है शब्दों में, हृदय से लगा लेता है। कोई क्रोध से भर जाता है, नहीं कह पाता है शब्दों में, थूककर कहता है। मैं समझ गया। समझा इस आदमी की मुसीबत। जब भी कोई बड़ा भाव होता है तो कहना मुश्किल होता है। शब्द छोटे पड़ जाते हैं। समझ गया इसकी कठिनाई, तो इसीलिए पूछता हूं, मेरे मित्र! कुछ और कहना है।"
वह आदमी क्या कहता, वह वापस चला गया। वह हारा हुआ वापस गया था, क्योंकि
जो शत्रु होकर कहीं जाते हैं वे एक ही शर्त पर हारते हैं कि जहां वे शत्रु होकर गये हों वहां शत्रु न मिले, अन्यथा वे कभी नहीं हारते। वह हारकर लौट गया, रात भर सो नहीं सका होगा। क्योंकि रात भर उसे वही दोहरता रहा कि वह बुद्ध पर थूक रहा है और उन्होंने पोंछ लिया है। और वे पूछते हैं, और कुछ कहना है। वे आंखें बुद्ध की उसकी छाती में छिदी रहीं। रात भर सो नहीं सका। सुबह भागा हुआ आया। बुद्ध तो उस गांव से आगे बढ़ गये। जीवन कहीं ठहरता
और रुकता है? बढ़ जाता है! किसी दूसरे वृक्ष के नीचे हैं आज। वह आदमी जाकर सामने खड़ा हो गया है और कहने लगा है, "क्षमा कर दें। भूल हो गयी जो मैंने थूका।"
बुद्ध ने कहा, "बात बहुत गयी-गुजरी हो गयी। गंगा का पानी तब से बहुत बह चुका, तू वहीं रुका है? कहां है वह वृक्ष जिसके नीचे तूने थूका था, कहां हैं वे तारे जो गवाही दे रहे होंगे? कहां हैं वे लोग? कहां की बात ले आया तू? जो हो गया हो गया, हम आगे बढ़ गये। तू वहीं रुका है! लेकिन रुक कैसे सकता है, सारा समय बदल गया, तू रुका कैसे है वहां? बात गयी हो गयी।"
वह आदमी कहने लगा, "नहीं-नहीं इस भांति न टालें, मुझे क्षमा कर दें।" बुद्ध ने कहा, "थूका था तूने कल, आज क्षमा कैसे करूं। फासला बहुत बड़ा हो गया। जो होना था कल हो चुका है। क्षमा कल ही तू कर दिया गया है, उसी क्षण। और अगर मैं क्षमा नहीं कर सका होता तो वह क्षण बीतता भी नहीं, मुझे भी उसी में जीना होता जिस भांति तू उसमें जीया है। बात खतम हो गयी है। तूने थूका था, हमने पोंछा था। और कुछ कहना है? और था क्या वहां? तू भूल गया। बहुत देर बाद... करके आया है। अब तो कोई उपाय नहीं है। अब तो कल्प-कल्प में, युग-युग में भी... अब तो कोई उपाय नहीं रहा। जो हो गया, हो गया। लेकिन उसे याद रखने की जरूरत कहां है?"
और बुद्ध उससे कहने लगे," तूने थूककर कोई बड़ी भूल न की थी। आदमी बड़ा असमर्थ है। ऐसी घटनाएं घटती हैं, ऐसे भाव आ जाते हैं, शब्द नहीं कह पाते। उसके लिए मैं तुझ पर कुछ भी नहीं कहता, लेकिन इतना जरूर कहूंगा कि तू वहीं रुक गया है, यह तू जरूर भूल कर रहा है। इसे जाने दे।"
एक फकीर था। चीन में, हुइ हाई। वह अपने गुरु के गांव, गुरु की खोज में गया हुआ था। वह जब गुरु के पास पहुंचा तो उसका गुरु पूछने लगा कि तू कहां से आता है!
हुइ हाई ने कहा, "पेंकिग से आता हूं।"
गुरु ने पूछा, "वहां चावल के भाव कितने हैं।" हुइ हाई ने कहा, "आप बड़े पागल मालूम होते हैं। चावल के भाव? मैं जिस रास्ते से गुजर गया गुजर गया, जिस पुल पर से गुजर गया गुजर गया। पेकिंग में मैं था, हूं नहीं। चावल के भाव रहे होंगे कुछ, लेकिन मैं क्या पागल हूं कि पेकिंग के चावल के भाव लेकर यहां आऊं!"
उसके गुरु ने कहा, "बात खत्म हो गयी। जिस आदमी की तलाश में था, तू आ गया। मैं सबसे यही पूछता हूं, कहां से आते हो? कोई कहता है, पेकिंग से, कोई

कहता है, कहीं और से, शंघाई से। और मैं पूछता हूं, चावल के भाव और वे लोग चावल के भाव बताने लगते हैं। मैं कहता हूं जाओ, अभी चावल के भाव ही ठीक करो। अभी परमात्मा का रास्ता बहुत मुश्किल है। तू आदमी पहला है कि नाराज हुआ मुझ पर कि चावल के भाव पूछते हैं? होंगे पेकिंग में कुछ, लेकिन पेकिंग पीछे छूट गया। मैं कोई चावल के भाव ढोता फिरता हूं?
लेकिन हम सारे लोग चावल के भाव ढोते फिरते हैं। इस शिविर में जो चावल
के भाव लेकर आये, वे खाली हाथ लौट जायेंगे, उन्हें कुछ भी नहीं मिल सकता है। नहीं, चावल के भाव छोड़ दें, चाहे वे बंबई के हों, चाहे पूना के हों, चाहे अहमदाबाद के हों, चाहे बड़ौदा के, चाहे पेकिंग के। चावल के भाव छोड़ दिए जाने चाहिए और चावल के भाव में सभी कुछ आ जाता है। सभी भाव चावल के ही भाव हैं। यह पहली बात कहना चाहता हूं।
तीन दिन के लिए पूरी तरह यहां आ जायें और बड़े मजे की बात यह है कि कुछ बहुत करना नहीं पड़ता। एक बोध, एक अंडरस्टैंडिंग, एक समझ कि सच, मैं अतीत में क्यों जीता हूं? जो बीत गया उसमें क्यों जीता हूं? इतना बोध काफी है! इतना बोध ही संकल्प पैदा कर देगा कि जाओ, छोड़ दिया! छोड़ने के लिए कोई रस्साकशी से आप बंधे हुए नहीं हो, कि कोई जंजीरें कहीं पकड़े हुए नहीं हैं, कोई आपको रोके हुए नहीं है अतीत, कि उसको छोड़ने के लिए तलवार चलानी पड़ेगी। नहीं, एक बोध, एक समझ पर्याप्त है। समझें कि क्यों मैं पीछे से बंधा हुआ हूं। और पीछे से आप मुक्त हो सकते हैं। समझ को संकल्प बनायें। समझ संकल्प बनती है। थोड़ी गहरी होगी, संकल्प बन जायेगी।
तो आज रात समझकर, संकल्पपूर्वक सोयें कि मैं छोड़ता हूं बीते को, छोड़ता हूं अतीत को, जाने देता हूं उसे। तीन दिन यहां अब रहूंगा। और तीन दिन स्मरण रखें इस बात का कि मन लौटकर पीछे तो नहीं जाता और जब भी जाये तब सिर्फ स्मरण रखें कि फिर चला मन वहीं। क्या पागल हूं मैं? और मन लौट आयेगा। थोड़ा- सा बोध और मन वर्तमान में लौट सकता है। तब, तब कुछ हो सकता है--एक बात! दूसरी बात: मन भरा है अतीत से और हम निरंतर भरे हुए हैं शब्दों से, बातचीत से, विचारों से। घड़ी भर कोई चुप नहीं है, घड़ी भर कोई मौन नहीं है, घड़ी भर शब्दों से कोई मुक्त नहीं होता। और अगर मुक्त होने का मौका मिल जाये तो हम घबराते हैं, बहुत डरते हैं, बहुत भयभीत होते हैं। मन की आदत है आकुपाइड, मन की आदत है उलझे रहने की। कुछ न कुछ चाहिए, कुछ न कुछ काम चाहिए। खाली मन नहीं होना चाहता है। क्यों नहीं होना चाहता है?
क्योंकि जैसे ही मन खाली हुआ कि मन की मृत्यु हो जाती है। वह जब तक उलझा रहे, लगा रहे, लगा रहे, लगा रहे तभी तक है। वह जो आकुपाइडनेस है, वह जो व्यस्तता है मन की; वही उसके प्राण हैं। और हम चौबीस घंटे व्यस्त हैं और फिजूल ही व्यस्त हैं। अगर कोई आदमी थोड़ा देखे कि वह क्या-क्या बातें कर रहा है, क्या विचार कर रहा है, किन बातों में उलझा है सुबह से सांझ तक, तो शायद बहुत हैरान हो जायेगा। जिन बातों को करने की कोई जरूरत न थी वे सारी बातें उसने की हैं।
और स्मरण रहे, जो आदमी उन बातों को करता है, जिनकी कोई जरूरत नहीं उसके जीवन में, वे बातें कभी भी नहीं हो पायेंगी जिनकी जरूरत है। ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। व्यर्थ बात और विचार--सार्थक तत्व तक नहीं पहुंचने देते। लेकिन हम तो सुबह उठे--और उठने का अर्थ ही है बातचीत--फिर हम बातचीत करना शुरू कर दिये। नहीं, साधना-शिविर में यह नहीं चलेगा। साधना- शिविर में यह कैसे चल सकता है?
तो आज रात सोते हैं तो अत्यंत मौन में और सुबह से उठते हैं तो ये तीन दिन मौन का एक गहरा अभ्यास बनना चाहिए। जहां तक बन सके मत बोलें। देखें, तीन दिन का प्रयोग कोई बहुत लंबा नहीं है। देखें, सिर्फ तीन दिन के लिए जहां तक बन सके न बोलें, जिनकी सामर्थ्य हो वह तीन दिन के लिए बिल्कुल चुप हो जायें। बोलें ही नहीं। थोड़ा बहुत काम हो, इशारे से चला लें, लिखकर चला लें। बहुत जरूरत मालूम पड़े तो एक दो शब्द बोलकर चला लें। जिनकी सामर्थ्य हो वह तो बिल्कुल चुप हो जायें। जो थोड़े कमजोर हों वह इतना ध्यान रखें कि व्यर्थ न बोलें। लेकिन मैं इतना कमजोर किसी को मानता नहीं हूं।

कोई आदमी इतना कमजोर नहीं है कि तीन दिन चुप न हो सके। एक बार देखें कि क्या घटना घट सकती है चुप होने से। इतने छोटे-से सूत्र से क्या घट सकता है? इतनी छोटी-सी बात लगती है चुप हो जाना; लेकिन क्या हो सकता है, पता है आपको? आसपास ही मौजूद है वह जिसकी हमें तलाश है। भीतर ही खड़ा है वह जिसकी हमें खोज है। लेकिन हम चुप नहीं, हम हैं व्यस्त, उसका हमें कोई पता नहीं चलता! स्वामी राम एक कहानी कहा करते थे। वह कहते थे, एक प्रेमी था, वह दूर देश चला गया था। उसकी प्रेयसी राह देखती रही। वर्ष आये, गये। पत्र आते थे उसके, अब आता हूं, अब आता हूं, अब आता हूं। लेकिन प्रतीक्षा लंबी होती चली गयी और वह नहीं आया, नहीं आया, नहीं आया। फिर वह प्रेयसी घबरा गयी और एक दिन खुद ही चलकर पैदल उस जगह पहुंच गयी जहां उसका प्रेमी था। वह उसके द्वार तक पहुंच गयी, द्वार खुला था। वह भीतर पहुंच गयी।
प्रेमी कुछ लिखता था, वह सामने ही बैठकर देखने लगी, उसका लिखना पूरा
हो जाये। प्रेमी उसी को पत्र लिख रहा था, प्रेयसी को पत्र लिख रहा था। और इतने दिन से उसने बार-बार वायदा किया और टूट गया तो बहुत-बहुत क्षमा मांग रहा था, बहुत-बहुत प्रेम की बातें लिख रहा था, बड़े गीत और कविताएं लिख रहा था जैसे कि अकसर प्रेमी लिखते हैं। वह सब लिखे चला जा रहा था--एक पन्ना, दो पन्ना, तीन पन्ना। प्रेमियों के पत्र पूरे तो होते ही नहीं। वह लंबे से लंबे होते चले जाते हैं।
वह लिखते ही चला जा रहा है। उसे पता भी नहीं है कि सामने कौन बैठा है। आधी रात हो गयी तब वह पत्र कहीं पूरा हुआ। उसने आंखें ऊपर उठाईं तो वह घबरा गया। समझा कि क्या कोई भूत-प्रेत! यह सामने कौन बैठा हुआ है? यह तो उसकी प्रेयसी है। नहीं-नहीं, लेकिन यह कैसे हो सकता है! वह चिल्लाने लगा कि नहीं-नहीं, यह कैसे हो सकता है कि तू है यहां, तू कैसे, कहां से आयी?
उसकी प्रेयसी ने कहा, मैं घंटों से बैठी हूं और प्रतीक्षा कर रही हूं
कि तुम्हारा लिखने का काम बंद हो जाये तो शायद तुम्हारी आंख मेरे पास पहुंचे। और वह प्रेमी छाती पीटकर रोने लगा कि पागल हूं मैं। मैं तुझी को पत्र लिख रहा हूं और इस पत्र के लिखने के कारण तुझे नहीं देख पा रहा हूं और तू सामने मौजूद है। आधी रात बीत गयी, तू यहां थी ही!
परमात्मा उससे भी ज्यादा निकट मौजूद है। हम न मालूम क्या-क्या बातें किये चले जा रहे हैं। न मालूम क्या-क्या पत्र लिख रहे हैं, शास्त्र पढ़ रहे हैं, न मालूम कौन-कौन से विचार कर रहे हैं। कोई गीता खोल कर बैठा हुआ है, कोई कुरान खोल कर बैठा हुआ है, कोई बाइबिल पढ़ रहा है, कोई नमो अरिहंताणम दोहरा रहा है, कोई नमो शिवाय कर रहा है। न मालूम क्या-क्या लोग कर रहे हैं; और जिसके लिए कर रहे हैं वह चारों तरफ हमेशा मौजूद है। लेकिन फुर्सत हो तब तो आंख उठे। काम बंद हो तो वह दिखायी पड़े, जो है।
तीन दिनों में विचार को जाने दें। और विचार के जाने के लिए पहली बात
है बातचीत को जाने दें। मौन जितना बन सके, इस सरू वन में, सरू के पौधों को पता भी न चले कि यहां इतने लोग आ गये हैं। उनको पता भी न चले कि यहां इतने लोग हैं। आप भी सरू के पौधे ही हो जायें इन तीन दिन के लिए। उनके पास बैठें तो मौन, जैसे कि पौधे मौन हैं। जैसे कि तारे मौन हैं। जैसे कि सारा जगत मौन है। एक घनघोर चुप्पी है। बातचीत के स्वर सिर्फ आदमी ने पैदा किये हैं और सारे जीवन और सारे संगीत को तोड़ डाला है।
तीन दिनों के लिए दूसरी बात निवेदन करना चाहता हूं--मौन! और आशा तो मेरी यह है कि सारे लोग बिल्कुल मौन हो जायें। बहुत जरूरी होगा। कभी दो- चार बात जरूरी हो सकती हैं, तो बने तो लिखकर कर लें, बने तो इशारे से कर लें, न बन सके तो बोलकर कर लें, लेकिन यह ध्यान रखकर कि वह बोलना टेलिग्राफिक हो, वह बोलना ऐसे ही हो जैसा तार करते वक्त आदमी तार करता है। देखता है कि एक आना और बढ़ा जा रहा है, एक शब्द और काटो, दूसरा शब्द काटो। आठ से ही काम चल जाये। सरकार पहले दस का दे देती थी हिसाब, अब वह आठ से भी लोग चलाने लगे हैं। वह छह से भी चल सकता है, वह पांच से भी चल सकता है। काटते चले जाना है। जितना जरूरी हो उतना शब्द और बाकी सब निःशब्द, बाकी सब मौन!
तो देखें कि तीन दिन में क्या नहीं हो सकता है। मैं नहीं चाहता हूं कि यहां से खाली हाथ आप वापस लौटें, लेकिन कुछ करना जरूरी है। मैं चाहता हूं

कि जाते वक्त आप दूसरे आदमी होकर लौटें। और मुझे पक्का ख्याल है कि जो मैं कह रहा हूं उस पर थोड़ा प्रयोग करेंगे तो निश्चित ही आप जो आदमी आये थे वही आपको वापस लौटने की जरूरत नहीं। आप बिल्कुल दूसरे आदमी होकर वापस लौट सकते हैं, वह आपके हाथ में है।
लेकिन कुछ करना जरूरी है। और करने के लिए मैं सरल-सी बातें बता रहा हूं। अगर मैं कहता कि तीन दिन एकदम बातचीत करना, कभी भी एक क्षण चुप मत रहना तो जरा कठिन भी हो सकता था, लेकिन मैं कह रहा हूं कि चुप हो जायें। लेकिन आपको यही कठिन लगेगा, क्योंकि वह बातचीत ने पागल शकल पकड़ ली है। हम उसे कर रहे हैं, हमें पता भी नहीं है कि हम क्यों कर रहे हैं, किसलिए बोल रहे हैं, क्या बोल रहे हैं, क्या प्रयोजन है उसका बोले जाने का? नहीं, कुछ भी पता नहीं है, क्योंकि खाली नहीं बैठ सकते इसलिए कुछ कर रहे हैं।
एक आदमी सिगरेट पी रहा है क्योंकि खाली नहीं बैठ सकता। दूसरा आदमी बातचीत कर रहा है क्योंकि खाली नहीं बैठ सकता। लेकिन हमारे ओंठ चलते रहने चाहिए--चाहे सिगरेट पीने में, चाहे बातचीत करने में। जिन मुल्कों में स्त्रियां भी सिगरेट पीने लगी हैं वहां स्त्रियों ने बातचीत कम कर दी है, और जिन मुल्कों में वे सिगरेट नहीं पीतीं वे आदमियों से ज्यादा बातचीत करती हैं। मामला कुल इतना है कि ओंठ चलते रहने चाहिए। चाहे सिगरेट पियो, चाहे बातचीत करो, ओंठ चलते रहना चाहिए। क्यों? यह ओंठों का इतना ज्यादा चलना भीतर मन के अशांत होने का सबूत है।
मन वाणी से बहुत गहराई से संबंधित है क्योंकि मन वाणी से ही प्रगट होता है। मन है आंतरिक वाणी, ओंठ हैं बहिर्मन। ओंठ से ही मन प्रगट होता है। मन चूंकि बहुत बेचैन और परेशान है इसलिए ओंठ दिन-रात कंप रहे हैं, बोलना चाहते हैं, कुछ कहना चाहते हैं।
जब परेशानी और बढ़ जाती है तो शरीर के दूसरे अंग भी हिलने लगते हैं। एक आदमी कुर्सी पर बैठा है, सिर्फ टांगें ही हिला रहा है। कोई उससे पूछे कि भाई साहब! क्या हो गया है आपको, ये टांगें क्यों हिल रही हैं? वह एकदम रुक जायेंगी टांगें और वह बहुत क्रोध से आपको देखेगा और उसे खुद भी पता नहीं कि टांगें क्यों हिल रही हैं! अब ओंठ हिलाने से काम नहीं चलता। अब हाथ-पैर और शरीर के दूसरे अंग भी हिलाने की जरूरत है। मन इतना भीतर कंप रहा है। बुद्ध की प्रतिमा देखें या महावीर की तो एक बात उस प्रतिमा में दिखायी पड़ेगी कि जैसे कोई निष्कंप, जैसे कहीं कोई हलन-चलन नहीं है। सब मौन, सब चुप, सब शांत हो गया।
एक आदमी बुद्ध के पास गया था, सामने ही बैठा था और जोर से अपने पैर का अंगूठा हिला रहा था। बुद्ध आत्मा-परमात्मा की बातें कर रहे थे, बंद कर दी उन्होंने। उन्होंने कहा कि, "भई एक बड़ी गड़बड़ यहां एक आदमी कर रहा है। वह पैर का अंगूठा हिला रहा है। तो जब तक यह अंगूठा बंद नहीं करता, मैं बात नहीं करूंगा, क्योंकि जब तक इसका अंगूठा हिल रहा है तब तक मेरी बात करना फिजूल है।"
उस आदमी ने कहा, "आप भी क्या बातें करते हैं, मेरे अंगूठे से आपका क्या
बन रहा, बिगड़ रहा है?" बुद्ध पूछने लगे, "अगर तू बता दे कि अंगूठा क्यों हिल रहा है तो फिर मैं आगे बात बढ़ाऊं।" उस आदमी ने कहा, "मुझे कुछ पता नहीं, बस ऐसे ही हिल रहा था।" बुद्ध ने कहा, "तेरा अंगूठा और ऐसे ही हिल रहा था, हद्द हो गयी, अंगूठा तेरा है कि मेरा, अंगूठा किसका है यह?" वह आदमी कहने लगा, "मेरा है।" बुद्ध ने कहा, "फिर तू यह क्यों नहीं बताता कि यह हिलता क्यों है? अब क्यों बंद हो गया?"
नहीं, हमें कुछ पता नहीं, भीतर कंपन है मन में। मन बहुत कंप रहा है। उसका कंपन सारे शरीर में फैलता चला जा रहा है। सबसे पहले वह ओंठ पर आता है, क्योंकि मन के निकटतम ओंठ हैं। उसके बाद वह सारे शरीर में फैलना शुरू हो जाता है। नहीं, ओंठ के कंपन को, अति कंपन को रोकना जरूरी है।
तो इन तीन दिनों में ओंठ के कंपन पर जरा कृपा करें उसे विश्राम में जाने दें। और ध्यान रखें, कि बड़ा आश्चर्यजनक अनुभव हो सकता है। क्योंकि जैसे ही आप मौन होंगे आपको चारों तरफ जो प्रकृति और परमात्मा की ध्वनियां हैं, वह प्रगाढ़ होकर सुनायी पड़ने लगेंगी। यह समुद्र का गर्जन भी आपको पहली

दफा सुनायी पड़ेगा जब आप मौन होंगे। और मैं जो कह रहा हूं वह भी आपको तभी सुनायी पड़ेगा जब आप मौन होंगे, अन्यथा आपके भीतर कंपन चल रहा है और मैं करीब-करीब दीवालों के सामने बोल रहा हूं।
एक फकीर था बोधिधर्म, वह बहुत बढ़िया फकीर था। दुनिया में थोड़े ही बढ़िया फकीर हुए हैं उनमें एक वह भी था। वह हमेशा, अगर आप उस आदमी से मिलने जाते तो वह आपकी तरफ पीठ करके बैठता। वह हमेशा दीवाल की तरफ मुंह करके बैठता था और आदमियों की तरफ पीठ। लोगों को बड़ा गुस्सा आता और लोग पूछते, "यह कैसा शिष्टाचार है। हम मिलने आये हैं और आप दीवाल की तरफ मुंह किये हुए हैं, और हमारी तरफ पीठ।"
बोधिधर्म कहता, "कम से कम दीवाल की तरफ मुंह करने से एक बात तो मन में रहती है, कि कोई हर्ज नहीं, दीवार है नहीं सुनती तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन तुम्हारी तरफ मुंह करने से बड़ी मुश्किल हो जाती है। हम कहे चले जाते हैं, तुम सुनते नहीं। तुम भी दीवाल हो और कहीं गुस्सा न आ जाये मुझे, इसलिए मैं दीवाल की तरफ ही मुंह रखता हूं। और दीवाल पर गुस्सा करने की जरूरत भी नहीं। दीवाल यानी दीवाल है, नहीं सुनती कोई हर्ज नहीं है। लेकिन तुम हो आदमी, तुम भी नहीं सुनते, इसलिए मैं पीठ करता हूं तुम्हारी तरफ।"
आप मौन होंगे, तभी सुन सकेंगे कि मैं क्या कह रहा हूं या यह जीवन क्या
कह रहा है! तो दूसरी बहुत जरूरी बात: यहां से लौटते ही एक परिपूर्ण सन्नाटा छा जाना चाहिए। तीन दिन के लिए हिम्मत करें, एक प्रयोग करें। तीन दिन में आपका कुछ बिगड़ नहीं जायेगा चुप होने से। क्या खो देंगे आप? देखें, और दूसरों को भी मौन बनाने में सहायक बनें। हम सब ऐसे लोग हैं जिसका कोई हिसाब नहीं। अगर कोई एक व्यक्ति मौन हो जायेगा तो चार लोग कहेंगे, अरे हो गये क्या मौन, आ गये क्या बातों में? चार लोग उससे कहेंगे अच्छा! आप आ गये, बड़े ध्यानी बन रहे हैं, मौन हो गये हैं?
हम हद्द के बेवकूफ हैं। हमारी मूढ़ता की कोई सीमा नहीं। हम किसी आदमी
के ठीक दिशा में जाने में हमेशा बाधा बनते हैं। नहीं, आपको मौन होना है और पड़ोसी मौन हो सके इसकी सुविधा देनी है। किसी का मौन आपसे न टूटे, इसकी फिक्र करनी है और इन तीन दिनों में यह प्रयोग करना है गहरे से गहरा कि आप इतने चुप हो जायें कि आप चुप ही हैं, कुछ भी नहीं है। तब मैं जो कल सुबह से बातें आपसे करने को हूं वे सुनायी पड़ सकेंगी। और वे बातें आप तभी प्रयोग कर सकेंगे जब मौन साथ होगा, अन्यथा उनका प्रयोग नहीं हो सकेगा। यह दूसरी बात है।
तीसरी बात: कल से बल्कि आज से ही, अभी से, आंख को नासाग्र रखना है। पूरी आंख खोलने की जरूरत नहीं है। आंख इतनी खुली हो कि नाक का अगला हिस्सा दिखायी पड़ता रहे। अगर आप रास्ते पर चल रहे हैं तो आपको चार कदम की जमीन दिखायी पड़े, बस इतनी आंख खुली हो, नाक का अग्र भाग दिखायी पड़ता रहे इतनी आंख खुले। आप हैरान हो जायेंगे कि अग्र भाग नाक का दिखायी पड़ता रहे, इतनी आंख खुली होगी तो मन एक अपरिसीम शांति में प्रवेश करता है। जैसे मैंने कहा, ओंठ से संबंध हैं मन के, वैसे ही आंख से गहरे संबंध हैं मन के। और आंख जब थिर हो जाती है और चारों तरफ के व्यर्थ के आघातों को स्वीकार नहीं करती, तब आंख के भीतर जो स्नायुओं का बड़ा जाल है, जिससे मन का संबंध है वे सारे स्नायु शांत हो जाते हैं।
पूरी आंख इस शिविर में नहीं खोलनी है। नाक दिखायी पड़े इतनी ही आंख खोलनी है, आधी खुली आंख। चलते, उठते, बैठते, खाना खाते हर वक्त ध्यान रखना है कि आंख इतनी ही खुली रहे कि नाक दिखायी पड़ती रहे, तीन दिन के लिए। और आप हैरान हो जायेंगे, आश्चर्य से भर जायेंगे कि क्या हो सकता है इतने-से, छोटे से प्रयोग से भीतर मन में क्या परिणाम हो सकते हैं!
आंख स्रोत है हमारे मानसिक जीवन का। जीवन के अधिकतम आघात हमारी आंख
से प्रवेश करते हैं और चित्त के स्नायुओं को डावांडोल करते हैं, तनाव से भरते हैं। अगर आंख आधी खुली हो तो रिलेक्स्ड होती है, उसमें कोई तनाव नहीं रह जाता। आप आधी आंख खोलकर देखेंगे और आपको पता चलेगा कि मन एकदम रिलेक्स्ड, शिथिल हो गया है। मन भीतर एकदम शांत हो गया है।

तो अभी यहां इस बैठक के बाद ही आधी आंख, थोड़ा ध्यान रखना पड़ेगा तो कल दोपहर पहुंचते-पहुंचते आंख स्मरण में रह जायेगी और आधी खुली रहेगी। चलें तो भी आधी खुली रहे, उठें तो भी, बैठें तो भी, खाना खायें तो भी। वह आपके मौन में भी सहायक होगी। हर स्थिति में आंख आधी खुली रहेगी। आंख की पलक हमारे तनावों के अधिकतम कारण होते हैं और आंख के पलक जितने पूरे खुले हों उतना ही मन सबसे ज्यादा तनाव से भर जाता है। उस तनाव की हालत में कई तरह के नुकसान पहुंचते हैं।
अगर आपने देखा हो नेताओं की मंच तो आपने ख्याल किया होगा, कि पंडित नेहरू की मंच कितनी ऊंची बनती थी। आपको पता है कि उतनी ऊंची मंच बनाने की क्या जरूरत है? शायद आपको पता नहीं होगा। आपकी आंख पूरी की पूरी खुली रहे और ऊपर देखती रहे और तनी रहे। हिटलर भी उतनी ही ऊंची मंच बनवाता था। दुनिया के सारे नेता उतनी ही ऊंची मंच बनवाते हैं। उसका मनोवैज्ञानिक कारण है।
उसका कारण है कि आंख जितनी खिंची होगी मन उतने तनाव से भर जायेगा। और आंख जितनी ऊपर की तरफ देखती होगी थोड़ी देर में आपका सोच-विचार क्षीण हो जायेगा। आप हिप्नोटिक हालत में आ जायेंगे, आप सम्मोहित अवस्था में आ जायेंगे। अगर पांच मिनट तक आंख को पूरी तरह खोला जाये, और ऊपर की तरफ देखा जाये तो आंख के भीतर के स्नायु तनाव से भर जाते हैं, सोच-विचार बंद हो जाता है, समझ खतम हो जाती है और आदमी एक तरह की हिप्नोटिक स्लीप, एक तरह की सम्मोहित निद्रा में प्रविष्ट हो जाता है। उस हालत में उससे जो भी कहा जायेगा, वह मान लेगा।
इसलिए दुनिया के राजनीतिज्ञ ऊंची मंच बनाते हैं ताकि वे जो भी कहें
वह आप मान लें। हिटलर तो मंच पर ही प्रकाश रखता था। बहुत हजारों कैंडिल के बल्ब चारों तरफ से, और सारे थिएटर में अंधकार करवा देता था, ताकि किसी आदमी की आंख किसी दूसरे को न देखे--सिर्फ हिटलर दिखाई पड़े--और उसके चेहरे पर भारी प्रकाश, ताकि वही दिखायी पड़ता रहे घंटे भर; और ऊंचा मंच, आखें तनी रहें और उस हालत में हिटलर जो भी कहेगा लोग मान लेंगे। वह सजेस्टिव हालत हो जाती है आंख में।
आंख जितनी शिथिल होगी, शांत होगी, ढीली होगी, आधी खुली होगी उतनी ही आप जाग्रत अवस्था में होंगे। और आंख जितनी खुली होगी, तेजी से खुली होगी उतने ही आपको मूर्च्छा में ले जाना आसान है। आपको बेहोश किया जा सकता है। अगर आपने हिप्नोटिक या मेस्मरिज्म करने वाले लोगों को देखा होगा तो आपको पता होगा कि वे कहेंगे कि पूरी आंख खोलकर हमारी आंखों में झांको, पांच मिनट बाद आप बेहोशी की हालत में हो जायेंगे, क्योंकि पूरी आंख खोलना मन पर इतना तनाव, इतना टेंशन डालना है कि उस टेंशन की हालत में मन सजग नहीं रहता। अति तनाव के कारण बेहोश हो जाता है, मूर्च्छित हो जाता है, सुप्त निद्रा में चला जाता है। इसीलिए त्राटक या दीया जलाकर लोग ध्यान करते हैं, वह ध्यान नहीं है। वे खुद को सुलाने की तरकीबें हैं, वे सब नींद में जाने की दवाएं हैं।
नहीं, ध्यान तो हमेशा आधी खुली आंख से होगा, चूंकि आधी खुली आंख, आंख
की सर्वाधिक शांत जागरूक, अवेयरनेस की अवस्था है। तो आप प्रयोग करेंगे तो आपको दिखायी पड़ेगा कि जैसे ही आंख आधी खुली हुई नासाग्र होगी, वैसे ही आप शांति का, भीतर एक झरने का--जैसे कुछ चीज मस्तिष्क पर शांत हो गयी, कोई तनाव उतर गया, कोई बादल हट गया, कोई बोझ हट गया--और साथ ही एक नये प्रकार का होश, एक जागृति, एक अवेयरनेस, एक बोध, एक अलर्टनेस पैदा होगी और लगेगा कि मैं ज्यादा होश से भरा हुआ हूं।
इस प्रयोग को, आंख के आधे खुले होने के प्रयोग को ध्यान में तो हम करेंगे ही, अभी जब रात का ध्यान करेंगे तब भी करेंगे, सुबह के ध्यान में भी करेंगे, लेकिन आपको शेष समय में भी करना है। और सर्वाधिक उपयोगी होगा इन तीन दिनों में, समुद्र के तट पर चले जायें अकेले में, थोड़े तेजी से चलें, गहरी श्वास लें और आंख नासाग्र रखें तो आपको घंटे भर में ही एक अपूर्व जागरण की भीतर प्रतीति होगी। अकेले चले जायें तट पर, जोर से चलें, गहरी सांस लें और आंख को नासाग्र रखें। एक घंटे में ही आप पायेंगे कि ऐसी शांति

आपने कभी नहीं पायी, ऐसा जागरण आपको कभी अनुभव नहीं हुआ। आपके भीतर एक नयी चेतना ही द्वार तोड़ रही है, यह आपको प्रतीत होगा।
तो प्रत्येक साधक दिन में कम से कम दो घंटे समुद्र तट पर जाकर तेजी से चलेगा, वह सक्रिय ध्यान होगा। निष्क्रिय ध्यान हम यहां करेंगे। यहां दो बार हम ध्यान करेंगे, सुबह और रात। वह शिथिल, शांत अवस्था में करेंगे। वहां आप सुबह और दोपहर या जब भी आपको मौका मिले एक घंटे तेजी से चलें और सक्रिय ध्यान करें। इन तीन दिनों को मैं इंटेंस मैडिटेशन के, सघन ध्यान के दिन बनाना चाहता हूं कि चौबीस घंटे हम ध्यान की गहरी से गहरी पर्तों को तोड़ने में सफल हो सकें।
ये तीन बातें मैंने कहीं। ये प्राथमिक बातें हैं। आने वाले तीन दिनों में चार साधना के अंगों पर मैं बात करना चाहूंगा। कल सुबह करुणा, फिर मैत्री, फिर मुदिता, फिर उपेक्षा। ये चार तत्व ध्यान के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं। इन चार तत्वों का जिसके भाव में जन्म हो जाता है वह इस भांति ध्यान में प्रविष्ट हो जाता है, जैसे कभी आपने आकाश से गिरते हुए तारों को देखा हो। किस तीव्रता से वे पृथ्वी की तरफ बढ़ते हैं, पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण उन्हें खींचता है। वे भागे चले आते हैं तीर की तरह। जैसे ही ये चार तत्व किसी व्यक्ति के जीवन में पूरे हो जायें, सारे प्राण परमात्मा की तरफ उल्कापात की तरह, गिरते हुए तारे की तरह भागते हैं। परमात्मा का आकर्षण उसे खींचना शुरू हो जाता है।
एक ग्रेवीटेशन हम जानते हैं पृथ्वी का, एक ग्रेवीटेशन और है, वह है परमात्मा का। उसमें जाने के लिए वह चार तत्वों की बात मैं आने वाले दिनों में करने को हूं, लेकिन वे बातें उन्हीं की समझ में आ सकेंगी जो मैंने तीन सूत्र कहे, जो उन पर प्रयोग करेंगे। और यहां मैंने बुलाया ही इसलिए है कि प्रयोग करना है।
अब हम रात्रि के ध्यान के लिए बैठेंगे। तो उसके पहले दो-चार सूचनाएं
और मुझे देनी हैं, वह आपको दे दूं।
दोपहर को दो से तीन के बीच मुझसे मिलने का समय है। मुझसे मिलने का अर्थ समझ लेना चाहिए। वहां मुझसे प्रश्न पूछने नहीं आना है। प्रश्न तो जो भी पूछने हैं वह रात की बैठक में मैं उत्तर दूंगा तो यहीं पूछ लेने हैं। जो भी प्रश्न पूछने हों वे यहीं पूछ लेने हैं वहां तो मिलने मुझे दूसरे कारण से किसी को आना हो तो आ सकता है। उस एक घंटे में किसी को भी ऐसा लगता हो कि मेरे पास दो क्षण आकर बैठ जाना है तो उसी को आना है। न मालूम कितने मित्रों को लगता है कि दो क्षण आकर वे मेरे पास बैठ जायें, लेकिन उन्हें यह ख्याल होता है कि मेरे पास आना है तो कुछ पूछने के लिए आना है, नहीं तो किसलिए जाना है, तो वे कुछ भी पूछने पहुंच जाते हैं। उनके प्रश्न से मुझे पता लगता है कि उन्हें पूछना नहीं था। यह प्रश्न वे सिर्फ इसलिए पूछ रहे हैं कि उन्हें आना था। नहीं, कोई अनावश्यक पूछताछ की जरूरत नहीं।
आपको आकर चुपचाप बैठना है, दो मिनट आकर बैठें। आपके पूछने से और मेरे बताने से वह ज्यादा महत्वपूर्ण और कीमती है। किसी को कई बार लगता है--रोज गांव-गांव में मित्र आते हैं, कोई आकर हाथ पकड़कर दो क्षण बैठकर रो लेगा। और मैं जानता हूं कि इसका आध्यात्मिक मूल्य है, उपयोग है, लेकिन उतनी हिम्मत भी लोगों ने खो दी है। न कोई हिम्मत से रो सकता है, न कोई हिम्मत से प्रेम कर सकता है, न हिम्मत से कोई किसी के गले मिल सकता है, न हिम्मत से कोई किसी का हाथ अपने हाथ में ले सकता है। उस घंटे में तो जिनको मेरे पास इंटीमेट रिलेशनशिप के लिए, एक निकटतम और एक आंतरिक संबंध के लिए आना है, उन्हीं को आना है। जिनको प्रश्न पूछना है वे लिखित प्रश्न दे देंगे तो सांझ की बैठक में उनके उत्तर हो सकेंगे।
दो से तीन वहां मैं मिलूंगा। फिर तीन से चार हम यहां सरू वन में एक घंटा मौन में बैठेंगे, सारे लोग साथ। आप दिन भर ही मौन में रहेंगे, लेकिन वह एक घंटा मेरे साथ मौन में रहेंगे। आपसे बात करता हूं रोज। एक बात है जो शब्दों से कही जा सकती है, कुछ बातें हैं जो सिर्फ मौन में कही जा सकती हैं।

एक घंटे वह मौन प्रवचन होगा। कुछ मैं आपसे कहूंगा जरूर। कुछ आप सुनेंगे, समझेंगे जरूर, लेकिन शब्दों का उपयोग नहीं होगा। तो आप जितने गहरे मौन में और जितनी प्रतीक्षा में होंगे उतना वह संबंध स्थापित हो सकेगा। पिछली बार एक घंटे मौन से हम बैठे थे तो किन्हीं लोगों को मेरे पास आने का लगा था तो वे मिलने आये थे, लेकिन अब चूंकि रोज एक घंटा मिलने के लिए है, इसलिए मौन के उस घंटे भर के प्रयोग में मुझसे मिलने कोई भी नहीं आयेगा। जिसको भी मिलने जैसा लगेगा वह दूसरे दिन दो बजे मुझ से मिलने आएगा। वहां हम सिर्फ बैठेंगे! कोई मिलने नहीं आएगा, चुपचाप बैठेंगे। उस चुपचाप बैठने में जो भी हो, होने दें। किसी की आंख से आंसू बहने लगें तो बह जाने दें, जो होता हो होने दें। छोड़ दें अपने को बिल्कुल--"लेट गो।"
तो दिन भर आप मौन रखेंगे। फिर एक घंटे निकट मैं आपके रहूंगा और एक घंटे दोपहर मौन रखेंगे। रात को आपके प्रश्नों के उत्तर होंगे, लेकिन ध्यान रहे आपके सभी प्रश्नों के उत्तर मैं नहीं दूंगा। मैं सिर्फ उन प्रश्नों के उत्तर दूंगा कि जिस संबंध में मैं बोल रहा हूं, उस संबंध में ही वह प्रश्न हों, ताकि वह आपकी साधना के काम पड़ सके। आप व्यर्थ के, मेटाफिजिक्स के, और तत्व-दर्शन के प्रश्न नहीं लायेंगे। उनके लिए मैं गांव-गांव में आता हूं। जब आपके गांव आऊं तब आपको जो भी फिजूल बातें पूछनी हों, वह आप पूछना। यहां तो सिर्फ तीन दिन हम एक-एक क्षण भी साधना के लिए ही लगाना चाहते हैं। इसलिए केवल वे ही मित्र पूछेंगे, जिन्हें साधना की दृष्टि से पूछना है, करने की दृष्टि से पूछना है। और जो मैं कह रहा हूं, उसे कैसे करें, क्या बाधा पड़ रही है, इस दृष्टि से पूछना है। जो मैं कह रहा हूं वह समझ में नहीं आ रहा है, उस दृष्टि से पूछना है।
लेकिन दूसरी फिजूल की बातें कि कितने स्वर्ग होते हैं और कितने नर्क होते हैं, इन सब बातों की पूछने की यहां कोई जरूरत नहीं। वह ध्यान रखेंगे। और पूछेंगे भी आप तो मैं उत्तर उनका देने वाला नहीं हूं। मैं सिर्फ उनका ही उत्तर दूंगा जो मुझे लगेंगे कि इस तीन दिन की साधना प्रक्रिया में सहयोगी प्रश्न हैं।
अब हम रात के ध्यान के लिए बैठेंगे। दो बातें समझ लेनी जरूरी हैं।
आंखें आधी खुली रखनी हैं। आधी खुली रखने का मतलब आप समझ गये होंगे, नाक का अगला हिस्सा दिखायी पड़ता रहे। इतनी पलक खुली रहे कि आंख नहीं खोलनी हैं--न पूरी आंख बंद करनी है, न पूरी आंख खोलनी है। आधी आंख खोलकर अत्यंत शांति से आराम से बैठ जाना है, कोई तनाव शरीर को नहीं देना है।
प्रकाश यहां बुझा दिया जायेगा ताकि जो परमात्मा का प्रकाश ऊपर से गिर रहा है वह निकट आ जाये। आदमी का प्रकाश है बहुत कमजोर, लेकिन परमात्मा के प्रकाश को रोकने को काफी समर्थ है। वह चांदनी दिखायी नहीं पड़ती, एक बिजली का बल्ब जला हो, तो ये सारे बल्ब बुझा दिये जायेंगे ताकि चांदनी बरसने लगे और हम चंद्रमा के निकट हो जायें और इन सरू के वृक्षों के निकट हो जायें। जैसे ही आप आधी आंख खोलकर शांत बैठेंगे, मैं थोड़ी देर तक कुछ सुझाव दूंगा।
पहला सुझाव दूंगा कि आपका शरीर शिथिल हो रहा है तो शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ देना है जैसे कोई प्राण नहीं।
फिर सुझाव दूंगा कि आपकी श्वास शिथिल हो रही है तो श्वास को बिल्कुल धीमी छोड़ देना है, जितनी आये आये, न आये न आये, जाये जाये। अपनी तरफ से नहीं लेनी है, बल्कि धीमी छोड़ देनी है। वह धीरे-धीरे धीमी होती चली जायेगी। फिर मैं तीसरा सुझाव दूंगा कि मन शांत हो रहा है। तब मन को भी शिथिल छोड़ देना है। वह धीरे-धीरे शांत होता चला जायेगा।
फिर मैं कहूंगा कि अब दस मिनट के लिए शांति से बैठे रहेंगे। क्या करेंगे उस शांति में, क्या होगा? जैसे ही मन शांत होगा वैसे ही चारों तरफ की आवाजें सुनायी पड़ने लगेंगी। दूर सागर का गर्जन, हवायें आयेंगी, सरू के वृक्षों को हिलायेंगी, उनकी आवाजें। कोई पक्षी चिल्लायेगा, कोई बच्चा रो उठेगा, कोई कुत्ता भौंकेगा, चारों तरफ परमात्मा न मालूम कितनी आवाजों में बोल रहा है, वह सब सुनायी पड़ने लगेगा। उसे चुपचाप सुनते जाना है। उसे सुनते ही सुनते और गहरा शून्य उत्पन्न हो जायेगा।

साधना पथ
पच्चीसवां प्रवचन

प्रभु-मंदिर का पहला द्वार: करुणा

प्रभु के मंदिर की सीढ़ियों की बात कल मैंने आपसे कही। जैसे सीढ़ियां हैं उस मंदिर की, वैसे इस घर की।
पहले द्वार पर आज चर्चा करें। उस तक पहुंचने के लिये तो करुणा की गहराइयों में उतरना जरूरी है। और हम सब कठोरता के सख्त पत्थर बन गये हैं। मनुष्य करीब-करीब एक पाषाण हो गया है, एक पत्थर। पत्थर भी इतने पत्थर नहीं हैं जितने हम पत्थर हो गये हैं। चारों तरफ देखेंगे समाज में तो मेरी इस बात के लिये कोई प्रमाण खोजने की जरूरत नहीं होगी। अगर मनुष्य इतना कठोर न होता जितना कि वह है तो इतने कुरूप, इतने गंदे, इतने दुखद और इतने हम हिंसात्मक समाज को जन्म नहीं दे सकते थे।
जन्म से लेकर मृत्यु, सारा जीवन हिंसा का एक जीवन है, कठोरता का, दुख देने का, चारों ओर कांटे फैलाने का। लेकिन शायद कठोरता इतनी हमारे गहराई में प्रविष्ट हो गई है कि उसका हमें कोई पता भी नहीं चलता है। उसका हमें बोध भी नहीं होता है। हमारा सारा व्यक्तित्व भी कठोरता से भर गया है। हमारे जीवन के सारे चरण--हमारा उठना, बैठना, सोचना, देखना तक कठोर हो गया है और प्रभु के मंदिर का द्वार है करुणा। वे वहां पहुंचते हैं; सत्य तक, अमृत तक जो अपने जीवन की सारी कठोरता को तोड़कर तरल बनने में समर्थ हो जाते हैं, करुणा में बह जाने में समर्थ हो जाते हैं।
करुणा से मेरा क्या अर्थ है? और कठोरता से क्या? जब मैं कह रहा हूं कि मनुष्य कठोर हो गया है तो आप ऐसा मत सोचना कि मैं दूसरे मनुष्यों के संबंध में कह रहा हूं, तो आप भी मेरे साथ अनुभव से गुजर सकेंगे। सोचना अपने लिए कि क्या मैं कठोर हो गया हूं? अन्यथा यह बात बिल्कुल ठीक मालूम पड़ती है कि लोग कठोर हो गये हैं। हम अपने को बाद देकर, अलग करके सोचते हैं तो बात ठीक मालूम पड़ती है कि लोग कठोर हो गये हैं, लेकिन तब इस बात का कोई अर्थ नहीं। साधक निरंतर जब भी सोचता है तो अपने से शुरू करता है सोचना। मनुष्य कठोर हो गया है या मैं कठोर हो गया हूं। और जरा-सी भी दृष्टि अपने जीवन में और यह बताने में कोई कठिनाई नहीं रह जायेगी कि हम किस भांति कठोर हो गये हैं।
हेनरी थारो था अमरीका में एक अदभुत व्यक्ति। कोई उससे मिलने आया था। हेनरी थारो ने प्रेम से उसका हाथ अपने हाथ में लिया और फिर उदासी से हाथ छोड़ दिया और आंख बंद कर लीं। वह आदमी तो बहुत हैरान हुआ। उसने कहा, आपको क्या हो गया है? आपने हाथ इतने प्रेम से लिया था, फिर छोड़ क्यों दिया, फिर आंख क्यों बंद कर ली, फिर आपकी आंखों से ये आंसू क्यों बह रहे हैं! आपको हो क्या गया?
लेकिन हेनरी थारो है कि रोता ही चला जाता है। वह आदमी हिलाने लगा, थारो ने आंख खोली और कहा कि तुझे पता नहीं क्या हुआ? तेरे हाथ को मैंने हाथ में लिया और मुझे ऐसा नहीं मालूम पड़ा कि मैं किसी जीवित मनुष्य का हाथ अपने हाथ में ले रहा हूं। मुझे ऐसा लगा जैसे कोई लाश है जिसके हाथ को मैंने पकड़ लिया। मुझे ऐसा लगा, जैसे वृक्ष की कोई सूखी शाखा है जिसे मैंने हाथ में ले लिया। वहां न प्रेम था, न करुणा थी, न सौहार्द्र था, न कोई सहानुभूति थी। न उस हाथ में कोई रस था, न कोई जीवंत प्रवाह था। वह हाथ एक मुर्दा हाथ था।
आपका हाथ भी तो इतना मुर्दा नहीं हो गया है कि उसमें कोई प्रवाह न हो, कोई रस न हो, कोई सहानुभूति न हो। कभी न हम खोजते हैं, न सोचते हैं कि हमारे हाथ कैसे हो गये, हमारी आंखें कैसी हो गयीं? उठते हैं, बैठते हैं, चलते हैं; लेकिन कोई करुणा का, कोई प्रेम का बहाव व्यक्तित्व से नहीं होता। कोई प्रेम की किरणें चारों तरफ बिखरती नहीं, हवाओं में कोई हमारी सुगंध नहीं जाती। अनेक-अनेक तलों पर वह कठोरता है। हम कैसे किसी को देखते हैं? कैसे हम किसी को देखते हैं, कैसे हम किसी से बोलते हैं, कैसे हम चुप होते हैं,

कैसा है हमारा व्यवहार, कैसी है हमारी पूरी जीवनचर्या? उसमें करुणा का कोई संस्पर्श है, उसमें करुणा की कोई धारा है?
यह किसी और से नहीं कह रहा हूं मैं। यह मनुष्यता के लिये नहीं कह रहा हूं। एक-एक मनुष्य के लिए, मेरे और आपके लिए कह रहा हूं। लौटकर देखना जरूरी है जीवन की अपनी पूरी यात्रा को कि वहां कभी मेरे जीवन में करुणा आयी थी, कभी प्रेम से मैं पिघल गया था और बह गया था? कभी ऐसा हुआ था कि मेरे अहंकार की कठोर चट्टान टूट गयी हो? कभी ऐसा हुआ था कि मेरा भय विसर्जित हो गया हो? कभी ऐसा हुआ था किसी क्षण में कि मैं बह गया था पूरा, मेरे पीछे मैंने कुछ भी नहीं बचाया था, सब बंट गया था मेरा।
नहीं, ऐसा नहीं हुआ है, अन्यथा परमात्मा कभी का उपलब्ध हो गया होता।
वह तो उसी क्षण में उपलब्ध हो जाता है, जब कोई पूरी तरह से करुणा में बहने को, तरल होने को, विगलित होने को तैयार हो जाता है।
करुणा, यानी एक जीवंत प्रेम का प्रवाह। करुणा का अर्थ है बहता हुआ प्रेम। जिसे हम प्रेम कहते हैं वह प्रेम बंधा हुआ प्रेम है, वह किसी एक पर बंधकर बैठ जाता है। और प्रेम जब बंध जाता है तब वह भी करुणापूर्ण नहीं रह जाता है, वह भी हिंसापूर्ण हो जाता है। जब मैं किसी एक को प्रेम करता हूं तो अनजाने ही मैं शेष सारे जगत के प्रति अप्रेम से भर जाता हूं। और यह कैसे संभव है कि इतने बड़े जगत को मैं अप्रेम करूं और किसी एक को प्रेम कर सकूं? नहीं, वह एक के प्रति प्रेम भी मेरा झूठा ही होगा, क्योंकि इतने विराट जगत के प्रति जिसका कोई प्रेम नहीं उसका एक के प्रति प्रेम कैसे हो सकता है?
एक फूल खिलता है एक रास्ते पर और वह फूल कहने लगे कि मेरी सुगंध सिर्फ
एक को मिलेगी और किसी को नहीं--कोई एक है, जो उस रास्ते से आयेगा तो मेरी सुगंध मिलेगी उसे, मैं नाचूंगा हवाओं में उस क्षण, लेकिन सबके लिए नहीं। और जो फूल सबके प्रति इतना कठोर हो जायेगा, क्या आप आशा करते हैं, जब वह एक आयेगा जिसकी प्रतीक्षा थी उसे; तो वह नाच सकेगा, गीत गा सकेगा, सुगंध फेंक सकेगा? इतने लोगों के प्रति कठोर होने में वह इतना कठोर हो गया होगा कि जब वह व्यक्ति भी आकर खड़ा हो जायेगा जिसके लिए उसने चाहा था कि दे दूंगा प्रेम, तब तक आदत कठोर होने की इतनी मजबूत हो चुकी होगी कि इस एक के प्रति भी प्रेम बहेगा नहीं।
करुणा का अर्थ है, समस्त के प्रति प्रेम। करुणा का अर्थ है, प्रेम कहीं बंधे नहीं, बहता रहे। प्रेम कहीं रुके नहीं, चलता रहे। जहां भी कुछ रुकता है वहीं गंदगी शुरू हो जाती है। और हमारा सारा प्रेम गंदा हो गया है, क्योंकि वह सब रुका हुआ प्रेम है। वह कहीं रुक जाता है। वह अजस्र धारा नहीं रहती, बंध जाता है। बंधकर गंदा होना शुरू हो जाता है, फिर कीचड़-पत्ते उसमें इकट्ठे हो जाते हैं और बदबू, और वह सूखने लगता है।
जीवन में जो भी श्रेष्ठ है वह बहता हुआ ही जीवित रहता है। जहां भी कुछ रुका और वहीं उसका अंत हो जाता है, वहीं मृत्यु आ जाती है।
प्रेम हम सबका रुक गया है। और स्मरण रहे, रुका हुआ प्रेम सिर्फ धोखा है, रुका हुआ प्रेम प्रेम ही नहीं है। इसलिए मां कहती है बेटे से कि हम प्रेम करते हैं, पति कहता है पत्नी से कि हम प्रेम करते हैं, कोई प्रेम नहीं कर रहा है। यह असंभव है प्रेम का बंध जाना, यह वैसे ही असंभव है जैसे कोई सूरज को अपने घर में लाकर बंद कर ले।
सूरज से भी ज्यादा बड़ी शक्ति है प्रेम की। उसे किसी छोटे घर में कैसे बंद किया जा सकता है? सूरज से भी ज्यादा ज्वलंत है प्रेम की घटना; उससे भी ज्यादा ऊर्जस्वी। उस प्रेम को किसी घर में कैसे बंद किया जा सकता है? नहीं, वह घर में भी आ सकता है इसी शर्त पर कि पूरी पृथ्वी पर जाता हो। सूरज आपके आंगन में भी आता है, लेकिन इसी शर्त पर कि सब आंगनों में जाता है। किसी दिन जिस दिन कोई पागल मनुष्य यह चेष्टा करेगा कि बस मेरे ही आंगन तक सूरज बंध जाये, उस दिन पड़ोस के आंगनों में तो नहीं ही जायेगा, उसके आंगन में भी अंधकार ही रहेगा, उसके आंगन में भी नहीं आ सकता है।
प्रेम को हम सबने बांध लिया है, इस मोह में कि प्रेम को बांध लेंगे तो ज्यादा पा लेंगे; भूल है यह। प्रेम बंधा कि मरा। फिर बिल्कुल भी नहीं पाया

जा सकता है। प्रेम जितना बहता है, निर्बाध जाता है दूर और अनंत तक बहता हुआ, उतना ही गहरा होता है, उतना ही जीवित होता है। जितना मैं अनंत को प्रेम करने में समर्थ होता हूं उतना ही एक को भी प्रेम देने में समर्थ हो पाता हूं। जो मां कहती है मेरे बेटे को प्रेम, बस प्रेम मर गया। मेरे से बंधा और मर गया। जहां मेरा आया और प्रेम की मौत आ गयी।
नहीं, मेरे बेटे को भी प्रेम मिल सकता है, इसी शर्त पर कि और जो सब बेटे हैं उन तक वह प्रेम जाता हो। और जितने मेरे प्रेम का विस्तार होगा उतना ही एक के भीतर मेरे प्रेम की गहराई होगी। प्रेम का विस्तार अनंत तक होगा और प्रेम की गहराई एक-एक के भीतर प्रविष्ट हो जायेगी।
प्रेम उतना ही गहरा होगा जितना विस्तीर्ण होगा। प्रेम की गहराई और विस्तार सदा समान है। एक वृक्ष, ये सरू के वृक्ष खड़े हैं, ये दूर आकाश तक उठते चले गये हैं। शायद हमें यह ख्याल भी न हो इनका ऊपर जो इतना विस्तार हुआ है इससे ही जुड़ी हुई इनकी जड़ें नीचे गहरी चली गयी हैं। यह बिल्कुल समान है। जितनी गहरे जड़ें इनकी नीचे गहरी गयी हैं उतने ही ये ऊपर उठ सके। जितने ये ऊपर उठ सके हैं उतनी ही इनकी जड़ों को भीतर गहरे जाना पड़ा है। ऊपर इनका फैलाव इनके भीतर की गहराई के अनुपात से बंधा हुआ है।
प्रेम जितना विस्तीर्ण होता है और खुले आकाश में उठता चला जाता है अनंत के प्रति, उतना ही एक-एक के भीतर उसकी जड़ें गहरी होती चली जाती हैं। करुणा का अर्थ है विस्तीर्ण प्रेम। इसलिए करुणा में मोह की संभावना नहीं है, करुणा में बंधने का सवाल नहीं है, करुणा में कोई मांग नहीं है।
करुणा यह नहीं कहती कि मैं करुणापूर्ण हूं इसलिये तुम्हें कुछ देना पड़ेगा। जो करुणा मांगती है वह करुणा न रही। जो प्रेम मांगता है वह प्रेम न रहा।
लेकिन हमारा तथाकथित प्रेम मांगता पहले है, देता बाद में है। सुनिश्चित हो जाये कि इतना मिलेगा तो उसी अनुपात में देता है। देता भी इसीलिए है ताकि मिल सके और इसीलिए प्रेम एक दुखद घटना हो गयी है। प्रेम से किसी को सुख मिलता हुआ मालूम नहीं पड़ता, सिर्फ सुख के सपने दिखायी पड़ते हैं। लेकिन सुख मिलता हुआ मालूम नहीं पड़ता।
किर्कगार्ड ने एक अदभुत बात कही है। उसने कहा है कि धन्य हैं वे प्रेमी जिन्हें प्रेमिकाएं नहीं मिलीं, क्योंकि जीवन भर कम से कम सपना तो बना रहा कि प्रेम होता तो यह होता, यह होता, यह होता। अभागे हैं वे प्रेमी जिन्हें प्रेमिकाएं मिल जाती हैं क्योंकि तब सपने टूट जाते हैं और जो मिलता है वह बहुत नारकीय है।
अजीब-सी बात है, लेकिन सच है। प्रेम सिर्फ सपना बनकर रह गया है। इसलिए सपना बनकर रह गया है कि प्रेम हमारी करुणा से नहीं जन्मता। हमारे भीतर करुणा तो है ही नहीं। हम भीतर तो हैं कठोर, हम भीतर तो बिल्कुल असमर्थ हैं बहने में बाहर की तरफ। और क्यों हैं असमर्थ?
जितना तीव्र अहंकार होगा उतनी ही असमर्थता होगी बहने में। क्योंकि अहंकार कहता है आओ बाहर से, लाओ भीतर। अहंकार भीतर से बाहर नहीं जाने देता। बाहर से जो भी आ सके उसे भीतर लाता है--धन आ सके, ज्ञान आ सके, प्रेम आ सके। अहंकार की मांग है कि जो भी बाहर से लाया जा सके भीतर उसे लाओ ताकि मैं मजबूत हो सकूं, ताकि मेरी शक्ति बढ़ सके। रुपये आयें, ज्ञान आये, प्रेम आये, सब आये। प्रेम चिल्लाता है लाओ, लाओ, लाओ। उसकी पुकार एक ही है, वह संग्रह पर जीता है।
जितना संग्रह होगा, उतना बड़ा हो जायेगा। दस रुपयों के ढेर पर आप बैठे हैं, आपका अहंकार बहुत बड़ा कैसे हो सकता है? दस करोड़ पर बैठे हैं तो ढेर बड़ा हो गया; आपका अहंकार बड़ा हो गया, अकड़ बड़ी हो गयी। दो-चार किताबें आपने पढ़ी हैं तो बेचारा अहंकार कैसे मजबूत होगा? बहुत ज्ञानी हैं आप, बहुत शास्त्र आप जानते हैं तो फिर ज्ञान मजबूत हुआ। आपने दो-चार उपवास किये हैं तो उससे क्या होगा? अगर आपने सौ उपवास किये हैं तो फिर अहंकार को आया रस। मैं हूं उपवासी, मैं हूं त्यागी, मैं हूं तपस्वी, फिर वह मजबूत होगा।
तो अहंकार कहता है लाओ, चाहे उपवास लाओ, चाहे तप लाओ, चाहे ज्ञान, चाहे धन; लेकिन लाओ। मैं को मजबूत करो। यह इगो, यह अहंकार मजबूत हो।

जो आदमी मांगने लगता है लाओ, लाओ, उसके भीतर से प्रवाह बंद हो जाता है, उसके भीतर से बाहर कुछ भी नहीं जाता। सिर्फ बाहर से भीतर लाने की चेष्टा चलती है। और जिस मनुष्य के भीतर फिर जितना बाहर कुछ भी नहीं वह मनुष्य जीवित नहीं है, क्योंकि जीवन सदा भीतर से बाहर की तरफ जाता है। एक बीज से अंकुर निकलता है, उठता है, आकाश की तरफ। एक नदी निकलती है पहाड़ से और दौड़ती है सागर की तरफ। एक बच्चा मां से आता है गर्भ से, जाता है बाहर के विस्तीर्ण जगत में। जैसे बीज अंकुरित होकर जाता है ऐसा एक बच्चा मां को छोड़ देता है। उससे आता है भीतर से और जाता है बाहर की तरफ।
सारे जीवन की गति भीतर से बाहर की तरफ है और हमारे अहंकार की गति बिल्कुल उलटी है। वह कहता है बाहर से भीतर की तरफ। बाहर से भीतर की तरफ कभी कुछ नहीं जाता। बाहर से भीतर की तरफ कोई यात्रा नहीं है। बाहर से भीतर की तरफ सिर्फ भ्रम है, इल्यू.जन है। करोड़ रुपये के ऊपर बैठा हुआ आदमी सिर्फ इस भ्रम में है कि मैं कुछ हो गया हूं। वह क्या हो गया है? दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया आदमी इस भ्रम में है कि मैं कुछ हो गया हूं। वह क्या हो गया है? च्वांगत्सु एक मरघट से गुजरता था और एक आदमी की खोपड़ी उसके पैर से लग गयी। रात थी अंधेरी। उसने उस खोपड़ी को उठा लिया और बहुत क्षमा मांगने लगा। क्योंकि वह मरघट छोटे लोगों का मरघट न था, बड़े लोगों का मरघट था। मरघट भी अलग-अलग हैं छोटे और बड़े लोगों के। जैसे मृत्यु के बाद भी कोई हिसाब रखा जा सकता है कि कौन था बड़ा, कौन था छोटा! लेकिन चूंकि जिंदा आदमी मरघट बनाते हैं इसलिए अपनी जिंदगी की जो नासमझियां हैं वह मरघट तक भी ले जाते हैं। वह मरघट था बड़े लोगों का, शाही खानदान के लोगों का, राजाओं का, सम्राटों का। च्वांगत्सु फकीर घबरा गया। उस खोपड़ी को घर ले आया, रखकर उसके हाथ-पैर जोड़ने लगा कि मुझे क्षमा कर दो। उसके मित्र इकट्ठे हो गये और कहने लगे, पागल हो गये हो? इस खोपड़ी से क्षमा क्यों मांगते हो?
च्वांगत्सु कहने लगा, यह बड़े आदमी की खोपड़ी है। यह सिंहासन पर बैठ चुकी खोपड़ी है। और मैं क्षमा मांगता हूं, अगर कहीं यह आदमी आज जिंदा होता और मेरा पैर इसके सिर में लग जाता तो मेरी बड़ी मुसीबत थी। यह तो सौभाग्य समझो कि यह आदमी जिंदा नहीं है। लेकिन क्षमा तो मांग लेनी चाहिए।
वे लोग कहने लगे, तुम बड़े पागल हो। लेकिन वह च्वांगत्सु कहने लगा कि मैं पागल नहीं हूं। मैं इस मरे हुए आदमी से कहना चाहता हूं कि पागल! जिस खोपड़ी को तू सोचता था कि सिंहासन पर है, वह लोगों की ठोकरें खायेगी, एक फकीर की ठोकर भी खायेगी और उफ् भी नहीं कर सकेगी और यह भी नहीं कह सकेगी कि यह क्या किया? जानते नहीं, मैं कौन हूं? कहां गयी वह तेरी अकड़? कि तू सिंहासनों पर था! कहां गये वे ख्याल कि करोड़ों रुपये तेरे पैर के नीचे हैं? यही थी खोपड़ी, यही थी हड्डी, यही सब कुछ था, लेकिन यह सब क्या हो गया! अशोक के जीवन में मैंने पढ़ा है, गांव में एक भिक्षु आता था। अशोक गया
और उस भिक्षु के चरणों में सिर रख दिया। अशोक के बड़े आमात्य, वह जो बड़ा वजीर था अशोक का, उसे यह अच्छा नहीं लगा। अशोक जैसा सम्राट गांव में भीख मांगते एक भिखारी के पैरों पर सिर रखे। बहुत... घर लौटते ही, महल लौटते ही उसने कहा कि नहीं सम्राट, यह मुझे ठीक नहीं लगा। आप जैसा सम्राट, जिसकी कीर्ति शायद जगत में कोई सम्राट नहीं छू सकेगा फिर वह एक साधारण से भिखारी के चरणों पर सिर रखे!
अशोक हंसा और चुप रह गया। महीने दो महीने बीत जाने पर उसने बड़े वजीर
को बुलाया और कहा कि एक काम करना है। कुछ प्रयोग करना है, तुम यह सामान ले जाओ और गांव में बेच आओ। सामान बड़ा अजीब था। उसमें बकरी का सिर था, गाय का सिर था, आदमी का सिर था, कई जानवरों के सिर थे और कहा कि जाओ बेच आओ बाजार में।
वह वजीर बेचने गया। गाय का सिर भी बिक गया और घोड़े का सिर भी बिक गया,
सब बिक गया, वह आदमी का सिर नहीं बिका। कोई लेने को तैयार नहीं था कि इस गंदगी को कौन... लेकर क्या करेगा? इस खोपड़ी को कौन रखेगा? वह वापस लौट आया और कहने लगा कि महाराज! बड़े आश्चर्य की बात है, सब सिर बिक गये, सिर्फ आदमी का सिर नहीं बिक सका। कोई नहीं लेता है।

सम्राट ने कहा, कि मुफ्त में दे आओ। वह वजीर वापस गया और कई लोगों के
घर गया कि मुफ्त में देते हैं इसे, इसे आप रख लें। उन्होंने कहा, पागल हो गये हो? और फिकवाने की मेहनत कौन करेगा? आप ले जाइये। वह वजीर वापस लौट आया और सम्राट से कहने लगा कि नहीं, कोई मुफ्त में भी नहीं लेता।
अशोक ने कहा, कि अब मैं तुमसे यह पूछता हूं कि अगर मैं मर जाऊं और तुम मेरे सिर को बाजार में बेचने जाओ तो कोई फर्क पड़ेगा? वह वजीर थोड़ा डरा और उसने कहा, कि मैं कैसे कहूं, क्षमा करें तो कहूं। नहीं, आपके सिर को भी कोई नहीं ले सकेगा। मुझे पहली दफा पता चला कि आदमी के सिर की कोई भी कीमत नहीं है।
उस सम्राट ने, उस अशोक ने कहा कि फिर इस बिना कीमत के सिर को अगर मैंने
एक भिखारी के पैरों में रख दिया था तो क्यों इतने परेशान हो गये थे तुम। आदमी के सिर की कीमत नहीं, अर्थात आदमी के अहंकार की कोई भी कीमत नहीं है। आदमी का सिर तो एक प्रतीक है आदमी के अहंकार का, इगो का। और अहंकार की सारी चेष्टा है भीतर लाने की और भीतर कुछ भी नहीं जाता--न धन जाता है, न त्याग जाता है, न ज्ञान जाता है। कुछ भी भीतर नहीं जाता। बाहर से भीतर ले जाने का उपाय नहीं। बाहर से भीतर ले जाने की सारी चेष्टा खुद की आत्महत्या से ज्यादा नहीं है, क्योंकि जीवन की धारा सदा भीतर से बाहर की ओर है। करुणा भीतर से बाहर की तरफ बहेगी। प्रेम भीतर से बाहर की तरफ बहेगा। इसलिए जीवन का सूत्र सदा है बांटना, देना, लुटा देना, फैल जाना। और मृत्यु का सूत्र है; सिकुड़ जाना, इकट्ठा कर लेना, बांध लेना। हमारा तो प्रेम भी कहता है कि आओ, हमारा तो प्रेम भी कहता है कि मिलो, दो मुझे प्रेम।
घर-घर में मैं ठहरता हूं। लाखों लोगों से मेरे निजी और व्यक्तिगत संबंध हैं और हर आदमी को मैं एक ही तकलीफ में पाता हूं। उसकी तकलीफ एक शब्द में कही जा सकती है। हर आदमी, हर स्त्री, हर पुरुष, हर पत्नी, पति, बाप, बेटा, मां एक ही बात मुझे घर-घर, गांव-गांव में कहता हुआ मालूम पड़ता है कि मुझे कोई प्रेम नहीं देता है। पत्नी कहती है मुझे पति प्रेम नहीं देता, पति कहता है पत्नी मुझे प्रेम नहीं देती, मां कहती है बेटा मुझे प्रेम नहीं देता, बेटा कहता है कि पिता मेरी कोई फिक्र नहीं करता, कोई प्रेम नहीं दे रहा। बड़े मजे की बात है हर आदमी यह कहता है, कोई मुझे प्रेम नहीं देता और कोई भी यह नहीं सोचता कि प्रेम दिया नहीं जाता। कोई देगा नहीं प्रेम, प्रेम तुम्हें देना पड़ेगा।
प्रेम बांटने की कला है। हम धन की तरह प्रेम भी मांगते हैं और जो व्यक्ति जितना प्रेम बांटता है, उससे अनंत गुना उसे प्रेम उपलब्ध हो जाता है। प्रेम आता है, मांगा नहीं जाता। वह दिये गये प्रेम में सहज पुरस्कार की तरह लौट आता है। वह दिये गये प्रेम की सहज प्रतिध्वनि है।
करुणा का अर्थ है देना, दान--धन का नहीं--क्योंकि धन को देकर जो समझते हैं कि दानी हो गये, वे पागल हैं। तो जो आपका था ही नहीं, उसे देकर कोई कभी दानी नहीं हो सकता। वह आप न भी देते तो छूट जाता। सिर्फ उस बात को देकर आप दानी होते हैं जो आपका है। क्या है आपका? अपने को देकर ही कोई दानी होता है, उसके अतिरिक्त कोई कभी दानी नहीं होता।
प्रेम का अर्थ है अपने को दे देना। करुणा का अर्थ है अपने को दे देना।
और यह जो दे देना है, यह जो अपने को बांट देना है, यह जो बहाव है भीतर की तरफ से बाहर, इसके क्या चरण होंगे? यह कैसे धीरे-धीरे टूटेगा और बहेगा? थोड़े-से कदम इसके बाबत उठाये जायें तो धारा की संभावना टूट पड़ने की हो जाती है। बहुत सचेत होना पड़ेगा, क्योंकि हमारी मांग मांगने की और संग्रह की है, और करुणा कभी भी संग्रह से पैदा नहीं होती, वे विरोधी यात्राएं हैं। हमारी आदत सदा बाहर से भीतर ले जाने की है, इसलिए जो भीतर हमारे मौजूद है वह हम बाहर नहीं पहुंचा पाते। उसे थोड़ा सचेत होकर नई आदत को जन्म देना होगा।
यहां बैठे हैं हम, आप मुझे देख रहे हैं, सुन रहे हैं। यह सुनना दो तरह
का हो सकता है। यह सुनना ऐसा हो सकता है कि मैं जो कह रहा हूं उसको आप संग्रह कर सकते हैं। तब वह अहंकार को ही मजबूत करेगा। आप इस शिविर से ज्यादा ज्ञानी, थोड़े ज्यादा ज्ञानी होकर वापस लौट जायेंगे, आप कुछ बातें

सीखकर लौट जाएंगे। और वे सीखी हुई बातें आप दूसरों को बताने में रस और आनंद लेने लगेंगे। अगर इस भांति आप सुन रहे हैं तो वह सुनना भी आपके अहंकार को ही मजबूत करने की व्यवस्था है।
लेकिन नहीं, आप इस भांति भी सुन सकते हैं कि जब आप सुन रहे हैं तब मुझसे ही कुछ आपकी तरफ नहीं जा रहा है, आपकी तरफ से भी मेरी तरफ कुछ आ रहा है। आपका प्रेम, आपकी करुणा वहां से बहती हुई मेरे पास भी आ सकती है। एक करुणापूर्ण, एक प्रेमपूर्ण भावदशा में भी सुना जा सकता है।
एक वृक्ष को आप देख रहे हैं या सागर को, तो आप ऐसे भी देख सकते हैं कि सिर्फ देख रहे हैं और ऐसे भी कि आपकी आंखों से आपके प्राणों की कोई भावधारा भी उस वृक्ष तक जाये; उसे छुए, उसे नहला दे और तब यह देखना बिल्कुल दूसरी तरह का देखना हो जायेगा। तब यह करुणापूर्ण हो जायेगा।
रास्ते पर आप चलते हैं। एक-एक पत्थर पर पैर रखते समय इतना प्रेमपूर्ण हुआ जा सकता है, इतना अनुगृहीत, इतनी ग्रेटीट्यूड से भरा जा सकता है कि उस पत्थर तक भी आपके प्राणों का संदेश पहुंच जाये। एक वृक्ष को छूते समय, एक आदमी का हाथ हाथ में लेते समय, किसी को गले लगाते समय आप पूरे के पूरे बह सकते हैं। आप पूरी तरलता में, आपके सारे रग-रग, रेशे-रेशे से, कण-कण से कोई चीज बह सकती है और उस व्यक्ति को पूरा घेर सकती है।
इस पर तो थोड़े प्रयोग करेंगे तो ही यह हो सकेगा, क्योंकि बहने की हमारी कोई आदत नहीं है, बहने की हमें जन्मों से आदत नहीं है।
न मालूम कितने जन्मों से हमने सिर्फ रोकने का अभ्यास किया है, बहने का अभ्यास नहीं किया। बहाव हमारे भीतर नहीं है। हमारा व्यक्तित्व जड़ हो गया है, कठोर हो गया है, रुक गया है। हम पत्थर हो गये हैं। इस बहाव को तोड़ने के लिए कुछ चेष्टा करनी भी जरूरी है। क्या करेंगे इस चेष्टा में? कैसे यह बहाव हो सकता है?
अभी यहां आप बैठे हैं, अभी इसी क्षण शुरू हो सकती है बात। मेरे शब्द आप
तक जा रहे हैं, आपका प्रेम मुझ तक लौटना चाहिए। आप सुन सकते हैं। आप जुड़ सकते हैं इस बोलने में भी। यह सुनसान जगह, यह आपके बहते हुए प्रेम से भर सकती है।
मैंने सुना है, एक कवि था रिन्टे। जिन लोगों ने रिन्टे को कपड़े ही पहनते देखा है वे कहते थे कि हम हैरान हो जाते थे। जिन लोगों ने उसे खाना खाते देखा है वे कहते थे हम हैरान हो जाते हैं। जिन लोगों ने रिन्टे को जूते पहनते देखा है, वे कहते थे वह अदभुत थी घटना--यह देखना कि वह कैसे जूते पहन रहा है! वह तो ऐसे जूते पहनता था जैसे जूते भी जीवित हों, वह तो उनके साथ ऐसे व्यवहार करता था जैसे वह मित्र हो। वह कपड़े पहनता तो वह यह ही नहीं पूछता था कि कौन-सी कमीज मुझे अच्छी लगेगी। वह कमीज से यह भी पूछता कि क्या इरादे हैं, मैं तुम्हें अच्छा लगूंगा? वह कोट भी ऊपर डालता तो कोट से भी पूछता, क्या ख्याल है, चल सकूंगा मैं तुम्हारे साथ?
यह तो कभी हमने सोचा भी न होगा? हमने यह बात कई बार सोचा है दर्पण के सामने खड़े होकर कि यह कोट चल सकेगा मेरे साथ क्योंकि कोट है मुर्दा, हम हैं जिंदा; कोट को हमारे साथ चलना है। लेकिन रिन्टे को लोगों ने सुना है, आईने के सामने खड़ा है और पूछ रहा है कि दोस्त चल सकूंगा मैं तुम्हारे साथ? जूता उतार रहा है तो उसे पोंछ रहा है। उसे, जूते को रखा है तो उसे धन्यवाद दिया है कि तुम्हारी कृपा! दो मील तक तुम मेरे साथ थे। दो मील तक तुमने मेरी सेवा की और उसकी आंखों से आंसू बह रहे हैं।
पागल आदमी मालूम होगा हमें। निश्चित ही पागल मालूम होगा, क्योंकि हम
सब इतने कठोर हैं कि प्रेम की तरलता हमें पागलपन ही मालूम हो सकती है और कुछ हमें मालूम नहीं हो सकता है। लेकिन यह सवाल भी नहीं है कि इससे जूते को कुछ फायदा हो गया होगा कि नहीं हो गया होगा, कि कोट ने सुना होगा कि नहीं सुना होगा। यह इररिलेवेंट है, यह असंगत है।
लेकिन जो आदमी कोट और जूते और पत्थर और दरवाजे के प्रति भी इतना सदय, इतना करुणापूर्ण, इतना अनुग्रह से भरा हुआ है, यह आदमी दूसरा आदमी हो गया है। इस आदमी से किसी आदमी के प्रति कठोर होने की संभावना हो सकती है? यह

असंगत है बात कि कोट ने सुना कि नहीं सुना। मैं तो यही मानता हूं कि कोट भी सुनता है, लेकिन मेरी बात मानने की कोई जरूरत नहीं है।
लेकिन यह आदमी, यह व्यक्ति, यह जो इतना प्रेमपूर्ण है, इतना करुणापूर्ण है, यह जो इतना धन्यवाद से भरा हुआ है जूते के प्रति भी, यह आदमी इस व्यवहार से रूपांतरित हो रहा है। यह आदमी बदल रहा है, यह आदमी दूसरी तरह का आदमी हो जायेगा।
यह आदमी कठोर हो सकता है, यह आदमी हिंसक हो सकता है, यह आदमी क्रोध से देख भी सकता है आंख उठाकर? यह असंभव है। और इस आदमी में बहाव होगा, इस आदमी की चेतना एक तरल सरिता बन जायेगी। निश्चित ही ऐसे आदमी को देखना भी एक अनुभव है। लेकिन हमें वह आदमी पागल ही मालूम होगा।
हम सब इतने बुद्धिमान हैं अपनी कठोरता में कि प्रेम सदा ही पागलपन मालूम पड़ेगा। लेकिन अगर तोड़ना है कभी तो थोड़ा पागल होना जरूरी है, प्रेम की दिशा में थोड़ा पागल होना जरूरी है, करुणा की दिशा में थोड़ा पागल होना जरूरी है।
एक जर्मन विचारक था हेरिगेल। वह जापान गया हुआ था। एक फकीर से मिलने गया। जल्दी में था, जाकर जूते उतारे, दरवाजे को धक्का दिया, भीतर पहुंचा।
उस फकीर को नमस्कार किया और कहा कि मैं जल्दी में हूं। कुछ पूछने आया हूं।
उस फकीर ने कहा, बातचीत पीछे होगी। पहले दरवाजे के साथ दुर्व्यवहार किया है उससे क्षमा मांगकर आओ। वे जूते तुमने इतने क्रोध से उतारे हैं। नहीं-नहीं, यह नहीं हो सकता है। यह दुर्व्यवहार मैं पसंद नहीं कर सकता। पहले क्षमा मांग आओ, फिर भीतर आओ, फिर कुछ बात हो सकती है। तुम तो अभी जूते से भी व्यवहार करना नहीं जानते, तो तुम आदमी से व्यवहार कैसे करोगे?
वह हेरिगेल तो बहुत जल्दी में था। इस फकीर से दूर से मिलने आया था। यह क्या पागलपन की बात है। लेकिन मिलना जरूर था और यह आदमी अब बात भी करने को राजी नहीं है आगे।
तो मजबूरी में उसे दरवाजे पर जाकर क्षमा मांगनी पड़ी, उस द्वार से क्षमा मांगनी पड़ी, उन जूतों से। लेकिन हेरिगेल ने लिखा है कि जब मैं क्षमा मांग रहा था तब मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसा जीवन में कभी भी नहीं हुआ था। जैसे अचानक कोई बोझ मेरे मन से उतर गया। जैसे एक हल्कापन, एक शांति भीतर दौड़ गयी। पहले तो पागलपन लगा, फिर पीछे मुझे ख्याल आया कि ठीक ही है। इतने क्रोध में, इतने आवेश में; मैं हेरिगेल को समझता भी क्या, सुनता भी क्या? फिर लौटकर आकर वह हंसने लगा और कहने लगा क्षमा करना, पहले तो मुझे लगा
कि यह निहायत पागलपन है कि मैं जूते और दरवाजे से क्षमा मांगू। लेकिन फिर मुझे ख्याल आया कि जब मैं जूते और दरवाजे पर नाराज हो सकता हूं, क्रोध कर सकता हूं तो क्षमा क्यों नहीं मांग सकता हूं?
अगर करुणा की दिशा में बढ़ना है तो सबसे पहले हमारे आसपास जिसे हम जड़ कहते हैं उसका जो जगत है, यद्यपि जड़ कुछ भी नहीं है लेकिन हमारी समझ के भीतर अभी जो जड़ मालूम पड़ता है, उस जड़ से ही शुरू करना पड़ेगा। उस जड़ जगत के प्रति ही करुणापूर्ण होना पड़ेगा, तभी हमारी जड़ता टूटेगी। उससे कम में हमारी जड़ता नहीं टूट सकती।
हम हो गये हैं जड़। और जड़ के प्रति करुणापूर्ण होकर ही हम अपनी जड़ता को तोड़ सकेंगे। उसके बिना हम अपनी जड़ता को नहीं तोड़ सकेंगे। वह जो जड़ दिखाई पड़ता है--एक पत्थर पड़ा हुआ है उस पर आप घंटे भर बैठे हैं। आपने ख्याल भी किया था कि आप एक पत्थर पर घंटे भर बैठे हैं! नहीं, स्मरण भी नहीं है। आप इस रेत पर बैठे हैं, तीन दिन इन सरू के वृक्षों के पास होंगे। इस समुद्र के निकट, लौटते वक्त आप धन्यवाद दे जाएंगे इस जगह को कि भूल जायेंगे, चल पड़ेंगे बस! क्या सोचेंगे सरू के वृक्ष कि कैसे लोग थे! क्या कहेगा समुद्र कि कैसे थे लोग! तीन दिन तक पास थे, उनके लिये गर्जन किया, नाचा और लौटते वक्त वे धन्यवाद भी नहीं दे गये! क्या कहेगी यह पूरी पृथ्वी, जब आप जीवन से विदा होंगे! क्या कहेगा यह पूरा जीवन! क्या कहेगा सूरज, क्या कहेंगी हवाएं कि सत्तर वर्ष तक प्राण दिये और जाते वक्त इस आदमी ने धन्यवाद भी न दिया! संत फ्रांसिस मर रहा था। मरते वक्त एक-एक चीज को धन्यवाद देने लगा। जिस गधे पर बैठकर उसने यात्रा की थी अनेक बार, उस गधे के पास पहुंच गया।

उठने में भी तकलीफ थी उसे। मित्रों ने कहा, यह क्या करते हो? उसने कहा कि नहीं, नहीं यह ठीक न होगा कि जो गधा मुझे जीवन भर अनेक-अनेक यात्राओं पर ले गया उसके लिये मरते वक्त चार कदम चलकर मैं धन्यवाद देने न जाऊं, मुझे जाना पड़ेगा।
वह गया है, लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी है। वह गधे को हृदय से लगाये हुए है और कह रहा है कि क्षमा कर देना, न मालूम कितनी बार कठोर हो गया था, न मालूम कितनी बार अपशब्द तुझसे कहे होंगे, न मालूम कितनी बार तुझे तब चलाया होगा जब तुझमें चलने की सामर्थ्य भी न थी। न मालूम कितनी-कितनी यात्राओं में कितनी-कितनी भूलें हो गयी होंगी। उनका हिसाब रखना मुश्किल है। सबके लिये क्षमा मांगता हूं। और बड़े मित्रों में से एक तू मेरा मित्र था, मौन था, सदा साथ था। कभी इनकार नहीं किया, कभी झगड़ा नहीं किया और आज मैं विदा हो रहा हूं। तो आज तुझसे क्षमा मांगता हूं। मुझे क्षमा कर देना!
लोग कहने लगे, कि मालूम होता है संत फ्रांसिस का दिमाग आखिर-आखिर में खराब हो गया। यह क्या कर रहे हैं! वह अपने डंडे को भी धन्यवाद देने लगा जिसे हाथ में लेकर चला था।
हमें पागल मालूम होगा। लेकिन मैं आपसे कहता हूं ऐसे पागल ही परमात्मा
के निकट पहुंचने में समर्थ होते हैं और दूसरे नहीं। क्योंकि जिनकी इतनी करुणा है, इतना प्रेम है, जिनके हृदय में इतना अनुग्रह का भाव है उनके हृदय का पत्थर टूट जायेगा इस चोट से। पत्थर टूट जायेगा और धारा बह पड़ेगी। निश्चित ही करुणा बहुत सबल है। एक बार फूट पड़े पत्थर तो वह बह जायेगी सागर तक।
लेकिन हम तो पत्थर को ही मजबूत किये चले जाते हैं और नये सीमेंट कांक्रीट ईजाद करते हैं और पत्थर को मजबूत किये जाते हैं। धीरे-धीरे करुणा का वह स्रोत भीतर ही बंद रह जाता है।
हमने क्यों इतने यह पत्थर और कांक्रीट और ईंटें लगाकर दीवाल बनायी है?
एक है कारण। आदमी बहुत भयभीत है इसलिये अपने को बांटने में और बहाने में डरता है।
एक मित्र के घर में कुछ दिन तक मैं रहा था। मैं देखकर हैरान हुआ। वे अपने नौकरों से कभी सीधी आंख करके बात भी नहीं करते थे। कोई घर में मिलने आये तो वे नमस्कार का उत्तर भी सोचकर ही देते थे। मैंने उनसे पूछा, कि बात क्या है? वे कहने लगे, कि अगर ठीक से बोलो, प्रेमपूर्ण व्यवहार करो तो झंझटें पैदा होनी शुरू होती हैं। रास्ते पर एक आदमी नमस्कार करता है। अगर प्रेम से नमस्कार कर लो, पंद्रह दिन बाद निश्चित है कि वह आदमी आयेगा कि सौ रुपये की जरूरत है। वह झंझट की बात है। झंझट आगे बढ़ानी नहीं है। किसी से संबंधित होना, फिर आगे झंझटें आनी शुरू होती हैं। उन्होंने कहा, मैंने तो जीवन का नियम बना रखा है कि सिर्फ उनसे बात करनी है जिनसे एकदम जरूरी हो, सिर्फ उनसे संबंध बनाना है जिनसे आगे कोई भय न हो।
मनुष्य भयभीत है संबंधित होने में। क्योंकि हर नया संबंध नयी संभावनाएं लेकर आता है। एक वृक्ष से भी दोस्ती करनी बड़ी कठिन बात है क्योंकि वृक्ष से भी दोस्ती करनी, एक वृक्ष से भी प्रेम बनाना एक नयी केयर, एक नयी हिफाजत को जन्म देना है।
एक मित्र से मैं ये बातें कर रहा था। वे कहने लगे आप क्या कहते हैं। मैं ऐसी एक झंझट में पड़ गया हूं। एक वृक्ष था अमलतास का। वे मित्र एक बंगले को नया-नया लिए थे। वह वृक्ष बिल्कुल सूख गया था। वह वर्षों से सूखा हुआ था। उसमें न फूल आते थे न पत्ते आते थे। वह एक मुर्दा वृक्ष खड़ा हुआ था। उन मित्र ने कहीं किसी किताब में पढ़ा था कि अगर वृक्ष को, सूखे वृक्ष को व्यवस्था से नीचे से काटा जा सके तो उसमें नये अंकुर आ सकते हैं। उन्होंने आरी उठाकर एक दिन सुबह उस वृक्ष को काट डाला। वृक्ष कटकर गिर गया। सिर्फ छोटा-सा ठूंठ नीचे रह गया। रात उन्हें चिंता होने लगी कि मुझे काटने का, कहां से काटना चाहिये इसका तो कुछ पता नहीं। मैं कोई माली नहीं। मैं कुछ जानता नहीं। कहीं मैंने गलत जगह से तो नहीं काट दिया उस

वृक्ष को। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसमें अंकुर अब नहीं आयेगा? और तब रात भर वे सो नहीं सके। करवट बदलते रहे, सो नहीं सके।
सुबह वह मुझसे बोले कि मैं एक झंझट में पड़ गया हूं। एक वृक्ष से दोस्ती कर ली और मुश्किल आ गयी। एक वृक्ष था मेरे द्वार पर, सूखा था। मैंने किसी किताब में पढ़ा कि वृक्ष को बिल्कुल नीचे से काटा जाये ढंग से तो उसमें नया अंकुर आ सकता है। मैंने आरी उठाकर काट डाला। अब रातभर से मैं चिंतित हूं कि मुझे पता नहीं, कहां से काटना चाहिये था कि उसमें नया अंकुर आ सके। उसमें अंकुर आयेगा कि नहीं आयेगा? कम से कम वह था तो, सूखा ही सही। वह सूखा भी बहुत शानदार था। और जब चांदनी आती थी तो उसकी सूखी शाखाएं
भी आकाश में एक गीत बन जाती थीं। और जब सूरज नाचता था तो उसकी इन सूखी शाखाओं पर भी एक मोहिनी छा जाती थी। अब भी कभी कोई पक्षी उस सूखे वृक्ष पर आकर बैठता था और गीत गाता था। मैंने उसे काट डाला। पता नहीं उसमें अंकुर आयेगा कि नहीं!
वे तीन महीने तक कितने बेचैन और परेशान थे। मैंने उन्हें कहा, बड़ा शुभ है। वृक्ष में अंकुर आयेगा कि नहीं, उसकी मुझे उतनी फिक्र नहीं, लेकिन तुम्हारे जीवन में एक नया अंकुर आया, उससे मैं बहुत खुश हूं। अच्छा हुआ तुमने वृक्ष काटा। यह तीन महीने वृक्ष के लिये चिंता का क्षण, यह तीन महीने वृक्ष के लिये संताप, यह तीन महीने वृक्ष के लिये पश्चात्ताप, यह तीन महीने वृक्ष के लिये इतना आतुर निवेदन, यह तीन महीने वृक्ष के लिये इतनी गहरी प्रार्थना--न आये वृक्ष में अंकुर कोई फिक्र नहीं! तुम्हारे भीतर एक अंकुर आ गया, एक कंपेशन, एक करुणा, एक प्रेम और वह बड़ी बात है।
और ऐसा कैसे हो सकता था कि उस वृक्ष में इतने प्रेम से अंकुर न आते, उसमें अंकुर आ गये। अब वह वृक्ष हरा हो गया है। अब उस पर पत्ते आ गये। अब उस पर फूल खिलने लगे। लेकिन उस वृक्ष से भी बड़ा अनुभव, एक बड़ा एक्सपीरिएंस उन मित्र के जीवन में हो गया। उन्होंने एक वृक्ष से प्रेम किया है!
चारों तरफ जो विराट जगत है उसे हम तीन हिस्से में बांट सकते हैं। वह बंटा हुआ नहीं है। वह बांटना सिर्फ काम-चलाऊ है। जिंदगी कहीं भी बंटी हुई नहीं है। जिंदगी एक अनंत इकट्ठी धारा है, लेकिन हम काम के लिए तीन हिस्सों में तोड़ सकते हैं।
एक जड़ जगत है। हमें जड़ मालूम होता है, क्योंकि चेतना इतनी प्रसुप्त है उसमें कि जब तक हम उतनी गहराई तक न उतरें, तब तक उसकी चेतना हमें दिखायी नहीं पड़ेगी। सबसे पहले जड़ जगत के प्रति अपने प्रेम, अपनी करुणा, अपने कंपेशन को विकसित करना जरूरी है।
फिर उसके बाद पौधों का, पशुओं का जगत है--जीवंत--लेकिन सचेतन नहीं। फिर
उस जगत के प्रति प्रेम और करुणा को विकसित करना जरूरी है।
फिर मनुष्यों का जगत है। फिर उस मनुष्यों के जगत के प्रति प्रेम को विकसित करना जरूरी है।
लेकिन यात्रा का प्रारंभ जड़ जगत से शुरू होना चाहिए, क्योंकि जो जड़ को प्रेम कर पायेगा वह अनिवार्यरूपेण पौधों को, पशुओं को प्रेम कर पायेगा।
जो पौधों और पशुओं को प्रेम कर पायेगा वह मनुष्यों को प्रेम कर पायेगा। लेकिन यात्रा वहां से शुरू होनी चाहिए और एक-एक पल खोने की जरूरत नहीं है। जीवन में जो भी पल मिल जाये और जितना हम करुणापूर्ण और जितने प्रेमपूर्ण हो सकें उसकी सतत चेष्टा चलनी चाहिए। बहुत श्रम की जरूरत है क्योंकि धारा अनंत जन्मों से रुकी है, बहुत तोड़ने पड़ेंगे पत्थर तब वह बहेगी। लेकिन जरा-सा भी प्रयास शुरू हो जाये और जरा-सी भी झलक करुणा की बहनी शुरू हो जाये तो वह इतनी आनंदपूर्ण है, वह इतनी फलदायी है, वह इतना अनुभव है गहरा कि फिर उसको तोड़ने के लिए जो श्रम करना पड़ेगा वह श्रम जरा भी श्रम नहीं मालूम पड़ता है।
करुणा की यह धारा बाहर तक बहने लगे--उठते, बैठते, सोते, जागते, चलते। जीवन का प्रति पल, जीवन का प्रति क्षण करुणा की एक अबाध प्रतिध्वनि बन जाये, एक गूंज बन जाये, एक गीत बन जाये तो ही कोई व्यक्ति परमात्मा के मंदिर के पहले द्वार पर प्रविष्ट होता है।

नहीं, अपने को बांध-बांधकर, रोक-रोककर रखना ठीक नहीं है। तोड़ दें, सब द्वार तोड़ दें।
एक सम्राट था, उसने एक महल बना लिया था। और उस महल में एक ही दरवाजा रखा था, कोई चोर न घुस जाये, कोई डाकू न आ जाये, कोई हत्यारा न आ जाये। पड़ोस का एक सम्राट उसके महल को देखने आया था। देखकर बहुत खुश हुआ था और कहा था, मैं भी ऐसा ही महल बनाना चाहूंगा। तुमने मुझमें ईर्ष्या जगा दी। अदभुत बनाया है तुमने यह, इतना सुरक्षित! एक ही द्वार है, उस द्वार पर हजार पहरेदार हैं और सारे भवन में कोई दूसरा द्वार नहीं है। सम्राट ने कहा, अब कोई भय नहीं रहा, न कोई हत्यारा आ सकता है, न कोई चोर, न कोई डाकू, न कोई दुश्मन। मैं बिल्कुल सुरक्षित हो गया हूं।
वे महल के द्वार पर खड़े होकर यह बात करते थे। एक भिखारी जो वहीं भीख मांगा करता था, वह बैठा-बैठा जोर से हंसने लगा। सम्राट नाराज हुआ, उसने कहा कि पागल! तू क्यों हंस रहा है, क्या बात है?
वह भिखारी कहने लगा, महाराज! आपने पूछ ही लिया तो कहे देता हूं। जब से
यह महल बन रहा है, मुझे लगता है, एक भूल इसमें रह गयी। सम्राट ने कहा, कौन-सी भूल?
उसने कहा, एक ही भूल रह गयी है। एक दरवाजा और आप बंद करवा लें तो फिर आप बिल्कुल सुरक्षित हो जायेंगे, फिर कोई भय नहीं रहेगा, फिर सिक्योरिटी पूरी हो जायेगी, फिर तो मौत भी नहीं घुस सकेगी अंदर। अभी खतरा एक है, यह दरवाजा खतरनाक है। चोर नहीं घुसेंगे, हत्यारे नहीं घुसेंगे, दुश्मन नहीं घुसेंगे, लेकिन मौत का क्या होगा? मौत घुस जायेगी इससे, काफी जगह है इसमें और वह आपको ले जायेगी। आप कृपा करें, भीतर हो जायें, यह दरवाजा भी बंद कर दें, फिर पहरेदारों की भी कोई जरूरत नहीं है। फिर कोई कभी नहीं घुस सकेगा, फिर आप बिल्कुल निर्भय हो गये।
पर वह राजा कहने लगा, पागल! वह निर्भय होना होगा, वह तो मौत हो जायेगी,
वह तो कब्र बन जायेगा महल।
वह फकीर कहने लगा, कब्र अभी भी बन गयी है। एक दरवाजे से क्या फर्क पड़ता है? इतना तो आप मान गये कि अगर सब दरवाजे बंद हो जायेंगे तो एक कब्र हो जायेगी। एक दरवाजे से काफी कब्र हो गयी है। यह भी आप मान गये कि अगर दरवाजे बिल्कुल न हों तो यह मकान पूरा जीवन होगा। अगर मकान बिल्कुल ही न हो तो परिपूर्ण जीवन होगा क्योंकि मकान बिल्कुल न हों, दरवाजे बिल्कुल न हों तो मौत हो जाती है। तो दरवाजे से जीवन और मौत का हिसाब है, वह फकीर कहने लगा। तो वह फकीर कहने लगा, वही तो कभी-कभी रात मैं सोचता हूं। अभी सुनी आपकी बात तो हंसने लगा। एक मैं भी हूं, बैठा हूं इस द्वार पर। न कोई द्वार है, न कोई दरवाजा है--जीवंत--लेकिन पूरा है। और आप भी मानते हैं। समझ गये आप कि एक और दरवाजा बंद हो तो मौत हो जायेगी।
जितनी सुरक्षा की हम कोशिश करते हैं उतने ही हम मर जाते हैं। जितने हम भयभीत होते हैं उतने ही हम बंद हो जाते हैं। नहीं, जीवन उनके लिए है जो भयभीत नहीं हैं, जीवन उनके लिए है जो असुरक्षा को वरण करने की तैयारी करते है, जो इनसिक्योरिटी में कूदने को राजी हैं।
धार्मिक मनुष्य मैं उसी को कहता हूं जो भय को छोड़ता है और असुरक्षा को वरण करता है। जो कहता है कि जिऊंगा मैं, जो उसके भय होंगे स्वीकार करूंगा। जिऊंगा मैं, जो होंगे खतरे उनका आलिंगन करूंगा। जिऊंगा मैं, होगा जो परिणाम होगा। मैं जीने को राजी हूं, मैं मरने को नहीं। ऐसा आदमी ही करुणापूर्ण हो सकता है, क्योंकि करुणा एक ऐसे अज्ञात जगत में ले जाती है, ऐसे अंतर्संबंधों में जिनमें खतरे हो सकते हैं।
एक वृक्ष से दोस्ती तक करना खतरनाक है तो एक आदमी के प्रति करुणापूर्वक होना तो बहुत खतरा मोल लेना है, बड़ा कमिटमेंट है वह। वह बड़ी बात है। और उसी भय के कारण हम सब बंद हो गये हैं। उस भय के कारण कि पता नहीं क्या होगा, होने दें जो होगा। जीवन उन्हीं को मिलता है जो भयभीत नहीं हैं। जीवन उनको मिलता है जो असुरक्षा में कूदने को तत्पर हैं। जो पूर्ण असुरक्षा में कूद जाता है उसी को मैं संन्यासी कहता हूं।

ये थोड़ी-सी बातें करुणा के संबंध में मैंने कहीं। इस संबंध में कुछ भी पूछना हो तो रात्रि की बैठक में आप पूछ सकेंगे।
अब हम सुबह के ध्यान के लिए बैठेंगे। उसके लिए दो बातें समझ लेना जरूरी है।
सुबह के ध्यान के लिए जैसे रात हम बैठे, नासाग्र-दृष्टि रखनी है। नाक
का अग्रभाग दिखायी पड़ता रहे, इतनी भर आंख खुली रहे। फिर शरीर को एकदम शिथिल और शांत करके बैठ जाना है। फिर मन में सुबह के इस ध्यान में एक तीव्र जिज्ञासा करनी है--"मैं कौन हूं।" बहुत तीव्रता से, पूरी शक्ति से, पूरे संकल्प से अपने भीतर पूछना है कि "मैं कौन हूं, मैं कौन हूं... ।"
इसे पूछते ही चले जाना है, कोई उत्तर नहीं देना है अपनी तरफ से कि मैं आत्मा हूं। वे सब उत्तर झूठे हैं जो हमने सीख लिये। उत्तर को आने देना है। उत्तर अपने आप आयेगा भी। उसके पहले हमें सिर्फ पूछते चले जाना है, खोदते चले जाना है-- "मैं कौन हूं, मैं कौन हूं।" एक कुदाली बना लेनी है और खोदना है भीतर कि मैं कौन हूं, -- "मैं कौन हूं, मैं कौन हूं।"
शांत, पूछते चले जाना है। सारे प्राणों में गूंज पैदा हो जाये। भीतर
की श्वास-श्वास पूछने लगे कि "मैं कौन हूं।" सारा चित्त पूछने लगे कि "मैं कौन हूं।" पैर से लेकर सिर तक एक ही गूंज कि "मैं कौन हूं।" बस एक ही पूछ, एक प्रश्न, एक ही इन्क्वैरी रह जाये तो एक दिन भीतर से उत्तर आता है कि "मैं कौन हूं।"
तो एक दिन उत्तर आता है जो खोल देता है सारे द्वार को, जो खोल देता है सारे पर्दों को और हम अपने समक्ष खड़े हो जाते हैं।
तो सुबह के इस ध्यान को जिज्ञासा का ध्यान बनाना है। हम बैठेंगे और पूछेंगे, आंख आधी खुली होगी और भीतर पूछते चले जायेंगे। दस मिनट भीतर इस जिज्ञासा को तीव्रता से गुंजाना है। इतनी तीव्र हो यह जिज्ञासा कि जैसे पसीना आ जाये। सारा व्यक्तित्व पूरे प्राणों से जुट जाये।
जब पूरे प्राणों से हम जुटेंगे तो ही जिज्ञासा गहरी होगी और भीतर तक उसकी चोट होगी। वह ऊपर ही गूंज बनकर न रह जाये, वह भीतर तक प्रविष्ट हो जाये। उसका पेनिट्रेशन चाहिए गहराई तक।
तो आप पर निर्भर है कि आप कितनी तीव्रता से यह जिज्ञासा करते हैं। जो जितनी तीव्रता से पूछेगा उतनी शीघ्रता से उत्तर के आने की संभावना है। उत्तर भीतर है। हमारी जिज्ञासा उस उत्तर तक नहीं पहुंच पाती है, इसलिए वह उत्तर हमें उपलब्ध नहीं होता है।

साधना पथ
छब्बीसवां प्रवचन

मौन, उपेक्षा, करुणा और ध्यान

बहुत से प्रश्न पूछे गये हैं।

एक मित्र ने पूछा है कि मौन का प्रयोग करते हैं तो आसपास के वातावरण
के प्रति एक तरह की उपेक्षा का भाव आ जाता है--और सुबह मैंने कहा है कि करुणा का प्रयोग करना है--तो उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मौन और करुणा दोनों प्रयोग एक साथ कैसे किये जा सकते हैं?

निरंतर बात करने की आदत से ऐसा लगता है कि जब हम मौन हो रहे हैं तो हम
उन लोगों के प्रति कठोर हो रहे हैं जिनसे हम बात करते थे, लेकिन शायद ही आपको स्मरण आया होगा कि आपने अपने को छोड़कर और कभी किसी से बात नहीं की है। जब आप दूसरे से बात करते हैं तो दूसरा सिर्फ बहाना है। जो बात आपको करनी है वही आप करते हैं और अगर आपको अकेले में छोड़ दिया जाये जहां कोई भी न हो तो आप दीवालों से वही बात शुरू कर देंगे। दूसरे लोग खूंटियों की तरह हैं जिन पर हम अपनी बातें टांग देते हैं। वे केवल बहाने हैं, उनसे कोई प्रयोजन नहीं है।
एक आदमी सुबह से अखबार पढ़ लेता है और फिर तलाश में घूमता है कि कोई खूंटी मिल जाये, उसने जो पढ़ लिया है वह उससे बोलकर बता सके। और दिन भर हर आदमी पर खूंटी का प्रयोग करता है और टांगता चला जाता है।
दूसरे आदमियों से बात करके हम उनके प्रति कोई करुणा और प्रेम जाहिर करते हों, तो यह गलत है ख्याल। लेकिन मौन की गहराई में उतरकर जरूर ऐसा हो सकता है कि हमारे पास करने को कोई बात न रह जाये, टांगने को कोई बात न रह जाये। तब दूसरा व्यक्ति महत्वपूर्ण हो सकता है और हम उसके हित के लिए कुछ कह सकते हैं।
दूसरे के हित के लिए जगत में जो भी विचार पैदा हुए हैं वह सदा मौन से पैदा हुए हैं। विचारों और बातों से भरे हुए लोग दूसरे का सिर्फ साधन की तरह उपयोग करते हैं। दूसरे की मौजूदगी में वह जो कचरा उनके दिमाग में भरा हुआ है उसे उड़ेलने की कोशिश करते हैं। दूसरा केवल टोकरी का काम करता है, खूंटी का काम करता है। दूसरे का इससे ज्यादा उपयोग नहीं है।
नहीं, आप बात करके दूसरे के प्रति करुणा और प्रेम प्रगट नहीं करते हैं, लेकिन मौन की स्थिति में कभी यह हो सकता है कि आपको दूसरा दिखायी पड़े। उसका हित दिखाई पड़े, उसके लिए क्या जरूरी है यह दिखायी पड़े।
अभी तो आपको क्या कहना आवश्यक है, आप महत्वपूर्ण हैं कहते समय, दूसरा नहीं। कभी आपने बातचीत करते समय ख्याल किया है, जब दूसरा बोल रहा होता है तब आप केवल बहाना करते हैं कि मैं सुन रहा हूं। भीतर आप तैयारी करते हैं कि यह कब बंद हो जाये और मैं बोलना शुरू करूं। आप सिर्फ तलाश में होते हैं कि कब वह मौका मिल जाये कि मैं इसे बंद करूं और बोलूं।
एक बड़े मनोवैज्ञानिक जुंग के पास दो प्रोफेसर इलाज के लिए ठहरे हुए थे। दोनों का मस्तिष्क खराब हो गया था। दोनों बड़े ज्ञानी थे। और ज्ञानियों के मस्तिष्क अकसर खराब हो जाते हैं। दोनों को निरंतर बात करने की आदत थी। दोनों को साथ ही ठहराया गया था।
वह बड़ा मनोवैज्ञानिक खिड़की से छुपकर देखता था कि वे क्या करते हैं।
तो वह बहुत हैरान हुआ। एक बात करता था, घंटे-डेढ़ घंटे तक बोलता था। दूसरा बिल्कुल चुपचाप बैठकर सुनता था। ऐसा लगता था कि वह सुन रहा है। फिर उसकी बात बंद होती और दूसरा शुरू करता। जब दूसरा शुरू करता तो पहले वाला चुपचाप बैठकर सुनने लगता। लेकिन दूसरे की बात से पता चलता कि पहली वाली बात से इस बात का कोई भी संबंध नहीं है।
और वह बड़ा हैरान हुआ कि जिन बातों का कोई संबंध न था, वे भी एक दूसरे को चुप होकर सुनते थे। ज्यादा आश्चर्य की बात यह थी। क्योंकि पागलों की

बातचीत में संबंध हो इसकी तो कोई आशा नहीं की जा सकती। लेकिन दोनों पागल इतना शिष्ट व्यवहार करते थे कि जब एक बोलता तो दूसरा बिल्कुल चुप रहता। उस मनोवैज्ञानिक ने उनसे पूछा कि दोस्तो! बड़े आश्चर्य में डाल दिया तुमने, एक बोलता है तब दूसरा चुप क्यों रहता है? उन्होंने कहा, क्या तुम समझते हो कि हमें बातचीत करने का नियम मालूम नहीं, हमें कनवर्सेशन का नियम नहीं मालूम? हमें मालूम है कि जब एक बोले तो दूसरे को चुप रहना चाहिए।
उस मनोवैज्ञानिक ने अपनी डायरी में लिखा है, कि मुझे उस दिन पहली बार ख्याल आया कि यह तो पागल है, लेकिन हमारा भी बातचीत करने का ढंग क्या है? हम भी दूसरे के चुप होने की प्रतीक्षा करते हैं कि हम बोलें। इसलिए जो आदमी आपको नहीं बोलने देगा, लगेगा कि यह बहुत बोर है। वह इसलिए बोर नहीं लगता--उबाने वाला, कि वह बोले चला जा रहा है, वह इसलिए उबाने वाला लगता है कि वह आपको मौका ही नहीं देता कि आप बोल सकें। वह बोलता ही चला जाता है और आपके भीतर गूंज पैदा होती है कि अब मैं बोलूं लेकिन वह मौका नहीं देता। अगर वह आपको भी बोर करने का मौका दे तो वह आदमी बड़ा अच्छा है। वह आदमी बहुत अच्छे लगते हैं जो आपकी बातें सुनते हैं।
एक सज्जन ने एक दिन मुझसे कहा कि मैं एक घंटे आपसे बातचीत करने आने को हूं। कई दिनों से प्रतीक्षा करता हूं, सिर्फ एक घंटा मुझे चाहिए। मैंने उनसे कहा, आज ही आ जायें। वह आये और घंटे भर तक बोलते रहे और मैं हां-हूं करता रहा, बैठकर सुनता रहा। जब वह जाने लगे, मुझसे कहने लगे कि आपकी बातचीत से बहुत आनंद आया। मैं बहुत चौंका!
मैंने उनसे कहा, मेरी बातचीत से? आनंद आया तो आपकी बातचीत से आया। मुझे तो अवसर कहां था कि मैं बोलता। आपने बोलने कहां दिया?
वे कहने लगे, नहीं-नहीं, बहुत आनंद आया। कभी-कभी आऊंगा और बहुत... बहुत-
सी बातें आपसे मुझे पूछनी हैं। उन्होंने न मुझसे कुछ पूछा, न सुविधा थी उन्हें, न उन्हें जरूरत थी। लेकिन जाते समय उन्हें ऐसा जरूर लगा कि बहुत अच्छा आदमी है, इससे बातचीत में बहुत आनंद आया।
नहीं, इस भ्रांति में आप मत रहना कि जब आप बात कर रहे हैं तब आप दूसरे
के प्रति प्रीतिपूर्ण हैं। सच तो यह है कि जिसको आप प्रेम करते हैं उसके पास जब आप बैठेंगे तो बातचीत खो जायेगी। जिसको भी आप प्रेम करते हैं उसके पास बातचीत खो जायेगी, उसके पास कुछ बात करने को नहीं मिलेगा। उसके पास लगेगा कि कितना सोचा था कि बात करेंगे, लेकिन जब प्रेमी पास आ जाता है तो सब शब्द खो जाते हैं, सब बात खो जाती है। प्रेमी के पास मौन पैदा हो जाता है।
जिनने भी थोड़ा भी जीवन में प्रेम जाना है, वे जानते होंगे कि प्रेम के निकट शब्द खो जाते हैं और मौन आ जाता है। और उल्टा भी सच है। अगर मौन आ जाये तो भी प्रेम आ जाता है। वे दोनों एक दूसरे के छोर हैं। मौन आ जाये तो प्रेम आ जाता है, प्रेम आ जाये तो मौन आ जाता है। नहीं, ऐसा मत सोचें कि मौन से आप कठोर हो जायेंगे। बड़ी कृपा होगी आपकी, बड़ी करुणा होगी दूसरों पर कि आप मौन हैं, आप चुप हैं।
मौन में और करुणा में विरोध नहीं है। मौन से ही करुणा पैदा होती है और करुणावान व्यक्ति धीरे-धीरे मौन होता चला जाता है। वह बोलता है तो इसलिए नहीं कि उसके भीतर बोलने की कोई जरूरत है। वह बोलता है तो इसलिए कि बाहर कोई जरूरत है, अन्यथा वह नहीं बोले। उसका बोलना रोग नहीं है, उसका बोलना बीमारी नहीं है, उसके भीतर कुछ घुमड़ नहीं रहा है जिसे उसे बरसा देना है। उसका बोलना जिससे वह बोल रहा है; उसकी जरूरत है, उसका इलाज है, उसका उपचार है।
दो तरह से लोग बोलते हैं, वे जो करुणावान हैं--इसलिए कि उनका बोला हुआ किसी के काम पड़ सकता है। और वे जो करुणावान नहीं हैं--इसलिए नहीं कि उनका बोला किसी के काम पड़ सकता है; बल्कि इसलिए कि वे इतने भरे हुए हैं शब्दों और विचारों से कि जब तक उसे उलीचने को कोई न मिल जाये, किसी पर फेंकने का अवसर न मिले तब तक वह दिन भर परेशानी, बोझिलता अनुभव करेंगे। वह कठोरता नहीं मालूम हुई होगी। वह मालूम हुआ होगा बोझिलपन, क्योंकि रोज-रोज जो

निकाल देते हैं हम--आज निकालने का अवसर न रहा; वह इकट्ठा हो गया होगा, घना हो गया होगा, मस्तिष्क भारी हो गया होगा।
वह भार कठोरता के कारण नहीं है, वह गलत आदत के कारण है। प्रयोग करेंगे धीरे-धीरे तो वह आदत चली जायेगी और तब मौन से करुणा का जन्म होगा और करुणा से मौन पैदा होता है। उन दोनों में विरोध नहीं है।
एक मित्र ने पूछा है, कि एक घंटे के मौन में आपके मन की अवस्था कैसी होती है? ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?
मौन जब पूर्ण होता है तो मन होता ही नहीं। मन की अवस्था का सवाल नहीं है। मौन का अर्थ है मन की मृत्यु। वहां मन नहीं है। वहां जो रह गया है उसी को आत्मा कहते हैं। तो मौन मन की अवस्था नहीं है। मौन है मन की मृत्यु, मौन है मन का समाप्त हो जाना, मौन है मन का विलीन हो जाना।
जैसे सागर में लहरें हैं, कोई हमसे आकर पूछे कि जब सागर शांत होता है
तो लहरों की क्या अवस्था होती है, तो हम क्या कहेंगे? हम कहेंगे, जब सागर शांत होता है तो लहरें होती ही नहीं। लहरों की अवस्था का सवाल नहीं। सागर अशांत होता है तो लहरें होती हैं। असल में लहरें और अशांति एक ही चीज के दो नाम हैं। अशांति नहीं रही तो लहरें नहीं रहीं, रह गया सागर।
मन है अशांति, मन है लहर। जब सब मौन हो गया तो लहरें चली गयीं, विचार चले गये, मन भी गया, रह गया सागर, रह गयी आत्मा, रह गया परमात्मा। परमात्मा के सागर पर मन की जो लहरें हैं वे ही हम अलग-अलग व्यक्ति बन गये हैं। एक-एक लहर को अगर होश आ जाये तो वह कहेगी "मैं हूं।" और उसे पता भी नहीं कि वह नहीं है, सागर है। यह जो हमें ख्याल उठता है कि "मैं हूं," यह हमारी एक-एक मन की अशांत लहरों का जोड़ है। ये लहरें विलीन हो जायेंगी तो आप नहीं रहेंगे, मन नहीं रहेगा। रह जायेगा परमात्मा, रह जायेगा एक चेतना का सागर। परिपूर्ण मौन--मन की अवस्था नहीं, मन की मृत्यु है। जैसे-जैसे हम मौन होते हैं वैसे-वैसे हम मन के पार जाते हैं। जितना ज्यादा हम विचार से भरे होते हैं उतना हम मन के भीतर होते हैं, जितना विचार के बाहर होते हैं उतना मन के बाहर होते हैं। तो ऐसा मत पूछिये कि उस समय मन की अवस्था कैसी है। अगर मन की कोई भी अवस्था है तो अभी मौन नहीं हुआ। जब मौन होगा तो मन नहीं होगा। जहां मन है वहां मौन नहीं, जहां मौन है वहां मन नहीं।

एक मित्र पूछते हैं, एक भिखारी है--उसको हमेशा मांगने की आदत हो गयी है, क्या उसके प्रति, ऐसे लोगों के प्रति भी हमारी करुणा होनी उचित है?

निश्चित ही ऐसे सवाल उठने चाहिये।
एक भिखारी है, भीख मांगता है और उसकी आदत हो गयी है भीख मांगने की। लेकिन किसने इसे भिखारी बनाया? लेकिन किसने इसे आदत डालने को मजबूर किया? लेकिन किसने इसे आज तक भिक्षा दी? हमने, मैंने, आपने!
यह भिखारी है, क्योंकि यह समाज भिखारी पैदा करने की व्यवस्था से बना हुआ है। इस भिखारी को आदत पड़ गयी, क्योंकि यह समाज भिक्षा की आदत डलवाता है। ऋषि, मुनि, साधु, संन्यासी समझाते हैं कि भिक्षा से, दान से मोक्ष मिलेगा, स्वर्ग मिलेगा, परमात्मा मिलेगा। जिस समाज में इस तरह के समझाने वाले लोग हैं कि भिक्षा देने से, दान देने से, गरीब को रोटी देने से मोक्ष मिलेगा उस समाज में कुछ गरीब दूसरे लोगों को मोक्ष पहुंचाने की अगर आदत डाल लें तो कोई आश्चर्य नहीं है। और यह समाज कैसा है जिसमें कि गरीब आदमी पैदा हो जाता है!
जिस समाज में गरीब आदमी पैदा हो जाता है उस समाज के सारे सदस्य उस गरीब आदमी के लिए जिम्मेवार हैं। जिस समाज में भीख मांगने की स्थिति में किसी मनुष्य की आत्मा को खड़े होना पड़ता है वह समाज निंदा के योग्य है, वह पूरा समाज निंदा के योग्य है। और जो आदमी सोचता है कि भिखारी को रोटी देकर मैं करुणा कर रहा हूं वह आदमी भी गलत सोचता है। क्योंकि भिखारी को दी गयी रोटी से भिखारी नहीं मिटता है, सिर्फ भिखारी को दी गयी रोटी से भिखारी अपने भिखमंगेपन में भी संतुष्ट हो जाता है।

नहीं, जिनके मन करुणा से भरे हैं वे इस पूरे समाज को बदल देंगे जिसमें भिखारी पैदा होते हैं। भिखारी पर दया और करुणा का अर्थ एक ही है कि ऐसा समाज हम बनायें जहां भिखारी पैदा न हो सकता हो। भिखारी को दान दे देने से इस भूल में आप मत पड़ना कि आप भिखारी पर करुणा कर रहे हैं।
सच तो यह है कि करुणा की आड़ में आप भिखारी को संतुष्ट होने की व्यवस्था कर रहे हैं कि वह भीख मांगता रहे और संतुष्ट बना रहे। और जिस समाज में भीख मांगने वाला आदमी संतुष्ट हो जाता है उस समाज में क्रांति असंभव हो जाती है। ये दान देने वाले लोग, ये भिक्षा देने वाले लोग! इन्हें भिखारी के भिखमंगेपन से, इन्हें उसकी दरिद्रता से कोई भी प्रयोजन नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि ये सारे दान और यह भिक्षा और ये धर्मशालाएं और ये मंदिर--ये सब इसलिए खड़े हैं कि भिखारी और गरीब यह भी एहसास करता रहे कि यह समाज बहुत अच्छा है, हमें रोटी देता है, धर्मशाला बनाता है, कपड़े देता है, दवाई देता है। यह समाज बहुत अच्छा है!
और यह समाज उसे भिखारी बनाता है। यह उसे पता न चल पाये। उसे यह पता न
चल पाये कि यह समाज ही उसका खून पीता है, और उसे भिखारी बनाता है और यही समाज उसे दो कौड़ी फेंककर यह भी संतोष दिलवाता है कि समाज दानियों का है, अच्छे लोगों का है। इसका एकमात्र परिणाम यह होता है कि दरिद्र जो क्रांति कर सकता था, उसकी क्रांति मर जाती है और समाज जिंदा रहता है। वह समाज जिंदा बना रहता है जो कि बुनियादी रूप से गलत है, जहां गरीब पैदा होता है।
नहीं, जिनके मन में करुणा है वे एक ऐसा समाज बनाने का विचार करेंगे जहां गरीब का पैदा होना असंभव हो। मैं उनको करुणावान नहीं कहता जो एक गरीब को रोटी दे देते हैं। सवाल गरीबी मिटाने का है, एक गरीब को रोटी देने से गरीबी नहीं मिटती है और न गरीब को दरिद्रनारायण कहने से गरीबी मिटती है और न गरीब की पूजा करने से गरीबी मिटती है। गरीबी एक रोग है, गरीबी एक पाप है, पूरे समाज के माथे पर कलंक है। वह पूरी की पूरी गरीबी जिस व्यवस्था से पैदा होती है वह सारी व्यवस्था जला देने योग्य है।
जिनके मन में करुणा है वे समाज में क्रांति लायेंगे। दान की बातें खतरनाक, थोथी और शरारत से भरी हैं। उनका एक ही मतलब है कि किसी तरह का कंसोलेशन, किसी तरह की सांत्वना गरीब को देते रहो ताकि गरीब गरीब भी बना रहे, अमीर अमीर बना रहे और गरीब कभी इतना असंतुष्ट भी न हो जाये कि वह क्रांति करने को राजी हो जाये।
इसलिए अमीर की जो समाज-व्यवस्था है, धन की जो समाज-व्यवस्था है, शोषण
की जो समाज-व्यवस्था है--हर शोषण की समाज-व्यवस्था दान की व्यवस्था भी पैदा करती है। वह दान की व्यवस्था, शोषण की व्यवस्था की सुरक्षा है। वह आयोजन है कि वहां शोषण भी चलता रहे और दान भी। और कभी किसी को यह ख्याल भी पैदा न हो कि यह सारी दरिद्रता, ये भिखारी, ये भूखे मरते हुए लोग, यह हमारे समाज का जो ढांचा है, उसके अनिवार्य परिणाम हैं। और जब तक समाज का ढांचा नहीं बदलता, तब तक यह गरीब गरीब रहेगा, भिखारी रहेगा। भिखारी भीख मांगने का भी आदी होगा और लोग भीख भी देते रहेंगे।
नहीं, जिसकी करुणा गहरी है वह आर-पार देखेगा पूरी बात को कि यह गरीब कैसे पैदा होता है? यह भिखमंगा कैसे पैदा होता है! यह समाज कैसा है जिसमें एक आदमी अपनी आत्मा को इतना पतित करने के लिए मजबूर हो जाता है कि वह भीख मांगने की आदत बना ले! और जो लोग इस दरिद्र भिखारी को दान देकर सुख लेते हैं, वे उस भिखारी से भी नीचे गिर रहे हैं कि इस गरीब आदमी को दो पैसे देकर एक आदमी कहता है कि मैंने स्वर्ग की व्यवस्था कर ली!
एक आदमी कहता है, मैं दानी हूं क्योंकि मैंने दस हजार भिखमंगों को खाना खिलाया। उन भिखमंगों से बदतर है इस आदमी की आत्मा, क्योंकि उनकी गरीबी का भी शोषण किया जा रहा है, उनकी गरीबी को भी रास्ता बनाया जा रहा है स्वर्ग तक पहुंचने का। उनकी दीनता का भी शोषण किया जा रहा है। उनका धन भी चूस लिया गया, उनकी दीनता भी शोषित की जा रही है। उनकी दीनता का भी एक उपयोग किया जा रहा है--कि स्वर्ग, मोक्ष, भगवान!
नहीं, करुणा--करुणा बहुत गहरी बात है, बहुत क्रांति की बात है। जगत में करुणा होगी तो ऐसा गंदा और कुरूप समाज एक दिन भी नहीं चल सकता है। यह पूरा

समाज बदल देने जैसा है। एक-एक भिखारी का सवाल नहीं है, भिखारी पैदा करने वाले समाज की व्यवस्था का सवाल है। गरीब का सवाल नहीं है, गरीबी का सवाल है। गरीब आदमी का कोई सवाल नहीं है, सवाल है गरीबी का। गरीबी मिटानी है। भिखारी का सवाल नहीं है, सवाल है भिखमंगेपन का। भिखमंगापन क्यों पैदा होता है; उसे मिटा देना है। और वे लोग जो एक भिखारी को चार पैसा और एक रोटी देकर समझते हैं कि करुणा कर ली--करुणा बड़ी सस्ती समझ रहे हैं! बहुत सस्ते में खरीद लाए करुणा को एक रोटी देकर! करुणा इतनी सस्ती नहीं है।
अगर करुणा होती तो हम वह समाज ही मिटा देते। और जिस दिन करुणा होगी यह सारा समाज आमूल बदलना पड़ेगा। और इसलिए धर्मगुरु करुणा और अहिंसा की सब बातें करते हैं, लेकिन नहीं चाहते हैं कि जगत में करुणा सच में हो। क्योंकि करुणा बहुत क्रांतिकारी है, आग की तरह है, सारी जिंदगी को बदल देगी। इसलिए करुणा की बातें कही गयी हैं और धोखा दिया गया है।
करुणा, अहिंसा, दया और प्रेम इन सब शब्दों के पीछे धोखा दिया गया। अहिंसा इसलिए नहीं कि किसी दूसरे आदमी को दुख पहुंचाना बुरा है। अहिंसा इसलिए कि दूसरे आदमी को दुख पहुंचाने से तुम्हें पाप लगेगा और तुम नर्क के भागी हो जाओगे। अहिंसा के भी पीछे बुनियादी मतलब दूसरा है।
मतलब यह है कि मैं नर्क न चला जाऊं इसलिए अहिंसा है। दूसरे के दुख से प्रयोजन नहीं है। अगर यह पता चल जाये कि दूसरे को दुख देने से नर्क जाने की कोई जरूरत नहीं है तो ये अहिंसा की बातें करने वाले लोग अहिंसा व हिंसा की बातचीत बंद कर देंगे। अगर इनको पता चल जाये कि हिंसा से स्वर्ग पाया जा सकता है तो ये बराबर हिंसा से स्वर्ग पा लेंगे। इन्हें स्वर्ग पाना है। चूंकि समझाया जाता है कि तुम्हारा स्वर्ग छिन जायेगा, इसलिए अहिंसा करनी जरूरी है। अहिंसा शब्द सूचना देता है अपने ही अहंकार की तृप्ति की।
नहीं, इस तरह की अहिंसा न प्रेम है, न करुणा।

इसी संबंध में एक मित्र ने और पूछा है कि अहिंसा, करुणा, दया, प्रेम-- क्या ये शब्द समानार्थी नहीं हैं?

नहीं, ये शब्द समानार्थी नहीं हैं। असल में कोई दो शब्द बिल्कुल समानार्थी नहीं होते, न हो सकते हैं। अगर हों तो उनकी जरूरत ही खतम हो गयी। उनमें थोड़ा-सा फासला और फर्क होता है इसीलिए वे ईजाद होते हैं, नहीं तो उनकी कोई जरूरत न थी।
करुणा का अर्थ है एक ऐसा हृदय जो प्रेम से भरा हुआ है। एक ऐसा हृदय जिसकी धारा बिना शर्त सबके प्रति मंगल की कामना से भरी हुई है।
दया और करुणा में बहुत फर्क है। दया बहुत बुरी बात है। दया कोई शुभ बात नहीं, क्योंकि दया का अर्थ है दूसरे पर दया। और जिस पर हम दया करते हैं उसे हम दयनीय स्वीकार कर लेते हैं, और किसी को भी दयनीय स्वीकार करना उसका अपमान है।
इसलिए दया जिस पर भी आप करेंगे वह आदमी आपकी दया का बदला लेगा, आज नहीं
कल आप दया का बदला जरूर पायेंगे। इसीलिए तो लोग कहते हैं कि हमने तो इतनी दया की इस पर, इतनी नेकी की और यह बदी से बदला चुका रहा है--चुकायेगा क्योंकि दया में बुनियादी रूप से घृणा छिपी है, दया में अपमान छिपा है।
दया का मतलब है कि तुम नीचे हो और हम दया कर रहे हैं। तुम दया के योग्य हो। नहीं, दया कोई शुभ शब्द नहीं है। दया कोई पुण्य अर्थ नहीं रखता।
करुणा यह नहीं कहती कि तुम दया योग्य हो इसलिए हम दया कर रहे हैं।
करुणा यह कहती है कि मेरा हृदय करुणा से भरा है, इसलिए हम करुणा बांट रहे हैं। तुम क्या हो इससे कोई प्रयोजन नहीं। सम्राट निकलेगा मेरे सामने से तो भी मेरा हृदय करुणा से भरा रहेगा और भिखारी निकलेगा मेरे सामने से तो भी मेरा हृदय करुणा से भरा रहेगा। लेकिन सम्राट पर दया नहीं की जा सकती, भिखारी पर दया की जा सकती है। सम्राट पर दया कर सकते हैं आप? कैसे करेंगे? सम्राट दयनीय नहीं है, भिखारी दयनीय है।
लेकिन करुणा सब पर की जा सकती है, क्योंकि किसी दूसरे से करुणा का कोई संबंध नहीं है। करुणा मेरा स्वभाव है। फिर दया चौबीस घंटे नहीं की जा

सकती। जब दयनीय आदमी मौजूद होगा तभी की जा सकती है। इसलिए दया करने वालों के लिए यह भी जरूरी है कि दयनीय आदमी दुनिया में रहें, नहीं तो दया खतम हो जायेगी। दया किस पर करियेगा अगर दयनीय आदमी न रहे?
एक संन्यासी को तो यहां तक मैंने कहते हुए सुना है कि वे लोगों को यह समझाते हैं कि समाजवाद नहीं आना चाहिए, क्योंकि समाजवाद अगर आ जायेगा तो दान और दया का क्या होगा? क्योंकि जहां दान और दया नहीं होंगे तो धर्मशास्त्र तो कहते हैं कि बिना दान और दया के मोक्ष नहीं हो सकता है। तो वे कहते हैं इसलिए समाजवाद नहीं आना चाहिए दुनिया में कि उससे तो कोई दयनीय नहीं रह जायेगा, कोई दया योग्य नहीं रह जायेगा, कोई भिखारी, दरिद्र नहीं होगा। और दान और दया नहीं होंगे तो दान और दया के बिना कहीं मोक्ष है? वह बात बिल्कुल ठीक ही कहते हैं। अगर दान और दया से ही मोक्ष मिलता है तो जिस दिन दुनिया के सारे लोग सुखी और समान हो जायेंगे, उस दिन मोक्ष नहीं मिल सकेगा।
लेकिन दान और दया से कभी किसी को मोक्ष न मिला है और न मिलने का सवाल है। दान और दया घृणा योग्य शब्द हैं। दया नहीं करनी है किसी पर, करुणापूर्ण होना है। और एक ऐसी दुनिया बनायेगी करुणा, करुणा जहां कोई दया योग्य न रह जाये और किसी को दया करने की और दया देने की और मांगने की जरूरत न होगी। करुणा होगी तो हम एक ऐसी दुनिया बनायेंगे जहां कोई दयनीय न हो, किसी पर दया न करनी पड़े।
करुणा और दया समानार्थी नहीं हैं, बल्कि उल्टे अर्थ रखते हैं।
अहिंसा और प्रेम में भी ऐसा ही बुनियादी फर्क है। अहिंसा का मतलब है, दूसरे को दुख मत पहुंचाओ और प्रेम का मतलब है, दूसरे को सुख पहुंचाओ। अहिंसा का अर्थ है, दूसरे को दुख मत पहुंचाओ। प्रेम का अर्थ है, दूसरे को सुख पहुंचाओ। अहिंसा निगेटिव है, नकारात्मक; प्रेम पाजिटिव है, विधायक।
अहिंसा इतना ही कहती है कि नहीं, दूसरे को दुख मत पहुंचाना। क्यों? क्योंकि दूसरे को दुख पहुंचाने से पाप लगता है, इसलिए अहिंसा एक तरह की कठोरता पैदा करवा देती है। दूसरे को दुख मत पहुंचाओ, बस बात खत्म हो गयी। दूसरे से संबंध समाप्त हो गया। दूसरे को सुख पहुंचाने का सवाल नहीं है। दूसरा आनंदित हो यह सवाल नहीं है, दूसरा मेरे कारण दुखी न हो जाये यह सवाल है। क्योंकि मेरे कारण अगर कोई दुखी होता है तो उसकी वजह से मुझे आगे आने वाले जन्मों में दुख भोगना पड़ेगा। अंततः केंद्रीय रूप से मेरे दुख और सुख का सवाल है, मैं अपने सुख की तलाश में हूं। दूसरे को दुख नहीं पहुंचाना है कि कहीं मेरे सुख की तलाश में बाधा न पड़ जाये। इसलिए अहिंसा बिल्कुल ही नकारात्मक शब्द है।
प्रेम विधायक है। प्रेम कहता है दूसरे को सुख पहुंचाओ। क्यों? क्योंकि दूसरे को सुख पहुंचाने में ही तुम्हारा भी सुख है। दूसरे को सुख पहुंचाओ, क्योंकि दूसरे को सुख पहुंचाने में आने वाले जन्मों में तुम्हें सुख मिलेगा, ऐसा नहीं। दूसरे को सुख पहुंचाने की प्रक्रिया में तुम सुखी हो ही जाते हो। दूसरे को आनंदित कर देने में तुम आनंदित हो ही जाते हो। अहिंसा अहंकार को मजबूत करेगी। और प्रेम अहंकार को विलीन कर देगा, विसर्जित कर देगा क्योंकि प्रेम की अंतिम मंजिल उस दिन पूरी होती है जिस दिन दूसरा, दूसरा न रह जाये। दूसरे को सुख पहुंचाओ ही नहीं, जिस दिन दूसरा दूसरा भी न रह जाये। अंततः वह जगह आ जाती है प्रेम में, जहां दूसरा समाप्त हो जाता है। लेकिन अहिंसा में दूसरा कभी समाप्त नहीं हो सकता। दूसरे से इतना ही प्रयोजन है कि उसको दुख नहीं पहुंचाना। बात खतम हो गयी, इससे आगे कोई संबंध नहीं।
ये सारे शब्द अलग अर्थ रखते हैं। मैं अहिंसा शब्द से जैसी ध्वनि निकलती है उसके पक्ष में नहीं हूं और न दया शब्द के पक्ष में हूं। मैं प्रेम और करुणा के जरूर पक्ष में हूं। प्रेम और करुणा में समानधर्मा अर्थ है, लेकिन वे, पर्यायवाची वे भी नहीं है, वे भी एक ही अर्थ नहीं रखते। प्रेम जैसा कि प्रचलित है, जैसा कि हम उसे उपयोग करते हैं; हमेशा दो व्यक्तियों के बीच संबंध है। करुणा दो व्यक्तियों के बीच संबंध नहीं है, एक व्यक्ति की मानसिक दशा है, स्टेट आफ मांइड है। करुणा में दूसरे का प्रश्न नहीं है,

दूसरे का सवाल नहीं है। वह व्यक्ति करुणापूर्ण है। कोई दूसरा है, नहीं है, इसका कोई सवाल नहीं है।
एक निर्जन रास्ते पर फूल खिला है। रास्ते से कोई निकले या न निकले, फूल सुगंध बिखेरता रहेगा। फूल नहीं कहेगा कि अभी रास्ते पर आने वाले लोग नहीं हैं, दरवाजा बंद है, अभी सुगंध नहीं फेंकते, अभी कोई निकल ही नहीं रहा है तो किसको! नहीं, फूल को फिक्र नहीं है कि कौन निकला; कि कौन नहीं निकला। फूल के तो प्राणों में सुवास भरी है वह बही चली जा रही है, बही चली जा रही है। उसका दूसरे से कोई भी लेना-देना नहीं है। दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं है; दूसरे की कोई शर्त नहीं है। फूल अपने प्राणों में सुगंध से भरा है, वह बंटती चली जा रही है। करुणा इस तरह की बात है।
लेकिन प्रेम, जिसे हम प्रेम कहते हैं वह प्रेम सदा दूसरे की अपेक्षा में; जैसे ही कोई कहे कि मैं प्रेम करता हूं, हम फौरन पूछेंगे किससे? किससे हो गया प्रेम आपका?
लेकिन करुणा में यह पूछने का सवाल नहीं है कि किस पर। यह सवाल नहीं है। करुणा एक रिलेशनशिप नहीं है। वह एक अंतर्संबंध नहीं है। करुणा एक भावदशा है। अकेला व्यक्ति करुणापूर्ण हो सकता है। लेकिन जैसा हम प्रेम का उपयोग करते हैं उस प्रेम में एक अंतर्संबंध है, दो व्यक्तियों के बीच एक नाता है।
अगर ठीक से समझें तो प्रेम ही जब विकसित होकर विराट हो जाता है और संबंधों के पार चला जाता है तो करुणा हो जाती है। करुणा जो है वह प्रेम की परिपूर्णता है। जब प्रेम दो व्यक्तियों के बीच का संबंध नहीं रह जाता, बल्कि प्रेम फैलकर एक और अनंत के बीच की अवस्था हो जाता है, तब वह करुणा बन जाती है। प्रेम का ही परिपूर्ण विकास करुणा है। प्रेम पहला चरण है, करुणा अंतिम मंजिल है। लेकिन उनमें फर्क है, उनमें बुनियादी फर्क है।
और करुणा इन चारों शब्दों में सबसे ज्यादा मूल्यवान है। करुणा जैसा प्यारा शब्द खोजना मुश्किल है। कंपेशन--वह बात ही बहुत अदभुत है, वह शब्द ही बहुत अदभुत है। उस पर जितना सोचें, जितना उसका अनुभव करें उतने नये अर्थ और नयी गहराइयां दिखाई पड़नी शुरू हो सकती हैं।

एक मित्र ने पूछा है, कि ध्यान में आंसू क्यों आने लगते हैं, रोना क्यों होने लगता है? क्या यह रुदन स्वाभाविक प्रक्रिया है ध्यान में?

ध्यान में एक ही घटना घटती है कि आप सरल हो जाते हैं और आपके सारे बंधन टूट जाते हैं। और आदमी इतना जटिल हो गया है कि उसने आंसुओं तक पर रोक लगा रखी है, उनको भी वह सप्रेस करता है और दमन करता है। आदमी ऐसा समझता है कि आंसू कमजोरी हैं। और आंसू से ज्यादा पवित्र कुछ भी नहीं है और आंसू से ज्यादा इनोसेन्ट और निर्दोष कुछ भी नहीं है। कोई हीरे, कोई मोती एक आंसू के बराबर भी मूल्य नहीं रखते।
लेकिन आदमी की बुनियादी भ्रांतियों में एक भ्रांति यह भी है कि आंसू कमजोरी के लक्षण हैं। इसलिए खासकर पुरुष ने जो कि अपने को शक्तिशाली समझता है उसने... तो आंसुओं को बिल्कुल ही पी गया है। उसने तो आंसू बिल्कुल रोक लिये हैं। वे उसके प्राणों में रुके हुए अटके पड़े हैं।
जैसे ही मन सरल होगा, आंसू बहने शुरू हो जायेंगे। वह बांध टूट जायेगा
जो रोका था। आंसू नहीं बहते हैं उसका अर्थ यह है कि आप कठोर हो गये हैं, अन्यथा आंसू जीवन के अनिवार्य हिस्से हैं। और जिस आदमी की आंखों ने आंसू बहाना छोड़ दिया वह या तो पत्थर हो गया या परमात्मा हो गया। आदमी तो नहीं रह गया है। वह जो आदमी की सरलता है, वह जो आदमी का प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व है उस व्यक्तित्व में आंसू फूल की तरह हैं।
यह भी एक भं्राति है कि आंसू सिर्फ दुख में आते हैं। नहीं, आंसुओं का दुख से कोई अनिवार्य संबंध नहीं। आंसू आते हैं अतिरेक में। चाहे दुख अतिरेक हो जाये, चाहे सुख, चाहे आनंद, चाहे खुशी। जो भी चीज अतिरेक हो जायेगी, अतिशय हो जायेगी, इतनी हो जायेगी कि आपके भीतर समायेगी नहीं, ओवरफ्लो होने लगेगी; वही आंसू बन जायेगी।

अगर आनंद इतना भर जायेगा भीतर कि बहने लगे चारों तरफ तो कैसे बहेगा,
वह आंसू बन जायेगा। अगर दुख ज्यादा हो जायेगा तो दुख आंसू बन जायेगा। जो भी चीज भीतर ज्यादा हो जायेगी--प्रेम ज्यादा हो जायेगा तो आंसू बन जायेगा, श्रद्धा ज्यादा हो जायेगी तो आंसू बन जायेगी। आंसू सिर्फ अतिरेक की अभिव्यक्ति का माध्यम है, वह ओवर फ्लोइंग है। आंसू का कोई संबंध दुख से नहीं है। दुख से संबंध मान लेने के कारण मनुष्य को ऐसा लगने लगा कि अपने पर नियंता होना चाहिए।
और आंसू रोककर मनुष्य जितनी कठिनाइयों में पड़ा है उतना और कम ही चीजों को रोककर पड़ा है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि आदमी को फिर से रोना सिखाना पड़ेगा। क्योंकि पाया यह गया है स्त्रियों की बजाय पुरुषों को मानसिक रूप से तनाव और विक्षिप्तता की मात्रा ज्यादा है। और उसके ज्यादा होने के कुछ थोड़े-से बुनियादी कारणों में एक कारण यह है कि स्त्रियां अब भी रो लेती हैं, पुरुष ने रोना बिल्कुल बंद कर दिया है। स्त्रियां इसलिए आज भी थोड़ी हल्की और सरल हैं--थोड़ी कम वजनी, कम गंभीर! और स्त्रियों के सौंदर्य के बहुत-से हिस्सों में एक हिस्सा यह भी है कि आज भी उनके आंसू बिल्कुल समाप्त नहीं हो गये हैं। हालांकि जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती है और जैसे-जैसे स्त्रियों को ठीक पुरुषों जैसा बनाने की चेष्टा चलती है वैसे-वैसे उनके आंसू भी क्षीण होते चले जा रहे हैं।
पश्चिम की स्त्री रोने में उतनी समर्थ नहीं रह गयी, जितना पूरब की स्त्री। उसको भी ख्याल आ गया है कि मैं और रोऊं! रोना कमजोरी है? रोना कमजोरी नहीं है। असल में जो नहीं रो सकता वह इस बात का सबूत देता है कि उसके भीतर ऐसे कोई भी भाव नहीं उठते जो ओवरफ्लो हो जाते हों, जो ऊपर से बह जाते हों। जो नहीं रोता उसका मतलब है कि वह भावातिरेक के नीचे जीता है। वह कभी भावातिरेक के क्लाइमेक्सेस को, चरम अवस्थाओं को, पीक एक्सपिरिएन्सेस को नहीं छू पाता। वह कभी जीवन की उन ऊंचाइयों को नहीं छूता जहां से चीजें बहती हैं। वह हमेशा नीचे जीता है।
नहीं, आंसू का न होना बहादुरी का लक्षण नहीं है और न शक्ति का लक्षण है। आंसू के संबंध में यह धारणा मनुष्य को एक दमन में ले गयी है कि रोक लो, और जिस आदमी ने अपने आंसू रोक लिये हैं उसकी करुणा रुक जायेगी। उसका कंपेशन रुक जायेगा। और जिन-जिन देशों में, धर्मों ने अनासक्ति की और अमोह की अतिवादी धारणाएं प्रचलित की हैं उन-उन देशों में मनुष्य अत्यंत कठोर हो गया है। उसकी कठोरता को हम शक्ति समझते हैं।
नहीं, कठोरता मनुष्य की शक्ति नहीं है। शक्ति तो सदा सरलता है।
जापान में एक भिक्षु था, उसकी मृत्यु हो गयी। उस भिक्षु की दूर तक ख्याति थी। लाखों उसके प्रेम करने वाले, पूजने वाले थे। उसका एक प्रमुख शिष्य भी था। उस शिष्य की ख्याति अपने गुरु से भी ज्यादा थी। लोग कहते थे वह स्थितप्रज्ञ है। लोग कहते कि उसे तो बोध हो गया। उसने परमात्मा को अनुभव कर लिया है।
फिर उसके गुरु की मृत्यु हुई तो लाखों लोग इकट्ठे हुए। वहां तो मेला
भर गया। वे सारे लोग देखकर हैरान हुए कि वह प्रमुख शिष्य जिसको वे समझते थे, ज्ञान को उपलब्ध हो गया है, छाती पीट-पीटकर रो रहा है। उसकी आंखों से आंसुओं की धाराएं बही जा रही हैं। वह गिर-गिर पड़ता है, वह बेहोश हो जाता है।
निकट के लोगों ने कहा, यह तुम क्या करते हो? तुम्हारी सारी इज्जत पानी में मिल जायेगी। लोग क्या कहेंगे कि इतना बड़ा ज्ञानी और यह भी रोता है। वह रोता था, हंसने लगा। उसने कहा, तुमसे किसने कहा कि ज्ञानी नहीं रोते? तुमसे कहा किसने कि ज्ञानी नहीं रोते हैं?
वे लोग कहने लगे कि क्यों रोयेंगे ज्ञानी, क्योंकि ज्ञानी तो कहते हैं, आप ही तो समझाते हैं कि आत्मा अमर है। अगर आत्मा अमर है तो फिर रोते क्यों हैं?
वह आदमी कहने लगा कि, मैं आत्मा के लिये रो कब रहा हूं? वह शरीर भी बहुत प्यारा था जो चला गया। वह शरीर भी बहुत प्यारा था, वह कहने लगा फकीर। वह शरीर अब कभी भी नहीं हो सकेगा, वह शरीर गया, गया--सदा-सदा के लिए! अनंत

काल बीत जायेगा, वह शरीर फिर दोबारा नहीं होगा। मैं उस शरीर के लिए ही रोता हूं। आत्मा के लिये कौन रोता है। और यह तुमसे किसने कहा कि ज्ञानी नहीं रोते!
वह फकीर कहने लगा ज्ञानी भी रोते हैं, अज्ञानी भी रोते हैं। अज्ञानी अज्ञान के कारण रोते हैं। ज्ञानी ज्ञान के कारण रोते हैं। ज्ञानी के रोने के कारण दूसरे होते हैं, अज्ञानी के रोने के कारण दूसरे होते हैं। दोनों के आंसुओं में फर्क होता है। लेकिन आंसू समाप्त नहीं हो जाते।
यह जो ध्यान की अवस्था में आंसू बहने लगेंगे, यह बिल्कुल ही एक अर्थों में स्वाभाविक है। बहुत दमन किया है मन का, उसे बह जाने दें। इधर ध्यान में भी मैं देखता हूं कि उन आंसुओं को भी रोकने की चेष्टा चलती है कि कहीं वे निकल न जायें। कोई पड़ोस का क्या कहेगा। हमने कुछ ऐसी बेवकूफी की धारणाएं बना रखी हैं कि कोई रो रहा है, तो पड़ोस का क्या कहेगा? कोई क्या कहेगा? कोई क्या कहेगा! क्या इतना भी हक नहीं है आदमी को कि अपनी आंखों से आंसू बहा सकें? तो यह समाज फिर हद परतंत्रता का समाज है। यहां कोई आदमी रोने के लिए भी स्वतंत्र नहीं, फिर और किस चीज के लिए स्वतंत्र हो सकोगे। नहीं, जरा भी न रोकें, बह जाने दें पूरे अपने हृदय को। उसके बह जाने पर पीछे एक अत्यंत गहरी शांति और साइलेंस छूट जायेगी। वे आंसू मन के बहुत-से भार को ले जायेंगे, वे आंसू मन के बहुत-से तनाव को ले जायेंगे, वे आंसू मन की बहुत-सी बोझिलता को बहा देंगे। जैसे नदी में पूर आता है तो किनारे की सारी गंदगी बहा ले जाती है और पीछे किनारे साफ और ताजे और स्वच्छ हो जाते हैं। वैसे आंखें जब पूर से भर जाती हैं तो मन के बहुत-से कचरे को, बहुत-सी रुकावट को, बहुत-सी गंदगी को बहा ले जाती हैं और पीछे मन हल्का हो जाता है। मैं तो कहता हूं जो आदमी भी रोने की कला सीख लेता है, वह आदमी रोज अपने
मन को स्नान करने की कला सीख लेता है। प्रार्थना में रोना न आया, ध्यान में रोना न आया तो और कब रोना आयेगा? लेकिन कोई बनकर के रोने के लिए नहीं कह रहा हूं कि आप बनकर रोने लगें। क्योंकि हम ऐसे अजीब लोग हैं कि हम बनकर भी रोते हैं और बनकर भी रो सकते हैं। हमने सारी चीजें आर्टिफिशियल और कृत्रिम बना लीं। अनेक लोग रोते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं कभी, एक पागलपन यह है। एक पागलपन यह भी है कि लोग झूठे ही रोते भी दिखाई पड़ते हैं। कोई मर गया है और कोई भी जाकर रोने लगा है और सारे आंसू बिल्कुल झूठे हैं। क्योंकि वह आदमी अभी हंसता था। वह आदमी घर के बाहर आकर फिर सिगरेट जला ली और हंस रहा है, और अभी वह रो रहा था।
रोना कुछ इतनी आसान बात है कि आप गये भीतर और बाहर आ गये। तो आदमी रोता
ही नहीं है। रोता है तो झूठा रोता है। हमने कुछ अजीब, एब्सर्डिटी, अपने व्यक्तित्व में कुछ अजीब बेबूझपन और बिल्कुल ही दिवालियापन पैदा कर लिया है। हम सच्चे रो भी नहीं सकते हैं।
वह मैं नहीं कह रहा हूं कि आप रोयें। लेकिन अगर ध्यान के क्षणों में हृदय सरल हो और आंसू बह जाना चाहें, तो भूलकर भी उन्हें रोकना मत, उन्हें बह जाने देना। उन्हें कहना कि जाओ बह जाओ और उन्हें धन्यवाद देना, क्योंकि उसके पीछे मन हल्का और शांत हो जायेगा। ध्यान की गहराई बढ़ेगी। ध्यान की निश्चित गहराई बढ़ेगी। करुणापूर्ण व्यक्तित्व को तो निरंतर आंखें भरी ही रहती हैं। जरूर बुद्ध और महावीर रोते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं। लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि उनकी करुणा मर गयी है। इसका कारण कुल इतना है कि चौबीस घंटे ही उनका हृदय करुणा और आंसुओं से भरा हुआ है। हर घड़ी रोने की जरूरत नहीं रह गयी। उसका कारण यह नहीं है।
एक आदमी किसी को प्रेम करता है तो कभी दिन में एकाध-दो बार कर लेता है।
एक आदमी इतना भी प्रेम कर सकता है कि दिन भर ही याद बनी रहती हो कि याद करने का सवाल ही न रह जाये। वे जो लोग करुणा में गहरे चले गये हैं, जरूर उनकी आंखों में आंसू दिखाई नहीं पड़ेंगे, क्योंकि उनके आंसू तो उनकी सारी आत्मा पर फैल गये हैं। उनकी करुणा तो उनका पूरा व्यक्तित्व बन गयी है। लेकिन उस दिशा में जो यात्रा है वह आंसुओं से होकर जाती है।
जीवन की कोई भी गहरी यात्रा आंसुओं के बिना नहीं है--चाहे हो प्रेम, चाहे हो प्रार्थना, चाहे हो सत्य, चाहे हो परमात्मा। जीवन में जो भी

महत्वपूर्ण है वह आंसुओं के मार्ग से गुजरता है। और घबराने की जरा भी जरूरत नहीं है। आंसू मित्र हैं। लेकिन हमें पता ही नहीं कि पीछे हम कितने हल्के हो जायेंगे, क्या हो जायेंगे। कोई आदमी जब बच्चे की तरह रो लेता है, आनंद में, प्रेम में, करुणा में तो पीछे क्या हो जाता है? कैसी फ्रेशनेस, कैसी ताजगी, ऐसे फूल जैसे वर्षा में नहा गये हों--या आकाश के तारे वर्षा के बाद जैसे दिखायी पड़ते हैं, सद्यस्नात, अभी नहाये-नहाये। वैसे ही मन भी अभी नहाया-नहाया हो जाता है।
ध्यान तो एक स्नान है अंतस का। अगर आंसू बहते हों तो बह जाने दें। जरा
भी उन्हें रोकने की जरूरत नहीं है। पूरे हृदय में जो होना हो, हो जाने दें। कुछ भी रोकने की जरूरत नहीं है, ताकि पीछे ज्वार निकल जाये, ताकि पीछे से सारा ज्वर निकल जाये और भीतर एक वेटलेसनेस, एक शून्यता, एक भार-रहितता पैदा हो सके। एक निर्भार भाव पैदा हो सके।
तो आंसू आते हों तो रोकें न, न आते हों तो कृपा नहीं, कोई जरूरत नहीं।
लाने की कोई कोशिश न करें। कोई उनकी आवश्यकता नहीं है कि आप उन्हें लायें।
आ जायें तो ठीक, आ जायें तो बह जाने दें। न आयें तो ठीक। उस दिशा में कोई ध्यान देने की भी जरूरत नहीं है। सरल होने की जरूरत है। जैसा हो वैसा हो जाने दें।
एक प्रश्न और--फिर बाकी प्रश्नों पर कल मैं बात करूंगा।

एक मित्र ने पूछा है, कि कभी किसी के सुधार के लिए कठोर होना पड़ता है
तो क्या वैसा कठोर होना बुरा है?

बहुत सोचने जैसा है इसमें। सुधार के कई तरह के मजे हैं। सुधार का सौ में से निन्यान्नबे प्रतिशत मजा तो यह होता है कि मैं किसी को सुधार दूं। असल में किसी को बनाने और सुधारने में बड़ा रस आता है, क्योंकि हम उसके मालिक हो जाते हैं बनाने और सुधारने में। अधिकतम लोग सुधारने के लिए इसलिए आतुर नहीं होते कि सुधार से उस दूसरे का कुछ हित हो जायेगा, बल्कि सुधार का एक रस है और एक आनंद है। सुधार का मतलब है दूसरे को अपनी मुट्ठी में बंद कर देना और जैसा मैं चाहूं वैसा बनाऊं। क्या होगा उसका यह कुछ पता नहीं है। क्या किसी को मुट्ठी में बंद करके जबर्दस्ती बनाना हितकर होगा, यह भी पता नहीं है।
लेकिन सुधार में एक तरह की हिंसा, एक तरह की वाइलेंस है। बाप कहता है अपने बेटे को मेरे जैसा बनाऊंगा तुझे। जैसे कि बाप सच में कुछ बन गया हो। क्या पा लिया है उस बाप ने जो बेटे को अपने जैसा बनाने की कोशिश कर रहा है? वह खुद दीन-हीन खड़ा है, हारा हुआ। लेकिन बेटे को अपने जैसा बनाना है। अपने जैसे बनाने में बेटे के हित का कोई सवाल नहीं है।
लेकिन अपने जैसा किसी को बनाकर खड़ा करने में अहंकार को बड़ी तृप्ति मिलती है। यह जो अपनी शकल-सूरत का फैलाव करने वाली गुरुडम है, कि एक आदमी गेरुआ वस्त्र पहने हुए है तो पचास लोगों को गेरुआ वस्त्र पहनवा देगा, एक आदमी मुंह पर पट्टी बांधे हुए है तो न मालूम दस-पच्चीस बेवकूफ इकट्ठे कर लेगा, उनके मुंह पर पट्टी बंधवा देगा। इनका जो रस है, यह रस किसी के सुधार का रस नहीं है। यह अहंकार के विस्तार का रस है, कि मैं--मैं पचास आदमियों का मालिक, गुरु, डिक्टेटर, तानाशाह। मैं--मैंने पचास आदमी बदल दिये और बना दिये।
नहीं, अगर इस तरह बनाने और सुधारने की कोशिश में लगे हैं तो वह कठोरता कठोरता है, करुणा नहीं।
लेकिन सच में ही किसी के प्रेम में, किसी के प्रति करुणा में, किसी के रास्ते का पत्थर उठाने में, किसी के मार्ग से एक कांटा हटाने में अगर कुछ करना पड़ता हो तो कोई फिक्र नहीं है। दुनिया कहेगी उसे कठोर, लेकिन आप भली- भांति जानते हैं कि उस काम को करने में आपका हृदय कठोर नहीं हुआ है। बल्कि और भी करुणा से विगलित हो गया है।
दुनिया की क्या फिक्र है! यह सवाल किसी दूसरे को नापने-जोखने का नहीं है। यह सवाल तो अपने भीतर नापने और जोखने के हैं। अगर एक आदमी आग में जलने

जा रहा है और किसी ने उसका हाथ पकड़कर जोर से खींच लिया है तो दुनिया कहेगी, यह कैसा आदमी है। इसने इतने जोर से हाथ खींचा कि उसके हाथ चोट लग गयी।
लेकिन वह आदमी कहेगा कि लग जाये चोट, आग में इसे मैं नहीं जाने देना चाहता था। यह लग सकता है।
दुनिया का सवाल नहीं है, साधक के लिए सवाल है अपनी अंतर-परीक्षा का। क्या मेरे सुधार करने का असली मजा और रस कठोर होने में तो नहीं है कि कठोर होने का रस लेना चाहता हूं, इसलिए सुधार कर रहा हूं। यह जरा जांचना चाहिए। यह तो बारीक सवाल है और बारीक जांच भीतर चलनी चाहिए या कि मेरी करुणा कह रही है कि मैं बदलूं, बदलने का कुछ उपाय करूं। और स्मरण रहे, जितने आप कठोर हो जायेंगे उतना ही किसी को बदलना मुश्किल है, क्योंकि कठोरता के उत्तर में आती है कठोरता। कठोरता के उत्तर में जितनी आपकी चेष्टा होती है कि मैं बदलूं, दूसरे का अहंकार कहता है कि मुश्किल है मुझे बदलना। मैं भी कोई साधारण नहीं हूं। इसलिए अच्छे मां-बाप के बेटे बुरे होते देखे जाते हैं। गांधी जैसे अच्छे बाप के बेटे भी बिगड़ गये। और कारण था यह ख्याल कि उनको बदलना है। तो उन लड़कों का भी अहंकार है अपना। वे कहते हैं तो ठीक है, बदल लो। कैसे बदलना है देखें। एक लड़का शराब पीने लगा, धर्म परिवर्तन किया, कहीं गलत जगह शादी की; गांधी को खबर लगी तो दुख हुआ। उस लड़के को खबर मिली कि गांधी दुखी हुए हैं तो वह हंसा और उसने कहा, अच्छा तो वे अभी दुखी होते हैं! वे तो कहते थे कि दुख सुख के बाहर हो गये हैं। और मैं हिंदू-धर्म छोड़कर कोई दूसरा धर्म पकड़ लिया तो दुख की क्या बात है? वे तो कहते हैं, अल्लाह-ईश्वर तेरे नाम। तो दुख की क्या बात है? कोई भी धर्म हुआ, जैसा हिंदू वैसा मुसलमान, वैसा कोई और। फर्क क्या है?
अच्छे बाप बेटों को बिगाड़ने के कारण बनते हैं, सुधारने के नहीं। क्योंकि जितना अहंकार उनका कहता है कि बदल दूंगा, उतना ही बेटे का अहंकार कहता है कि देखें कौन बदल सकता है। नहीं, कठोरता से कोई कभी बदला नहीं गया। इसलिए जो बदलने की, सच में किसी के प्रति प्रेमपूर्ण आतुरता से उत्सुक होता है, इसलिए नहीं कि मैं उसे अपने विचार का बना लूं, बल्कि इसलिए कि उसके मार्ग पर जो पत्थर मुझे दिखाई पड़ता है, मैं उस मार्ग से गुजरा हूं; व्यर्थ ही उस पत्थर से वह चोट न खाये, उस पत्थर को हटाने की कोशिश करूं। वह बहुत करुणापूर्ण होगा। उसकी कठोरता दुनिया को कठोरता दिखाई पड़े, उसकी कठोरता करुणा का ही हिस्सा होगी।
करुणा अगर महान है तो कठोर भी हो सकती है। करुणा अगर महान है तो कठोर
भी हो सकती है, लेकिन वह कठोरता कहीं भी नहीं होगी, एक कोने में भी नहीं हृदय के उसके। दुनिया उसको कहेगी कठोर। दुनिया कहे उससे कोई सवाल नहीं है। परीक्षण भीतर है कि मैं कठोर होने का रस तो नहीं ले रहा हूं। कहीं यह विधि, नियम और निषेध जो मैं बना रहा हूं कि उठो चार बजे सुबह, यह सिर्फ यह मजा तो नहीं ले रहा हूं कि एक आदमी को सुबह चार बजे ठंड में उठवाने का एक मजा है, एक रस है। कहीं वह मजा तो नहीं ले रहा हूं।
यह ध्यान में स्पष्ट हो तो करुणा बदलने की अदभुत शक्ति रखती है। लेकिन बदलने में मेरा रस नहीं है। और तब बदलने की उतनी आतुरता भी नहीं है, तब सिर्फ दूसरे के प्रति प्रेम प्रगट कर देना पर्याप्त है उसे बदलने को। अगर करुणा से भरी आंखें हो तो दूसरा आदमी उन आंखों को देखते तक बदल सकता है। करुणा से भरा हुआ हाथ हो तो हाथ का इशारा और स्पर्श भी बदल सकता है। और कठोरता की तलवारें भी कुछ नहीं कर पातीं। आदमी बड़ी से बड़ी तलवार से बड़ा है, लेकिन आदमी छोटी से छोटी करुणा के सामने एकदम कमजोर हो जाता है।
वह तो एक-एक व्यक्ति को भीतर नापने और जोखने की बात है कि हम जो कर रहे हैं वह कहीं धोखेबाजियां तो नहीं है। सौ में निन्यान्नबे मौके पर धोखेबाजियां हैं। इसलिए किसी को सुधारने के लिए बहुत उत्सुक मत होना। किसी को सुधारने के लिए आप कृपा ही करेंगे तो बहुत है। आप अपने को ही सुधारें तो काफी है। और आपका सुधर जाना और आपका करुणापूर्ण व्यक्तित्व जरूर आसपास ऐसे बीज फेंकता है कि दूसरे लोग भी सुधरते हैं। लेकिन सुधारने में न आपकी आकांक्षा होती है, न प्रयास होता है। न सुधारने की हिंसा होती है।

नहीं, मैं किसी के सुधारने के पक्ष में नहीं हूं। अपने को हम सुधारें, बनायें, निर्मित करें। अगर उसमें सुगंध होगी, उस दीये में रोशनी होगी तो जिनके दीये बुझे हैं; वे आ जायेंगे पास और पूछने लगेंगे कहां से लाए यह रोशनी, कैसे आया यह प्रकाश! हमारे घर में अंधेरा है, हम भी दीया जलाना चाहते हैं। तब वे आ जायेंगे अपने दीये लेकर आपकी ज्योति के पास और जलाकर ले जायेंगे। तब वे आ जायेंगे आपके सुगंध के घेरे में और भर जायेंगे सुगंध से। तब वे आ जायेंगे आपके संगीत को सुनने और डूब जायेंगे उसमें, और बदल जायेंगे।
लेकिन नहीं, आपको उन्हें बदलना नहीं है। किसी को बदलने की सचेष्ट चेष्टा, बहुत सजग चेष्टा खतरनाक बात है। और यह दुनिया जो इतनी बदतर हालत में पहुंची है, यह दुनिया को बदलने वाले लोगों की वजह से। दुनिया को बदलने वाले लोग इतने बड़े मिस्चीफ मांगर्स रहे हैं, इतने उपद्रवी रहे हैं जिसका हिसाब लगाना कठिन है। क्योंकि उन्होंने बदलने की जो अति चेष्टा की है, आदमी के अहंकार को उतना ही मुश्किल हो गया है बदलाहट को स्वीकार करना। वह सख्त हो गया है, वह कठोर हो गया है। उसने कहा कि नहीं बदलेंगे। अगर तुम्हें रस आता है हमें तोड़ देने में तो हम टूटेंगे नहीं, हम झुकेंगे नहीं। हम मिट जायेंगे लेकिन हम ऐसे ही खड़े रहेंगे।
अहंकार, सिर्फ अहंकार को चुनौती दे देता है और खड़ा कर देता है। अहंकार सिर्फ अहंकार से संघर्ष में पड़ जाता है। नहीं, करुणा के पास कोई अहंकार नहीं है, उसके पास बहुत नाजुक इशारे हैं। उसके पास आंखें हैं, उसके पास प्रेम के हाथ हैं। उसके पास प्रेम का एक व्यक्तित्व है। उसी व्यक्तित्व से जो कुछ हो जायेगा अपने आप, अपने से, वही ठीक। जो करना पड़े और चेष्टा करनी पड़े, वह गलत है। इसलिए भूलकर कठोर होने की जरूरत नहीं है।
लेकिन करुणा जानती है अपने रास्ते और जब करुणा हृदय में होती है तो उसे जो भी जरूरत होती है वह करती है। लेकिन उसका कोई पता भी नहीं चलता है कि पीछे करुणा है। और जब कोई प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व, कोई करुणा से भरा हुआ व्यक्ति किसी के प्रति कठोर दिखाई पड़ता है तो सारी दुनिया को दिखाई पड़ता होगा, लेकिन जिसके प्रति वह कठोर हो गया है वह अगर उसके प्रेम से थोड़ा भी परिचित है तो सपने में भी उसे ख्याल नहीं आता कि मेरे प्रति कठोर हुआ है। बल्कि उसकी कठोरता के प्रति भी अनुग्रह का भाव होता है, ग्रेटीट्यूट का भाव होता है कि कितना प्रेम था उसका मेरे प्रति कि वह कठोर भी हो सका। प्रेम कठोर होता है। उसकी जैसी शक्ति और फौलाद किसी और चीज में नहीं है। लेकिन वह कठोरता, वैसी कठोरता नहीं है जिसकी मैंने बात कही। वह कठोरता भी करुणा का ही रूप है। वह करुणा का ही सघन, कंडेंस्ड रूप है।
और बहुत से प्रश्न रह गये। वह कल हम बात करेंगे।
अब हम रात के ध्यान के लिए बैठेंगे।
इतनी बढ़िया रात है। इतनी बढ़िया रात को देख लें। जरा-सा चूक जाना बहुत नासमझी है। कौन जाने यह सागर-तट मिले या न मिले। यह चांद, यह चांदनी, यह सरू का वन फिर हो न हो। कोई पल लौटकर तो आता नहीं, कोई क्षण वापस तो आता नहीं।
कल का कोई भरोसा नहीं। आज जो हाथ में है वही हाथ में है। उसका हम पूरा उपयोग कर लें। इसके अतिरिक्त साधना का और कोई अर्थ नहीं होता है।
ध्यान में हम बैठेंगे। सारे शरीर को शिथिल छोड़ देना है।
कुछ मित्रों ने पूछा है, आधी आंखें खोल रखने से तनाव होता है!
जिनको भी आधी आंख खोले रखने से तनाव होता हो वे आंख बंद कर लें। सवाल हमेशा यही है कि सब तरह से चित्त शिथिल हो जाये। अगर आपकी आंख पर तनाव पड़ता है आधी खोलने से तो आप बंद कर लें। जिनकी आंख पर आधी खोलने से तनाव नहीं पड़ता हो वे आधी खोलें, अन्यथा बंद कर लें।
अब मैं सुझाव दूंगा थोड़ी देर तक कि आपका शरीर शिथिल हो रहा है, तो अनुभव करना है कि शरीर बिल्कुल शिथिल हो गया है।
फिर सुझाव दूंगा कि श्वास शांत हो रही है तो धीरे-धीरे अनुभव करना है
कि श्वास बिल्कुल शांत हो गयी है। उसे रोकना नहीं है। सिर्फ धीमी छोड़ देना है। अपने आप आये-जाये। न हमें गहरी लेनी है, न धीमी लेनी है, छोड़ देनी है!

फिर मैं कहूंगा, मन शांत हो रहा है। और जब सब शांत हो जायेगा तो फिर यह सागर का गर्जन सुनायी पड़ेगा। जंगल की आवाजें सुनायी पड़ेंगी, रात का सन्नाटा आपको घेर लेगा। फिर दस मिनट तक उसको ही सुनते चले जाना है। जस्ट लिसनिंग, सुनते ही चले जाना है, सुनते ही चले जाना है, सुनते ही चले जाना है। ऐसा हो जाये कि जंगल ही रह जाये, चांदनी रह जाये, सागर रह जाये और हम बिल्कुल मिट जायें। और यह हो सकता है और यह हो जायेगा।
तो अब बैठें, शरीर को शिथिल छोड़ दें। आंख चाहें तो बंद कर लें, चाहें
तो आधी खुली रखें।
अब मेरे साथ अनुभव करें कि शरीर शिथिल हो रहा है और उसे ढीला छोड़ दें।
जैसे कोई प्राण नहीं है, जैसे शरीर बिल्कुल शांत हो गया, शरीर शिथिल हो रहा है, शरीर शिथिल हो रहा है। छोड़ दें बिल्कुल ढीला, एकदम ढीला। जैसे शरीर है ही नहीं, शरीर शिथिल हो गया।
श्वास शांत हो रही है। श्वास को भी ढीला छोड़ दें।
मन शांत हो रहा है, शांत हो रहा है। बिल्कुल ढीला छोड़ दें मस्तिष्क को। सब ढीला छोड़ दें भीतर तक। मन शांत हो रहा है, मन शांत हो रहा है, मन शांत हो गया। बिल्कुल सब शांत और शिथिल हो गया।
अब दस मिनट के लिए सुनें सागर का गर्जन, रात का सन्नाटा सुनते रहें, सुनते रहें। बस सारा शरीर जैसे कान हो गया है। बस सुन रहे हैं, सुन रहे हैं और सुनते ही सुनते सब शून्य हो जायेगा। आप मिट जायेंगे और इस रात के साथ एक हो जायेंगे। दस मिनट के लिए सुनें, बस सुनते रहें।

साधना पथ
सत्ताईसवां प्रवचन

प्रभु-मंदिर का दूसरा द्वारः मैत्री

मेरे प्रिय आत्मन्!
प्रभु के मंदिर के दूसरे द्वार पर आज बात करनी है। वह दूसरा द्वार है मैत्री, फ्रेंडलीनेस। करुणा है पहला द्वार, मैत्री है दूसरा द्वार। करुणा है बरखा के दिनों में आकाश में छाये हुए बादलों की भांति जो पानी से भरे हैं। मैत्री है उस पानी की भांति जो जमीन पर बरस आता है। आकाश में बादल छाते हैं पानी से भरे हुए, लेकिन पृथ्वी की प्यास उनसे नहीं बुझती है। जब तक कि पानी आकाश से पृथ्वी तक उतर न आये तब तक उसकी प्यास नहीं बुझती। करुणा है हृदय में भरा हुआ बादल। जब तक वह मैत्री बनकर जग तक पहुंच न जाये, फैल न जाये तब तक पूरे अर्थों में सार्थक नहीं होती।
करुणा है आत्मा, मैत्री है अभिव्यक्ति। करुणा है आत्मा, मैत्री है शरीर। करुणा है निराकार, मैत्री है साकार। करुणा अप्रगट है, जब तक वह मैत्री न बन जाये तब तक प्रगट नहीं होती। करुणा है ऐसा गीत जो कवि के मन में गूंजा हो और मैत्री है ऐसा गीत जो उसके ओंठों से प्रगट हो गया हो और गा दिया गया हो और सब तक पहुंच गया हो।
इसलिए मैत्री करुणा के बाद, ठीक से कहें तो मैत्री का अर्थ है सक्रिय करुणा, एक्टिव कंपेशन। जब करुणा सक्रिय हो जाती है तो मैत्री बन जाती है। लेकिन मैत्री का अर्थ मित्रता नहीं है। मैत्री का अर्थ मित्रता नहीं है, फ्रेंडशिप नहीं है। मैत्री का अर्थ है फ्रेंडलीनेस, मैत्री का अर्थ है मित्रत्व। और इन दोनों में सबसे पहले फर्क समझ लेना जरूरी है। और यह फर्क बहुत गहरा है। आमतौर से हम समझेंगे कि मैत्री का अर्थ है मित्रता। नहीं, मैत्री का अर्थ मित्रता नहीं--मित्रत्व। इनमें फर्क क्या होगा?
मित्रता जब तक रहेगी तब तक शत्रुता भी रहेगी। जिनके कोई मित्र होते हैं उनके शत्रु भी होते हैं। मैत्री का अर्थ है, वैर-भाव समाप्त हो गया। अब कोई शत्रुता शेष न रही। मित्रता में शत्रुता की गंध बाकी रहेगी, मैत्री में शत्रुता तिरोहित हो गयी। अब कोई शत्रुता का सवाल न रहा। जो मित्र बनाता है वह शत्रु भी बना लेता है, लेकिन जो मैत्री भाव को जगाता है उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता। मित्रता में मित्र का गुण और योग्यता महत्वपूर्ण होते हैं। मैत्रीभाव में गुणों की, योग्यता की कोई अपेक्षा नहीं। मैं अगर आपसे मित्रता करूं तो आपकी योग्यता, आपके गुण महत्वपूर्ण होंगे; उनको देखकर मित्रता बनेगी। अगर वे गुण मिट जायेंगे तो शत्रुता आ जायेगी। मित्रता आप पर निर्भर है, मित्रता दूसरे पर निर्भर है। मैत्री का भाव मुझ पर निर्भर है, दूसरे से उसका कोई संबंध नहीं। मैत्री मेरी अंतर्भाव-दशा है, इसलिए मैत्री को मैं कह रहा हूं मित्रत्व, फ्रेंडलीनेस--फ्रेंडशिप नहीं।
यह मैत्री क्या है? और मैंने कहा है कि मैत्री है सक्रिय करुणा। करुणा
जब साकार हो उठती है, सगुण हो जाती है; करुणा जब सक्रिय हो उठती है और काम में संलग्न हो जाती है, तब वह मैत्री बनती है। पहले तो करुणा का जन्म होता है, हृदय में उतरती है वह। प्राण भर जाते हैं अनुकंपा से, कंपेशन से, करुणा से। जैसे बादल भर जाते हैं पानी से; फिर बादल बरसते हैं, फिर खाली करते हैं अपने को, उड़ेल देते हैं और तब पृथ्वी तक पहुंच पाते हैं, फिर बीज अंकुरित होते हैं, पृथ्वी की प्यास बुझती है। करुणा है हृदय में उठा हुआ बादल। फिर जब वह व्यक्तित्व के सब द्वारों से प्रगट होने लगता है, और व्यक्तित्व के सारे द्वारों से वे जल-स्रोत बहने लगते हैं और अनंत तक पहुंचने लगते हैं, तब वह मैत्री बन जाती है।
विवेकानंद अमरीका जाते थे। रामकृष्ण की तो मृत्यु हो गयी थी। रामकृष्ण की पत्नी शारदा से वे आज्ञा मांगने गये कि मैं जाता हूं। परदेश खबर ले जाना चाहता हूं, धर्म की, सत्य की--मुझे आशीर्वाद दें कि मैं सफल होऊं।

शारदा तो ग्रामीण स्त्री थी। वे उससे आशीर्वाद लेने गये। उन्होंने सोचा भी न था कि शारदा आशीर्वाद देने में भी सोच-विचार करेगी। उसने विवेकानंद को नीचे से ऊपर तक देखा। वह अपने चौके में खाना बनाती थी। फिर बोली, सोचकर बताऊंगी।
विवेकानंद ने कहा, सिर्फ आशीर्वाद मांगने आया हूं, शुभाशीष चाहता हूं, तुम्हारी मंगल-कामना कि मैं जाऊं और सफल होऊं।
उसने फिर उन्हें गौर से देखा और उसने कहा, ठीक है। सोचकर कहूंगी।
विवेकानंद तो खड़े रह गये अवाक। कभी आशीर्वाद भी किसी ने सोचकर दिये हों और आशीर्वाद सिर्फ मांगते थे शिष्टाचारवश।
वह कुछ सोचती रही और फिर उसने कहा विवेकानंद को, कि नरेन्द्र, वह जो सामने पड़ी हुई छुरी है, वह उठा लाओ।
सामने पड़ी हुई छुरी विवेकानंद उठा लाये और शारदा के हाथ में दी। हाथ में देते ही वह हंसी और उसकी हंसी से उन्हें आशीर्वाद बरस गये उनके ऊपर। उसने कहा कि जाओ। जाओ, तुमसे सबका मंगल ही होगा।
विवेकानंद कहने लगे कि इस छुरी के उठाने में और तुम्हारे आशीर्वाद देने में कोई संबंध था क्या?
शारदा ने कहा, संबंध था। मैं देखती थी कि छुरी उठाकर तुम किस भांति मुझे देते हो। मूठ तुम पकड़ते हो कि फलक तुम पकड़ते हो। मूठ मेरी तरफ करते हो कि फलक मेरी तरफ करते हो। और आश्चर्य कि विवेकानंद ने फलक अपने हाथ में पकड़ा था छुरी का और मूठ लकड़ी की शारदा की तरफ की थी।
आमतौर से शायद ही कोई फलक को पकड़कर मूठ दूसरे की तरफ करे। मूठ कोई पकड़ेगा सहज, खुद।
शारदा कहने लगी, तुम्हारे मन में मैत्री का भाव है, तुम जाओ, तुमसे कल्याण होगा। तुमने फलक अपनी तरफ पकड़ा, मूठ मेरी तरफ। अपने को असुरक्षा में डाला। हाथ में चोट लग सकती है और मेरी सुरक्षा की फिक्र की। तुम जाओ, आशीर्वाद मेरे तुम्हारे साथ हैं।
इतनी-सी, छोटी-सी घटना में मैत्री प्रगट होती है, साकार बनती है। बहुत छोटी-सी घटना है! क्या है मूल्य इसका, कि क्या पकड़ा आपने, फलक या मूठ? शायद हम सोचते भी नहीं। और सौ में निन्यान्नबे मौके पर कोई भी मूठ ही पकड़ता है। वह सहज मालूम होता है। अपनी रक्षा सहज मालूम होती है, आत्मरक्षा सहज मालूम होती है।
मैत्री आत्मरक्षा से भी ऊपर उठ जाती है। दूसरे की रक्षा, वह जो जीवन
है हमारे चारों तरफ, उसकी रक्षा महत्वपूर्ण हो जाती है। मैत्री का अर्थ मुझसे भी ज्यादा मूल्यवान है, सब कुछ जो है।
वैर का अर्थ है मैं सबसे ज्यादा मूल्यवान हूं। सारा जगत मिट जाये लेकिन मेरी रक्षा जरूरी है। मैं हूं केंद्र जगत का। वैर-भाव तक आधार है, मैं हूं केंद्र जगत का। वैर-भाव इगोसेंट्रिक है। वह अहं-केंद्रित है। मैं हूं जगत का केंद्र। सारा जगत चलता है मेरे लिए, सारा जगत मिट जाये, लेकिन मैं बचूं।
मैत्री का केंद्र मैं नहीं हूं, सर्व है। मैं मिट जाऊं, सब बचे। मैं खो जाऊं, सब रहे। मैत्री है मंगल की कामना, सर्व-मंगल की कामना--कामना ही नहीं, सक्रिय जीवन भी। उठूं, बैठूं, चलूं और मेरा उठना, बैठना, चलना, मेरा श्वास लेना भी सर्व-मंगल के लिए समर्पित हो जाये; तो मनुष्य परमात्मा के दूसरे द्वार में प्रवेश पाता है।
साधारणतया हम वैर-भाव में ही जीते हैं, मैत्री का हमें कोई पता नहीं।
हम जिन्हें मित्र भी कहते हैं उन्हें भी इसी कारण कि वे हमारे आत्मरक्षा में सहयोगी हैं, वे हमारी रक्षा में सहयोगी हैं। हम जिन्हें मित्र कहते हैं इसी कारण कि वे भी मेरे अहंकार के, मुझे बचाने में साथी हैं, संगी हैं, इसलिए।
हमारी परिभाषा ही क्या है मित्र की और शत्रु की? जो मुझे मिटाने को उत्सुक हो जाये उसे हम शत्रु कहते हैं और जो मुझे बचाने को आतुर है उसको हम मित्र कहते हैं। लेकिन केंद्र "मैं" हूं। इसलिए एक क्षण पहले तक जो मित्र था, एक क्षण बाद शत्रु हो सकता है। अगर उसके मैं-केंद्र में मुझे केंद्र

मानने की इच्छा विलीन हो जाये तो वह शत्रु हो जायेगा। जो शत्रु था एक क्षण पहले, मित्र हो सकता है! अगर वह मेरे मैं को बचाने में सहयोगी हो जाये तो मित्र हो जायेगा.। मित्र और शत्रु तत्क्षण बदले जा सकते हैं।
अमरीका और रूस मित्र थे हिटलर के खिलाफ, क्योंकि तब वे एक-दूसरे को बचाने में सहयोगी थे। अब वे शत्रु हैं, क्योंकि अब वे एक-दूसरे के बचाने में सहयोगी नहीं हैं। कल वे फिर मित्र हो सकते हैं चीन के खिलाफ, तब वे फिर एक-दूसरे के बचाने में सहयोगी हो जायेंगे। जो मुझे बचाता है वह मित्र है, जो मुझे मिटाना चाहता है वह शत्रु है। और हम सब इसी भाव में जीते हैं कि मैं बचूं, मैं बचूं, मैं बचूं। और स्वयं को बचाने में सारा जगत मुझे शत्रु जैसा मालूम पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक चीज ऐसी लगती है कि डुबा देगी, मिटा देगी।
वैर-भाव में जीने वाला सदा भय में जीता है, फियर में जीता है। जो मैत्री को उपलब्ध होते हैं वे ही फियरलेसनेस को, अभय को उपलब्ध होते हैं, क्योंकि फिर मिटने-मिटाने का सवाल न रहा। वे खुद ही मिट गये, अब उन्हें कोई मिटायेगा कैसे?
लाओत्से कहता था, धन्य हैं वे लोग जो हारे ही हुए हैं, क्योंकि उन्हें कोई हरा नहीं सकता। मैं फिर दोहराता हूं, अदभुत है यह पंक्ति। लाओत्से कहता है, धन्य हैं वे लोग जो हारे ही हुए हैं, क्योंकि उन्हें कोई हरा नहीं सकता। धन्य हैं वे लोग जो मिट ही गये क्योंकि अब उन्हें कोई मिटा नहीं सकता। धन्य हैं वे लोग जो हैं ही नहीं क्योंकि अब उनकी कोई मृत्यु संभव नहीं।
हम जितना अपने को बचाते हैं, उतना हम अपने को मिटाये जाने के लिए आमंत्रण भेज देते हैं। तूफान आता है हवा का एक। छोटे-छोटे वृक्ष झुक जाते हैं, हवाएं निकल जाती हैं, वे फिर खड़े हो जाते हैं और हंसने लगते हैं। उनमें फूल फिर खिल आते हैं, वे फिर हवाओं में नाचने लगते हैं। बड़े वृक्ष-- अहंकार से भरे वृक्ष, ऊंचे वृक्ष--नहीं, झुकने के लिए तैयार नहीं होते। वे टकराते हैं, वे प्रतिरोध करते हैं, वे रे.जस्ट करते हैं। वे तूफान के दुश्मन हो जाते हैं। तूफान के सामने वे अकड़कर खड़े हो जाते हैं। जितनी उनकी तेज अकड़ होती है उतनी ही उनके टूटने की संभावना बढ़ जाती है। जितने वे कड़े होते हैं उतने ही टूटने के लिए मौके बढ़ जाते हैं। उनका कड़ापन, उनके खड़े रहने का भाव, उनकी जिद्द उनकी मौत बन जाती है। और वे छोटे-छोटे पौधे जो झुक गये हैं और लेट गये हैं और समर्पित हो गये हैं; जिन्होंने तूफान से शत्रुता नहीं साधी है, जो तूफान के खिलाफ खड़े नहीं हो गये हैं, जिन्होंने तूफान को भी अंगीकार कर लिया है और उसके साथ ही डूब गये हैं और कहा है, जो तेरी मर्जी! अगर पूरब बहना है तो हम पूरब बहे जाते हैं, अगर पश्चिम झुकना है तो हम पश्चिम झुके जाते हैं।
जिन्होंने तूफान के आते ही अपने को झुका लिया है, तूफान उनके ऊपर से निकल जाता है--एक मित्र के प्रेम की तरह, वे वापस खड़े हो जाते हैं। उनके झुकने की क्षमता ही उनके जीने की क्षमता बन जाती है। कड़े होने की, अकड़ के खड़े होने की क्षमता मौत की क्षमता है, जीवन की नहीं।
शत्रुभाव मृत्यु का आमंत्रण है। मैत्री जीवन का बुलावा है।
मैत्री का अर्थ है, जिसने यह ख्याल छोड़ दिया कि मुझे मिटाया जा सकता है। असल में जो यह कहता है कि मैं हूं ही नहीं इसलिए मिटेगा क्या? मिटायेगा कौन? कौन है शत्रु? "मैं हूं नहीं" तो शत्रु का प्रश्न न रहा। "मैं" जब तक हूं तब तक शत्रु है। "मैं" जब तक हूं और जितना घनीभूत हूं उतना ही घनीभूत शत्रु होगा। मेरा कड़ा होना ही शत्रुता निर्मित करता है। इसलिए जितना अहंकारी व्यक्ति होता है, उतने ही शत्रु निर्माण कर लेता है। यह पृथ्वी उसे चारों तरफ से शत्रु मालूम पड़ने लगती है। कोई मित्र नहीं रह जाता।
मैंने सुना है, हिटलर को कोई भी "तू" कहकर संबोधित नहीं कर सकता था। हिटलर का कोई भी मित्र नहीं था। हिटलर का नाम भी लेकर कोई संबोधित नहीं कर सकता था। फ्यूहरेर ही कहना पड़ता था। हिटलर ने कभी किसी से मित्रता नहीं

साधी। कभी कोई आदमी को इसने करीब नहीं आने दिया कि उसके कंधे पर हाथ रख ले-- इतना भयभीत था!
हिटलर ने विवाह नहीं किया। मरने के आखिरी दिन दो घंटे पहले विवाह किया। इसलिए विवाह नहीं किया कि विवाह करने का मतलब एक स्त्री इतने निकट आ जायेगी। और जिस आदमी का अहंकार जितना विक्षिप्त है वह किसी को निकट पाने में घबराता है, क्योंकि खतरा हो सकता है। निकट का व्यक्ति नुकसान पहुंचा सकता है। पत्नी को भी इतने निकट नहीं आने देना है, किसी स्त्री को कि वह रात एक ही कमरे में सो जाये, खतरा है। वह रात को उठे और छुरे भोंक दे, जहर पिला दे।
तो एक स्त्री उसे बारह वर्षों से प्रेम करती थी और वह उसे टालता रहा।
वह कहता रहा कि रुको, अभी समय नहीं आया है कि मैं विवाह करूं। जिस दिन बर्लिन पर बम गिरने लगे और हिटलर के मकान के सामने तोपें दुश्मन की आ गयीं और हिटलर की खिड़कियों से आकर गोलियां टकराने लगीं, तब हिटलर ने खबर भेजी उस औरत को कि तू जल्दी आ जा, हम विवाह कर लें।
और आप हैरान होंगे, बिना किसी साक्षी के एक पादरी को जल्दी जबरदस्ती चर्च से नींद से उठवाकर बुलवाया गया। दो-चार मित्रों के बीच एक नीचे के तलघर में जल्दी से शादी हो गयी और एक घंटे बाद दोनों ने जहर खाकर गोली मार ली--पति-पत्नी दोनों ने। जब मौत बिल्कुल ही करीब आ गयी तब उसने सोचा कि अब कोई फिक्र नहीं है, अब किसी को पास लिया जा सकता है। इतना भय! किसी के निकट आने में इतना डर!
जितना अहंकार प्रबल होगा उतना ही सारा जगत शत्रु मालूम पड़ने लगता
है। जितना व्यक्ति विनम्र होगा, उतना ही सारे जगत के प्रति मैत्री की धाराएं बहने लगती हैं। मैत्री का अर्थ है--निरहंकारिता, इगोलेसनेस। मैत्री तभी जन्मेगी और सक्रिय होगी जब भीतर यह "मैं" का भ्रम टूट जाये। हम तो इस "मैं" के भ्रम को ही मजबूत करते चले जाते हैं। जितना इस "मैं" को मजबूत करते हैं, उतना ही डर लगता है कि कोई तोड़ न दे, कोई मिटा न दे। तो उतनी ही हम दीवाल खड़ी करते हैं, उतना ही दूसरे को दूर करते हैं, निकट नहीं आने देते हैं।
अहंकार से भरा हुआ आदमी प्रेम कर ही नहीं सकता, क्योंकि प्रेम में किसी को निकट, निकटता देनी पड़ती है। इतनी निकटता देनी पड़ती है कि वह जितने हम अपने निकट हैं उतने ही निकट वह भी हो जाता है। इसलिए अहंकारी प्रेम से भागता है और डरता है। क्योंकि प्रेम का मतलब है कि दूसरे को इतने निकट ले आना जहां कि खतरा हो सकता है, जहां कि कोई हमें मिटा सकता है।
इसलिए अहंकारी प्रेम से बचता है और अगर प्रेम जैसी घटना भी उसके जीवन में घटती है तो वह घटना ऐसी ही होती है जैसे एक आदमी लोहे के एक खोल में खड़ा हो जाये, और थोड़ा-सा एक छेद बना ले, उसमें से हाथ निकाले और दूसरे से थोड़ा हाथ मिलाये और फिर भीतर कर ले। बस ऐसा ही प्रेम है हमारा। अपने लौह-कवच को हम हमेशा तैयार रखते हैं कि हम उस खोल में... जैसे कछुआ जल्दी से अपनी खोल में सब सिका.ेडकर अंदर हो जाता है, थोड़ा-सा बाहर निकलता है। जरा ही भय और अपनी खोल में वापस हो गया।
हम सब भी अपने आसपास लोहे के खोल बनाये हुए हैं। थोड़ा-सा निकलते हैं प्रेम के लिए, जरा-सा झांकते हैं कि अच्छा, मेरा बेटा आ रहा है! अच्छा, मेरी पत्नी आ रही है! थोड़ा-सा निकलते हैं डरे-डरे, और चौंके हुए हैं कि कोई हमला न हो जाये और जरा-सा भय, जरा-सी पत्नी की आंख में दूसरा भाव और हम कछुए की तरह भीतर सरक गये हैं और अपनी खोल मजबूत कर ली है और पूछने लगे; क्या मतलब है, क्या बात है? यह जो एक लौह-कवच हम भय का बनाये हुए हैं, यह कैसे मैत्री- भाव को जन्म देने देगा? यह इतनी सुरक्षा की पागल-प्यास, यह इतनी सिक्योरिटी की आकांक्षा! --कैसे मित्र बनाने देगी! यह कैसे फैलेगी भीतर छिपी हुई मैत्री की धारा?
नहीं, इस लौह-कवच को तोड़ देना जरूरी है। यह लौह-कवच हमने बनाया इसलिए
है कि अपने को बचाना है। और मजा यह है कि हम हैं कहां जिसको बचाना हो। जिसे हम बचाने चले हैं, सपना है! --और एक झूठ, एक सुडो रियलिटी, एक फिक्शन, एक सपना, एक झूठ, एक कल्पना, एक कविता! यह मैं हूं कहां, जिसको हम बचाने चले

हैं। यह है कहां? इसकी सचाई क्या है, इसका अर्थ कितना है? हम सच में अलग हैं इस विराट जगत से। इस जीवन से हमारी कोई भिन्नता है?
एक क्षण को भी हम अलग नहीं हैं, विराट के हिस्से हैं। सागर में लहरें नाच रही हैं। हर लहर को ख्याल हो सकता है कि मैं हूं, लेकिन हम जो किनारे पर खड़े देख रहे हैं वे हंसेंगे और कहेंगे पागल, लहर! तू कहां है, सागर है, तू नहीं है। तू तो सिर्फ हवा के एक झोंके में उठ आयी हुई एक रूपाकृति, हवा के झोंके में उठ आया एक रूप, एक फार्म, हवा के झोंके में पैदा हो गया एक नाम। नाम, रूप--इससे ज्यादा तू क्या है?
लहर एक नाम है, हवा के झोंके में उठ गयी एक आकृति है। झोंका निकल जायेगा, आकृति गिर जायेगी। सागर पहले भी था, बीच में भी था, पीछे भी होगा। कभी आपने सोचा, सागर बिना लहरों के हो सकता है, लेकिन कभी आपने लहर देखी बिना सागर के? लहर बिना सागर के नहीं हो सकती, सागर बिना लहर के हो सकता है। इसलिए सागर है सत्य, लहर है सपना। लहर का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यह जीवन हमारे बिना था। यह जीवन हमारे बिना होगा, लेकिन हम इस जीवन के बिना हो सकते हैं? यह पूछ लेना जरूरी है, इसे बहुत गहराई में अपने से पूछ लेना जरूरी है। मैं नहीं था और जीवन था। और चांद निकलता था और चांदनी बरसती थी, और सूरज उगता था और पक्षी गीत गाते थे, और वृक्ष उगते थे और फूल लगते थे और आकाश में तारे आते थे और बादल आते थे। सब चलता था। जीवन था, जीवन अपने पूरे रंगों में था। मैं नहीं था, उससे जीवन रत्ती भर भी कम नहीं था। मैं नहीं रहूंगा कल, जीवन रत्ती भर भी कम नहीं हो जायेगा, जीवन रहेगा। लहर नहीं होगी, सागर फिर होगा।
लेकिन क्या मैं यह सोच सकता हूं कि सूरज न हो, चांद न हो, तारे न हों, वृक्ष न हों, पौधे न हों, पक्षी न हों? --यह जो जीवन का विस्तीर्ण फैलाव है, यह न हो और मैं हो जाऊं? --क्या यह संभव है? क्या इसकी कल्पना भी की जा सकती है कि जीवन न हो और मैं हो जाऊं? लेकिन मेरे बिना तो जीवन था और कल फिर होगा। इससे क्या मतलब होता है?
इसका मतलब होता है कि मैं लहर से ज्यादा नहीं। जीवन है सागर। मैं उठता हूं एक रूप, एक आकृति और गिर जाता हूं और जीवन सदा है--सदा है, सदा था, सदा होगा। जीवन है सत्य, मैं हूं एक सपना। आया और गया, हवा की एक लहर। लेकिन इस तरह लहर को हम सब कुछ मान लेते हैं और जब सब मान लेते हैं तो इसे बचाने के लिए आतुर हो जाते हैं और भयभीत हो जाते हैं कि कोई मिटा न दे। जो है ही नहीं, उसको कोई मिटा कैसे सकेगा? जो होता तो मिटाया भी जा सकता था, लेकिन जो है ही नहीं उसे कोई कैसे मिटा सकेगा? मैं हूं ही नहीं, मिटाने का सवाल कहां है! मैं होता तो मिटाया भी जा सकता था, मैं हूं नहीं!
यह जिस दिन जितनी गहरी प्रतीति होती है कि मैं हूं नहीं, उतने ही जीवन
से शत्रुता गिर जाती है, क्योंकि फिर कोई मिटाने वाला न रहा, कोई मिटाने की संभावना न रही, कुछ मिटाया नहीं जा सकता। और मैंने कहा कि मैं हूं नहीं तो मिटाया क्या जा सकेगा। और मैंने कहा कि अगर मैं होता तो मिटाया भी जा सकता था, लेकिन और थोड़ी गहराई समझ की बढ़ेगी तो पता चलेगा कि जो है उसे तो मिटाया कैसे जा सकता है। जो है वह है, उसे कैसे मिटाया जा सकेगा?
एक रेत के छोटे-से कण को भी तो नहीं मिटाया जा सकता है। जो है, जो एक्जिस्टैंस है, जो अस्तित्व है उसे कैसे मिटाया जा सकता है। जो नहीं है उसे नहीं मिटाया जा सकता है, जो है उसे नहीं मिटाया जा सकता। जो दोनों के बीच में है, केवल सपना है, वही बनता है और मिटता है। जो न है और न नहीं है। यह--यह बहुत गहरे में स्पष्ट होना चाहिए--यह प्रतीति, यह साक्षात, मैं हूं कहां, मेरा होना क्या है? और जिस दिन यह स्पष्ट हो जायेगा कि मैं नहीं हूं उस दिन कैसी शत्रुता, कैसा वैर? उस दिन कौन है जो शत्रु है, कौन है जो बुरा है, कौन है जिससे मैं भयभीत हो जाऊं, कौन है जिससे मैं डरूं, कौन है जिससे मैं बचूं। कौन-सा है तूफान जिसके खिलाफ मुझे खड़े हो जाना है और लड़ना है।
नहीं, नहीं, मैं ही हूं। अगर मैं नहीं हूं तो फिर जो कुछ है वह सब मैं
ही हूं। तूफान भी मैं ही हूं--वह जो मिटाने चला आ रहा है वह भी मैं ही हूं।

गदर के दिनों में अठारह सौ सत्तावन में एक संन्यासी को कुछ अंग्रेजों
ने भाला भोंककर मार डाला था। वह संन्यासी पंद्रह वर्षों से मौन था। पंद्रह वर्षों से मौन था, जब उसने मौन लिया था तब उसने कहा था कि कभी जरूरत होगी तो बोलूंगा। फिर पंद्रह वर्ष तक कोई जरूरत न पड़ी और वह नहीं बोला। अंग्रेजों की एक छावनी के पास से वह निकलता था। उन्होंने यह समझकर कि कोई भेदिया, कोई जासूस, कोई सी. आई. डी... रात अंधेरी थी और वह वहां से निकल रहा था। वह था अपनी मौज का आदमी। कहां रात थी उसे, कहां दिन था। जब आंख खुल जाती थी तो दिन था, जब आंख बंद हो जाती थी तो रात थी।
वह निकल रहा था छावनी के पास से। उसको पहरेदारों ने रोक लिया और पूछने लगे, कौन हो तुम? तो वह हंसने लगा। वह हंसने लगा। उसकी हंसी देखकर वे पहरेदार संदिग्ध हुए। पूछने लगे जोर से, कि बोलो कौन हो तुम! लेकिन वह तो था मौन। बोलता क्या? और अगर बोलता भी होता तो भी क्या बोलता? कौन हैं आप? तब भी तो सन्नाटा छा जाता।
तो वह हंसने लगा, लेकिन उसकी हंसी को तो गलत समझा गया। हंसी को हमेशा
ही गलत समझा जाता है।
उन्होंने उसे घेर लिया और कहा, बोलो अन्यथा मार डालेंगे। तो वह और हंसने लगा। उसे और जोर से हंसी आयी, क्योंकि वे मारने की धमकी दे रहे थे। लेकिन मारेंगे किसको! वहां कोई हो तो मारा जाये!
वह और भी हंसने लगा तो उन्होंने भाले उसकी छाती में भोंक दिये। मरते क्षण में उसने सिर्फ एक शब्द बोला था। शायद जरूरत आ गयी थी इसलिए। उसने उपनिषदों का एक शब्द बोला। उसने कहा, तत्वमसि और मर गया। उसने कहा, तुम वही हो, दैट आर्ट दाऊ, तत्वमसि, तुम वही हो। वही जो है, और मर गया। तुम वही हो जो मैं हूं, तुम वही हो जो है। जिस दिन पता चलता है कि मैं नहीं हूं, उसी दिन पता चलता है कि सभी कुछ मैं हूं। जब तक मैं हूं, तब तक सब और मेरे बीच एक फासला है। जिस दिन मैं नहीं हूं, जिस दिन लहर नहीं है उस दिन पड़ोस की लहर और दूर की लहर सब वही हो गयी। सारा सागर वही हो गया। जरूरत आ गयी थी तो उसने कहा था, तुम भी वही हो। बड़ी अदभुत बात कही थी मरते क्षण में कि, "तुम भी वही हो।"
"जो आदमी जीवन में ही यह कह देता है कि, "तुम भी वही हो" वह मैत्री भाव
को उपलब्ध हो जाता है।"
मैत्री भाव का अर्थ है कि कोई दूसरा नहीं है। और दूसरा तब तक रहेगा जब
तक मैं हूं, क्योंकि दूसरा सिर्फ मेरे "मैं" की रिएक्शन है, उसकी प्रतिक्रिया है। जब तक "मैं हूं," तब तक "तू है।" जिस दिन "मैं" नहीं है उस दिन कोई "तू" न रहा। जिस दिन कोई "तू" न रहा उस दिन जो भाव जन्मेगा उस भाव का नाम है मैत्री, उसका नाम है फ्रेंडलीनेस। और जब कोई पराया न रहा, जब कोई अन्य न रहा, दी अदर, वह दूसरा न रहा, तब मैं किस तरह जीऊंगा? तब मैं किस तरह जीऊंगा--तब किसी रोते हुए आदमी के आंसू क्या मेरे आंसू नहीं हो जायेंगे? तब किसी आदमी की हंसती हुई मुस्कुराहट क्या मेरी मुस्कुराहट नहीं हो जायेगी? तब खिला हुआ फूल क्या मेरी खिली हुई आत्मा नहीं हो जायेगी? तब सागर की गरजती हुई लहरें क्या मेरा गर्जन न बन जायेंगी?
जब मैं नहीं हूं और तू नहीं है तो फिर जो रह गया वह सब एक है। और तब सक्रिय होती है करुणा। जब एक ही शेष रह गया, तब जो सक्रियता जीवन में पैदा होती है, तब मैं जो करता हूं, तब वह सभी कुछ मैत्रीपूर्ण है। तब जो भी मैं हूं--मेरा उठना-बैठना, मेरा श्वास, वह सभी मैत्रीपूर्ण है। तब जीवन के सारे दुख मेरे हैं और सारे सुख भी। तब जीवन के सारे आंसू मेरे हैं और सारी मुस्कुराहटें भी। तब जीवन और मैं एक हूं। वैसा जो तादात्म्य है, वैसा जो अद्वैत भाव है, उस अद्वैत भाव का नाम है मैत्री। इसलिये मैत्री दूसरा द्वार है।
कैसे पहुंचेंगे इस मैत्री के जगत तक? कैसे उठेंगे इस मित्रत्व में? कैसे उठेंगे इस एकता में? कैसे यह अद्वैत फलित होगा? कैसे तोड़ेंगे अपने को? तीन बातें ध्यान में रहें तो यह टूटना हो सकता है।
पहली बात, इस बात की अथक खोज चाहिए कि मैं हूं। इस बात की अथक खोज चाहिए--मैं हूं, मेरा कोई अलग होना है? मैं कोई अलग-थलग, कोई जीवन से टूटा

हुआ, कोई खंड, कोई पृथकता है कहीं मेरे होने में--या कि एक अपृथक अस्तित्व है, एक इंटीग्रेटेड एक्जिस्टेंस है?
मैं श्वास ले रहा हूं लेकिन श्वास तो मेरी नहीं है। यह जो चारों तरफ भरा हुआ श्वास का सागर है, ये जो हवाएं हैं उनसे श्वास मुझ तक आती है और जाती है। अगर हवाएं बंद हो जायें, इनकार कर दें कि बस बहुत हो गया, अब नहीं आदमियों से संबंध रखना है; तो मैं और आप तत्क्षण यहीं शून्य हो जायेंगे। जीवन विलीन हो जायेगा।
सूरज की किरणें आ रही हैं, बहुत लंबी यात्रा करके हम तक आती हैं, कोई
आठ नौ करोड़ मील दूर से। सूरज तय कर ले कि बस हो जाओ ठंडे, बहुत दिन हो गये! बहुत दिन हो गये और ठंडा हो जाये वहीं अभी; तो हमें पता भी नहीं चलेगा कि सूरज ठंडा हो गया है। क्योंकि उसके ठंडे होते ही हम भी ठंडे हो जायेंगे। वह जो यह दूर से आती हुई किरणें यहां गिर रही हैं आपके ऊपर, यह नौ करोड़ मील दूर से जीवन बरस रहा है। नौ करोड़ मील दूर से जीवन के सूत्र और धागे बंधे हैं। ये किरणें धागे हैं जीवन के। ये किरणें बंद और हम समाप्त! लेकिन हम कहे चले जाते हैं कि मैं हूं।
नहीं, मैं नहीं हूं। हवाएं हैं, सूरज है, पृथ्वी है, सब कुछ है--मैं कहां हूं! इन सबका अदभुत जोड़ है, इन सबका एक क्रास प्वाइंट है। इन सबसे मिलकर एक रूपाकृति है। उस रूपाकृति को यह भ्रम है कि मैं हूं।
एक भिक्षु था नागसेन। एक सम्राट मिलिन्द ने उसे निमंत्रण भेजा था। निमंत्रण लेकर सम्राट का दूत गया और कहा, कि भिक्षु नागसेन! सम्राट ने निमंत्रण भेजा है। आपके स्वागत के लिए हम तैयार हैं। आप राजधानी आयें। तो उस भिक्षु नागसेन ने कहा, कि आऊंगा जरूर, निमंत्रण स्वीकार। लेकिन सम्राट को कह देना कि भिक्षु नागसेन जैसा कोई व्यक्ति है नहीं। ऐसा कोई व्यक्ति है नहीं। आऊंगा जरूर, निमंत्रण स्वीकार है। लेकिन कह देना सम्राट को कि भिक्षु नागसेन जैसा कोई व्यक्ति, कोई इंडीविजुअल है नहीं।
राजदूत तो चौंका, फिर आयेगा कौन, फिर निमंत्रण किसको स्वीकार है? लेकिन कुछ कहना उसने उचित न समझा। जाकर निवेदन कर दिया सम्राट से। सम्राट भी हैरान हुआ, लेकिन प्रतीक्षा करें? आयेगा भिक्षु तो पूछ लेंगे कि क्या था उसका अर्थ!
फिर भिक्षु को लेने रथ चला गया। फिर स्वर्ण-रथ पर बैठकर वह भिक्षु चला आया। वह कमजोर भिक्षु न रहा होगा कि कहता कि नहीं, सोने को हम न छुएंगे। कमजोर भिक्षु होता तो कहता कि नहीं सोने को हम न छुएंगे, सोना तो मिट्टी है। लेकिन बड़ा मजा यह है कि सोने को मिट्टी भी कहता और छूने में डरता भी है! नहीं, वह सचमुच भिक्षु रहा होगा अदभुत। उसको सोना मिट्टी ही रहा होगा। सो बैठ गया शान से वह उस सोने के रथ पर। लेने वालों ने सोचा भी था, कि शायद भिक्षु कहेगा कि सोने का रथ! नहीं, नहीं, मैं नहीं बैठता। उन्हें पता न था कि यह सब कमजोर भिक्षुओं की आदतें हैं, कि सोने का रथ--मैं नहीं बैठता! सोने से जिनको बहुत डर है कि कहीं सोना पकड़ न ले, वे सोने से भागते हैं, भाग सकते हैं।
वह बैठ गया रथ पर, चल पड़ा रथ। आ गयी राजधानी, सम्राट नगर के द्वार पर लेने आया था। सम्राट ने कहा कि, भिक्षु नागसेन! स्वागत करते हैं नगर में। वह हंसने लगा भिक्षु। उसने कहा, स्वागत करें, स्वागत स्वीकार, लेकिन भिक्षु नागसेन जैसा कोई है नहीं। सम्राट ने कहा, फिर वही बात! हम तो सोचते थे महल तक ले चलें फिर पूछेंगे। आपने महल के द्वार पर ही बात उठा दी है तो हम पूछ लें कि क्या कहते हैं आप? भिक्षु नागसेन नहीं है तो फिर आप कौन हैं? भिक्षु उतर आया रथ से और कहने लगा कि महाराज! यह रथ है? महाराज ने कहा,
रथ है। भिक्षु ने कहा, घोड़े छोड़ दिये जायें रथ से। घोड़े छोड़ दिये गये और वह भिक्षु कहने लगा, ये घोड़े रथ हैं? महाराज ने कहा, नहीं, घोड़े रथ नहीं हैं। घोड़ों को बिदा कर दो। चाक निकलवा लिए रथ के और कहने लगा भिक्षु, कि यह रथ है? महाराज ने कहा, नहीं, ये तो चक्के हैं, रथ कहां! --कहा, चक्कों को अलग कर दो!
फिर एक-एक अंग-अंग निकलने लगा उस रथ का और वह पूछने लगा, यह है रथ, यह है रथ, यह है रथ? और महाराज कहने लगे, नहीं-नहीं, यह रथ नहीं है, यह रथ नहीं है!

फिर तो सारा रथ ही निकल गया और वहां शून्य रह गया, वहां कुछ भी न बचा। और तब वह पूछने लगा, फिर रथ कहां है? रथ था, और मैंने एक-एक चीज पूछ ली और आप कहने लगे नहीं, यह तो चाक है, नहीं यह तो डंडा है, नहीं यह तो यह है, नहीं यह तो घोड़े हैं; और अब सब चीजें चली गयीं जो रथ नहीं थीं। रथ कहां है, रथ बचा था पीछे। रथ कहां गया। वह मिलिन्द भी मुश्किल में पड़ गया। वह भिक्षु कहने लगा, रथ नहीं था। रथ था एक जोड़। रथ था एक संज्ञा, एक रूपाकृति।
वह भिक्षु नागसेन कहने लगा, मैं भी नहीं हूं, हूं अनंत की शक्तियों का
एक जा.ेड। एक रूपाकृति उठती है, लीन हो जाती है, उठती है, लीन हो जाती है। एक लहर बनती है, बिखर जाती है। नहीं हूं मैं, वैसा ही हूं जैसा रथ था, वैसा ही नहीं हूं जैसा अब रथ नहीं है। खींच लें सूरज की किरणें, खींच लें पृथ्वी का रस, खींच लें हवाओं की ऊर्जा, खींच लें चेतना के सागर से आयी हुई आत्मा। फिर कहां हूं मैं? हूं एक जोड़, हूं एक रथ, है बहुत कुछ जो काट गया है एक किनारे पर आकर, एक बिंदु पर बहुत रेखाएं कट गयी हैं और एक बिंदु मालूम पड़ने लगा है, जहां बिंदु नहीं है, सिर्फ रेखाओं की कतार है। एक रेखा खींची गयी, दूसरी, तीसरी, चौथी, हजार रेखाएं खींची गयीं तो बीच में एक बिंदु मालूम पड़ने लगा है। जहां-जहां रेखाएं कट गयी हैं वहां बिंदु बन गया है। बिंदु वहां है नहीं, सिर्फ रेखाओं का क्रास प्वाइंट। दो रेखाएं कट गयी हैं और बिंदु मालूम हो रहा है, बिंदु वहां है नहीं। दो रेखाओं की कतार, एक चौरस्ता है, बहुत से रास्ते कट गये हैं और एक चौरस्ता बन गया है। चौरस्ता कहीं है? चार रस्ते कटते हैं, उस जगह को हम चौरस्ता कहते हैं। चौरस्ता कहीं भी नहीं है।
व्यक्ति कहीं भी नहीं है। अनंत जीवन की ऊर्जा और शक्तियां कटती हैं
और व्यक्ति निर्मित होता है। यह जो व्यक्ति अहंकार है, यह जो इगो सेंटर है, यह जो ख्याल है कि मैं हूं, इसकी खोज करनी जरूरी है कि मैं हूं।
एक वृक्ष के पत्ते से हम पूछें, वह कहेगा कि मैं हूं, जरूर मैं हूं। उससे हम पूछें कि तुम्हारे पास की शाखा पर लगे हुए दूसरे पत्ते? वह कहेगा कि दूसरे हैं क्योंकि उस पत्ते को कैसे पता हो सकता है कि बगल की पड़ोस में लगी शाखा पर जो पत्ते आये हैं वे उसी रस-स्रोत से आये हैं जिससे मैं आया हूं। मेरे प्राणों के धागे उसी शाखा से जुड़े हैं जिससे उनके प्राणों के धागे भी जुड़े हैं। हमारे प्राण एक ही ऊर्जा से निष्पन्न हुए हैं, प्रगट हुए हैं। एक पत्ते को कैसे पता चल सकता है?
लेकिन हम चूंकि बाहर खड़े हैं, हमें दिखायी पड़ता है कि पागल है यह पत्ता बहुत, कहता है कि मैं हूं और वह पत्ता दूसरा है और दोनों एक ही वृक्ष के पत्ते हैं। हम वृक्ष की शाखा से पूछें कि यह पड़ोस की शाखा? वह कहेगी, होगी कोई। हमेशा इससे डर लगा रहता है, न मालूम कैसी शत्रुता कर दे, न मालूम क्या कर दे। होगी कोई, मैं और हूं। शाखाओं को क्या पता हो सकता है? एक ही पेड़ से वे बंधी हैं। वृक्ष को हम पूछें कि यह जो पड़ोस में खड़ा हुआ वृक्ष है... ! वह कहेगा, है दूसरा, है शत्रु। लेकिन उस वृक्ष को क्या पता कि दोनों की जड़ें एक ही पृथ्वी से जुड़ी हैं और एक ही प्राण से संयुक्त हैं। और पृथ्वी को हम पूछें कि तुम? पृथ्वी भी कहेगी, मैं हूं और ये चांद-तारे, और ग्रह-नक्षत्र होंगे दूसरे, लेकिन पृथ्वी को भी कैसे पता हो कि सारे चांद-तारे और सारे ग्रह-नक्षत्र किसी एक ही जीवन-ऊर्जा से संयुक्त हैं।

सारा जीवन एक से संयुक्त है। उस एक का नाम ही प्रभु है। और उस एक की तरफ जाने के लिए मैत्री दूसरा द्वार है, क्योंकि वह एकता में प्रवेश है। उस एक का नाम परमात्मा है और उस एकता की तरफ जो सबसे बड़ा कदम है वह है फ्रेंडलीनेस, वह है मैत्री। लेकिन मैत्री घटित होगी जब हम मैं को खोजने जायेंगे और पायेंगे कि "मैं नहीं"--एक बात!
दूसरी बातः इसे केवल सोच लेना काफी नहीं है। आदमी अच्छी-अच्छी बातें सोच सकता है, सोच लेना पर्याप्त नहीं है, अनुभव से गुजरना भी जरूरी है। तो मैत्री सिर्फ एक फिलसफिक कंसेप्ट, एक दार्शनिक धारणा नहीं है। एक अनुभव, एक एक्सपीरिएंस, एक अनुभूति है।
तो जब यह लगे कि मैं नहीं हूं तो इसके थोड़े प्रयोग करने जरूरी हैं।

किसी वृक्ष के पास टिककर बैठ गये हैं और तब यह अनुभव करना जरूरी है कि मैं नहीं हूं। और मैं आप से कहता हूं कि किसी घड़ी में आपको लगेगा कि आप और वृक्ष एक हैं। सागर के तट पर बैठकर यह अनुभव करना कि मैं नहीं हूं और एकदम से हैरानी की धारा आयेगी एक, और लगेगा कि मैं एक लहर हूं, लहर का गर्जन हूं। किसी फूल के पास बैठकर यह अनुभव करना कि "मैं नहीं हूं" और लगेगा कि भीतर कब फूल छा गया सारी आत्मा पर, रह गया फूल और "मैं नहीं हूं"! किसी व्यक्ति का हाथ हाथ में लेकर अनुभव करना कि "मैं नहीं हूं" और पता चलेगा कि दोनों हाथ दो नहीं रहे, जुड़ गये कहीं किसी तल पर और एक रह गया है।
विचार के तल पर जानना है कि "मैं नहीं हूं" और अनुभव के तल पर अनुभव करना है कि "मैं नहीं हूं" ताकि वह जोड़ एक जीवंत प्रतीति बन जाये। जीवन के चारों तरफ के विस्तार में जगह-जगह अनुभव करना है कि "मैं नहीं हूं।" रामकृष्ण दक्षिणेश्वर से एक दिन गंगा पार करते थे। नाव पर बैठ गये, नाव चलने लगी। एकदम जोर-जोर से चिल्लाने लगे, मत मारो मुझे। मत मारो मुझे। लोग तो घबरा गये जो पास बैठे थे। दो-चार मित्र साथ थे। वे पूछने लगे, कि परमहंस क्या कहते हैं आप? कौन मारता है आपको, हम और आपको मारेंगे? और वे हैं कि उनकी आंख से आंसू की धारा बहने लगी और चिल्लाने लगे, नहीं-नहीं, मत मारो मुझे, मैंने क्या बिगाड़ा है!
आप भी होते तो घबड़ा गए होते और कहते कि पागल हो गए हैं। कोई मारता नहीं, कोई छूता नहीं, नाव पर चार-छह साथी हैं; और वे हैं कि चिल्लाने लगे, और आंख से आंसू की धारा बहने लगी। और बड़ा आश्चर्य तो यह था कि वे अपनी पीठ पकड़ लिए और कहा कि नहीं, मत मारो, मत मारो। पीठ को देखें तो कोड़े के निशान हैं। सारी चमड़ी उखड़ गयी है। तब पागल कहना मुश्किल हो गया। आंखें उठाकर देखा उस पार जहां नाव जा रही है, एक आदमी को लोग कोड़े मार रहे हैं।
उस पार जाकर नाव लगी है। उस आदमी के पीठ के पास जाकर देखा है, रामकृष्ण
और उसके पीठ पर एक-सा निशान आ गया है। तब तो बहुत हैरान हुए। रामकृष्ण से पूछने लगे, यह क्या हुआ? रामकृष्ण ने कहा, कि जब उसे वे मारने लगे, मैं नाव पर चढ़ता था और उन्होंने उसे कोड़ा मारा। फिर मुझे पता नहीं क्या हुआ! बस मेरे भीतर से एकदम उठने लगा, मुझे मत मारो, मुझे मत मारो! इतनी एम्पैथी, इतना तादात्म्य! तो परिणाम यह हो जायेगा। यह परिणाम हो जायेगा।
यूरोप में हजारों ईसाई फकीर हुए हैं, आज भी हैं--जिस दिन जीसस को फांसी हुई और जिस दिन उनके हाथ में खीले ठोंके गये उस दिन शुक्रवार को, सैकड़ों फकीर हुए हैं पश्चिम में, आज भी दो-चार लोग हैं कि उस दिन उनके पास हजारों लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। उनके दोनों हाथ लिए वे बैठे रहते हैं आंख बंद किए, और ठीक वक्त पर जब जीसस को सूली हुई थी और हाथ में खीले ठोकें गए थे उनके हाथ से खून की धाराएं बहनी शुरू हो जाती हैं। बहुत मेडिकल परीक्षण हुआ है इसका। क्योंकि पश्चिम में कोई ऐसे नहीं मान लेता किसी बात को। बहुत चिकित्सकों ने जांच-पड़ताल की है, कि कोई धोखाधड़ी तो नहीं है! यह हाथ से खून कैसे निकल रहा है? लेकिन कोई धोखाधड़ी नहीं है। हाथ से खून बहने लगता है। इतनी एम्पैथी, इतनी एकात्म अनुभूति हो सकती है कि उस क्षण में वे जीसस हो जाते हैं। वे क्राइस्ट हो गए। उनको सूली लगा दी गयी। उस क्षण में सूली लग गयी है।
भाव इतनी तीव्र एकता में ले जा सकता है! सोच ही नहीं लेना है, उसके प्रयोग करने हैं जीवन में कि वह गहरे में प्रविष्ट हो जाये और वहां पता चले। तब, तब एक बार पता चलेगा कि यह जो जीवन में सब तरफ घट रहा है, यह हमसे जुड़ा है, सिर्फ हमने मैत्री का संबंध नहीं जोड़ा है इसलिए धागे बीच में से कट गये हैं, एक दीवाल खड़ी हो गयी है; अन्यथा जीवन बह रहा है, जा रहा है, आ रहा है! सारा जीवन एक है--मैत्री का दूसरा अनुभव!
और तीसरी बातः न केवल विचार पर्याप्त हैं, न केवल अनुभव; बल्कि तीसरी बात मैत्री के अनुभव का सक्रिय प्रकाशन। मैत्री का सक्रिय जीवन। उठते- बैठते, चलते-फिरते मैत्री का सक्रिय जीवन।
क्या अर्थ है मैत्री के सक्रिय जीवन का? धार्मिक जीवन उसी का नाम है।
वह जो रिलीजस, धार्मिक जीवन जिसे कहें, वह मैत्री का जीवन है। मेरे कृत्य, मेरे विचार में, मेरे अनुभव में और मेरे कृत्य में मैत्री प्रविष्ट हो।

मैं जो करूं वह मैत्री-प्रेरित हो। मैं जो करूं उसका एक ही आधार और एक ही कारण हो कि वह मैत्री है पीछे--मैं जिऊं तो मैत्री के लिए, मरूं तो मैत्री के लिए। मेरी श्वास उसके लिए चले, मेरा हृदय उसके लिए धड़के--सक्रिय मैत्री का तीसरा चरण।
चारों तरफ जीवन में कितना दुख है, कितनी पीड़ा है, कितनी चिंता है। चारों तरफ जीवन कितना कुरूप है, चारों तरफ जीवन कितना विकलांग है, चारों तरफ जीवन कितना पक्षाघात से घिरा है, चारों तरफ कितने घाव हैं, चारों तरफ कितनी पीड़ा का विस्तार है। मेरी मैत्री सक्रिय होना चाहिए। एक छोटा-सा घाव भी भर सकूं, एक छोटी-सी पीड़ा दूर कर सकूं, एक छोटा-सा कांटा किसी रास्ते से उठा सकूं, किसी मार्ग से एक पत्थर हटा सकूं, किसी के जीवन में एक सीढ़ी बना सकूं--कुछ भी जो मैं कर सकूं चारों तरफ के जीवन के लिए। मैत्री मेरी सक्रिय होनी चाहिए तो मुझे मैत्री का उन तीनों आयामों में पूरा का पूरा, उनके तीनों डायमेंशन में मैत्री की ऊंचाई में, गहराई में, चौड़ाई में मेरा अनुभव होगा।
विचार में, अनुभव में, अभिव्यक्ति में जीवन की छोटी-सी पीड़ा भी मैं दूर कर सकूं। नाम गिनाने की जरूरत नहीं है। हम सब जीवन की पीड़ायें जानते हैं। चारों तरफ जीवन पीड़ा से भरा हुआ है। कोई बहुत बड़ा उपक्रम करने का भी सवाल नहीं है, क्योंकि एक छोटा-सा गेश्चर, एक छोटा-सा इशारा, आंख की एक मुस्कुराहट, किसी का हंसकर के स्वागत भी किसी की गहरी से गहरी पीड़ा को उतार दे सकता है। किसी को हाथ का छोटा-सा स्पर्श भी न मालूम कितनी घनी पीड़ा का भार उतार दे सकता है। लेकिन हम मुस्कुराना भूल गये हैं। हमारी आंखों ने प्रेम बरसाना छोड़ दिया है। हमारे हाथों में वह पुलक नहीं उठती, हमारे प्राणों में वह गीत पैदा नहीं होता। वह हमें ख्याल ही भूल गया है। हम पत्थर की तरह जी रहे हैं।
इस जीवन को चौबीस घंटे निरंतर उठने से सोने तक, चारों तरफ की पीड़ाओं
का दर्शन करना है और चारों तरफ की पीड़ा से संवेदित होना है, चारों तरफ की पीड़ा से पीड़ित होना है। चारों तरफ के दुख और काटों को प्रतीत करना है और जो बन सके प्रत्येक व्यक्ति से उन काटों और उन पीड़ाओं को दूर करने का उपाय करना है--तो मैत्री सक्रिय बनती है।
एक फकीर था जापान में, वह बुद्ध के ग्रंथों का अनुवाद करवा रहा था। पहली बार जापानी भाषा में पाली से बुद्ध के ग्रंथ जाने वाले थे। गरीब फकीर था, उसने दस साल तक भीख मांगी। दस हजार रुपये इकट्ठे कर पाया लेकिन तभी अकाल आ गया, उस इलाके में अकाल आ गया।
उसके दूसरे मित्रों ने कहा कि नहीं-नहीं, ये रुपये अकाल में नहीं देने हैं, लोग तो मरते हैं, जीते हैं, चलता है यह सब। भगवान के वचन अनुवादित होने चाहिये, वह ज्यादा महत्वपूर्ण है।
लेकिन वह फकीर हंसने लगा। उसने वह दस हजार रुपये अकाल के काम में दे दिये। फिर बूढ़ा फकीर, साठ साल उसकी उम्र हो गयी थी, फिर उसने भीख मांगनी शुरू की। दस साल में फिर दस हजार रुपये इकट्ठे कर पाया कि अनुवाद का कार्य करवाये, पंडितों को लाये। क्योंकि पंडित तो बिना पैसे के नहीं मिलते। पंडित तो सब किराये के होते हैं। तो पंडित को तो रुपया चाहिए था तो वह अनुवाद करे पाली से जापानी में। फिर दस हजार रुपये इकट्ठे किए लेकिन दुर्भाग्य कि बाढ़ आ गयी और वह दस हजार रुपये वह फिर देने लगा।
तो उसके भिक्षुओं ने कहा, यह क्या कर रहे हो? यह जीवन भर का श्रम व्यर्थ हुआ जाता है। बाढ़ें आती रहेंगी, अकाल पड़ते रहेंगे, यह सब होता रहेगा। अगर ऐसा बार-बार रुपये इकट्ठे करके इन कामों में लगा दिया तो वह अनुवाद कभी भी नहीं होगा।
लेकिन वह भिक्षु हंसने लगा। उसने वह दस हजार रुपये फिर दे दिए। फिर उम्र के आखिरी हिस्से में दस-बारह साल में फिर वह दस-पंद्रह हजार रुपये इकट्ठे कर पाया। फिर अनुवाद का काम शुरू हुआ और पहली किताब अनुवादित हुई।
तो उसने पहली किताब में लिखा, थर्ड एडीशन, तीसरा संस्करण।
तो उसके मित्र कहने लगे, पहले दो संस्करण कहां हैं? निकले ही कहां? पागल हो गये हो? यह तो पहला संस्करण है।

लेकिन वह कहने लगा कि दो निकले, लेकिन वे निराकार संस्करण थे। उनका आकार नहीं था। वे निकले, एक पहला निकला था जब अकाल पड़ गया था, तब भी बुद्ध की वाणी निकली थी। फिर दूसरा निकला था जब बाढ़ आ गयी थी तब भी बुद्ध की वाणी निकली थी। लेकिन उस वाणी को वे ही सुन और पढ़ पाये होंगे जिनके पास मैत्री का भाव है। यह तीसरा संस्करण सबसे सस्ता है, सबसे साधारण है, इसको कोई भी पढ़ सकता है, अंधे भी पढ़ सकते हैं, लेकिन वे दो संस्करण वे ही पढ़ पाये होंगे जिनके पास मैत्री की आंखें हैं।
जीवन है चारों तरफ बहुत दुख और पीड़ा से भरा हुआ। उसमें मैत्री के संस्करण, उसमें मैत्री की अभिव्यक्ति प्रगट होती रहनी चाहिए और वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए चुनना होता है कि उसकी मैत्री किन-किन मार्गों से प्रगट हो और बहे।
तो ये तीन बातें मैत्री के संबंध में स्मरण रखनी जरूरी हैं। फिर से मैं दोहरा दूं, करुणा है निराकार। वह है आकाश में छा गया बादल जो पानी से भरा है। मैत्री है वर्षा, जो आ गई पृथ्वी तक और फैल गयी पृथ्वी की जड़ों में। करुणा है भाव, मैत्री है क्रिया। करुणा है आत्मा, मैत्री है शरीर।
करुणा भीतर जन्मती है, वह है केंद्र; मैत्री है अभिव्यक्ति, वह है परिधि। जिसकी करुणा मैत्री तक पहुंच जाती है वह भगवान के दूसरे द्वार में प्रविष्ट हो जाता है। शेष दो द्वारों की बात हम आगे करेंगे।
अब हम सुबह के ध्यान के लिए बैठेंगे।
बैठ जाने के बाद आंखें जो आधी खुली रख सकते हों नासाग्र, वे आधी खुली रखेंगे। जिन्हें जरा भी तकलीफ मालूम होती है, आंखें बंद रखेंगे।
शरीर को हम शिथिल छोड़ देंगे और फिर भीतर संकल्प करेंगे, पूछेंगे "मैं कौन हूं।" इतनी तीव्रता से पूछना है, इस जिज्ञासा को कि "मैं कौन हूं" कि प्राण का रोआं-रोआं कंप जाये। व्यक्तित्व के कोने-कोने तक यह आवाज गूंज जाये, धड़कन-धड़कन में, श्वास-श्वास में एक ही भाव रह जाये कि "मैं कौन हूं।" पूछते ही चले जाना है सतत जैसे कोई पत्थर तोड़ता हो और चोट करता ही चला जाता है सतत। चोट करते ही चले जाना है कि "मैं कौन हूं, मैं कौन हूं।" धीरे- धीरे प्रश्न ही रह जाये और हम मिट जायें! बस प्रश्न ही रह जाये कि "मैं कौन हूं!?"
जब हमारी पुकार और हमारे प्रश्न उस तक पहुंचेंगे तो वह भीतर जो है--वह सबके भीतर एक ही है, उस तक हमें प्रश्न को पहुंचा देना है, निवेदन करना है। बस हमारा काम इतना काफी है कि हम प्रश्न पहुंचा दें प्राणों की गहराई तक, उत्तर वहां है। वह आयेगा, वह अपने से आयेगा।

एक कुएं में पानी भरा हुआ है। हम अपनी बाल्टी और रस्सी पहुंचाते हैं
उस पानी तक, फिर वह भर जायेगी। प्रश्न की रस्सी और बाल्टी पहुंचा देनी है वहां तक जहां चेतना और ज्ञान भरा हुआ है। जहां हो एक अस्तित्व वहां तक। इतनी तीव्रता से पूछना है कि सारे पर्दे बीच से टूट जायें और आवाज भीतर तक पहुंच जाये।
जब पूरी तीव्रता से आप पूछेंगे तो यह सारा समुद्र भी यही पूछते हुए मालूम पड़ेगा कि "मैं कौन हूं।" ये सरू के वृक्ष पूछते हुए मालूम पड़ेंगे कि "मैं कौन हूं।" ये सारी हवाएं पूछती मालूम पड़ेंगी कि "मैं कौन हूं।" एक तूफान खड़ा हो जायेगा चारों तरफ कि "मैं कौन हूं," "मैं कौन हूं"?
और उस तूफान में आप कंप जायेंगे तो घबराना नहीं। आंसू बहने लगें तो घबराना नहीं। रोना आ जाये तो घबराना नहीं, गिर पड़ें तो घबराना नहीं, पूछते ही चले जाना है। तीव्रता से जितना मैं पूछ सकता हूं, पूछते चले जाना है। निश्चित ही इस पूछने से एक अदभुत शांति फलित होने लगेगी। इस तीव्र जिज्ञासा में ही प्राण शांत होने लगेगा। एक अनुभव में से गुजरना होगा, एक अदभुत अनुभव में से गुजरना हो सकता है। हम पर निर्भर है कि हम कितनी तीव्रता से पूछते हैं। तो अब हम बैठ जायें!

साधना पथ
अट्ठाईसवां प्रवचन

हिंसा, अहंकार; प्रेम और ध्यान

मेरे प्रिय आत्मन्!
एक मित्र ने पूछा है, कि हम उन लोगों के प्रति तो प्रेमपूर्ण हो सकते हैं जो हमारे प्रति प्रेमपूर्ण हों, लेकिन उन लोगों के प्रति प्रेमपूर्ण कैसे हो सकते हैं जो हमारे प्रति प्रेमपूर्ण नहीं हैं, बल्कि हमें हर तरह की चोट पहुंचाने की भी कोशिश करते हैं?

नहीं, हम चूंकि प्रेमपूर्ण नहीं हैं, इसलिए हमें यह देखना पड़ता है कि कौन हमें प्रेम करता है और कौन हमें चोट पहुंचाता है। हम प्रेमपूर्ण हों तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कौन हमें प्रेम करता है और कौन हमें चोट पहुंचाता है। हमारा प्रेमपूर्ण होना हमारा स्वभाव हो तो इससे कोई भी फर्क नहीं पड़ता है कि कौन हमारे साथ क्या करता है!
लेकिन हम प्रेमपूर्ण नहीं हैं, हमें कोई प्रेम करता है तो हम प्रेमपूर्ण होने की व्यवस्था कर लेते हैं। और हमें कोई प्रेम नहीं करता है तो हम घृणा की व्यवस्था कर लेते हैं। हमारे प्राणों में कहीं ऐसा नहीं हो गया है कि प्रेम हमारी अवस्था हो।
प्रेम भी हमारा एक उत्तर है। जब कोई प्रेम करता है तो हम प्रेम का उत्तर देते हैं। वह हमारे बहुत ऊपर से आता है, हमारे गहरे से नहीं। हमारे गहरे से जब प्रेम आयेगा तो इससे कोई भी फर्क नहीं पड़ता है कि कौन हमारे साथ क्या करता है, क्योंकि वह प्रेम यह नहीं मांगेगा कि तुम मेरे साथ प्रेम करो तो मैं प्रेम करूंगा। ऐसी कंडीशन, ऐसी शर्त प्रेम के साथ नहीं हो सकती। अभी हमारा प्रेम कहता है कि प्रेम दोगे तो हम प्रेम देंगे। अभी हमें प्रेम मिलता है तो अच्छा लगता है और उत्तर में हम प्रेम देते हैं। अगर प्रेम नहीं मिलता तो बुरा लगता है और उत्तर में हम प्रेम नहीं देते।
जिस प्रेम की मैं बात कर रहा हूं, जब मन प्रेम की अवस्था में प्रवेश करता है तो हमें यह अच्छा नहीं लगता है कि दूसरे प्रेम दें। हमें यही अच्छा लगने लगता है कि हम प्रेम दे रहे हैं। यह फर्क समझ लेना जरूरी है। जिसका हृदय प्रेम में प्रतिष्ठित हुआ है, उसे प्रेम देना अच्छा लगता है। उसे प्रेम करना ही आनंद है। वह प्रेम दे पाता है, बस यही उसके भीतर एक खुशी और एक आनंद की घटना बन जाती है। प्रेम देने में ही वह आनंदित हो जाता है। जैसे बादल भर गये हैं और बरस जाते हैं, और फूल खिल गया है, और सुंगध बिखर जाती है; और दीया जल गया और प्रकाश भर जाता है, ऐसे ही जब प्राण प्रेम से भरते हैं तो प्रेम बंटना शुरू हो जाता है। जरूरत तब यह नहीं रह जाती कि कोई हमें प्रेम करे, तब हम प्रेम देंगे। नहीं, प्रेम देने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रह जाता।
तो वह जो हमारे सामने दुश्मन की तरह आकर खड़ा हो जायेगा उसे दिखायी पड़ेगा कि वह दुश्मन है, लेकिन प्रेमपूर्ण हृदय को नहीं दिखायी पड़ सकता कि वह दुश्मन है। प्रेमपूर्ण हृदय को ऐसा ही दिखायी पड़ेगा कि कोई पागल है, कोई बीमार है, कोई रुग्ण है, कोई विक्षिप्त है। इस बेचारे को क्या हो गया है!
मनसूर का नाम सुना होगा। मनसूर को सूली दी गयी। एक लाख लोग इकट्ठे थे मनसूर को सूली पर लटकाते समय। लोग पत्थर फेंक रहे थे और गालियां दे रहे थे, और मनसूर हंस रहा था। और जब सूली पर उसे लटकाया गया तो उसने हाथ जा.ेडे और परमात्मा से कहा कि "देखते हो, इन प्यारों को? यह सोच रहे हैं कि मुझे मारकर, मेरी हत्या करके ये तेरे प्यारे बन जायेंगे, लेकिन इन पागलों को कुछ भी पता नहीं, कि ये क्या कर रहे हैं।"
लेकिन उसके शब्द जब वह कह रहा है, ये पागल! जब वह कह रहा है, ये बेचारे!
तो इनके प्रति न तो क्रोध है, न दुश्मनी है, बल्कि इनके प्रति भी कितना प्रेम है कि वह कह रहा है कि इन प्यारों को पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं?

जीसस को सूली दी गयी। सूली पर लटकाते वक्त उनसे कहा गया, कि तुम्हें कुछ अंतिम बात कहनी है? तो जीसस ने कहा, "एक ही बात कहनी है कि हे परमात्मा! इन सबको क्षमा कर देना, क्योंकि इन्हें पता नहीं है कि ये क्या कर रहे हैं।" जीसस का प्रेम से भरा हुआ हृदय यह नहीं समझ पाया कि ये दुश्मनी कर रहे हैं, कि ये चोट पहुंचा रहे हैं, कि ये शत्रु हैं मेरे, कि इनके लिए मेरे मन में घृणा जगनी चाहिए। जिस मन में प्रेम जाग गया है उस मन में घृणा के जागने का उपाय भी नहीं है, चाहे कोई कुछ भी करे।
एक फकीर औरत थी राबिया। धर्मग्रंथ में, उसके धर्मग्रंथ में कहीं एक पंक्ति आती थी कि शैतान से घृणा करो। उसने वह पंक्ति काट दी। अब धर्मग्रंथों में सुधार नहीं किया जा सकता! एक फकीर उसके घर मेहमान था। उसने धर्मग्रंथ पढ़ा सुबह, तो देखकर हैरान हो गया कि एक लकीर कटी हुई है। उसने राबिया से कहा कि "किसने की है यह अशिष्टता। धर्मग्रंथ में सुधार? यह किसने पंक्ति काट दी है"? राबिया ने कहा, "और किसी ने नहीं, मैंने ही काटी है। लेकिन मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गयी तो मुझे काटना पड़ा।"
वह फकीर पूछने लगा, "क्या जरूरत थी? यह तो ठीक ही लिखा है कि शैतान को घृणा करो।"
राबिया कहने लगी, "वह तो ठीक लिखा है। जब तक मेरे भीतर प्रेम पैदा न हुआ था तब तक मुझे भी ठीक लगता था, लेकिन अब तो मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गयी। जब से प्रेम पैदा हुआ तो मैं घृणा करने में असमर्थ हो गयी हूं। शैतान को घृणा करो, वह ठीक है; लेकिन मैं घृणा कैसे करूं? मेरे भीतर घृणा तो बची नहीं, मेरा तो कोना-कोना हृदय का प्रेम में भर गया है। मैं घृणा कहां से लाऊं? नहीं, अब तो मैं घृणा करने में असमर्थ हो गयी हूं। अगर शैतान भी मेरे सामने खड़ा हो जायेगा तो मैं प्रेम ही कर सकती हूं। क्योंकि प्रेम ही मेरे भीतर बचा है और शायद अब मैं पहचान भी न सकूंगी कि कौन शैतान है और कौन भगवान! क्योंकि प्रेम की आंख कैसे फर्क कर पायेगी कि कौन, कौन है।"
नहीं, हम प्रेम जानते नहीं हैं। हम जिसे प्रेम कहते हैं वह सब लेन-देन
और सौदा है--वह सब बारगेनिंग है। हम कहते हैं कि तुम मुझे प्रेम करोगे तो मैं करूंगा। हम पहले चाहते हैं फिर देते हैं। सब सौदा है। सब नाप-जोख है। प्रेम में भी कोई नाप-जोख हो सकती है? कोई सौदा हो सकता है? प्रेम भी कहेगा कि तुम मुझे प्रेम करोगे तो?
नहीं, प्रेम ने यह कभी नहीं कहा। ये सिर्फ वही लोग कह रहे हैं जो प्रेम
से परिचित भी नहीं हैं, जो केवल प्रेम के शब्द बोलते हैं, प्रेम की बातें करते हैं, लेकिन जिनके हृदय में प्रेम का जादू पैदा नहीं हुआ हो, प्रेम की कीमिया पैदा नहीं हुई, वहां प्रेम की रसधारा नहीं जगी है।
प्रेम सदा बेशर्त है, अनकंडीशनल है। वह कोई शर्त नहीं बांधता कि इसलिए करूंगा प्रेम, इस कारण से करूंगा प्रेम। जहां कारण है, और जहां शर्त है, वहां सौदा है। प्रेम कहां? प्रेम तो कहता है कि चूंकि मैं भरा हूं प्रेम से तो अब मैं क्या करूं, करूंगा प्रेम। क्योंकि प्रेम ही मेरे पास है, वही मैं दे सकता हूं, वही मैं बांट सकता हूं। तो जिस प्रेम की मैं बात कर रहा हूं, कि वह प्रेम--नहीं, उस प्रेम को नहीं दिखायी पड़ता है कि कौन चोट पहुंचा रहा है; बल्कि उल्टी बात भी हो सकती है।
जीसस एक गांव से गुजरते थे। एक पागल कुत्ते ने एक बाजार की भीड़ में उनके पैर में काट लिया। भीड़ इकट्ठी हो गयी। लोगों ने उस कुत्ते को पकड़ लिया और कहा, कि इसकी हत्या कर दो। यह न मालूम और किनको काट लेगा। लेकिन जीसस उस कुत्ते के ऊपर हाथ फेर रहे हैं और लोग कहने लगे कि यह आदमी उस कुत्ते से भी ज्यादा पागल मालूम होता है। इसके पैर में काट लिया है, लहू बह रहा है और यह कुत्ते पर हाथ फेर रहा है।
और जीसस कहने लगे दोस्तो! तुम सिर्फ यही देखोगे कि क्या उसने मेरे पैर में काट लिया। और उसके दांत नहीं देखते कि कितने चमकदार हैं, कितने ताजे, कितने प्यारे! तुममें से किसी के दांत भी इतने साफ नहीं हैं। तो एक आदमी भीड़ में से चिल्लाया कि जरूर यह आदमी जीसस होगा, क्योंकि सिर्फ वही आदमी एक ऐसा है कि कुत्ता उसे काटे तो भी उसे कुत्ते के चमकदार दांत दिखायी

पड़ें और काटा हुआ दिखायी न पड़े। जरूर यह आदमी जीसस होगा, लोगों से वह कहने लगा।
यह संभावना है। प्रेम अगर हृदय में पूरा हो तो जिस कुत्ते ने काट लिया
है उस कुत्ते में भी कुछ दिखायी पड़ सकता है जो सुंदर है और धन्यवाद देने योग्य है। वह प्रेम भीतर है तो दिखायी पड़ सकता है। वह प्रेम भीतर न हो तब बहुत कठिनाई है, तब बहुत मुश्किल है और वह प्रेम हमारे भीतर नहीं है।

इसी संबंध में एक मित्र ने और पूछा है, कि यह तो ठीक है कि हम प्रेम करें, करुणा से भरे हुए हों, लेकिन अगर कोई देश हम पर हमला कर दे, कोई राष्ट्र हम पर हमला कर दे तो फिर हम कैसे करुणा को बचायेंगे, फिर कैसे हम प्रेमपूर्ण होंगे?

सच तो यह है, अगर कोई भी देश, कोई भी समाज प्रेमपूर्ण हो जाये तो उसे कोई भी दूसरा देश, दूसरा नहीं दिखायी पड़ेगा। वह दूसरा देश दूसरा दिखायी पड़ता है क्योंकि हमारे हृदय प्रेमपूर्ण नहीं हैं। दुनिया को बांटने वाली जितनी रेखाएं हैं, वे सारी रेखाएं घृणा ने खींची हैं। वे रेखाएं प्रेम के द्वारा नहीं खींची गयी हैं। हिंदुस्तान और पाकिस्तान को जो रेखा बांटती है, वह रेखा घृणा की रेखा है। हिंदुस्तान को और चीन को जो रेखा बांटती है, वह रेखा परमात्मा ने कहीं भी नहीं खींची हैं। पृथ्वी कहीं भी बंटी हुई नहीं है। चूंकि आदमी घृणा से भरा हुआ है, इसलिए उसने पृथ्वी बांट ली है। और ये जो घृणा के ठेकेदार हैं राजनीतिज्ञ, ये जो घृणा का धंधा करते हैं राजनीति के लोग, ये जो घृणा का व्यवसाय करते हैं और उसी पर जीते हैं उन्होंने सारी दुनिया को बांटकर तोड़ डाला है।
दुनिया में जिस दिन प्रेम होगा, उस दिन देश नहीं हो सकते। देश हैं, क्योंकि प्रेम नहीं है। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि हम प्रेम से भर गये हों, फिर भी तो कोई दूसरा हम पर हमला कर सकता है। यह भय भी चूंकि हमारे भीतर प्रेम नहीं है इसलिए मालूम पड़ता है। जिसके भीतर प्रेम नहीं है वह सदा भयभीत है और जिसके भीतर प्रेम है वह अभय को, फियरलेसनेस को उपलब्ध हो जाता है।
नहीं, वह भयभीत नहीं होता कि कोई हमला कर देगा। और बड़े मजे की बात है
यह, हिंदुस्तान डरता है कि पाकिस्तान हमला न कर दे और पाकिस्तान डरता है कि हिंदुस्तान हमला न कर दे। अमरीका डरता है कि रूस तैयारी कर रहा है, कहीं हमला न कर दे। रूस डरता है कि अमरीका तैयारी कर रहा है, कहीं हमला न कर दे। सारी दुनिया में लोग एक-दूसरे से डरे हुए हैं। एक-दूसरे से डरने के कारण वे घृणा को संजोते चले जाते हैं। युद्ध की तैयारी करते चले जाते हैं और कोई भी यह नहीं कहता कि हम सारे लोग जब एक-दूसरे से डरे हुए हैं तो बड़े पागल हैं। एक बार बैठकर निपटारा कर लें कि कोई किसी से न डरे। क्योंकि जब एक-दूसरे से डरना है तो उसका मतलब यह है, उसका सीधा मतलब यह है कि हम बिल्कुल पागल हैं।
सारा रूस घबराया हुआ है अमरीका से। सारा अमरीका घबराया हुआ है रूस से। यह क्या पागलपन है? क्या इस बीसवीं सदी में भी यह संभव नहीं हो पाया कि हम समझ लें कि किसी को किसी से घबराने की कोई जरूरत नहीं?
नहीं, इतना प्रेम भी हमारे भीतर नहीं है कि हम एक-दूसरे को समझने को तैयार हो जायें। दुनिया में राष्ट्र और देश हैं क्योंकि दुनिया में प्रेम नहीं है। प्रेम होगा तो न कोई राष्ट्र होगा, न कोई देश होगा, न कोई जाति होगी। प्रेम तो मिटा डालेगा सब बीमारियों को। लेकिन आज एकदम से तो सारा देश प्रेम से नहीं भर सकता है!

पूछा जा सकता है कि कुछ लोग अगर प्रेम से भी भर जायें, और फिर भी कोई हमला हो तो वे क्या करेंगे?

तो मेरा कहना है कि प्रेम से भी लड़ा जा सकता है। एक छोटी-सी घटना बताऊं
तो समझ में आ सके।

एक मुसलमान खलीफा था उमर। एक पड़ोस के राजा से कोई सात वर्षों से युद्ध चलता था। न मालूम कितने लोग मरे, न मालूम कितनी लड़ाइयां हुईं, लेकिन कोई निपटारा न हो सका। साथ में युद्ध में निपटारे का क्षण आ गया। उमर ने दुश्मन को नीचे गिरा लिया। उसके घोड़े को मार डाला। दुश्मन की छाती पर चढ़ गया और भाला उठा लिया।
वह उसकी छाती में भोंकने को एक क्षण और, और छाती में भाला भोंक दिया गया होता, लेकिन नीचे पड़े हुए दुश्मन ने उमर के मुंह पर थूक दिया। उमर ने थूक पोंछ लिया और कहा कि दोस्त! अब लड़ाई कल होगी। मैं उठ जाता हूं। वह नीचे पड़ा दुश्मन कहने लगा, पागल हो गये हो तुम। ऐसा अवसर सात वर्षों में पहली बार मिला है मुझे खतम कर देने का। मुझे छोड़कर क्या कर रहे हो यह? यह मौका क्यों खोते हो?
उमर कहने लगा कि नहीं, नहीं। एक ख्याल था मेरे मन में कि लड़ूंगा प्रेम
से और शांति से लेकिन तुम्हारे थूकने से मुझे क्रोध आ गया। अब फिर कल लड़ाई शुरू करेंगे। अब भाला उठाना ठीक नहीं है। वह उमर उतर गया। उसने कहा, कि अब क्रोध आ गया, अब तुम्हारी हत्या करना ठीक नहीं है। क्योंकि अब तक लड़ाई उसूल की थी, अब तक लड़ाई सिद्धांत की थी। अब तक मुझे लगता था कि मैं उसके लिए लड़ रहा हूं जो सत्य है। लेकिन सत्य की लड़ाई तो प्रेम से की जा सकती है, क्रोध से नहीं। तुम्हारे थूकने से मुझे क्रोध आ गया और मेरे मन को हुआ कि मार डालूं इसे। पहली दफा व्यक्तिगत दुश्मनी प्रगट हो गयी। नहीं, व्यक्तिगत दुश्मनी मेरी नहीं है और व्यक्तिगत दुश्मनी सत्य के बीच में लानी उचित नहीं है। मैं हट जाता हूं। अगर कल तक शांत हो सका तो सुबह फिर लड़ाई शुरू होगी। और अगर नहीं हो सका तो यह लड़ाई खतम हो गयी।
वह दुश्मन तो हार ही गया था। वह तो पैरों पर गिर पड़ा। उसने तो कल्पना
भी न की थी कि एक आदमी सात बर्षों से शांति से लड़ रहा हो और एक आदमी सात बर्षों से सत्य के लिए लड़ रहा हो--न उसके मन में क्रोध है, न हिंसा है। यह संभावना है!
इस संभावना को इस भांति और भी आसानी से समझा जा सकता है। आप एक आदमी से दोस्ती रख सकते हैं और दोस्ती के भीतर भी घृणा पाल सकते हैं, क्रोध पाल सकते हैं। आप दोस्त दिखायी पड़ सकते हैं और भीतर से घृणा और क्रोध हो। ठीक इससे उल्टा भी हो सकता है। आप दुश्मन की तरह लड़ भी सकते हैं औैर भीतर से करुणा और प्रेम हो। जिससे आप लड़ रहे हैं; उसके भी अहित की कोई कामना नहीं है, उसको भी हानि पहुंचाने का कोई विचार नहीं है--लड़ाई सत्य के तल पर हो सकती है।

इसी संबंध में एक मित्र ने और पूछा है, कि कृष्ण ने तो इतना बड़ा युद्ध किया तो क्या वे प्रेमपूर्ण नहीं थे?

कृष्ण जैसा प्रेम करने वाला आदमी पृथ्वी पर मुश्किल से हुआ है। कृष्ण जैसा प्यारा आदमी मुश्किल से पृथ्वी पर हुआ है। करोड़ों वर्ष लग जाते हैं तब पृथ्वी उस तरह के एकाध आदमी को पैदा करने में सफल हो पाती है। लेकिन वह लड़ाई न क्रोध की थी, न घृणा की थी। वह लड़ाई सत्य की और सत्य के लिए थी। और अत्यंत प्रेम और अत्यंत शांति से लड़ी गयी थी। दिन भर लड़ते थे युद्ध के मैदान में और सांझ को एक-दूसरे के शिविर में जाकर गपशप भी चलती थी। दिन भर लड़ते थे युद्ध के मैदान में और सांझ को एक-दूसरे के खेमे में बैठकर बातचीत भी चलती थी। जिस भीष्म से लड़ाई चली, युद्ध समाप्त हो जाने पर भीष्म पड़े हैं मरण-शैया पर। उससे ही पूछ रहे हैं, जो लड़े थे वे ही उपदेश लेने, कि धर्म के संबंध में हमें कुछ उपदेश दे दें।
अदभुत लोग थे। बड़े गजब के लोग रहे होंगे। जिससे चला है युद्ध, जिससे जी-जान से लड़े हैं उससे भी अंतिम क्षणों में उसके चरणों में बैठकर पूछने गये हैं कि हमें धर्म का अंतिम उपदेश दे दें!
नहीं, वह लड़ाई घृणा की ल.ड़ाई नहीं थी। जब तक दुनिया में बुराई है, जब तक दुनिया में पाप है, जब तक दुनिया में असत्य और अधर्म है; तब तक जो शांत हैं, जो प्रेमपूर्ण हैं उन्हें भी लड़ना पड़ेगा। लड़ना उनकी इच्छा नहीं है, हमेशा

उनकी मजबूरी है। लेकिन उस लड़ाई में भी प्रेम को और करुणा को खो देने का कोई कारण नहीं है।
एक मेरे मित्र जापान से लौटे। वे वहां से एक मूर्ति खरीद लाये। वह मूर्ति उनकी समझ के बाहर उन्हें मालूम पड़ी। पर बहुत प्यारी लगी तो वे उस मूर्ति को ले आये। मेरे पास वे मूर्ति लाए और कहने लगे, मैं इसका अर्थ नहीं समझा हूं। यह बड़ी अजीब मूर्ति मालूम पड़ती है। मूर्ति सच में ही अजीब थी। मैं भी देखकर चौंका। और मैं देखकर खुशी और आनंद से भी भर गया। मूर्ति अदभुत थी।
वह मूर्ति थी एक सिपाही की मूर्ति, लेकिन साथ ही वह एक संत की मूर्ति
भी थी। उस मूर्ति के एक हाथ में थी तलवार नंगी और उस तलवार की चमक उस मूर्ति के आधे चेहरे पर पड़ रही थी, और वह आधा चेहरा ऐसा मालूम पड़ता था जैसे अर्जुन का चेहरा रहा हो। जैसे तलवार की चमक थी वैसा ही वह आधा चेहरा--जिस पर तलवार चमक रही थी, वह आधा चेहरा भी उतना ही चमक से भरा हुआ था। उतने ही शौर्य से, उतने ही ओज से, उतने ही वीर्य से। और दूसरे हाथ में उस मूर्ति के एक दीया था। और दीये की ज्योति की चमक चेहरे के दूसरे हिस्से पर पड़ती थी। फिर वह दूसरा हिस्सा बिल्कुल ही दूसरा था। वह चेहरा ऐसा मालूम पड़ता था जैसे बुद्ध का रहा हो--इतना शांत, इतना मौन, इतना करुणा से भरा हुआ। और वह एक ही आदमी का चेहरा था। और एक हाथ में तलवार और एक हाथ में दीया।
वे मेरे मित्र पूछने लगे, मैं समझा नहीं, यह कैसा आदमी है?
मैंने कहा, इसी आदमी की तलाश में दुनिया है हमेशा से। एक ऐसा आदमी चाहिए जो तलवार की तरह अडिग भी हो, जो तलवार की तरह ओज से भी भरा हो, समय पड़ने पर जो तलवार बन जाये। लेकिन उस आदमी के भीतर शांति का और करुणा का दीया भी हो। जिस आदमी के भीतर करुणा का और शांति का और प्रेम का दीया है, उसके हाथ में तलवार खतरनाक नहीं है। उसके हाथ में तलवार भी मंगल सिद्ध होगी। और जिस आदमी के भीतर क्रोध और घृणा का अंधकार है, उसके हाथ में तलवार भी न हो, एक छोटा-सा कंकड़ भी खतरनाक सिद्ध होने वाला है। आदमी भीतर कैसा है? अगर अशांत है तो उसके हाथ की शक्ति शैतान बन जायेगी और अगर भीतर आदमी शांत है तो उसके हाथ की शक्ति सदा से भगवान के चरणों में समर्पित रही है। नहीं, उससे घबराने की जरूरत नहीं है कि आप शांत हो जायेंगे तो आप निर्वीय नहीं हो जायेंगे। शांत होने से वीर्य और ओजस्व बढ़ता है, कम नहीं होता। लेकिन एक फर्क पड़ जाता है। शांत आदमी का सारा ओज, सारी शक्ति, सत्य के पक्ष में खड़ी होती है, असत्य के पक्ष में नहीं। शांत आदमी का सारा व्यक्तित्व धर्म के लिए समर्पित होता है, अधर्म के लिए नहीं। शांत आदमी का जो कुछ है, वह सब परमात्मा के लिए समर्पित है। वह युद्ध में भी जा सकता है तो भी वह प्रार्थनापूर्ण हृदय से ही जायेगा, और अशांत आदमी मंदिर में भी जाता है तो प्रार्थनापूर्ण हृदय से नहीं। यह फर्क समझ लेना जरूरी है। शांत आदमी युद्ध के मैदान पर भी प्रेयरफुल होगा, वह प्रार्थना से भरा होगा। वह जिनसे युद्ध में खड़ा होना पड़ा है, उसे मजबूरी में एक नेसेसरी ईविल की तरह, एक आवश्यक बुराई की तरह। वह उनके प्रति भी परमात्मा से, प्रार्थना से ही भरा हुआ होगा। वह उनकी सदबुद्धि और मंगल के लिए ही प्रार्थना करता होगा। उसके हाथ में तलवार होगी लेकिन हृदय में प्रार्थना होगी। और अशांत आदमी मंदिर में माला लेकर बैठा है तो भी उसके मन में सबके मंगल की कोई कामना नहीं है। वह माला लिए बैठा है लेकिन उसके भीतर--उसके भीतर जो चल रहा है, उसमें प्रार्थना जैसा कुछ भी नहीं है, प्रेम जैसा कुछ भी नहीं है।
नहीं, इससे बहुत भ्रांति में पड़ जाने की जरूरत नहीं है कि हाथ में क्या है? सवाल हमेशा यह है कि भीतर क्या है। शांत मनुष्य चाहिए और शांत मनुष्यों के हाथ में शक्ति का कभी भी दुरुपयोग नहीं हो सकता है। शांत मनुष्यों के हाथ में शक्ति पहुंच जाये तो शायद बहुत जल्दी एक ऐसी दुनिया भी बन जाये जहां शक्ति के उपयोग की जरूरत भी न रह जाये। प्रेम और शांति हो तो राष्ट्र मिट जायेंगे, जातियां मिट जायेंगी, वर्ग मिट जायेंगे। प्रेम नहीं है, इसलिए सारी समस्या है।

एक मित्र पूछते हैं, कि शुभ कार्य करने के लिए भी तो अहंकार की जरूरत होती है। अगर अहंकार नहीं रह जायेगा तब तो शुभ कार्य भी कोई नहीं करेगा!

उन्हें पता नहीं। उन्हें पता नहीं, कि जब तक अहंकार है तब तक कोई शुभ कार्य करने का विचार ही कर सकता है, कर कभी नहीं पाता है। और जब तक अहंकार है तब तक शुभ कार्य किया भी जाये तो अंततः अशुभ ही सिद्ध होता है, शुभ सिद्ध नहीं होता। वह अहंकार इतना बड़ा जहर है कि उसके साथ शुभ कार्य हमेशा विकृत हो जायेगा। कभी भी अहंकार के साथ शुभ कार्य सफल नहीं हो सकता। यह ऐसे ही है जैसे मटकी भर दूध में एक छोटी-सी बूंद भर जहर डाल दिया जाये और कोई कहे कि इतने-से जहर से क्या फर्क पड़ता है। नहीं, वह इतना-सा जहर उस पूरी मटकी को जहर बना देगा।
अहंकार तो पायजन है, अहंकार तो जहर है। वह कितने ही बड़े शुभ कार्य में लगाया जाये, वह शुभ कार्य भी पूरा पायजनस और जहरीला हो जायेगा। दुनिया में बहुत शुभ कार्य किये गये हैं लेकिन दुनिया शुभ नहीं हो पायी इसीलिए, कि उन शुभ कार्यों के पीछे भी अहंकार खड़ा है। उन शुभ कार्यों के पीछे भी अशुभ की शक्ति खड़ी हुई है। अहंकार कभी भी शुभ कार्य नहीं कर सकता है। सच तो यह है कि जब अहंकार नहीं रह जाता, तब जो भी कार्य होते हैं वे सभी शुभ होते हैं। लेकिन वे मित्र पूछते हैं, कि अहंकार नहीं रह जायेगा तब तो कार्य ही बंद हो जायेंगे।
नहीं, यह किसने कहा? अहंकार नहीं रह जायेगा तो कार्य होंगे, सिर्फ अशुभ कार्य बंद हो जायेंगे। अहंकार जब तक है तब तक अशुभ कार्य होंगे, शुभ कार्य नहीं हो सकेंगे। अहंकार के मिटते ही व्यक्ति के भीतर क्या घटना घटती है? जैसे ही अहंकार मिटता है उसका यह भाव चला जाता है कि मैं करने वाला हूं, मैं कर्त्ता हूं। फिर एक नये भाव का उदय होता है कि मैं तो हूं ही नहीं, परमात्मा ही है; वही कर रहा है, वही करवा रहा है। फिर वह व्यक्ति काम करता है तो ऐसा नहीं कि मैं कर रहा हूं। ऐसे करता है कि वह करवा रहा है। फिर वह काम करता है तो ऐसे नहीं कि मैं हूं उस काम के पीछे। नहीं, वही है, परमात्मा है, सर्व है।
कबीर कहते थे, कि जब से मिट गया "मैं" तब से मैं एक बांस की पोंगरी हो गया। गीत उसके हैं, सिर्फ मुझसे बहते हैं, लोग समझते हैं कि मैं गा रहा हूं। एक आदमी बांसुरी पर गीत गा रहा है, बांसुरी को भ्रम हो सकता है कि मैं गा रही हूं। बांसुरी सिर्फ बांस की पोंगरी है, नहीं है उसमें कुछ, सिर्फ एक पैसेज, एक मार्ग है जिससे गीत बहता है और प्रगट हो जाता है। कबीर कहते थे, जब से मिट गया "मैं" तब से मैं एक बांस की पोंगरी हो गया। अब गीत तेरे हैं और लोग समझते हैं कि मैं गा रहा हूं।
अहंकार मिट जाता है तो हमारे जीवन के केंद्र पर परमात्मा बैठ जाता है, फिर वही करता है। और वह जो भी करता है, अशुभ कैसे हो सकता है? अशुभ करता हूं मैं, और जिस दिन "मैं" मिट जायेगा उस दिन जो भी होता है वह सभी शुभ है। शुभ की परिभाषा ही ऐसी की जा सकती है और की जानी चाहिए, वह कार्य शुभ है जिसके पीछे अहंकार नहीं है। वह कार्य अशुभ है, जिसके पीछे अहंकार है।
एक आदमी मंदिर बनाता है। लगता है कि शुभ कार्य हो रहा है, मंदिर बनाया
जा रहा है। फिर वह मंदिर की छाती पर अपना नाम खोद देता है, बनाने वाले का। फिर वह मंदिर जहर हो जाता है। इसीलिए तो दुनिया में इतने प्रकार के मंदिर हैं। अगर निरहंकारी लोगों ने मंदिर बनाये होते तो सभी मंदिर एक प्रकार के होते। मस्जिद, मंदिर, गिरजा, गुरुद्वारा कैसे हो सकते हैं? परमात्मा के मंदिर बहुत प्रकार के हो सकते हैं? वे सब टेम्पल्स आफ गाड होते। वे परमात्मा के मंदिर होते, चाहे उनकी शकल कोई भी होती और दीवालें कैसी भी बनायी गयी होतीं और झरोखे कैसे ही निकाले गये होते और मीनारें लगायी गयी होतीं या गुंबद उठाये गये होते या कलश चढ़ाये गये होते, वे सब मंदिर होते परमात्मा को समर्पित।
लेकिन नहीं, परमात्मा का मंदिर पृथ्वी पर आज तक नहीं बन सका। सब मंदिर आदमियों के हैं इसलिए एक मंदिर हिंदुओं का है, एक मुसलमानों का है, एक ईसाइयों का है, एक जैनियों का है--परमात्मा का मंदिर एक भी नहीं है।

क्योंकि परमात्मा के मंदिर के साथ कोई नाम, कोई विशेषण नहीं हो सकता। वह सिर्फ मंदिर होगा।
अब तक मंदिर नहीं बन पाया दुनिया में, क्योंकि मंदिर बनाने के पीछे अहंकार खड़ा है और तब मंदिर से शुभ फलित नहीं हुआ। मंदिर और मस्जिदों ने लड़ाया आदमी को। मंदिरों और मस्जिदों पर खून बहा। मंदिरों और मस्जिदों पर जितनी हत्याएं हुईं आज तक, उतनी शराबघरों पर भी नहीं हुई हैं। चोरी के, जुओं के अड्डों पर नहीं हुई हैं। अगर हिसाब ही लगाना हो तो चोरी, जुआ और शराबघर के अड्डे मंदिरों और मस्जिदों से ज्यादा पुण्यकारी साबित हुए हैं। उन पर आज तक न इतनी हत्या हुई है, न उतनी दुश्मनी हुई है, न इतनी गोलियां-बंदूकें चली हैं, न छुरे भोंके गये, न स्त्रियों की इज्जत लूटी गयी है, न बच्चों के कत्ल किये गये हैं।
नहीं, आज तक अगर हिसाब लगाना हो कामों का तो सारे मंदिर हार जायेंगे, जुआघरों के सामने भी। यह अजीब-सी बात है। आदमी को मधुशाला ने भी, शराबघर ने भी नहीं लड़ाया इतना, जितना मंदिरों और मस्जिदों ने लड़ाया है। शराब ने भी मनुष्य को इतना पागल नहीं किया जितना मंदिर और मस्जिदों ने किया है। और बनाया था जिन्होंने इनको वे शुभ कार्य कर रहे थे और फलित अशुभ हुआ। पीछे अहंकार था।
अहंकार मंदिर के भी पीछे हो तो मंदिर शैतान का घर हो जाता है, भगवान का नहीं हो पाता। शुभ के नाम पर क्या-क्या नहीं हुआ है, लेकिन उसके परिणाम क्या हुए हैं? उससे निकला क्या है जगत में? अगर हम जीवन में चारों तरफ आंख फेरकर देखेंगे तो हमें दिखायी पड़ेगा कि अशुभ करने वाले लोगों की बजाय शुभ करने वाले लोगों ने हमें बहुत गड्ढे में और खतरे में डाला। और कारण उसका है कि पीछे है--अहंकार। शुभ तो सिर्फ खोल है, शुभ तो सिर्फ आड़ है। अच्छे काम की तो सिर्फ बातचीत है, पीछे तो वह अहंकार खड़ा हुआ है। जब तक आदमी कहता है कि हिंदू धर्म सबसे महान धर्म है तो यह भूलकर भी मत समझना कि उसे हिंदू धर्म से कोई भी मतलब है। जब वह कह रहा है कि हिंदू धर्म सबसे महान धर्म है तो वह घूम-फिरकर यह कह रहा है कि मैं सबसे महान मनुष्य हूं, क्योंकि मैं हिंदू हूं।
मैंने सुना है, पेरिस के विश्वविद्यालय में एक अध्यापक था और उस अध्यापक ने एक दिन आकर अपनी कक्षा में कहा--वह दर्शन-शास्त्र का अध्यापक था, फिलासफी का प्रोफेसर था--उसने कहा कि मैं दुनिया का सबसे बड़ा आदमी हूं! उसके विद्यार्थी हंसने लगे और उन्होंने कहा, क्या आप पागल हो गये हैं?
यह आप कैसे कह सकते हैं?
उसने कहा, न केवल मैं कहता हूं, मैं सिद्ध कर सकता हूं। वह उठा और अपनी छड़ी को उठाकर उसने दुनिया के नक्शे पर रखा और कहा उन विद्यार्थियों से, कि मैं पूछता हूं तुमसे, इस बड़ी दुनिया में सबसे श्रेष्ठ देश कौन-सा है?
वे बच्चे सभी फ्रांसीसी थे। उन्होंने कहा, फ्रांस।
उसने कहा, चलो, एक बात तय हो गयी। अब सारी दुनिया का सवाल खतम। फ्रांस सर्वश्रेष्ठ है, यह तो मानते हो?
उन्होंने कहा, हां मानते हैं।
उसने पूछा, अब मैं तुमसे पूछता हूं कि फ्रांस में सर्वश्रेष्ठ नगर कौन-सा है?
वे सारे बच्चे पेरिस के बच्चे थे और पेरिस के विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। उन्होंने कहा, पेरिस। इसमें क्या शक की बात है!
तो उस प्रोफेसर ने कहा कि तब सिद्ध हो गया है कि पेरिस दुनिया का सर्वश्रेठ नगर है, फ्रांस सर्वश्रेष्ठ देश है। सर्वश्रेष्ठ देश का जो सर्वश्रेष्ठ नगर है वह सारी दुनिया का सर्वश्रेष्ठ नगर हो गया। उसने कहा, बात खत्म हो गयी अब फ्रांस की, अब रह गया पेरिस। मैं तुमसे पूछता हूं कि पेरिस में सर्वश्रेष्ठ स्थान कौन-सा है?
सारे बच्चों ने कहा, युनिवर्सिटी, विश्वविद्यालय, विद्या का केंद्र, विद्या का मंदिर--यही श्रेष्ठतम है!

उस प्रोफेसर ने कहा, तब पेरिस भी खतम--रह गया विश्वविद्यालय। और मैं तुमसे पूछता हूं, इस विश्वविद्यालय में सर्वश्रेष्ठ विषय कौन-सा है, सब्जेक्ट कौन सा है?
उन बच्चों ने कहा, फिलासफी। क्योंकि वे सभी दर्शन-शास्त्र के बच्चे थे।
उसने कहा, चलो, यह भी खतम। अब मैं तुमसे पूछता हूं कि फिलासफी विभाग का अध्यक्ष कौन है?
उन बच्चों ने कहा, वह तो आप ही हैं।
उसने कहा, तब यह सिद्ध होता है कि मैं दुनिया का सर्वश्रेष्ठ मनुष्य हूं।
यह इतनी लांग रूट, इतना लंबा रास्ता आदमी अपने अहंकार को सिद्ध करने
के लिए लेता है। कहता है भारत? भारत सबसे महान देश है। पीछे घूमकर के पता लगाइयेगा तो पता चलेगा, चूंकि ये सज्जन भूल से भारत में पैदा हो गये हैं। ये यह कहने के लिए कि मैं बहुत महान हूं, भारत तक को महान बनाये दे रहे हैं। हिंदू धर्म महान है, मुसलमान धर्म महान है, इस्लाम महान है, ये सब अहंकार की घोषणाएं हैं। लेकिन ये घोषणाएं बड़ी शुभ शकल लेकर आती हैं। वे कहती हैं मातृभूमि, मदरलैंड और पीछे बैठा है सिर्फ अहंकार और कुछ भी नहीं। लेकिन मातृभूमि शब्द धोखे खड़ा कर देगा। लगता है कि कितना अच्छा आदमी है, मातृभूमि की बात कर रहा है, मदरलैंड की बात कर रहा है। और आपको पता है, ये मदरलैंड और फादरलैंड की बात करने वाले लोग बड़े मिस्टीरियस हैं, ये बहुत उपद्रवी हैं।
हिटलर भी कहता है, फादरलैंड। जर्मनी हमारी पितृभूमि है, यह हमारा पितृदेश है। स्टेलिन भी वही कहता है, मुसोलिनी भी वही कहता है, तुर्गो भी वही कहता है, दुनिया के सब पागल यही कहते हैं, मेरी मातृभूमि! और हमको लगता है कि बड़ी ऊंची और अच्छी बात कह रहे हैं। और खतरे में हमको उतार देते हैं, वह तत्क्षण खतरे में उतार देते हैं।
अहंकार जहां है वहां शुभ असंभव है, लेकिन शुभ के वस्त्र ओढ़े जा सकते हैं और वस्त्र धोखा दे देते हैं। और स्मरण रखना चाहिए कि दुनिया में जितनी बेईमानी है वह हमेशा ईमानदारी के वस्त्र पहनकर आती है। दुनिया में जितना असत्य है वह हमेशा सत्य के कपड़ों में छिपा रहता है, दुनिया में जितना अधर्म है वह हमेशा धर्म का टीका-तिलक लगाकर प्रगट होता है। दुनिया में जितना पाप है, वह हमेशा पुण्य की शब्दावली में अपने को छिपाता है और ढांकता है।
मैंने सुना है, दुनिया बनी और परमात्मा ने सौंदर्य की देवी और कुरूपता की देवी को बनाया। वे दोनों पृथ्वी पर उतरती थीं। वे एक सरोवर के किनारे उतरी होंगी, धूल भर गयी होगी आकाश से पृथ्वी तक आने में। उन्होंने अपने वस्त्र सरोवर के किनारे रखे और सरोवर में स्नान करने उतर गयीं।
जब सुंदरता की देवी नहाने लगी नग्न होकर और थोड़े गहरे पानी में चली गयी तब उस कुरूपता की देवी ने बाहर निकलकर जल्दी से सुंदरता की देवी के वस्त्र पहने और दौड़ना शुरू कर दिया।
सुंदरता की देवी ने देखा, अरे! वह कुरूपता की देवी तो भाग गयी है और उसके वस्त्र भी ले गयी। वह बाहर निकली, लेकिन वह नग्न थी और सुबह होने लगी और लोग आने लगे। अब मजबूरी थी। वहां कुरूपता के वस्त्र पड़े थे और कुछ भी न था। उसने वह कुरूपता के वस्त्र ही पहने कि जब तक वह न मिल जाये कुरूपता की देवी, तब तक इन्हीं से काम चला लो। वह उन वस्त्रों को पहनकर दौड़ी उसके पीछे--सुनते हैं वह अब तक दौड़ रही है--लेकिन वह वस्त्र बदल नहीं पायी। वह नहीं बदल पायेगी।
कुरूपता सदा सौंदर्य का वेश लिये रहती है। अधर्म सदा धर्म की बातें करता रहता है, शैतान सदा मंदिरों में पुजारी होकर भर्ती हो जाते हैं। शुभ का नाम होता है, पीछे अहंकार होता है तो कभी शुभ फलित नहीं होता है। लेकिन यह सच है कि चूंकि गलत चीजों के पास अपने पैर नहीं होते हैं इसलिए हमेशा पैर उन्हें उधार मांगने पड़ते हैं।

अहंकार को भी अगर अपनी घोषणा करनी हो तो उसे किसी शुभ कार्य के पीछे खड़े होकर घोषणा करनी पड़ती है। सीधे अहंकार की घोषणा को कौन सुनेगा, कौन मानेगा? तो वह अहंकार कहता है कि मैं एक मंदिर बनाऊंगा, भगवान का मंदिर। अहंकार कहता है कि मैं समाज की सेवा करूंगा! अहंकार कहता है कि मैं दरिद्रों को भगवान मानता हूं, दरिद्रनारायण मानता हूं, मैं उनके पैर धोऊंगा! अहंकार खोजता है अच्छे-अच्छे शब्द, अच्छा-अच्छा ढंग और पीछे स्वयं खड़ा हो जाता है और प्रतिष्ठित होता है।
सारा शुभ कार्य अहंकार के कारण पाखंड हो गया है।
नहीं, इस भूल में भूलकर भी मत पड़ जाना कि अहंकार के रहते शुभ कार्य हो सकता है। रह गयी दूसरी बात, कि अहंकार के चले जाने पर हम कुछ करेंगे क्या? नहीं, आप कुछ भी नहीं करेंगे। क्योंकि आप तो गये, अहंकार ही तो आप थे। आप गये, आप कुछ नहीं करेंगे, लेकिन कुछ होगा और वह होना आपसे नहीं होगा, वह होना परमात्मा से होगा। सारा जगत चल रहा है और आदमी सोचता है कि सिर्फ अहंकार की वजह से मैं चल रहा हूं।
आप पैदा हुए तो आपके अहंकार ने आपके पैदा होने में कौन-सा हाथ बंटाया?
आप बच्चे थे जवान हो गये, आप खाना खाते हैं खाना पचता है, खून बन जाता है, रग-रेशे में पहुंच जाता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर खाने को पचाने के लिए हम कोई मशीन बिठायें तो इतना बड़ा कारखाना बनाना होगा, और इतनी मेहनत करनी पड़ेगी। और एक आदमी चुपचाप दिन-रात खाना पचाता है, खून बनाता है और कुछ पता भी नहीं चलता है, कहीं कोई शोरगुल भी नहीं, फैक्ट्री की कोई आवाज भी नहीं। उस आदमी को भी पता नहीं चलता कि रोटी कब खून बन गयी, कैसे खून बन गयी। आप बनाते हैं खून रोटी से? गले के नीचे क्या होता है, आपको कुछ भी पता नहीं। आदमी का चौका और आदमी का पाक-शास्त्र गले के नीचे नहीं जाता, बस वहीं तक काम चलता है। फिर नीचे क्या होता है, उसका हमें कुछ भी पता नहीं!
जैसे वृक्ष की जड़ें जमीन के नीचे अंधकार में चुपचाप काम करती रहती हैं, वैसा ही मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व चुपचाप काम कर रहा है। सब हो रहा है। लेकिन अहंकार बीच-बीच में कहता है कि मैं यह कर रहा हूं, मैं यह कर रहा हूं। जहां-जहां वह जोड़ देता है कि मैं यह कर रहा हूं, वहीं अशुभ की छाया पड़ जाती है। जहां अहंकार की छाया पड़ती है, वहीं जहर फैल जाता है।
नहीं, बुद्ध या महावीर जैसे लोग निष्क्रिय नहीं हो जाते हैं बल्कि साधारण लोगों से ज्यादा सक्रिय हो जाते हैं। लेकिन उन्हें ऐसा नहीं लगता कि हम कुछ कर रहे हैं, उन्हें लगता है कि हो रहा है! डूइंग का ख्याल नहीं रह जाता है, हैपनिंग का ख्याल आ जाता है। चीजें हो रही हैं; की नहीं जा रही हैं, कर नहीं रहे हैं हम। हवाएं चल रही हैं, समुद्र गर्जन कर रहा है। चांद आकाश से अमृत बरसा रहा है, यह सब हो रहा है। जब मनुष्य का अहंकार चला जाता है तब ऐसे ही सहज उससे भी सब होता है और ऐसा सहज जो होना है वही शुभ है, वही मंगलदायी है, वही कल्याण है।

एक मित्र ने पूछा है, कि ध्यान में पूछते हैं हम, "मैं कौन हूं"--तो उत्तर तो कोई नहीं आता, लेकिन मन शांत हो जाता है?

मन जब पूर्ण शांत हो जायेगा तब उत्तर आयेगा और मन की शांति से जल्दी राजी मत हो जाना, पूछना मत छोड़ देना। होने दें मन को शांत और पूछते ही चले जायें, पूछते ही चले जायें। मन गहरे से गहरा शांत होता चला जायेगा और आप अपनी जिज्ञासा को और गहरा, और तीव्र करते चले जायें। जिज्ञासा इतनी तीव्र हो जाये कि उसके आगे और जिज्ञासा करने का कोई उपाय न हो। सारी शक्ति संलग्न हो जाये, तब एक विस्फोट की तरह मन परिपूर्ण शांत हो जायेगा। इतना शांत हो जायेगा कि आप पूछना भी चाहेंगे और फिर प्रश्न नहीं पूछा जा सकेगा, शब्द भी नहीं बनाया जा सकेगा, विचार भी नहीं उठाया जा सकेगा। इतनी शांति जब भीतर आ जायेगी कि आप पूछना चाहें कि मैं कौन हूं? असमर्थ हो जायेंगे, नहीं पूछ सकेंगे। यह शब्द भी उस शांति में नहीं उठ सकेगा तब उत्तर आयेगा। उत्तर भीतर है, उत्तर सदा भीतर है। यह कैसे हो सकता है कि हम हैं और हमें यह भी पता न हो कि, "हम कौन हैं।" हैं हम, और यह भी पता नहीं हो कि "हम

कौन हैं", यह कैसे हो सकता है? यह तो असंभव है। हम जानते होंगे किसी गहरे तल पर कि "हम कौन हैं" और अगर हमीं न जानते होंगे गहरे तल पर तो फिर तो जानने का कोई उपाय नहीं! फिर कोई और कैसे जानता होगा, फिर और कोई कैसे जानेगा अगर मैं ही नहीं जान सकूंगा कि "मैं कौन हूं?"
लेकिन बहुत गहरे में, बहुत गहरे में छिपा है वह राज, वह सीक्रेट बहुत गहरे में है। समुद्रों की गहराइयां बहुत कम हैं--कहते हैं पैसिफिक कोई पांच मील गहरा है, वहां सूरज की किरण भी नहीं पहुंचती। यह हमारा सागर भी कोई कम गहरा नहीं है, वह भी कोई तीन, साढ़े-तीन मील गहराई पर है, वहां भी सूरज की किरण नहीं पहुंचती। लेकिन ये गहराइयां कुछ भी नहीं हैं। इनसे भी गहरी जगह है हमारे भीतर, और वहां तक सभी को पहुंचाना है।
सागर तो आखिर पानी है, कितना गहरा हो सकता है बेचारा! मनुष्य है चैतन्य, काशंसनेस। चेतना का सागर है, वह कितना गहरा हो सकता है। अतल गहराई है वहां चेतना की। उस अतल गहराई तक ले जाना है प्रश्न को--गहरे, गहरे, गहरे। उतारते चले जाना है उस प्रश्न को गहरे खड्ड में। जब आखिरी जगह पहुंच जायेगा प्रश्न, तो तीर की तरह वह उस जगह को छेद देगा जहां छिपा है राज और वह राज बहना शुरू हो जायेगा ऊपर की तरफ।
निश्चित ही जाना जा सकता है कि कौन हूं मैं, लेकिन बहुत मजे हैं उस जानने के भी। पूछना तो हम यही शुरू करते हैं कि "मैं कौन हूं", लेकिन जब आप जानेंगे तो आप पायेंगे, मैं तो हूं ही नहीं, कुछ और ही है। इस भूल में मत रहना कि पता चल जायेगा कि मैं राधा-कृष्ण हूं, कि मैं फलां आदमी हूं, कि मैं दुकानदार हूं, कपड़े का, कि मैं किराने का दुकानदार हूं, कि मैं फलां दफ्तर में क्लर्क हूं। यह उत्तर नहीं आने वाला है। उत्तर तो आयेगा और पता चलेगा, मैं तो हूं ही नहीं, कुछ और ही है जिसको "मैं" के कारण मैं देख ही नहीं पाता था। है कुछ अस्तित्व, एक्जिस्टेंस। आत्मा-परमात्मा यह सब उसी के नाम हैं, "जो है।" लेकिन वह जो है वह आयेगा तभी जब मैं पूछता ही चला जाऊं, पूछता ही चला जाऊं। इतना पूछूं कि पूछना भी समाप्त हो जाये और शून्य खड़ा हो जाये। उसी शून्य में पता चलेगा कि कौन हूं मैं। पता चलेगा मैं तो हूं ही नहीं, वही है। परमात्मा है।
और उस उत्तर तक जाने के लिए गहरी खुदाई करनी जरूरी है। वह मैं कौन हूं
तो कुदाली है, उससे खोदते चले जाना है, खोदते चले जाना है। गहरे से गहरे खोदते चले जाना है--अथक--जब तक, तब तक कि खोदने को कुछ आगे बचे, तब तक खोदते ही चले जाना है। जिस दिन आ जायेगा जल-स्रोत, कुदाली गिर जायेगी अपने आप, प्रश्न गिर जायेगा।
लेकिन छोटी-मोटी शांति से तृप्त नहीं हो जाना है यह ध्यान रहे। शांति
के भी बहुत तल हैं। जो छोटी-मोटी शांति से तृप्त हो जाता है, वह परम शांति को अनुभव नहीं कर पाता। तो अगर आप थोड़ा बहुत प्रयोग किये ध्यान के, तो जरूर शांति आयेगी, एक तरह का साइलेंस आयेगा, एक तरह के आनंद की झलक आयेगी। लेकिन रुक मत जाना, रुकना नहीं है वहां। क्योंकि जब तक शांति का पता चलता है तब तक जानना आपके भीतर अभी अशांति भी मौजूद है, इस शांति का बोध बिना अशांति के नहीं हो सकता।
जिस आदमी को प्रकाश दिखाई पड़ता है उसका मतलब है कि अभी उसे अंधेरा भी दिखायी पड़ रहा होगा। शांति का अनुभव तभी तक होता है जब तक अशांति भीतर मौजूद रहेगी। जब शांति परिपूर्ण हो जायेगी तो शांति का भी पता नहीं चलेगा कि मैं शांत हूं। आदमी को स्वास्थ्य का भी पता तभी तक चलता है जब तक बीमारी पीछे लगी हो, जब बीमारी बिल्कुल न रह जाये तो स्वास्थ्य का भी पता नहीं चलता कि मैं स्वस्थ हूं!
आप हैरान होंगे, पता हमेशा बीमारी का चलता है, स्वास्थ्य का कोई पता चलता है? बीमारी होती है तो पता चलता है कि स्वास्थ्य गड़बड़ है। स्वास्थ्य अगर पूरा हो तो पता ही नहीं चलेगा कि मैं स्वस्थ हूं। यह भाव बीमार आदमी को पैदा होता है कि मैं स्वस्थ हूं। स्वस्थ आदमी को पता ही नहीं चलता कि मैं स्वस्थ हूं। पूर्ण शांति जब आयेगी तो पता भी नहीं चलेगा कि मैं शांत हूं, क्योंकि अशांति ही खतम हो गयी तो पता कैसे चलेगा। स्कूल में मास्टर लिखता है काले तख्ते पर, सफेद लकीरों से लिखता है, सफेद दीवाल पर नहीं लिखता।

सफेद दीवाल पर लिखेगा तो पता ही नहीं चलेगा कि क्या लिखा। काले तख्ते पर लिखना पड़ता है सफेद लकीरों से तो सफेद लकीरें दिखाई पड़ती हैं।
जब तक भीतर अशांति का काला परदा है तब तक थोड़ी-बहुत शांति आयेगी तो दिखायी पड़ेगी। अशांति के काले तख्ते पर शांति की सफेद रेखाएं दिखायी पड़ेंगी। काले घनघोर बादलों में बिजली चमकती हुई दिखायी पड़ती है। लेकिन जब पीछे का तख्ता पूरा ही गिर जायेगा तो कहां दिखायी पड़ेगी शांति, कहां दिखायी पड़ेंगे सफेद अक्षर?
नहीं, उस तल पर जहां पूरी शांति है, शांति का भी पता नहीं। इतनी अशांति
भी वहां नहीं है कि पता चले कि मैं शांत हूं। यह पता चलना कि मैं शांत हूं, अशांत चित्त का हिस्सा है। यह अशांत चित्त का ही अनुभव है। वहां तो यह अनुभव भी नहीं रह जाता। जहां पूर्ण विराम है, वहां कोई अनुभव भी नहीं। वहां कोई एक्सपीरिएंस भी नहीं। वहां तो कुछ है, जो बस है। उस तक पहुंचना है। इसलिए छोटी-मोटी शांति से तृप्त नहीं हो जाना है।
धार्मिक लोग जिन्हें हम कहते हैं, वह बड़ी छोटी-मोटी शांति से तृप्त हो जाते हैं। एक आदमी माला फेर लेता है, एक आदमी राम-राम जप लेता है, एक आदमी कुछ कर लेता है थोड़ा-सा, थोड़ा-सा मन हल्का लगता है, शांत लगता है, फिर निश्चिंत हो जाता है कि चलो हो गयी उपलब्धि, पहुंच गये परमात्मा तक। इतना सस्ता नहीं है परमात्मा तक पहुंच जाना। बड़ी अनंत यात्रा है, इटर्नल जर्नी है--बहुत अंतहीन यात्रा। वहां प्रारंभ है, अंत है ही नहीं। उस पर हर शांति के तल पर फिर खोज करनी है और उस क्षण तक खोज करते चले जाना है, जहां शांति का भी पता नहीं रह जायेगा।
रामकृष्ण कहते थे, एक सागर के किनारे--जैसे हम इकट्ठे हो गए--एक बार एक मेला लगा। सागर का तट और बहुत भीड़ और बड़ा मेला। दो नमक के पुतले एक गांव में निवास करते थे। गांव-गांव में नमक के पुतले निवास करते हैं। ऐसे तो हर आदमी नमक का पुतला ही है। वे दोनों नमक के पुतले भी उस मेले में चले गये। अब मेलों में कोई अच्छे आदमी जाते... नमक के पुतले ही जाते हैं। सो चले गये वे दोनों मेले में। वे भीड़-भाड़ में समुद्र के किनारे खड़े हो गये। कई लोग सोचते थे, पूछते थे समुद्र कितना गहरा है? नमक के पुतलों को जोश चढ़ गया। जितना कच्चा पुतला होता है उतनी जल्दी जोश में आ जाता है।
वे नमक के पुतले बोले, कि ठहरो! क्या बकवास करते हो? क्या खोज-बीन करते हो, हम कूदकर अभी जाते हैं और पता लगा आते हैं।
एक नमक का पुतला कूद गया। फिर भीड़ इकट्ठी हो गयी वहां, वे राह देखने लगे कि लौटे, लौटे... लेकिन उसका कोई पता न चला। वह लौटा ही नहीं! अब नमक का पुतला सागर में जाये तो लौटे कैसे! वह तो गया, गया, गया और बिल्कुल गया हो गया। नीचे तो पहुंच ही नहीं पाया, पिघला और खो गया। थाह तो मिली नहीं। थाह के पहले खुद ही मिट गया। लोग बहुत प्रतीक्षा करते रहे, बहुत प्रतीक्षा की उन्होंने।
फिर मेला उजड़ गया, फिर लोग घर पर चले गये और सोचते ही चले गये कि उस नमक
के पुतले का क्या हुआ, वह लौटा नहीं। क्या मर गया, गया कहां? खो कहां गया? नमक का पुतला सागर में खोजने जायेगा तो लौटेगा बचकर?
आदमी परमात्मा में खोजने जायेगा तो लौटेगा बचकर? जैसे नमक से बना है सागर, उसका ही पुतला है फिर सागर में गिरा, फिर नमक खो गया। आदमी बना है परमात्मा से। गया खोजने, खो गया। कहां शांति, कहां अशांति? गया, स्वयं भी गया।
कबीर कहते थे, "खोजत खोजत रे सखी, रह्या कबीर हिराई।" खोजने गया था सखी, खोजने गया था परमात्मा को, लेकिन खोज-वोज तो कुछ न हुई, कबीर ही खो गया। गया था खोजने, खो गया खुद और फिर बड़ी मुश्किल हो गयी। "बुंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाई" और वह बूंद गिर गयी समुद्र में, वह कबीर की बूंद गिर गयी परमात्मा में, अब कहां खोजो उसे कि वह बूंद कहां गयी! कबीर पहले यह गाते थे बार-बार, यह दो पंक्तियां कि "हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई, बुंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाई।"
फिर कुछ वर्षों के बाद उन्होंने थोड़ी बदलाहट कर दी और बदलाहट बड़ी अदभुत थी। पहली पंक्ति तो वही रही। वही गाते रहे कि "हेरत हेरत रे सखी,

रह्या कबीर हिराई"... दूसरी पंक्ति उन्होंने बदल दी। पहले वे कहते थे, "बुंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाई।" फिर बाद में कहने लगे--"समुंद समाना बुंद में, सो कत हेरी जाई।" वह समुद्र ही बुंद में समा गया। अब तो और मुश्किल हो गयी। बुंद समुद्र में गिर गयी थी तो कभी कल्प-कल्प में खोज भी सकते थे, लेकिन यह तो और मुश्किल हो गयी। पहले तो पता चला था कि कि बूंद समुंद में गिर गयी। बाद में पता चला, यह तो बड़ी उलझन हो गयी। बूंद में ही समुंद गिर गया। अब तो बहुत मुश्किल हो गयी, अब कैसे खोजा जाये। खो गया कबीर खोजते-खोजते।
जो भी खोजने जाता है, खो जाता है। नहीं बचता "मैं" वहां, नहीं बचती शांति, नहीं बचता आनंद, नहीं बचता कुछ। फिर जो बच रहता है वही है सत्य, वही है परमात्मा, वही है प्रभु।
और बहुत से प्रश्न हैं, अब उन पर बात संभव नहीं हो सकेगी। क्योंकि कल सुबह भी तीसरे द्वार पर बात करनी है और रात चौथे द्वार पर।

साधना पथ
उन्तीसवां प्रवचन

प्रभु-मंदिर का तीसरा द्वार: मुदिता

प्रभु के मंदिर पर तीसरे द्वार पर आज बात करनी है। वह तीसरा द्वार हैः मुदिता। उन दो द्वारों को; करुणा को, मैत्री को जिन्होंने समझा, वे इस तीसरे द्वार को भी सहज ही समझ लेंगे।
तीसरा द्वार है मुदिता। मुदिता का अर्थ है प्रफुल्लता, आनंदभाव, अहोभाव, चियरफुलनेस। आषाढ़ में बादल घिरते हैं। उनमें भरा हुआ जल करुणा है। फिर वह जल बरस पड़ता है प्यासी पृथ्वी पर। वह बरसा हुआ जल मैत्री है। और फिर उस बरसे हुए जल से जो तृप्ति हो जाती है पृथ्वी के प्राणों में, और सारी पृथ्वी हरियाली से भर जाती है, खुशी से और आनंद से और नाच उठती है। वह हरियाली, वह प्रफुल्लता, वह खिल गये फूल, वह पहाड़-पहाड़, गांव-गांव, पृथ्वी का कोना-कोना, जिस खुशी को जाहिर करने लगता है वह मुदिता है, वह प्रफुल्लता है, वह चियरफुलनेस है।
जो करुणा और मैत्री से गुजरते हैं, वे अनिवार्यतः तीसरे द्वार के समक्ष खड़े हो जाते हैं। उनके जीवन की सारी उदासी तिरोहित हो जाती है। उनके जीवन की सारी पीड़ा, सारा दुख, सारा बोझ समाप्त हो जाता है। वे निर्भार, वे मुक्त, वे आनंद की एक नयी ध्वनि से अनुप्रेरित हो उठते हैं। तीसरे द्वार पर खड़े हो जाना ही प्रफुल्ल हो जाना है, लेकिन उसमें प्रवेश तो अनंत आनंद में ले जाता है।
वह प्रवेश कैसे होगा? उस प्रवेश के क्या अर्थ हैं, उस सबको समझ लेना जरूरी है। और स्मरण रहे, कि जो परमात्मा के द्वार पर हंसते हुए नहीं पहुंचते हैं वे कभी भी परमात्मा के द्वार पर नहीं पहुंचते हैं। उदास आत्माएं, थके और हारे हुए मन, दुख, पीड़ा और विषाद से घिरे हुए चित्त--नहीं, इतने अंधकार से भरी हुई आत्माओं के लिए परमात्मा का द्वार नहीं है। लेकिन आज तक धर्म के नाम पर सिखायी गयी है उदासी, सिखायी गयी है एक बोझिल गंभीरता, सिखाया गया है एक तरह का संताप, सिखायी गयी है एक तरह की चिंता। धार्मिक होने में और उदास होने में कोई गहरा संबंध पिछले पांच हजार वर्षों से स्थापित हो गया। इस संबंध ने, इस गलत संबंध ने परमात्मा का एक द्वार बंद ही कर दिया, जिस द्वार को पार किये बिना कोई प्रभु तक नहीं पहुंचता है।
आदमी को छोड़कर शायद जगत में और कुछ भी उदास नहीं है। आदमी को छोड़कर जगत में और कुछ भी बोझिल, गंभीर नहीं है। सारा जीवन गीत गाता हुआ जीवन है। सारा जीवन रंगों में, ध्वनियों में, कितने नृत्यों में प्रकट होता है! आदमी भर बोझिल है, उदास है। यह उदासी, यह बोझिलता, यह दुख भाव, यह दबा-हुआ-पन, यह अपने आपको बंद कर लेना और कहीं से फूल प्रगट न हो जाये, कहीं से मुस्कुराहट न प्रगट हो जाये, यह इतना भय भाव कैसे पैदा हो गया है!
धर्मों ने, तथाकथित संतों और अंधे महात्माओं ने क्यों यह उदासी की इतनी बात प्रचलित की है? सुख के प्रति, आनंद के प्रति, अहोभाव के प्रति इतना विरोध क्यों है? असल में रुग्ण चित्त, दुखी चित्त, परेशान चित्त, ऐसे लोग ही धर्म की खोज में जाते रहे। जिनका चित्त दुखी है, पीड़ित है, परेशान है, संताप से घिरे हैं; वे ही अपने संताप, दुख और पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए धर्म की यात्रा करते रहे हैं। स्वभावतः धर्म के जगत की भी हवा वैसी ही हो गयी है जैसी अस्पतालों की होती है। और वे लोग जो उदासी, चिंता और अशांति से बचने के लिए धर्म की तरफ गये थे वे अशांति, उदासी से बच गये--ऐसा नहीं; उन्होंने धर्म को भी अशांत और उदास कर दिया।
स्वस्थ चित्त व्यक्ति, आनंदित व्यक्ति, गीत गाते हुए लोग, नृत्य करते हुए लोग, धर्म की तरफ नहीं गये। और जब तक वे लोग धर्म की तरफ नहीं जायेंगे, तब तक यह पृथ्वी धार्मिक नहीं हो सकती। जिस दिन हंसते हुए लोग धर्म के मार्ग पर बढ़ेंगे, उस दिन वह मार्ग फूलों से भर जायेगा।
नहीं, रुग्ण, अशांत और उदास चित्त खोजता है मार्ग कि मैं कैसे मुक्त
हो जाऊं अशांति से, उदासी से और वही धर्म की यात्रा करने लगता है। मेरी

दृष्टि में यह कोण, यह दृष्टि, यह खोज का प्रारंभिक बिंदु, यह प्रस्थान ही गलत है। अशांति कैसे कम हो, दुख कैसे कम हो इस भाव से जो धर्म के पास जायेगा वह धर्म को भी विकृत करता है, परवर्ट करता है। जाना चाहिए धर्म की खोज में कि शांति कैसे बढ़े, आनंद कैसे बढ़े, अहोभाव कैसे गहरा हो। अशांति कम हो इस दृष्टि से धर्म के पास यह नकरात्मक दृष्टि लेकर जाना गलत है। शांति कैसे बढ़े, कैसे गहरी हो, आनंद कैसे बढ़े--दुख कैसे कम हो, यह भाव नहीं! ऊपर से देखने में ये दोनों बातें एक जैसी लगती हैं। आप कहेंगे कि दुख कम हो या आनंद बढ़े एक ही बात है। नहीं, ये दोनों बातें भाषा में एक जैसी लगती हैं, ये एक ही नहीं हैं।
एक आदमी के घर में अंधकार घिरा है। वह दो तरह से सोच सकता है--अंधकार कैसे कम हो और प्रकाश कैसे बढ़े। अगर उसने यह सोचा कि अंधकार कैसे कम हो तो अंधकार कैसे कम किया जाये इस दिशा में उसका चिंतन चलेगा। अंधकार को कैसे हटाया जाये, अंधकार को कैसे मिटाया जाये, अंधकार से कैसे लड़ा जाये?
और स्मरण रहे, अंधकार से न कोई लड़ सकता है और न अंधकार को कोई हरा सकता
है, क्योंकि अंधकार है ही नहीं। अगर अंधकार होता तो हम लड़ सकते थे, तोड़ सकते थे, मिटा सकते थे। जिसने अंधकार कैसे दूर किया जाये इस दिशा में खोज-बीन शुरू की, वह अंधकार पर अटक जायेगा; उसे प्रकाश का ख्याल भी आने को नहीं है; उसका चित्त अंधकार पर अपने आप केंद्रित हो जायेगा। वह सोचेगा अंधकार को कैसे मिटाऊं, कैसी तलवार ईजाद करूं, कितनी शक्ति इकट्ठी करूं कि अंधकार को निकालकर घर के बाहर कर दूं। वह मर जायेगा, अंधकार नहीं मिटा पायेगा। उसने अंधकार को मिटाने के लिए जो सीधा चिंतन शुरू किया है वह गलत है, क्योंकि अंधकार की कोई सत्ता नहीं है। इसलिए अंधकार पर सीधे कुछ भी नहीं किया जा सकता है।
सत्ता है प्रकाश की। अंधकार सिर्फ प्रकाश का अभाव है, अनुपस्थिति है, एब्सेंस है। एब्सेंस के साथ आप कुछ भी नहीं कर सकते हैं। प्रकाश जला लिया जाये तो अंधकार मिट जाता है, अंधकार को मिटाना नहीं पड़ता। प्रकाश आ जाये तो अंधकार नहीं है। इसलिए अंधकार को मिटाने की भाषा में; निषेध की, निगेटिव की भाषा में जो लोग सोचते हैं, वे अंधकार से ही घिरे रह जाते हैं। अंधकार तो नहीं मिटता, वे खुद ही मिट जाते हैं और गल जाते हैं। जो सोचते हैं प्रकाश कैसे लाया जाये, प्रकाश कैसे बढ़ाया जाये, प्रकाश कैसे जलाया जाये; वे पॉि.जटिव, विधायक भाषा में सोचते हैं।
आज तक का धर्म नकारात्मक, निगेटिव माइंड की वजह से विकृत और गलत हो गया है। वे लोग जो कहते हैं अंधकार कैसे हटाया जाये, हिंसा कैसे छोड़ी जाये, बेईमानी कैसे छोड़ी जाये, असत्य कैसे छोड़ा जाये, वासना कैसे छोड़ी जाये, पाप कैसे छोड़ा जाये; इस भाषा में सोचने वाले जो-जो नकारात्मक बुद्धि के लोग हैं, उन लोगों ने धर्म के सारे मंदिर को घेर लिया है। अंधकार उससे नष्ट नहीं हुआ, असत्य उससे नष्ट नहीं हुआ, दुख उससे नष्ट नहीं हुआ बल्कि अंधकार से लड़ते-लड़ते वे सारी आत्माएं भी अंधकार से भर गयीं, उदास हो गयीं, दुखी हो गयीं, अंधेरी हो गयीं और उन्हीं अंधेरी आत्माओं की छाया पूरी मनुष्य जाति पर पड़ रही है।
अंधेरे को अलग करने की भाषा में सोचना विक्षिप्तता है। प्रकाश को जलाने और जगाने की भाषा में सोचना वैज्ञानिकता है।
प्रकाश जलाया जा सकता है। निश्चित ही प्रकाश के जलने पर अंधकार नहीं होता है। अशांति भी अभाव है, अनुपस्थिति है। दुख भी अभाव है, अनुपस्थिति है। घृणा भी अभाव है, अनुपस्थिति है। वे किनकी अनुपस्थितियां हैं? ... उन्हें बढ़ाने का विचार--घृणा है प्रेम की अनुपस्थिति; प्रेम बढ़े, प्रेम जगे, प्रेम गहरा हो और घृणा विलीन हो जायेगी। असत्य किसकी अनुपस्थिति है? सत्य बढ़े, विकसित हो, असत्य क्षीण हो जायेगा। अशांति किस की अनुपस्थिति है? शांति की अनुपस्थिति है। शांति जगे, विकसित हो, अशांति नहीं पायी जायेगी।
मुदिता का तीसरा द्वार कहता है विधायकता, पॉि.जटिवनेस, प्रफुल्लता। आनंद को खोजो, अशांति से बचने की फिक्र छोड़ो। अशांति से मुक्त होने का भाव छोड़ो, शांति को बढ़ाओ और जगाओ। नकार और निषेध की तरफ आंख भी मत दो। विधेय को,

विधायक को, जो है उसको पुकारो, उसको चुनौती दो, उसको जगाओ सोने से। मुदिता का अर्थ हैः पॉि.जटिविटी।
जीवन में एक विधायक प्रफुल्लता चाहिए। लेकिन हंसते हुए संत पैदा ही नहीं हुए, प्रफुल्लित लोग पैदा ही नहीं हुए, मुस्कुराते हुए लोग पैदा ही नहीं हुए। जितना रोता हुआ आदमी हो उतना ही ज्यादा संत मालूम होता है। जितना उसके जीवन का सारा रस सूख गया हो उतना ही महान मालूम होता है। कैसा है मनुष्य! कैसा है पागलपन! हंसते हुए लोग छोटे और बोझिल मालूम पड़ते हैं और उदास लोग ऊंचे और महान मालूम पड़ते हैं।
जिस दिन हम हंसते हुए लोगों को भी महानता की दिशा में अभिमुख कर सकेंगे; जिस दिन हम हंसने को, आनंद को, अहोभाव को भी ईश्वर का विरोधी मानने की मूढ़ता छोड़ देंगे उस दिन तीसरा द्वार खुलता है।
ऐसे मंदिर चाहता हूं मैं--जो नृत्य के, संगीत के, हंसने के मंदिर हों।
ऐसा धर्म चाहता हूं मैं--जो मुस्कुराहटों का, प्रफुल्लता का, प्रमुदित होने का धर्म हो।
लेकिन रुग्ण लोगों ने घेर रखा है धर्म को। उनसे उसका छुटकारा चाहिए, रुग्ण लोगों से धर्म का छुटकारा चाहिए।
चीन में तीन फकीर हुए। उन्हें तो लोग कहते ही थे--लॉफिंग सेंट्स। वे हंसते हुए फकीर थे। वे बड़े अदभुत थे। क्योंकि हंसते हुए फकीर! ऐसा होता ही नहीं है, रोते हुए ही फकीर होते हैं।
वे गांव-गांव जाते। अजीब था उनका संदेश। वे चौराहों पर खड़े हो जाते और हंसना शुरू कर देते। एक हंसता, दूसरा हंसता, तीसरा हंसता और उनकी हंसी एक दूसरे की हंसी को बढ़ाती चली जाती। भीड़ इकट्ठी हो जाती और भीड़ भी हंसती और सारे गांव में हंसी की लहरें गूंज जातीं।
लोग उनसे पूछते, तुम्हारा संदेश, तो वे कहते कि तुम हंसो। इस भांति जीयो कि तुम हंस सको। इस भांति जीयो कि दूसरे हंस सकें। इस भांति जीयो कि तुम्हारा पूरा जीवन एक हंसी का फव्वारा हो जाये। इतना ही हमारा संदेश है, और वह हंसकर हमने कह दिया। अब हम दूसरे गांव जाते हैं।
हंसो कि तुम्हारा पूरा जीवन एक हंसी बन जाये। इस भांति जीयो कि पूरा जीवन एक मुस्कुराहट बन जाये। इस भांति जीयो कि आसपास के लोगों की जिंदगी में भी मुस्कुराहट फैल जाये। इस भांति जीयो कि सारी जिंदगी एक हंसी के खिलते हुए फूलों की कतार हो जाये।
हंसते हुए आदमी ने कभी पाप किया है? बहुत मुश्किल है कि हंसते हुए आदमी ने किसी की हत्या की हो, कि हंसते हुए आदमी ने किसी को भद्दी गाली दी हो, कि हंसते हुए आदमी ने कोई अनाचार, कोई व्यभिचार किया हो। हंसते हुए आदमी और हंसते हुए क्षण में पाप असंभव है। सारे पाप के लिए पीछे उदासी, दुख, अंधेरा, बोझ, भारीपन, क्रोध, घृणा--यह सब चाहिए। अगर एक बार हम हंसती हुई मनुष्यता को पैदा कर सकें तो दुनिया के नब्बे प्रतिशत पाप तत्क्षण गिर जायेंगे। जिन लोगों ने पृथ्वी को उदास किया है, उन लोगों ने पृथ्वी को पापों से भर दिया है।
वे तीनों फकीर गांव-गांव घूमते रहे, उनके पहुंचते से सारे गांव की हवा बदल जाती। वे जहां बैठ जाते वहां की हवा बदल जाती। फिर वे तीनों बूढ़े हो गये। फिर उनमें से एक मर गया। जिस गांव में उसकी मृत्यु हुई, गांव के लोगों ने सोचा कि आज तो वे जरूर दुखी हो गये होंगे, आज तो वे जरूर परेशान हो गये होंगे। सुबह से ही लोग उनके झोपड़े पर इकट्ठे हो गये। लेकिन वे देखकर हैरान हुए कि वह फकीर जो मर गया था, उसके मरे हुए ओंठ भी मुस्कुरा रहे थे। और वे दोनों उसके पास बैठकर इतना हंस रहे थे, तो लोगों ने पूछा, यह तुम क्या कर रहे हो? वह मर गया और तुम हंस रहे हो?
वे कहने लगे, उसकी मृत्यु ने तो सारी, जिंदगी को हंसी बना दिया, जस्ट ए जोक। आदमी मर जाता है, जिंदगी एक जोक हो गयी है, एक मजाक हो गयी है। हम समझते थे कि जीना है सदा, आज पता चला कि बात गड़बड़ है। यह एक तो हममें से खत्म हुआ, कल हम खत्म हो जाने वाले हैं। तो जिन्होंने सोचा है कि जीना है सदा, वे ही गंभीर हो सकते हैं। यह गंभीर रहने का कोई कारण न रहा। बात हो गयी सपने की। एक सपना टूट गया। इस मित्र ने जाकर एक सपना तोड़ दिया।

अब हम हंस रहे हैं, पूरी जिंदगी पर हंस रहे हैं अपनी, कि क्या-क्या सोचते थे जिंदगी के लिए और मामला आखिर में यह हो जाता है कि आदमी खत्म हो जाता है। एक बबूला टूट गया, एक फूल गिरा और बिखर गया। और फिर अगर हम आज न हंसेंगे, तो कब हंसेंगे? जबकि सारी जिंदगी मौत बन गयी और अगर हम न हंसेंगे तो वह जो मर गया साथी, वह क्या सोचेगा? कि अरे! जब जरूरत आयी हंसने की तब धोखा दे गये। जिंदगी में हंसना तो आसान है, जो मौत में भी हंस सके--वे लोग कहने लगे--वही साधु है।
फिर वे उसकी लाश को लेकर और मरघट की तरफ चले। गांव के लोग तो उदास हैं लेकिन वे दोनों हंसे चले जाते हैं। और रास्ते में उन्होंने कहा, कि जो उदास हैं वे लौट जायें, क्योंकि उसकी आत्मा तो बड़ी दुखी होगी कि जिंदगी भर जो आदमी हंसा, लोग इतना भी धन्यवाद नहीं देते कि उसकी कब्र पर कम से कम हंसकर बिदा दे जायें।
लेकिन लोग कैसे हंसते? हंसने की तो आदत न थी और फिर मौत के सामने कौन हंसेगा? मौत के सामने वही हंस सकता है जिसे मौत से ऊपर की किसी चीज का पता चल गया हो। मौत के सामने कौन हंस सकता है? मौत के सामने मरने वाला कैसे हंस सकता है! मौत के सामने वही हंस सकता है जिसे अमृत का बोध हो गया। वे गांव के लोग कैसे हंसते, मौत ने तो उदासी फैला दी। हम भी जब मौत में उदास हो जाते हैं तो इसलिए नहीं कि कोई मर गया है, बल्कि इसलिए कि अपने मरने की खबर आ गयी। वह जो मौत की उदासी है वह हमारे प्राणों को डरा जाती है, भयभीत कर जाती है।
नहीं, पर वे दो फकीर हंसते ही चले गये। फिर लाश चढ़ा दी गयी अर्थी पर और लोग कहने लगे, जैसा रिवाज था, कि कपड़े बदलो, स्नान करवाओ। उन्होंने कहा कि नहीं, वह हमारा मित्र कह गया है कि कपड़े मेरे बदलना मत, स्नान मुझे करवाना मत। ऐसे ही जैसा मैं हूं चढ़ा देना, तो उसकी बात तो पूरी रखनी पड़ेगी। उसको चढ़ा दिया। और फिर थोड़ी ही देर में उस भीड़ में हंसी छूटने लगी, क्योंकि वह आदमी जो मर गया था अपने कपड़ों में फटाके, फुलझड़ी छिपाकर मर गया था। उसकी लाश चढ़ गयी है अर्थी पर और फटाके, फुलझड़ियां छूटनी शुरू हो गयी हैं। कपड़ों में अंदर उसने सब छिपा रखा है। धीरे-धीरे वह भीड़ जो वहां इकट्ठी थी, वह हंसने लगी। और कहने लगी, कैसा आदमी था, जिंदगी भर हंसाता था और मर गया है अब, अब है भी नहीं, फिर भी इंतजाम कर गया है कि तुम अंतिम क्षण में भी हंसना।
एक हंसता हुआ धर्म चाहिए, एक धर्म जो हंस सके। अब तक जो धर्म रहा है वह उदास है।
मुदिता तीसरा द्वार है। हंसते हुए उस द्वार को पार करना है। निश्चित
ही जो आदमी पूरे जीवन को एक खुशी और एक आनंद बनाना चाहता है वह आदमी भूलकर भी दूसरे को दुख नहीं दे सकता। क्योंकि दूसरे को दुख देना अपने लिए दुख को आमंत्रण भेजना है। जो आदमी फूलों में जीना चाहता है वह किसी के रास्ते पर कांटा नहीं रख सकता, क्योंकि दूसरे के रास्ते पर कांटा रखना, दूसरे को चुनौती देना है कि मेरे रास्ते पर कांटे रखो। जो आदमी उदास रहना चाहता है वही दूसरे लोगों से दुर्व्यवहार कर सकता है, लेकिन जो आदमी प्रफुल्लित होना चाहता है उसे तो अपने चारों तरफ हंसी फैलानी पड़ेगी। जो आदमी खुश रहना चाहता है उसे चारों तरफ खुशी बांटनी पड़ेगी, क्योंकि कोई आदमी अकेला खुश नहीं रह सकता। यह जरा समझ लेना जरूरी है।
अकेला आदमी उदास रह सकता है। लेकिन खुशी, आनंद में, प्रसन्नता में अकेला आदमी नहीं रह सकता है। अगर आप अकेले बैठे हैं एक कोने में उदास, दुखी, पीड़ित, परेशान तो कोई भी आपसे यह नहीं पूछ सकता आकर कि अरे! तुम अकेले बैठे हो और उदास बैठे हो। लेकिन अगर अकेले में हंस रहे हैं आप जोर से खिलखिलाकर तो कोई भी आकर पूछेगा कि दिमाग खराब हो गया है, अकेले और हंस रहे हो? लेकिन अकेले में उदास होने पर कोई नहीं पूछता कि इसमें कोई गड़बड़ है। अकेले में हंसते हुए आदमी पर शंका पैदा होती है।
इसका कारण है। क्योंकि खुशी... खुशी एक कम्युनिकेशन है, खुशी एक संवाद है, खुशी एक समष्टि की घटना है। आदमी उदास अकेला हो सकता है, लेकिन आनंदित होना एक शेयरिंग है, एक बंटवारा है। इसलिए जितना खुश आदमी होगा उतना विराट

मित्रों का उसका समूह होगा, क्योंकि जितना बड़ा समूह होगा मित्रों का उतनी गहरी और बड़ी खुशी प्रगट हो सकती है। अगर उदास होना हो तो अकेले में जाना जरूरी है और अगर आनंदित होना है तो विराट से विराट होते जाना जरूरी है। जो आदमी परम आनंद को उपलब्ध होते हैं उनके लिए इस जगत का कण-कण मित्र
हो जाता है। तभी वे परम आनंद को उपलब्ध होते हैं, उसके पहले नहीं। आनंद एक शेयरिंग है, आनंद है मित्रों के बीच एक बंटवारा। दुख है अकेलापन। कभी आपने ख्याल नहीं किया होगा जब आप दुखी होते हैं तो लोगों से कहते हैं मुझे छोड़ दें अकेला। मुझे अकेला छोड़ दें। जब दुखी होते हैं तो द्वार-दरवाजे बंद कर लेते हैं, खिड़की बंद करके एक कोने में पड़े रह जाते हैं, क्योंकि दुखी होने के लिए अकेले होने में सर्वाधिक सुविधा होती है। लेकिन जब आप आनंद से भर जाते हैं तो द्वार-दरवाजे तोड़ देते हैं, आ जाते हैं बाजार में, आ जाते हैं लोगों के बीच और पुकारने लगते हैं कि आओ मैं खुश हूं, आओ मेरे करीब! खुशी बांटनी पड़ती है, दुख अकेला भोगना पड़ता है--कभी आपने शायद न सोचा होगा। महावीर, बुद्ध, और क्राइस्ट, या मुहम्मद जिस दिन आनंद से भर गये, उस दिन अपने पहाड़ों और जंगलों को छोड़कर भागे बस्तियों की ओर। जब तक दुखी थे तब तक गये जंगल में, पहाड़ पर। जब भर गये आनंद से तो भागे बस्तियों की ओर लोगों के बीच। शायद ही किसी ने कभी सोचा है कि यह क्यों हुआ? बुद्ध को, महावीर को, मुहम्मद को, क्राइस्ट को, सबको लोगों ने एकांत की तरफ जाते देखा है और फिर एकांत से आते भी देखा है। जो आदमी गया था एकांत की तरफ वह उदास था, दुखी था। जो आदमी लौटकर आया है वह एक और ही तरह का आदमी था, वह आनंद से भरा था, प्रफुल्लित था। जैसे ही आनंद आया, भागे वहां जहां बंट सके, जहां बांटा जा सके।
दुख सिकोड़ता है, आनंद फैलाता है। दुख अपने में बंद करता है, दुख अहंकार में केंद्रित कर देता है, आनंद अहंकार को तोड़ डालता है। बह जाती है गंगा प्राणों की चारों तरफ, सब तरफ। परमात्मा की तरफ जाना है तो अपने में सिकुड़ने से काम नहीं चल सकता है। जाना है तो फैलना पड़ेगा इतना-इतना कि अपने जैसा कुछ भी न रह जाये, फैलाव रह जाये, एक विस्तीर्ण हो जाये प्राण। और सहभागी बनना होगा इतना कि सारा जगत सहभागी बन जाये। सारा जगत, चांद, तारे, सूरज मित्र बन जायें!
लेकिन इसकी जो... जो बुनियादी दृष्टि है, जो बेसिक फिलासफी है, वह क्या है? वह है एक हंसता हुआ व्यक्तित्व, एक प्रफुल्लित व्यक्तित्व, एक नाचता हुआ व्यक्तित्व, एक नृत्य करता हुआ व्यक्तित्व। और जैसा मैंने कहा जितने आनंदित आप होना चाहते हैं--स्मरण रखें, उतना ही आनंद आपको चारों तरफ बांटना पड़ेगा तब आनंद आपकी तरफ बहना शुरू होता है। हम जो बांटते हैं वही लौट आता है, हम जो देते हैं वही गूंजता है वापस और हमारे प्राणों की तरफ बह आता है।
जीवन एक प्रतिध्वनि है। हम जो कहते हैं, हम जो करते हैं, हम जैसे होते हैं बस वैसा ही चारों तरफ से लौटना शुरू हो जाता है। यह संभव है क्या कि मैं आपकी आंख में प्रेम से झांकूं और हजार गुना प्रेम वहां से वापस न आ जाये? यह हो सकता है किसी दिन कि दो और दो चार न हों, यह कभी भी नहीं हो सकता कि मेरी आंख से प्रेम आपकी तरफ जाये और वापसी में घृणा लौट आये। यह कभी नहीं हो सकता।
दो और दो चार न हों यह हो सकता है, क्योंकि दो और दो का चार होना बिल्कुल काल्पनिक है, बिल्कुल इमेजिनरी है। वह कोई बड़ी सच्ची बात नहीं है। दो और दो पांच भी हो सकते हैं, छह भी हो सकते हैं क्योंकि गणित का सारा खेल हमारा बनाया हुआ खेल है। चूंकि हम नौ तक गिनती करते हैं, नौ तक फिगर बनाकर रखे हैं हमने एक से नौ तक। वह मजबूरी नहीं है कि एक से नौ तक फिगर हों। एक से आठ तक भी हो सकते हैं और काम चल जायेगा। एक से तीन तक भी हो सकते हैं और काम चल जायेगा। नौ तक होना कोई मजबूरी नहीं है विज्ञान की। कोई गणित बंधा हुआ नहीं है कि नौ तक हों। सिर्फ एक आदत है हमारी कि हमने नौ तक बना लिया और सारी दुनिया में वह बात फैल गयी।
हिंदुस्तान से ही फैली वह बात। यह नौ तक के फिगर हिंदुस्तान ने ही बनाये। फिर वह फैल गयी। लेकिन नौ कोई मजबूरी नहीं है। तीन से काम चल सकता

है। एक, दो, तीन फिर आ जायेगा दस। फिर ग्यारह, बारह, तेरह फिर आ जायेगा बीस। काम चल जायेगा। अगर एक से तीन तक हम हिसाब रखें तो दो और दो कितने होंगे? दो और दो, दस हो जायेंगे। यह हमारी कल्पना की बात है। गणित हमारे हाथ का खेल है। गणित कहीं जगत में कोई सत्य नहीं है।
लेकिन प्रेम हमारे हाथ की बात नहीं है। वह बहुत गहरा गणित है और बुनियादी सत्यों से एक है। अगर मैं आपकी आंख में प्रेम से झांकूं तो यह असंभव है कि प्रेम के अतिरिक्त और कुछ लौट आये। अगर कुछ और लौटना हो तो उसका मतलब है कि मैंने प्रेम से झांका ही न होगा।
अगर मैं चाहता हूं कि मेरे ऊपर आनंद की वर्षा हो जाये तो प्रतिपल मुझे आनंद को बांटते हुए जीना होगा। चियरफुलनेस का, प्रमुदित होने का, मुदिता का यही अर्थ है कि मैं आंनद को बांटता हुआ जीऊं। क्या खर्च करना पड़ता है मुस्कुराने में? लेकिन लोग इतने कंजूस हो गये हैं कि मुस्कुराते भी नहीं। इतनी कृपणता है कि जिसे देने में कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता, उसे भी बहुत सोच-सोचकर, विचार-विचार करके मुस्कुराते हैं। आदमी की जांच-परख कर लेते हैं कि इसके साथ मुस्कुराना है कि नहीं, अपना वाला है कि नहीं, फिर मुस्कुराते हैं। अजनबी को देखकर सख्त हो जाते हैं, मुस्कुराते नहीं। मुस्कुराहट भी इतनी मंहगी बात है क्या? क्या खर्च करना पड़ता है? अंग्रेजी में एक कहावत हैः "इट कास्ट नथिंग टु बी काइंड"--प्रेमपूर्ण होने में कुछ भी तो खर्च नहीं करना पड़ता है! क्या खर्च करना पड़ता है? और मजा यह है कि प्रेमपूर्ण होने से कितना मिल जाता है मुफ्त में उसका कोई हिसाब रखना मुश्किल है, कितना मिल जाता है! एक अपरिचित, रास्ते पर जरा-सी मुस्कुराहट और कितनी मुस्कुराहटें वापिस लौट आती हैं। और कैसी उनकी सुगंध भीतर प्रेरित कर जाती है और कैसे उनका गीत प्राणों में बजने लगता है और कैसे प्राणों की वीणा पर कोई तरंगित होने लगती है बात।
लेकिन नहीं, हम अत्यंत कृपण हैं। हमने उदास होने की कसम खा रखी है। हम आनंदित नहीं हो सकते हैं। हमने जिद्द बांध रखी है कि हम उदास ही होंगे। हम उदास ही रहेंगे और फिर इन उदास हाथों को लेकर हम जायेंगे प्रभु के पास। इन उदास हाथों में खिलते हुए फूल भी अगर हम ले जायेंगे तो वे भी कुम्हला जायेंगे और उदास हो जायेंगे। उनको भी प्रभु के मंदिर पर नहीं चढ़ाया जा सकता है। इन उदास प्राणों को लेकर हम प्रार्थनाएं और गीत लेकर जायेंगे, वे गीत भी उदास हो जायेंगे क्योंकि गीत वही होता है जो गाने वाला होता है। और फूल नहीं चढ़ते हैं परमात्मा के मंदिर में, वे प्राण ही चढ़ते हैं जो फूलों को ले जाते हैं।
हम क्या करें, कैसे हम प्रफुल्लित हो जायें? नहीं, यह मत पूछिये कि हम क्या करें और कैसे प्रफुल्लित हो जायें। प्रफुल्लित होने के हर अवसर का उपयोग करें और प्रफुल्लित हो जायें। हो जायें प्रफुल्लित, उठते-बैठते ध्यान रखें कि जहां भी हंसा जा सकता है जरूर हंसना है, जहां खुश हुआ जा सकता है जरूर खुश होना है। फिर धीरे-धीरे जहां खुश नहीं हुआ जा सकता था वहां भी खुश होने की संभावना बढ़ती जायेगी। थोड़ी-सी दिशा चाहिए व्यक्तित्व को, एक बोध चाहिए। यह बोध व्यक्तित्व के पास अगर उपलब्ध हो जाये कि जीवन का सत्य उन्हीं को उपलब्ध होगा जो जीवन के सत्य के प्रति आनंद से और खुशी से भरे हुए यात्रा करते हैं, जो गीत गाते हुए तीर्थ की यात्रा करते हैं, वे ही लोग... चौबीस घंटे तीर्थ की यात्रा चल रही है!
सुबह आप उठ आये हैं, कभी आपने सोचा कि सुबह उठते से ही आपने क्या किया है? कभी आपने फिक्र की कि सुबह उठते से ही पहला काम जीवन के प्रति एक आनंद का और अहोभाव की दृष्टि! क्या सुबह उठते ही आपने जीवन को, परमात्मा को धन्यवाद दिया है कि फिर एक दिन... ! फिर एक दिन उपलब्ध हुआ है, फिर जीवन, फिर आंखें खुल गयीं, फिर अंधेरे से प्रकाश, फिर निद्रा से जागरण! कभी इसके लिए कोई कृतज्ञता का भाव मन में जगा है? सुबह उठकर कभी धन्यवाद दिया है हाथ जोड़कर अनंत को, फिर एक दिन मुझको--जिसकी कोई पात्रता न थी, जो कल सोया था तो यह नहीं मान सकता था कि एक दिन और मिलेगा! जो नहीं मान सकता था, कोई अधिकार न था, जिसकी कोई योग्यता न थी, जिसकी कोई सामर्थ्य न थी कि एक दिन और मिलेगा; उसे फिर एक दिन मिल गया है, फिर जीवन!

लेकिन नहीं, जीवन के प्रति हमारी न कोई धन्यता है, न कोई भाव है, न कोई कृतज्ञता है, न कोई ग्रेटीट्यूट है। जीवन मिलता है और हम सड़ी-सड़ी चीजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। कोई एक व्यक्ति आकर मुझे चार आने का रूमाल भेंट कर जाता है तो मैं कहता हूं धन्यवाद। और जीवन बरसा रहा है पूरा जीवन और कभी धन्यवाद भी नहीं उठता, कभी खुशी भी नहीं उठती, कभी आनंद भी नहीं उठता।
जो चीज खो जाती है उसके लिए हम दुखी होते हैं और शिकायत करते हैं। और
जो चीज है हमारे पास और मिली है, उसके लिए कोई धन्यवाद नहीं! एक आदमी का पैर टूट जाता है और शिकायत शुरू हो जाती है और परमात्मा पर शक प्रारंभ हो जाता है कि है भी या नहीं! लेकिन दोनों पैर बर्षों तक चलते थे और एक क्षण के लिए भी कोई कृतज्ञता और कोई धन्यवाद न था। जो हमें मिला है उसकी कोई खुशी नहीं है, जो नहीं मिला है उसके लिए पीड़ा और शिकायत!
हम आदमी कैसे हैं, हमारा यह मन कैसा है! एक कांटा गड़ जायेगा तो शिकायत
और बर्षों तक चले और कांटा नहीं गड़ा तो धन्यवाद एक भी नहीं। यह व्यक्ति कैसा है? यह इसने उदास होने का पक्का कर रखा है, इसके सोचने का ढंग इसे उदासी में ले जाने वाला है।
एक मुसलमान बादशाह था। उसके पास एक बूढ़ा नौकर था जो जीवन भर उसके पास था। उस बूढ़े नौकर से ऐसा प्रेम था उसका कि रात भी वह बूढ़ा नौकर उसके कमरे में ही सोता, उसके साथ ही यात्रा करता। युद्ध के मैदान पर भी साथ था, महलों में भी साथ था। सम्राटों के घर मेहमान बनता तो भी वह बूढ़ा साथ था।
वे एक दिन शिकार खेलने गये हैं और रास्ता भटक गये हैं और एक जंगल में
खो गये हैं। एक वृक्ष के नीचे थोड़ी देर उन्होंने विश्राम किया। उस वृक्ष में एक फल लगा हुआ है। सम्राट जब घोड़े पर बैठा तो उसने हाथ बढ़ाकर वह फल तोड़ लिया। उसने चाकू से उस फल की एक फांक निकाली और जैसी उसकी आदत थी वह पहले उस बूढ़े की फिक्र करता। उसने एक फांक निकाली, उस बूढ़े को चखने दी।
उस बूढ़े ने कहा कि अदभुत! ऐसा फल तो कभी चखा नहीं। एक और देंगे महाराज? दूसरी फांक और उसने तीसरी भी मांगी और सम्राट देता चला गया और वह ऐसी कृतज्ञता का भाव था उसकी आंखों में कि सम्राट उसे रोक भी नहीं सका। फिर एक ही फांक बच गयी और एक ही फल था उस वृक्ष पर। सम्राट से वह आखिरी फांक भी मांगने लगा।
सम्राट ने कहा, तू तो बड़ा पागल है। एक फांक मुझे भी नहीं चखने देगा।
नहीं, वह कहने लगा--नहीं महाराज बहुत ही स्वादिष्ट है, नहीं आपको चखने दूंगा।
हाथ से छीनने लगा तो सम्राट को क्रोध आया। उसने कहा, यह तो हद्द हो गयी। पूरा फल तू खा गया और इतनी प्रसन्नता, और इतना सुस्वादु होने की चर्चा करता है तो एक फांक मुझे चखने नहीं देगा?
लेकिन उस नौकर ने तो हाथ से छीनना ही चाहा।
सम्राट ने कहा, कि नहीं, यह अतिशय हो गयी बात। इतनी फांकें तुझे दीं,
यह भी अतिशय था, लेकिन मैं यह नहीं सोचता था कि एक फांक भी तू मेरे लिये नहीं छोड़ेगा।
लेकिन वह नौकर कहने लगा, नहीं महाराज! उसकी आंख में आंसू आ गये। कहने लगा कि नहीं-नहीं, मुझे दे दें।
लेकिन सम्राट ने जबरदस्ती मुंह में वह फांक रख ली। वह तो कड़वा जहर थी। उसने कहा, कि तू कैसा पागल है, यह तो जहर है बिल्कुल। तू इसे क्यों खा गया? उस बूढ़े ने कहा था, जिन हाथों से बहुत मीठे फल खाने को मिले उनके एक कड़वे फल की शिकायत करूं? जिन हाथों से बहुत मीठे फल खाने को मिले--नहीं, नहीं, इतना अकृतज्ञ नहीं हूं कि एक कड़वे फल के लिए शिकायत करूं। फिर तुम्हारे हाथ से आता था वह फल, जीभ ने कहा होगा, कड़वा है, आत्मा ने नहीं कहा। तुम्हारे हाथ से आता था वह फल, जीभ ने कहा कि कड़वा होगा, लेकिन आत्मा ने नहीं कहा। जिन हाथों से इतने मीठे फल, उन हाथों के एक कड़वे फल की शिकायत! नहीं, नहीं, इतना अकृतज्ञ मैं नहीं हूं, वह बूढ़ा कहने लगा।

लेकिन हम सब इतने ही अकृतज्ञ हैं। जीवन के अनंत-अनंत आनंदों की वर्षा में उसका हमें कोई बोध नहीं, लेकिन जरा-सी गड़बड़ और हम बोध से भर जाते हैं। यह एप्रोच, जीवन को देखने का यह ढंग उदास और दुखी होने की तैयारी है। मनुष्य उदास है क्योंकि उसके जीवन के देखने का ढंग गलत है। अगर मुदिता को उपलब्ध होना है तो जो मिल रहा है उसके लिए धन्यवाद को गहरा करना होगा, जो पाया है उसके लिए कृतज्ञता का ज्ञापन करना होगा। जो मिला है, जो मिलता रहा है, जो बरस रहा है चौबीस घंटे, उस अनंत-अनंत आनंद की राशि के लिए भाव, प्रशंसा, अनुग्रह, ग्रेटीट्यूट हो तो हम प्रमुदित हो सकते हैं, आनंदित हो सकते हैं।
एक आदमी यात्रा पर था। बहुत शानदार घोड़े को लेकर वह यात्रा पर गया था।
एक रात एक गांव के बाहर वह ठहरा। उसके घोड़े पर तो जिसकी आंख पड़ जाती, वही ईर्ष्या से भर जाता। ऐसा शानदार घोड़ा देखा भी नहीं गया था। उस घोड़े की चमक, उसकी गति, उसकी तेजी, उसकी शान, उसके पैरों की टाप... वह घोड़ा ही और था। रात बांधा है उसने उस घोड़े को। जिस गांव से गुजरा है लोगों ने कहा है कि जो भी दाम लेना है ले लो, यह घोड़ा छोड़ जाओ।
और उस आदमी ने कहा, इस घोड़े से मुझे प्रेम है और प्रेम को बेचा नहीं जा सकता, दाम कुछ भी हों यह सवाल नहीं। तुम क्या दे सकोगे दाम! क्योंकि तुम कितना भी दो, प्रेम बेचा नहीं जा सकता। इस घोड़े से मुझे प्रेम है इसलिए यह बात खतम, इसका सौदा नहीं होता।
लेकिन लोगों की आंखें ईर्ष्या से भर गयीं थी उस घोड़े के प्रति। लोग ख्याल में थे कि कब मौका मिल जाये। वह रात उस दिन उसने घोड़े को गांव के बाहर एक वृक्ष से बांधा और सो गया। सुबह उठा तो घोड़ा वहां नहीं था। शायद घोड़ा चोरी चला गया। कोई उसे ले गया, या क्या हुआ! गांव के लोगों में खबर फैल गयी कि वह शानदार घोड़ा चोरी चला गया। भीड़ वहां इकट्ठी हो गयी और वे उस सवार को कहने लगे कि बड़े दुख की बात है।
लेकिन वह सवार भागा गांव की तरफ और मिठाइयां खरीद लाया और वह जो भीड़ इकट्ठी थी उसको बांटने लगा और कहने लगा, भगवान को धन्यवाद दो।
पर वे लोग कहने लगे, बात क्या हुई है। घोड़ा चोरी गया, भगवान को धन्यवाद किस बात का?
उसने कहा, यही क्या उसकी कम कृपा है कि मैं घोड़े के ऊपर नहीं था, मैं नीचे सो रहा था। उसकी अनुकंपा के लिए प्रसाद बांटता हूं।
ऐसा आदमी उदास हो सकता है? ऐसे आदमी को बोझिल, भारग्रस्त और दुखी बनाया जा सकता है? नहीं, उसके जीवन का दृष्टिकोण वह है जो प्रफुल्लता को जन्म देगा। घोड़ा गया था चोरी, वह कहने लगा, मैं भी घोड़े के ऊपर हो सकता था, भगवान को धन्यवाद न दूं? उसकी बड़ी कृपा, उसकी अनुकंपा कि रात जब मैं सोया था तब घोड़ा चोरी गया।
क्या यह जीवन को देखने का एक ढंग नहीं हो सकता है? धार्मिक आदमी का यही ढंग होगा। अधार्मिक आदमी देखेगा घोड़ा चोरी चला गया, धार्मिक आदमी देखेगा मैं बच गया यही कुछ कम है।
जीवन को हम कैसा देखते हैं इस पर निर्भर है कि हम प्रफुल्लित होंगे या उदास, हम आनंदित होंगे या दुखी, हमारे प्राण अंधकार से भर जायेंगे या आलोक से! हम कैसे देखते हैं जीवन को? आशा की तरफ से, उज्जवल पक्ष से, वहां से जहां सफेद फूल खिलते हैं या वहां से जहां कांटे पैदा होते हैं। हम कहां से देखते हैं जीवन को? हम चांद तारों से नापते हैं जीवन को या गंदे डबरों से। हम कहां से जीवन का मापदंड इकट्ठा करते हैं?
मुदिता फलित होती है जब कोई व्यक्ति जीवन को आशावादी दृष्टि से देखना शुरू करता है। जिन लोगों ने निराशा से जीवन को देखा है वे उदास हो गये हैं। उन्हीं उदास लोगों से धर्म अपवित्र हो गया है। चाहिए इतनी खुशी, चाहिए इतनी मुस्कुराहट, चाहिए इतनी हंसी के फूल कि सारे मंदिर फिर से पवित्र हो सकें। नहीं तो, मंदिर उदासियों के अड्डे हैं। वहां की सारी हवा मरघटी हो गयी है। वहां जो लोग बैठे हैं वे मरे-मराये लोग हैं। वे करीब-करीब मर गये हैं और लाशें हैं। और उन्हीं लाशों के आसपास हमारा सारा व्यक्तित्व निर्मित किया जा रहा है।

नहीं, इसे पूर्ण इनकार की जरूरत है। इसके पूर्ण निषेध की जरूरत है। जोर से सारे जगत में धर्म के इस उदास रूप को तोड़ देने की जरूरत है। चाहिए एक हंसता हुआ, सूरज की बरसती रोशनी की तरह, एक मुस्कुराता हुआ जीवित धर्म-- जीवंत धर्म।
आपको मैं तीसरी सीढ़ी में कहना चाहता हूं कि जीवन को बनायें एक खुशी और प्रतिपल यह ध्यान रखें कि मैं कहीं ऐसा तो नहीं सोच रहा हूं, ऐसा तो नहीं जी रहा हूं जिससे उदासी फलित होगी, जिससे उदासी आ जायेगी।
रोम में एक सम्राट ने अपने बड़े वजीर को फांसी की आज्ञा दे दी थी। उस दिन उसका जन्मदिन था, वजीर का जन्मदिन था। घर पर मित्र इकट्ठे हुए थे। संगीतज्ञ आये थे, नर्तक थे, नर्तकियां थीं। भोज का आयोजन था, जन्मदिन था उसका। कोई ग्यारह बजे दोपहर के बाद सम्राट के आदमी आये। वजीर के महल को नंगी तलवारों ने घेरा डाल दिया। भीतर आकर दूत ने खबर दी, कि आपको खबर भेजी है सम्राट ने कि आज शाम छह बजे आपको गोली मार दी जायेगी।
उदासी छा गयी। छाती पीटी जाने लगीं। वह घर जो नाचता हुआ घर था एकदम से मुर्दा हो गया, सन्नाटा छा गया, नृत्य, गीत बंद हो गये, वाद्य शून्य हो गये। भोजन का पकना, बनना बंद हो गया। मित्र जो आये थे वे घबरा गये। घर में एकदम उदासी छा गयी। सांझ छह बजे, बस सांझ छह बजे आज ही मौत! सोचा भी नहीं था कि जन्मदिन मृत्यु का दिन बन जायेगा।
लेकिन वह वजीर, वह जिसकी मौत आने को थी, वह अब तक बैठा हुआ नृत्य देखता था। अब वह खुद उठ खड़ा हुआ और उसने कहा कि वाद्य बंद मत करो और अब नृत्य देखने से ही न चलेगा, अब मैं खुद भी नाचूंगा। क्योंकि आखिरी दिन है यह। फिर इसके बाद कोई दिन नहीं है। और सांझ को अभी बहुत देर है। और चूंकि यह आखिरी सांझ है, अब इसे उदासी में नहीं गंवाया जा सकता। अगर बहुत दिन हमारे पास होते तो हम उदास भी रह सकते थे। वह लक्जरी भी चल सकती थी। अब अवसर न रहा, अब उदास होने के लिए क्षण भर का अवसर नहीं है। बजने दो वाद्य, हो जाये नृत्य शुरू। आज हम नाच लें, आज हम गीत गा लें, आज हम गले मिल लें, क्योंकि यह दिन आखिरी है।
लेकिन वह घर तो हो गया था उदास। वे वाद्यकार हाथ उठाते भी तो वीणा न बजती। उनके हाथ तो हो गये थे शिथिल। वे चौंककर देखने लगे। वह वजीर कहने लगा, बात क्या है? उदास क्यों हो गये हो?
वे कहने लगे कि, मौत सामने खड़ी है, हम कैसे खुशी मनायें?
तो उस वजीर ने कहा, जो मौत को सामने देखकर खुशी नहीं मना सकता वह जिंदगी में कभी खुशी नहीं मना सकता। क्योंकि मौत रोज ही सामने खड़ी है। मौत तो रोज ही सामने खड़ी है। कहां था पक्का यह कि मैं सांझ नहीं मर जाऊंगा? हर सांझ मर सकता था। हर सुबह मर सकता था। जिस दिन पैदा हुआ उस दिन से ही किसी भी क्षण मर सकता था। पैदा होने के बाद अब एक ही क्षण था मरने का जो कभी भी आ सकता था। मौत तो हर दिन खड़ी है। मौत तो सामने है। अगर मौत को सामने देखकर कोई खुशी नहीं मना सकता तो वह कभी खुशी नहीं मना सकता। और वह वजीर कहने लगा, और शायद तुम्हें पता नहीं है, जो मौत के सामने खड़े होकर खुशी मना लेता है उसके लिए मौत समाप्त हो जाती है। उससे मौत हार जाती है, जो मौत के सामने खड़ा होकर हंस सकता है।
मजबूरी थी। वह वजीर तो नाचने लगा तो वाद्य-गीत शुरू हुए थके और कमजोर हाथों से। नहीं, सुर-साज नहीं बैठता था। उदास थे वे लोग, लेकिन फिर भी जब वह नाचने लगा था... ।
सम्राट को खबर मिली, वह देखने आया। इसकी तो कल्पना भी न थी। जानकर ही जन्मदिन के दिन यह खबर भेजी गयी थी कि कोई गहरा बदला चुकाने की इच्छा थी कि जब सब खुशी का वक्त होगा तभी दुख की यह खबर गहरा से गहरा आघात पहुंचा सकेगी। जब सारे मित्र इकट्ठे होंगे तभी यह खबर--यह बदले की इच्छा थी। लेकिन जब दूतों ने खबर दी कि वह आदमी नाचता है और उसने कहा है कि चूंकि सांझ मौत आती है इसलिए अब यह दिन गंवाने के लायक न रहा, अब हम नाच लें, अब हम गीत गा लें, अब हम मिल लें। अब जितना प्रेम मैं कर सकता हूं कर लूं और जितना प्रेम तुम दे सकते हो दे लो, क्योंकि अब एक भी क्षण खोने जैसा नहीं है।

सम्राट देखने आया। वजीर नाचता था। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे उस घर की सोई हुई आत्मा फिर जग गयी थी। वाद्य बजने लगे थे, गीत चल रहे थे।
सम्राट देखकर हैरान हो गया! वह उस वजीर से पूछने लगा, तुम्हें पता चल गया है कि सांझ मौत है और तुम हंस रहे हो और गीत गा रहे हो?
तो उस वजीर ने कहा, आपको धन्यवाद! इतने आनंद से मैं कभी भी न भरा था जितना आज भर गया हूं और आपकी बड़ी कृपा कि आपने आज के दिन ही यह खबर भेजी। आज सब मित्र मेरे पास थे, आज सब वे मेरे निकट थे जो मुझे प्रेम करते हैं और जिन्हें मैं प्रेम करता हूं। इससे सुंदर अवसर मरने का और कोई नहीं हो सकता था। इतने निकट प्रेमियों के बीच मर जाने से बड़ा सौभाग्य और कोई नहीं हो सकता था। आपकी कृपा, आपका धन्यवाद! आपने बड़ा शुभ दिन चुना है, फिर मेरा यह जन्मदिन भी है। और मुझे पता भी नहीं था--बहुत जन्मदिन मैंने मनाये हैं, बहुत-सी खुशियों से गुजरा हूं लेकिन इतने आनंद से भी मैं भर सकता हूं, इसका मुझे पता नहीं था। यह आनंद की इतनी इन्टेंसिटी, तीव्रता हो सकती है मुझे पता नहीं था। आपने सामने मौत खड़ी करके मेरे आनंद को बड़ी गहराई दे दी। चुनौती और आनंद एकदम गहरा हो गया। आज मैं पूरी खुशी से भरा हुआ हूं, मैं कैसे धन्यवाद करूं?
वह सम्राट अवाक खड़ा रह गया। उसने कहा कि ऐसे आदमी को फांसी लगाना व्यर्थ है, क्योंकि मैंने तो सोचा था कि मैं तुम्हें दुखी कर सकूंगा। तुम दुखी नहीं हो सके, तुम्हें मौत दुखी नहीं कर सकती तो तुम्हें मौत पर ले जाना व्यर्थ है। तुम्हें जीने की कला मालूम है, मौत वापस लौट जाती है। जिसे भी जीने की कला मालूम है वह कभी भी नहीं मरा है, और न मरता है, न मर सकता है। और जिसे जीने की कला मालूम नहीं वह केवल भ्रम में होता है कि मैं जी रहा हूं, वह कभी नहीं जीता, न कभी जीया है, न जी सकता है। उदास आदमी जी ही नहीं रहा है, न जी सकता है। उसे जीवन की कला का ही पता नहीं। केवल वे जीते हैं जो हंसते हैं, जो खुश हैं, जो प्रफुल्लित हैं, जो जीवन के छोटे से छोटे कंकड़-पत्थर में भी खुशी के हीरे-मोती खोज लेते हैं, जो जीवन के छोटे-छोटे रस में भी परमात्मा की किरण को खोज लेते हैं, जो जीवन के छोटे-छोटे आशीषों में, जीवन के छोटे-छोटे आशीषों की वर्षा में भी प्रभु की कृपा का आनंद अनुभव कर लेते हैं। केवल वे ही जीते हैं। केवल वे ही जीते हैं! केवल वे ही सदा जीये हैं और कोई भी आदमी जिंदा होने का हकदार नहीं है--जिंदा नहीं है। तो चाहिए एक फैली हुई प्रफुल्लता सुबह से सांझ तक, दिन में, रात में, सपनों में भी। चाहिए एक गीत जो सारे जीवन को घेर ले उठते-बैठते-चलते सारा जीवन एक नृत्य बन जाये, एक खुशी का आंदोलन; तो हम प्रभु के निकट पहुंचना शुरू होते हैं। सिर्फ हंसते हुए लोग ही उसके पास बुलाये जाते हैं, सिर्फ मुस्कुराते हुए लोगों को ही वह आमंत्रण मिलता है।
यह तीसरी बात--इसका तो प्रयोग करेंगे तो ही संभव हो सकता है। यह कैसे संभव होगा?
कल रात एक मित्र ने पूछा था, कि ध्यान में आंसू बहते हैं। हंसना भी आ सकता है?
बिल्कुल आ सकता है। कोई कठिनाई नहीं है। उसे भी रोकने की जरूरत नहीं है? अगर पूरे प्राण हंसने को, फूट पड़ने को तत्पर हों तो उसे भी रोकने की जरूरत नहीं है। ध्यान में वह भी संभावना घटित हो सकती है। ध्यान दमन नहीं है, आंसू हो या मुस्कुराहट जो भी प्रगट हो जाना चाहे, जो भी फैल जाना चाहे, उसे मुक्त छोड़ देना है। जरा भी भय नहीं लेना है। प्राण जैसा होना चाहे छोड़ देना है। एक बार तो हम कभी कुछ क्षणों के लिए छोड़ दें प्राणों को कि वह जैसा होना चाहे। और तब उस सरलता से, उस सरलता से प्राणों की वास्तविकता तक पहुंचना हो सकता है। इस तीसरे सूत्र को ध्यान में लेंगे और इसका प्रयोग जीवन में फैला देंगे।
अब हम सुबह के ध्यान के लिए बैठें।
चुपचाप बैठ जायें। आज तीसरा दिन है। सुबह का यह ध्यान आखिरी होगा। पूरी शक्ति से इस प्रयोग को करना है। कुछ मित्र पूरी शक्ति से इस प्रयोग को कर रहे हैं और उसके परिणाम हैं। कुछ मित्र पूरी शक्ति नहीं लगा रहे हैं। न मालूम कितने-कितने तरह के भय हैं। रोक लेते हैं। दूसरे की फिक्र

छोड़ दें। आपके भीतर कुछ हो उसकी चिंता करें। यह कुछ ऐसी बात नहीं है कि हम तमाशा देख सकें, कि हम बाहर से खड़े होकर देख सकें कि किसको क्या हो रहा है। यह तो आपके अपने भीतर कुछ होगा तो ही जान पायेंगे। इसलिए किसी की फिक्र न करें कि कोई आया है, दूसरा है। यहां कोई दूसरा नहीं है। आप अकेले हो जायें और होने दें पूरी शक्ति से प्रयोग को।
सबसे पहले शरीर को हम आराम से शिथिल छोड़कर बैठे हैं। जिन्हें आंख बंद करनी हो वे आंख बंद कर लें। जिन्हें आधी नासाग्र दृष्टि रखने में कोई तकलीफ न होती हो वे नासाग्र दृष्टि रखें, नाक का अगला भाग भर दिखायी पड़ता रहे। इतनी आंख खुली रहे। अगर उसमें जरा भी तनाव मालूम पड़ता हो तो आंख बंद रखें। फिर बिल्कुल शांत अपने को छोड़ दें।
आज पूरी शक्ति लगानी है। जरा भी रुकावट नहीं डालनी है, कोई भय नहीं लाना है। क्योंकि कल सुबह फिर हम यहां बैठने को न होंगे। छोड़ दें शांत, ढीला।
फिर अपने मन को पूछें पूरे संकल्प के साथ, पूरी शक्ति, पूरे प्राण से
कि मैं कौन हूं। गूंज जाये यह आवाज पूरे व्यक्तित्व में, पूरे रोयें-रोयें तक यह खबर पहुंच जाये कि मैं कौन हूं। एक-एक रोयां खड़ा हो जाये और कंप जाये और पूछने लगे कि मैं कौन हूं।
पूछते चले जायें अपने भीतर मैं कौन हूं, मैं कौन हूं, मैं कौन हूं। इस पूरे सरू वन को घेर लें, यह सागर का गर्जन छोटा मालूम पड़ने लगे। सारी शक्ति लगा दें। जैसे कोई पानी में कूद पड़ता है पूरे शरीर को लेकर, ऐसा कूद पड़ें इस जिज्ञासा में कि मैं कौन हूं।
तीव्रता से, तेजी से पूछते चले जायें, मैं कौन हूं। एक क्षण का विराम नहीं। अकेले हैं आप। प्रत्येक अकेला है। दस मिनट के लिए अब पूछें सतत। टकरायें प्राणों से ताकि भीतर-भीतर खुदाई होती चली जाये। कुआं खुदता चला जाये, मैं कौन हूं, मैं कौन हूं।
आखिर तक पूछना है प्राणों की बिल्कुल गहराई तक, मैं कौन हूं। वहां है उत्तर, वह आयेगा। लेकिन पूछें, मैं कौन हूं, मैं कौन हूं, मैं कौन हूं... !

साधना पथ
तीसवां प्रवचन

प्रभु-मंदिर का चौथा द्वार: उपेक्षा

प्रभु के मंदिर के चौथे द्वार पर हम खड़े हो गये हैं। उस द्वार पर लिखा हैः उपेक्षा, इंडिफरेंस। करुणा, मैत्री और मुदिता के बाद जो द्वार पार करना होता है साधक को, वह द्वार है उपेक्षा। और बड़ी कठिनाई होगी यह समझने में कि करुणा, मैत्री और मुदिता सीख लेने के बाद उपेक्षा का, इंडिफरेंस का क्या अर्थ होता है?
परमात्मा की दिशा में जो गतिमान होना चाहते हैं, उन्हें निश्चित परमात्मा से विरोधी, जो कुछ है उसके प्रति उपेक्षा का भाव ग्रहण करना होता है। सत्य की दिशा में जो जानना चाहते हैं उन्हें जो असत्य है उसके प्रति उपेक्षा का भाव ग्रहण करना होता है। सार की जो खोज में लगे हैं, असार के प्रति उन्हें उपेक्षा दिखानी पड़ती है। इन तीन द्वारों को पार करने के बाद भी मनुष्य के मन के आसपास बहुत कुछ व्यर्थ, कचरा-कूड़ा इकट्ठा रहता है। उस सारे कूड़े-कचरे को भी इस चौथे द्वार के बाहर ही छोड़ देना होता है, क्योंकि परमात्मा के पास कुछ भी लेकर नहीं जाया जा सकता है--परिपूर्ण, शून्य और खाली होकर जाना होता है। यहां अंतिम वस्त्र भी छोड़ देने होते हैं।
चौथे द्वार पर सब-कुछ छोड़ देना होता है--सारे वस्त्र, सारे मुखौटे, सारा व्यक्तित्व जिसे हमने कल तक मूल्यवान समझा था, जिसे कल तक हमने संवारा, सजाया था, जिसे कल तक हमने बहुत आयोजन से संगृहीत किया था। वह सारा का सारा व्यक्तित्व चौथे द्वार के बाहर ही छोड़ देना होता है। सब कुछ छोड़कर ही इस चौथे द्वार में प्रवेश मिलता है, इसलिए यह उपेक्षा की अग्नि में वह सब कुछ जला देना होता है जो असार है, जो व्यर्थ है और हमें घेरे हुए है। उपेक्षा नकारात्मक है। जिन तीन द्वारों की हमने बात की वे विधायक थे, पॉजिटिव थे। वे तीन द्वार करुणा, मैत्री, मुदिता तीनों ही विधेयक गुण थे। उपेक्षा कोई विधेयक गुण नहीं है। वे तीनों गुण भीतर से प्रगट करने के लिए थे। यह चौथा गुण भीतर से प्रगट करने को नहीं है। यह तो हमारे बाहर जो व्यर्थ, असार इकट्ठा हो जाता है जन्म-जन्म की यात्रा में; उस सबके निषेध के लिए है, उस सबको छोड़ देने के लिए है।
चौथा यह द्वार अत्यंत निगेटिव, अत्यंत नकारात्मक है। जैसे स्वर्ण को शुद्ध और निखर आने के पहले अग्नि से गुजरना पड़ता है ताकि जो व्यर्थ है, जो स्वर्ण नहीं है वह जल जाये और स्वर्ण पूरी तरह शुद्ध हो सके। वैसे ही अंतिम घ.ड़ी को, उपेक्षा की अग्नि से साधक को निकलना पड़ता है ताकि जो व्यर्थ है वह छूट जाये, नष्ट हो जाये। और जो नष्ट नहीं हो सकता है--वही छूट सकता है--केवल वही शेष रह जाये!
अग्नि से गुजरने से स्वर्ण को पता चलता है कि मेरे भीतर कुछ है जो नष्ट नहीं हो सकता है और कुछ था जो नष्ट हो गया है। वह स्वर्ण नहीं था, वह मेरा स्वभाव नहीं था, वह मेरी आत्मा नहीं थी। जो बच रहा है वही मैं हूं। अग्नि से गुजरकर ही ज्ञात होता है कि क्या है मेरे भीतर सत्य, और क्या था मेरे भीतर व्यर्थ, उपेक्षापूर्ण। उपेक्षा से गुजरकर ही ज्ञात होता है, जो बचा रहता है--वही परमात्मा तक जा सकता है। और जो जल जाता है और समाप्त हो जाता है, राख हो जाता है, वह द्वार पर छूट जाता है।
उपेक्षा का क्या अर्थ है? इस अर्थ को समझाने के पहले मैं एक कहानी कहूं, ताकि वह अर्थ ख्याल में आ सकें।
जापान का एक छोटा-सा गांव था। उस गांव में एक युवा संन्यासी आया था, बहुत सुंदर, बहुत स्वस्थ, बहुत महिमाशाली। उसकी प्रतिभा का प्रकाश शीघ्र ही दूर-दूर तक फैल गया। उसकी सुगंध ने बहुत-से लोगों के मन को लुभा लिया। गांव का वह प्यारा हो गया। वर्ष बीते, दो वर्ष बीते, वह उस गांव का प्राण बन गया। उसकी पूजा ही पूजा थी।
लेकिन एक दिन सब उल्टा हो गया। सारा गांव उसके प्रति निंदा से भर गया। सुबह ही थी, अभी सर्दी के दिन थे। सारा गांव उस फकीर के झोपड़े की तरफ चल पड़ा। उन्होंने जाकर उस फकीर के झोपड़े में आग लगा दी। वह फकीर बैठा हुआ था

बाहर, धूप लेता था। वह पूछने लगा, क्या हो गया है, क्या बात है, आज सुबह ही सुबह इतनी भीड़, आज सुबह ही सुबह इस भीड़ का आग लगा देना? हो क्या गया है, बात क्या है?
भीड़ में से एक आदमी आगे आया और एक छोटे-से बच्चे को लाकर उस संन्यासी
की गोद में पटक दिया और कहा, हमसे पूछते हो क्या बात है? इस बच्चे को पहचानो!
उस संन्यासी ने गौर से देखा और उसने कहा, अभी मैं अपने को ही नहीं पहचानता तो इस बच्चे को कैसे पहचान सकूंगा? कौन है यह बच्चा, मुझे पता नहीं!
लेकिन भीड़ हंसने लगी और पत्थर फेंकने लगी और कहा बहुत नादान और भोले बनते हो। इस बच्चे की मां ने कहा है, कि यह बच्चा तुमसे पैदा हुआ है और इसलिए हम सारे गांव के लोग इकट्ठे हुए हैं। हमने तुम्हारी जो प्रतिमा बनायी थी वह खंडित हो गयी। हमने तुम्हें जो पूजा दी थी वह हम वापस लेते हैं और नगर में हम तुम्हारा मुंह दुबारा देखना नहीं चाहते हैं।
उस संन्यासी ने उनकी तरफ देखा। इतनी प्यार से भरी हुई आंखें, उसकी आंखें तो सदा प्यार से भरी रहती हैं, लेकिन उस दिन उसका प्यार देखने जैसा था। लेकिन वे लोग नहीं पहचान सके उस दिन उस प्यार को, क्योंकि वे इतने क्रोध से भरे थे कि प्यार की खबर उनके हृदय तक नहीं पहुंच सकती थी। नहीं पहचान सके उस दिन उन आंखों को जिनसे करुणा छलक पड़ती थी, क्योंकि अंधे सूरज को कैसे देख सकते हैं? सूरज खड़ा रहे द्वार पर और अंधे वंचित रह जाते हैं। उस दिन वे अंधे थे क्रोध में, निंदा में। उस दिन नहीं दिखायी पड़ा उस संन्यासी का प्रकाश।
वह संन्यासी हंसने लगा। फिर वह बच्चा रोने लगा। फिर उसकी गोद में गिर पड़ा। वह उस बच्चे को समझाने लगा और उन लोगों ने पूछा, कहो, यह तुम्हारा बच्चा है? है न?
उस संन्यासी ने सिर्फ इतना कहा, इ.ज इट सो, ऐसी बात है? आप कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे, फिर वे गांव के लोग वापस लौट गये।
फिर दोपहर में वह संन्यासी भीख मांगने उस गांव में निकला। कौन देगा उसे? लेकिन वे लोग जो उसके चरण छूने को लालायित होते, वे लोग जो उसके चरणों की धूलि उठाकर माथे से लगाते थे, उन्होंने उसे देखकर अपने द्वार बंद कर लिये। लोगों ने उसके ऊपर थूका, पत्थर और ढेले फेंके और वह संन्यासी चिल्लाकर उस गांव में कहने लगा कि होगा कसूर मेरा, लेकिन उस भोले बच्चे का कोई कसूर नहीं। कम से कम इसे दूध तो मिल जाये। लेकिन यह गांव बहुत कठोर हो गया है। उस गांव में बच्चे को भी दूध देने वाला कोई न था। फिर वह उस घर के सामने जाकर खड़ा हो गया जिस घर की लड़की ने यह कहा था, कि यह बच्चा संन्यासी से पैदा हुआ था। वह वहां चिल्लाने लगा कि कम से कम इस बच्चे के लिए दूध मिल जाये।
वह लड़की बाहर आई और अपने पिता के पैर पर गिर पड़ी और उसने कहा, क्षमा करना। इस संन्यासी से मेरा कोई संबंध नहीं है। मैंने तो इस लड़के के असली बाप को बचाने के लिए संन्यासी का झूठा नाम दे दिया था। भीड़ इकट्ठी हो गयी। बाप उस संन्यासी के पैर पर गिरने लगा और कहने लगा, लौटा दो इस बच्चे को। नहीं-नहीं, यह बच्चा आपका नहीं है।
तो संन्यासी पूछने लगा--इ.ज इट सो? नहीं है मेरा? ऐसा है क्या, मेरा नहीं है यह बच्चा?
वे लोग कहने लगे, तुम हो कैसे पागल! तुमने सुबह ही क्यों न कहा कि यह बच्चा मेरा नहीं है।
वह संन्यासी कहने लगा, इससे क्या फर्क पड़ता है। बच्चा किसी का तो होगा। इससे क्या फर्क पड़ता है कि बच्चा किसका है। बच्चा बच्चा है, इतना ही साफ है, इतना ही काफी है और इससे क्या फर्क पड़ता था? तुमने एक झोपड़ा तो जला ही दिया था और एक आदमी को तो गालियां दे ही चुके थे। अब मैं और कहता कि मेरा नहीं है तो तुम एक झोपड़ा शायद और जलाते, किसी एक आदमी को और गालियां देते। उससे फर्क क्या पड़ता था?

पर वे लोग कहने लगे कि तुम हो कैसे पागल! तुम्हारी सारी इज्जत मिट्टी में मिल गयी और तुम चुपचाप बैठे रहे जबकि बच्चा तुम्हारा नहीं था।
वह संन्यासी कहने लगा, कि उस इज्जत की अगर हम फिक्र करते तो चौथे दरवाजे पर ही रुक जाते। नहीं, उस इज्जत की कोई चिंता नहीं है, उसकी कोई अपेक्षा नहीं है। वह तुम्हारा जो आदर तुमने दिया था, हमारी तरफ से मांगा नहीं गया था और चाहा नहीं गया था। तुमने छीन लिया, तुम्हारा दिया हुआ आदर था, तुम्हारे हाथ की बात थी, न हमने मांगा था, न छीनते वक्त हम रोकने के हकदार थे। नहीं, वह कहने लगा चौथे द्वार पर हम रुक जाते। गांव के लोग पूछने लगे, कौन-सा चौथा द्वार?
उसी चौथे द्वार की मैं आपसे बात कर रहा हूं और उस चौथे द्वार पर लिखा
है उपेक्षा, इंडिफरेंस। जीवन में जो व्यर्थ है उसके प्रति उपेक्षा। उस युवा संन्यासी ने अदभुत उपेक्षा प्रकट की। नहीं, जरा भी चिंता न की इस बात की कि लोग क्या कहेंगे, पब्लिक ओपीनियन, जनमत क्या कहेगा!
जो आदमी जनमत के संबंध में सोचता रहता है, वह कभी परमात्मा तक नहीं पहुंचता है इसे स्मरण रख लेना। लोग क्या कहेंगे? इससे ज्यादा कमजोर, इस बात को सोचने से ज्यादा नपुंसक कोई वृत्ति नहीं है कि लोग क्या कहेंगे। जो लोग भी इस चिंता में पड़ जाते हैं कि लोग क्या कहेंगे, वे भीड़ में जो असत्य है उन्हीं असत्यों में मर जाते हैं, वे कभी सत्य की खोज नहीं कर पाते। सत्य की खोज के लिए भीड़ से मुक्त हो जाना जरूरी है, वह जो क्राउड है हमारे चारों तरफ, जो भीड़ है हजारों-हजारों साल की, वह जो कलेक्टिव माइंड है, वह जो हजारों साल का बना हुआ चित्त है, वह चित्त अत्यंत असत्यों से संस्कारित है। वही जनमत बन जाता है। वही कहता है यह गलत है, वह गलत है, यह सही है; इसे देंगे आदर, इसे नहीं देंगे आदर। जो उससे आदर की अपेक्षा करेगा, जो उससे सम्मान चाहेगा वह सदा झूठ के गड्ढे में ही बंधा रहेगा और उसी में मर जायेगा।
नहीं, जो सत्य की खोज में चले हैं उन्हें आदर की क्या अपेक्षा हो सकती है, सम्मान की क्या अपेक्षा हो सकती है? वे सत्य के लिए अपमानित हो सकते हैं, असम्मानित हो सकते हैं, लेकिन असत्य के साथ सम्मानित होने को राजी नहीं हो सकते। यह बड़ी हैरानी की बात है कि हम जनमत से कितने भयभीत लोग हैं। हजारों लोग मंदिरों में सिर्फ इसलिए जाते हैं कि आसपास के लोग मंदिरों में जाते देखकर कहते हैं कि यह आदमी धार्मिक है। न उन्हें मंदिर में जाने से कोई प्रयोजन है, न उन्हें कोई अर्थ है, न मंदिर में उनके हृदय की कोई प्रार्थना गूंजती है। लेकिन आसपास के लोगों की आंखें कहती हैं कि जो आदमी मंदिर जाता है वह धार्मिक है। बस वे मंदिर चले जाते हैं और लौट आते हैं। ऐसे झूठे आदमी धर्म की दुनिया में कैसे प्रवेश कर सकते हैं? लोग कहते हैं बस, यही उनके सारे जीवन की फिलासफी है कि लोग क्या कहते हैं।
लोग क्या कहते हैं? और अगर लोगों को ही सत्य मिल गया हो तो दुनिया दूसरी हो गयी होती।
लोगों के हाथ में सत्य नहीं है। भीड़ के हाथ में सत्य की संपदा नहीं है। सत्य की संपदा हमेशा व्यक्ति को उपलब्ध होती है। भीड़ कभी एक साथ प्रभु के मंदिर में प्रविष्ट नहीं होती। एक-एक आदमी निजी एकांत में वहां प्रवेश करता है। तो जो आदमी भीड़ से बहुत भयभीत है वह आदमी इस चौथे मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकता। चौथे द्वार को पार नहीं कर सकता। यह चौथा द्वार इसलिए बहुत कठिन है।
सारा जगत कहता हो कि यह है सत्य और अगर आपको सत्य नहीं मालूम पड़ता तो
कर दें उपेक्षा उस पूरे जगत की, समस्त उस जनमत की--सारे जगत के कहने की, सारे जगत के कथन की। दुनिया के तीर्थंकर कहते हैं, अवतार कहते हों, बुद्ध पुरुष कहते हों, पैगंबर कहते हैं लेकिन आपका विवेक नहीं कहता है, तो कर दें उपेक्षा उस सारे सालों के इतिहास की और परंपरा की, तो ही आप सत्य के चौथे दरवाजे में प्रवेश कर सकते हैं, अन्यथा नहीं!
जो आदमी अपने विवेक को बेचकर और भयभीत होता है और कहता है, लोग कहते हैं इसलिए मानता हूं, महावीर कहते हैं इसलिए मानता हूं, कृष्ण कहते हैं इसलिए मानता हूं, महात्मा कहते हैं इसलिए मानता हूं, जरथु्रस्त्र कहते

हैं इसलिए मानता हूं; जो आदमी इस भांति कहता है कि फलां कहता है इसलिए मानता हूं वह आदमी मानने की दुनिया में ही मर जायेगा। वह जानने के जगत में प्रविष्ट नहीं कर सकता। जिसे जानने तक पहुंचना है, ज्ञान तक; उसे मानने की सारी की सारी परंपरा को छिन्न-भिन्न कर देना होगा। उसे बड़ी गहरी उपेक्षा की जरूरत है, वह कह सके सारी दुनिया को कि ठीक, मैं इस रास्ते पर जाता हूं जो यह अकेले का रास्ता है। वे आंख हटा सकें सारी दुनिया से कि लोग क्या कहते हैं, यह पब्लिक ओपीनियन, यह जनता का मत, यह लोगों की भीड़ का कहना, यह मनुष्य की सत्य की खोज में अदभुत रूप से खतरनाक बाधा है, यह एक बहुत बड़े पहाड़ की तरह खड़ा हुआ है।
उपेक्षा चाहिए बड़ी तीव्र और गहरी इन्डिफरेंस चाहिए, टोटल इन्डिफरेंस चाहिए। अगर ठीक से समझें तो इस तरह की उपेक्षा को जो उपलब्ध होता है उसी को संन्यासी कहा जाता है। वही है जिसने रिनन्सिएशन किया, जिसने संन्यास लिया।
संन्यासी का अर्थ क्या है? संन्यासी का अर्थ है जिसने सत्य के अतिरिक्त अब सब कुछ मानना छोड़ दिया। जिसके लिए सत्य के अतिरिक्त अब और कुछ भी नहीं है। अब जो सत्य के पक्ष में है और शेष सबकी उपेक्षा है जिसके मन में। इस चौथे द्वार पर पहुंचकर जो व्यक्ति खड़ा हो जाता है, संन्यास के द्वार पर खड़ा है। अगर भीतर प्रविष्ट हो गया है तो वह दुनिया में चला गया है जहां संन्यासी जाते हैं। वह उस आकाश में उठ गया है जब सब सीमाएं टूट जाती हैं और व्यक्ति पार हो जाता है।
हिंदू हूं मैं, मुसलमान हूं मैं, ईसाई हूं मैं, जैन हूं मैं, पारसी हूं मैं--जिनके मन ऐसे बंधे हैं वे इस चौथे दरवाजे पर पार नहीं हो सकते। आज तक कोई हिंदू उस दरवाजे के पार नहीं हुआ, कोई मुसलमान पार नहीं हुआ, कोई ईसाई पार नहीं हुआ। वे लोग पार हुए हैं जो हिंदू, मुसलमान, ईसाई की बेवकूफी को दरवाजे के बाहर छोड़ देते हैं। जो पढ़ाया गया, सिखाया गया, जो मत, जो सिद्धांत, जो किताब पकड़ा दी गयी बचपन से, उपेक्षा से छोड़ देते हैं उसे, कि ठीक! अब हम जाते हैं उस जगह जहां हम जानना चाहते हैं और दूसरे के जानने का विश्वास करने को हम राजी नहीं हैं। है कठिन, है बहुत आरडुअस, बहुत कठिन, क्योंकि हमारे प्राणों की बहुत गहराई में, अनकांशस गहराई में, अचेतन गहराइयों में संस्कार है, कंडीशनिंग है। गहरे तक यह बात पैठी हुई है कि मैं हिंदू हूं, गहरे तक यह बात पैठी हुई है कि गीता में सत्य है, गहरे तक यह बात पैठी हुई है कि बाइबिल परम-ग्रंथ है, गहरे तक यह पैठा हुआ है कि वेद अपौरुषेय है और भगवान का लिखा हुआ है। इस पर कब सोचा आपने, कब जाना आपने? कब आपको पता चला यह?
नहीं, भीड़ दोहरा रही है और आप चुपचाप भीड़ की बात दोहरा रहे हैं। आप कोई ग्रामोफोन के रेकार्ड हैं? आम आदमी हैं या क्या हैं? आपने जाना कि जो बाइबिल में है वह सत्य है? नहीं, इसको हजार वर्ष से लेकर प्रचार किया जा रहा है, प्रोपेगेंडा किया जा रहा है कि बाइबिल में जो है वह सत्य है और जो बाइबिल की बात मानकर चलेगा वह प्रभु को उपलब्ध हो जायेगा, जो नहीं मानेगा वह नरक में सड़ेगा। सारी दुनिया में हजार तरह के लोग हजार तरह की बातें प्रोपेगेट कर रहे हैं; प्रोपेगेंडा कर रहे हैं; प्रचार कर रहे हैं।
इस चौथे दरवाजे पर सारे प्रचार के प्रति उपेक्षा जरूरी है और यह कहना जरूरी है कि चुप! बस, मैंने सुन ली सारी बातें, अब मैं उस खोज को जाता हूं जहां मैं जानूंगा। न ही मैं बाइबिल ले जाना चाहता अपने साथ, न गीता, न कुरान, न मैं कृष्ण का हाथ पकड़ना चाहता, न महावीर का, न बुद्ध का। हाथ मुझे भी दिये हैं भगवान ने, मैं अपने हाथ से खोज शुरू करता हूं। नहीं पकड़ूंगा किसी का हाथ, नहीं किसी गुरु का, नहीं किसी शास्त्र का। नहीं, मैं अकेले की उस यात्रा पर जाता हूं जहां परमात्मा प्रत्येक अकेले आदमी की प्रतीक्षा करता है; लेकिन इतनी उपेक्षा हमारे भीतर हो, हम गुरु को कह सकते हों कि क्षमा करो और मुझे अकेला जाने दो। अब नहीं मैं आपकी पूंछ पकड़कर चलूंगा। नहीं, अब कृपा करो! मुझे जाने दो। मैं अनुगमन नहीं करूंगा। अब मैं अपनी आंखों से, अपने पैरों से चलना चाहता हूं।

इतनी उपेक्षा की तैयारी हो भीतर कि हम गुरुओं को नमस्कार कर सकें, नमस्कार तो रोज करते हैं, पूर्ण नमस्कार--कि हम नमस्कार कर लेते हैं, अब हमें क्षमा कर दो, अब हम अपनी अकेली यात्रा पर जाने का साहस जुटाना चाहते हैं। बहुत अकेला है वह रास्ता, वहां कोई गुरु नहीं है। बहुत अकेला है वह रास्ता, वहां कोई गुरु नहीं है। बहुत अकेला है वह रास्ता, वहां कोई हाथ पकड़कर ले जाने वाला नहीं है। बहुत अकेला है वह रास्ता, वहां प्रत्येक व्यक्ति को अत्यंत अकेले होने का साहस--करेज टु बी अलोन! उपेक्षा का अर्थ है, अकेले होने का साहस।
एक चर्च में एक पादरी अपने सुनने वालों को करेज क्या है, साहस क्या है,
यह समझाता था। वह समझाता था कि साहस क्या है? उसने बताया कि अकेले होने का नाम साहस है। एक बच्चे ने पूछा, हमें थोड़ा किसी कहानी से समझा दें तो हम समझ जायें, किसी उदाहरण से। अकेले होने का क्या मतलब?
तो उस पादरी ने कहा, कि समझ लो कि तुम तीस विद्यार्थी हो और पहाड़ पर गये हो, पिकनिक के लिए, सैर के लिए, यात्रा के लिए। दिन भर तुमने यात्रा की। रात तुम थके-मांदे अपनी जगह ठहरने को आ गये हो। रात तुम इतने थक गये हो कि जल्दी से अपने बिस्तरे पर जाने की इच्छा है। तीस में से उन्तीस बच्चे अपने-अपने बिस्तरे पर कंबल ओढ़कर सो गये हैं, लेकिन एक बच्चा कोने में खड़े होकर प्रार्थना कर रहा है। रात्रि की अंतिम प्रार्थना। ठंडी रात, दिन भर का थका हुआ बच्चा और उन्तीस बच्चों ने टेम्पटेशन दिया उसको कि मैं भी सो जाऊं। उन्तीस सो गये हैं अपने-अपने बिस्तरे में। नहीं, लेकिन वह उन्तीस को इनकार करता है और एक कोने में खड़े होकर अपनी रात्रि-कालीन प्रार्थना पूरी करता है। इसको, उस पादरी ने कहा--मैं कहता हूं साहस।
फिर एक महीने बाद वह पादरी उस चर्च में वापस आया और उसने कहा कि बच्चो! मैंने पहली बार तुम्हें साहस के संबंध में कुछ समझाया था। क्या तुम याद कर सकते हो कि मैंने क्या समझाया था?
जिस बच्चे से पूछा था उसने खड़े होकर कहा, आपने कहा था अकेले होने का साहस, यही अकेले होने की हिम्मत। बस यही धार्मिक आदमी का लक्षण है।
उस पादरी ने पूछा, कि मैंने तुम्हें एक घटना भी समझायी थी, क्या तुम दोहरा सकते हो?
उस बच्चे ने कहा, हमने उस घटना को और अच्छा बना लिया है।
उस पादरी ने पूछा, मतलब?
उसने कहा, कि समझ लीजिए कि आप तीस संन्यासी हैं, किसी पहाड़ पर गये हुए हैं। तीस पादरी पहाड़ पर गये हुए हैं। दिन भर के थके-मांदे, भूखे आप रात को घूमकर अपने स्थान पर वापस लौटे हैं। उन्तीस पादरी ठंड में कांपते हुए एक-दूसरे के डर से प्रार्थना कर रहे हैं और एक कंबल के भीतर जाकर सो गया है। तो आपने समझाया था, यह है साहस, और निश्चित ही पहले वाले मामले से दूसरे वाले मामले में ज्यादा साहस की जरूरत है।
लेकिन धार्मिक आदमी को गहरे से गहरे साहस को, अकेले होने के साहस को जुटाना पड़ता है। और उपेक्षा का मैं मतलब यह लेता हूं कि आप इतने आत्म-विश्वास से भर गये हैं कि सारे जगत के मत की उपेक्षा कर सकते हैं। और धार्मिक आदमी आत्म-विश्वास से ही निर्मित होता है, सेल्फ-कान्फिडेंस से निर्मित होता है। जितना आत्म-विश्वास से भरा व्यक्ति होगा उतना ही सारे जगत के प्रति, लोग क्या कहते हैं, परंपरा क्या कहती है, रूढ़ियां क्या कहती हैं, शास्त्र क्या कहते हैं, गुरु क्या कहते हैं; इस सबके प्रति भी उपेक्षा कर सकता है। जितना आत्म-विश्वास कम होगा उतनी ही उपेक्षा जुटानी मुश्किल है। आत्म-विश्वास बिल्कुल नहीं होगा तो वह आदमी कभी भी उपेक्षा के द्वार से पार नहीं हो सकता है।
धार्मिक मनुष्य का आत्म-विश्वास ही सहारा है, लेकिन क्या आपने सोचा
कि जब आप जनमत की उपेक्षा नहीं कर पाते हैं तो आप अपने आत्म-विश्वास की हत्या कर रहे हैं, आप अपने बल को तोड़ रहे हैं। जब भी झुकते हैं असत्य के लिए, मत के लिए, भीड़ के लिए तभी आप परमात्मा की विपरीत दिशा में यात्रा कर रहे हैं।

नहीं, जो आपका विवेक कहता है उसके अतिरिक्त सारी चीजें उपेक्षा कर देने जैसी हैं। जो आपकी चेतना कहती है उसका अनुसरण करना है, किसी दूसरे का अनुगमन नहीं। लेकिन हमारे ऊपर तो हजारों साल में ज्ञान थोपा गया है। बड़े मजे की बात है कि ज्ञान भी जैसे थोपा जा सकता है किसी के ऊपर। ज्ञान कोई वस्त्र तो नहीं है कि हम पहन लें और ज्ञानी हो जायें। लेकिन आज तक पृथ्वी पर यही हुआ है। ज्ञान को भी हमने वस्त्रों की तरह मान रखा है। उसको हम पहन लेते हैं और ज्ञानी हो जाते हैं। किताबें पढ़ लेते हैं और ज्ञानी हो जाते हैं। हजार साल की जो थाती है उसको पकड़ लेते हैं और ज्ञानी हो जाते हैं; जैसे कि ज्ञान भी बाहर से इकट्ठा किया जा सकता है?
नहीं, ज्ञान तो आता है भीतर से, लेकिन जो बाहर के ज्ञान को पकड़ लेते हैं उनके भीतर कभी नहीं आ पाता। ज्ञान तो आता है वहां से जहां हमारे प्राणों का मूल स्रोत है, लेकिन हम ज्ञान खोजते हैं किताबों में, शास्त्रों में, शब्दों में। उस ज्ञान को जो पकड़कर बैठ जाते हैं वे पंडित हो जाते हैं, ज्ञानी कभी नहीं हो पाते। पंडित और ज्ञानी सदा के दुश्मन हैं। पंडित और ज्ञानी में कभी कोई मेल नहीं रहा, आगे भी कभी होने की संभावना नहीं है। पंडित, ज्ञानी होने का धोखा है। पंडित है डिसेप्शन, पंडित है एक हिपोक्रेसी, एक पाखंड। उसे कुछ भी पता नहीं है, लेकिन उसने कुछ बातें पता कर ली हैं और उन बातों को दोहराये चला जाता है, और समझता है कि मुझे पता है।
एक आदमी प्रेम के संबंध में किताब पढ़ ले और कहने लगे कि मुझे प्रेम का पता है, क्योंकि मैंने प्रेम के संबंध में सारी किताबें पढ़ी हैं। तो हम कहेंगे कि वह प्रेम का पंडित है, लेकिन प्रेमी नहीं है। प्रेम से वह कभी गुजरा ही नहीं। किताबें पढ़ने से फुर्सत मिलती तो प्रेम भी करता। प्रेम से गुजरने का मौका नहीं आया, लेकिन किताबें उसने प्रेम के संबंध में सारी पढ़ ली हैं।
जैसे कोई तैरने के संबंध में शास्त्र पढ़ ले, आप भूल से उसको समुद्र में धक्का दे दें, तो जो उसकी गति हो जायेगी सत्य के सागर में, पंडित की भी वही गति हो जाती है। किताब उसने पढ़ी थी तैरने के बाबत। वह समझा सकता था कि तैरने की कला क्या है, तैरने की टेक्नीक क्या है, वह समझा सकता था, तैरने पर भाषण दे सकता था, वह तैरने पर पी-एचड़ी. लिख सकता था, लेकिन तैर नहीं सकता था।
तैरना एक बात है, तैरने के संबंध में जान लेना दूसरी बात है। ज्ञान एक बात है, ज्ञान के संबंध में जान लेना दूसरी बात है। परमात्मा को जानना एक बात है, और परमात्मा के संबंध में जानना बिल्कुल दूसरी बात है।
जिन लोगों को यह चौथा द्वार पार करना है उन्हें सीखे हुए ज्ञान के प्रति उपेक्षा कर देनी पड़ेगी। पहली उपेक्षा भीड़ के प्रति, मत के प्रति आवश्यक है। दूसरी उपेक्षा परंपरा से मिले हुए ज्ञान के प्रति जरूरी है। वह जो ज्ञान हमने सीख लिया है, जो कल्टीवेटेड है। बचपन से ही हमें सिखायी जा रही हैं बातें! कोई हमसे पूछता तो नहीं कि तुम कुछ जानते हो; लेकिन सिखा हमें सभी लोग रहे हैं। और बचपन से ही आदमी सीखना शुरू कर देता है। तोते की तरह सारी बातें उसे मालूम हो जाती हैं। उससे पूछो, परमात्मा है? वह कहेगा है। उससे पूछो आत्मा है? वह कहेगा है। लड़ने-झगड़ने को राजी हो जायेगा अगर कोई कह दे कि परमात्मा नहीं है, लेकिन कोई कभी पूछता नहीं कि तुझे पता कहां से चल गया है परमात्मा का। यह तुमने जाना कहां से कि आत्मा है? वह कहेगा, मेरे पिताजी ने ऐसा कहा था और पिताजी भी कहेंगे कि मेरे पिताजी ने ऐसा कहा और उनके पिताजी भी यही कहेंगे और पिताजी के पिताजी को आप पूछते चले जायें तो आप पायेंगे कि उनके पिताजी ने ऐसा कहा था।
कहीं ज्ञान इस तरह ट्रांसफर होता है? यह कोई मकान है, जमीन जायदाद है? बुद्ध एक बार एक जंगल में बैठे हुए थे और एकदम जंगल में जैसे एक भूकंप
आ अया। सारे जानवर बुद्ध के सामने से भागते हुए निकले। थोड़ी देर तो वह बैठे देखते रहे कि मामला क्या है? लेकिन जब उन्हें दिखा कि पूरे जंगल के पशु-पक्षी सभी भागे जा रहे हैं एक दिशा में तो उन्हें भी थोड़ी हैरानी हुई। उन्होंने एक हिरण को पकड़कर पूछा कि बात क्या है, कहां भागे जाते हो? उसने

कहा कि छोड़िये, इधर रुकने की फुर्सत नहीं है। आपको पता नहीं, आखिरी दिन आ गया है दुनिया का, सृष्टि नष्ट होने के करीब है! महाशय! प्रलय आ रहा है! लेकिन बुद्ध ने पूछा कि तुझे कहा किसने? उसने कहा, वह जो लोग आगे जा रहे हैं। आगे वाले के पीछे बुद्ध भागकर पहुंचे, उन्हें रोका, पकड़ा, पूछा कि जा कहां रहे हो? शेर भी भागे जा रहे हैं, हाथी भी भागे जा रहे हैं। जाते कहां हो मित्र? उन्होंने कहा कि आपको पता नहीं महाशय! प्रलय आ रहा है? लेकिन बताया किसने? उन्होंने कहा कि वे लोग जो आगे जा रहे हैं। बुद्ध भागते-भागते बहुत परेशान हो गये, क्योंकि जो भी मिला उसने कहा, जो लोग आगे जा रहे हैं।
आखिर में, सबसे आखिर में खरगोशों की एक भीड़ मिली। उनसे बुद्ध ने पूछा, दोस्तो! कहां भागे चले जा रहे हो? उनकी तो हालत समझ सकते हैं। जब शेर और हाथी भाग रहे हैं तो बेचारे खरगोश! उन खरगोशों ने तो रुकने की भी हिम्मत नहीं की। भागते-भागते चिल्लाया कि वह जो आगे है आगे, वह खरगोश था उनका नेता। बुद्ध ने बामुश्किल उसको पकड़ा और पूछा कि दोस्त! कहां भाग रहे हो? उसके आगे अब कोई भी नहीं था। उसने कहा, कहां भाग रहा हूं? महाप्रलय होने वाली है। किसने तुझे कहा? उसने कहा, किसी ने कहा नहीं, ऐसा मुझे अनुभव हुआ। अनुभव तुझे हुआ?
मैं एक वृक्ष के नीचे सो रहा था, दोपहर ठंडी-ठंडी हवाएं चल रही थीं। छाया में सोया हुआ था, वह खरगोश कहने लगा, फिर एकदम से कोई जोर की आवाज हुई और मेरी मां ने मुझसे बचपन में कहा था, कि जब ऐसी आवाज होती है तो महाप्रलय आ जाता है। बुद्ध ने कहा उस खरगोश को, पागल किस वृक्ष के नीचे बैठा था? वह कहने लगा, आमों का वृक्ष था। बुद्ध ने कहा, कोई आम तो नहीं गिरा था? उसने कहा, यह भी हो सकता है। बेचारा खरगोश! आम भी काफी है गिर जाये तो। बुद्ध उसे लेकर वृक्ष के पास लौटे। वहां तो काफी आम गिरे थे। वह खरगोश कहने लगा, जरूर मैं इस जगह सोया हुआ था। ये आम ही गिरे होंगे। लेकिन मेरी मां ने मुझ से कहा था कि जब महाप्रलय होगी, बड़ी जोर से आवाज होगी। आवाज बड़ी जोर की थी। सारा जंगल भाग रहा था एक खरगोश के कहने से!
सारी दुनिया भाग रही है करीब-करीब ऐसे ही। हम भी अगर इस भांति भागते हैं इस जीवन में, एक आदमी खबर कर देता है, हिंदू-मुस्लिम दंगा हो गया, फिर कोई भी नहीं पूछता कि किस खरगोश ने यह हरकत शुरू की है। फिर गांव का मौलवी, पंडित, संन्यासी, धार्मिक, पूजा-पुजारी, माला फेरनेवाला, जनेऊवाला, तिलक-छापेवाले सब भागने लगते हैं। हिंदू-मुसलमान दंगा हो गया है!
सारी मनुष्य जाति अत्यंत मूढ़ता से भरी हुई है और इस मूढ़ता की बुनियाद में एक बात है--वह यह कि हम दिये हुए ज्ञान को पकड़ कर तृप्त हो जाते हैं। उसे स्वीकार कर लेते हैं। जो आदमी बाहर से आये हुए ज्ञान से चुपचाप राजी हो जाता है उस आदमी के भीतर वह घटना पैदा नहीं होती कि मेरा अपना ज्ञान पैदा हो सके। अपना ज्ञान पैदा होता है उस वैक्यूम, उस शून्य में जब आप बाहर के ज्ञान को इनकार कर देते हैं। कह देते हैं, नहीं, हमारे द्वार पर नहीं है प्रवेश इस ज्ञान का जो दूसरे का है। जो दूसरे का है वह हमारे लिए अज्ञान के ही बराबर है, अज्ञान से भी ज्यादा खतरनाक है। अज्ञान कम से कम अपना तो है। यह ज्ञान है दूसरे का। जो आदमी दूसरे के ज्ञान को कह देता है कि नहीं, अज्ञान है मेरा तो मेरे ज्ञान से ही टूट सकता है। इस गणित को बहुत गहराई में समझ लेना जरूरी है।
अज्ञान है मेरा तो मेरे ज्ञान से ही टूट सकता है, अज्ञान अगर दूसरे का होता तो दूसरे के ज्ञान से भी टूट सकता था। लेकिन अज्ञान है मेरा और ज्ञान है महावीर का, ज्ञान है बुद्ध का, ज्ञान है कृष्ण का। नहीं, किसी दूसरे के ज्ञान से आपका अज्ञान नहीं टूट सकता है--असंभव है! यह कभी भी संभव नहीं था और कभी संभव नहीं होगा। यह जीवन के शाश्वत नियमों में एक नियम है कि मेरा अज्ञान मेरे ज्ञान से टूटेगा, किसी दूसरे के ज्ञान से नहीं। इसलिए दूसरे के ज्ञान के प्रति उपेक्षा चाहिए, इन्डिफरेंस चाहिए। उस चौथे दरवाजे पर दूसरे से इकट्ठा किया सारा ज्ञान छोड़ देना पड़ता है, सारा ज्ञान छोड़ जाना पड़ता है। बड़ी पीड़ा होगी।

ज्ञान छोड़ने में बड़ी पीड़ा होती है, क्योंकि ज्ञान छोड़ने का मतलब है अज्ञानी बनना। ज्ञान बहुत रस देता है। दो-चार गीता के श्लोक कंठस्थ हैं, दो-चार उपनिषद के महान वाक्य याद हैं और बस, फिर ज्ञान हो गया। फिर और क्या कमी रह गयी ज्ञान में आपके? यह ज्ञान सिर्फ अहंकार की तृप्ति करता है, अज्ञान को तोड़ता नहीं। इसीलिए तो ज्ञानी इतने अहंकारी दिखायी पड़ते हैं। ये पंडित, तथाकथित ज्ञानी, इससे ज्यादा अहंकारी मनुष्य खोजना मुश्किल है-- इससे ज्यादा इगोइस्ट! और ये ही तथाकथित पंडित दुनिया को एक नहीं होने देते। हिंदू-मुसलमान का झगड़ा थोड़े ही है, मुसलमान पंडित और हिंदू पंडित का झगड़ा है। झगड़े सब पंडितों के हैं और जब तक दुनिया में पंडितों का आदर है, झगड़े नहीं मिट सकते। तो सारे पांडित्य को छोड़ देना पड़ता है उस द्वार पर, इस सारे अहंकार को कि "मैं जानता हूं।"
किसे जानते हैं हम, क्या जानते हैं हम? एक पत्थर को भी हम नहीं जानते, राह के किनारे के पड़े हुए पत्थर को और दावा करते हैं परमात्मा को जानने का! हद्द अहंकार है, हद्द दंभ है। एक पत्थर भी मैं उठा लूं हाथ में और पूछूं अपने से कि क्या है यह, तो उत्तर नहीं आता। पत्थर बेबूझ पहेली की तरह हाथ पर खड़ा रह जाता है। उलटाऊं, चारों तरफ देखूं, खोजूं और बीनूं लेकिन कहीं कोई प्रवेश नहीं मिलता। पत्थर बेबूझ पहेली है, एक मिस्ट्री है, एक रहस्य है। एक छोटा-सा पत्थर भी एक रहस्य है। समुद्र की आती हुई एक छोटी-सी लहर भी एक रहस्य है। शायद वह उतनी ही बड़ी रहस्य है, जितना बड़ा परमात्मा, क्योंकि वह लहर भी परमात्मा का एक हिस्सा है। एक पत्थर उतना ही बड़ा रहस्य है जितना परमात्मा, क्योंकि अगर परमात्मा कहीं है तो इस पत्थर में भी है। एक पत्थर का भी हमें पता नहीं है और अहंकार इतना है कि हम कहते हैं कि हमें परमात्मा का पता है।
नहीं, इस अहंकार को लेकर प्रवेश नहीं पा सकते हैं चौथे द्वार पर। यहां
इस सारे पागलपन, इस सारे ज्ञान के प्रति उपेक्षा दिखानी पड़ेगी, झाड़कर रख देना होगा जैसे सांप अपनी केंचुल छोड़कर आगे बढ़ जाता है, ऐसे ही सारे ज्ञान को छोड़ देना चाहिए। अज्ञानी बन जाना पड़ेगा, इग्नोरेंट। अदभुत है अज्ञान भी। बहुत इनोसेंस है वहां, बहुत निर्दोष भाव है वहां।
सुकरात हो गया था बूढ़ा। लोग उससे कहते थे तुम महान ज्ञानी हो। सुकरात कहता था, कैसे हो पागल तुम? जब मैं नहीं जानता था तो मैं भी समझता था कि मैं जानता हूं। जब से मैंने जाना, तब से मैं समझ गया कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। सुकरात कहता था कि जब नहीं जानता था मैं, तब सोचता था कि मैं जानता हूं। जब से जाना तब से यह भी जाना कि नहीं जानता हूं। उस द्वार पर प्रवेश पाना है तो जानने का सारा भ्रम छोड़ देना पड़ेगा। सच में जानते हैं कुछ हम? क्या जानते हैं? क्या जानते हैं हम? अपने को भी नहीं जानते तो और हम क्या जान सकते हैं? लेकिन भ्रम बहुत है हमें जानने का।
अमरीका के एक छोटे-से गांव में एक दिन एक सुबह एक घटना घट गयी। एक छोटा-सा गांव, गांव का एक छोटा-सा स्कूल। उस स्कूल में प्रदर्शनी चलती है, वर्ष के अंत की। बच्चों ने बहुत खेल-खिलौने बनाये हैं। उस गांव में एक बूढ़ा भी ठहरा हुआ है--अनजान, अजनबी; घूमने चला आया वह। वह उस स्कूल में पहुंच गया और बच्चों के खिलौने देख रहा है। उन बच्चों ने बिजली के खिलौने भी बनाये हैं, बिजली की मोटर है, बिजली का पानी का जहाज है। बच्चे समझा रहे हैं, गांव के ग्रामीण देख रहे हैं। उन्हीं में एक नया बूढ़ा भी है जो ग्रामीण तो नहीं मालूम पड़ता, वह भी बड़े गौर से देखता है। बच्चे उसे भी समझा रहे हैं। वे समझा रहे हैं कि बिजली से चलते हैं खिलौने, इलेक्ट्रिसिटी से चलते हैं, विद्युत से चलते हैं।
वह बूढ़ा पूछने लगा, तुम बता सकते हो इलेक्ट्रिसिटी क्या है, ह्वाट इ.ज इलेक्ट्रिसिटी?
बच्चे कहने लगे, बहुत मुश्किल है। यह तो हमें पता नहीं। हमने तो सिर्फ
ये खिलौने बना लिये हैं, हमारा जो शिक्षक है हम उसे बुला लाते हैं, वह ग्रेज्युएट है विज्ञान का, वह बता सकेगा और वह बी. एस-सी. है। वह उस शिक्षक को पकड़ लाया है।

वह बूढ़ा पूछने लगा, कि मैं जानना चाहता हूं कि विद्युत क्या है? वह भी कहने लगा कि विद्युत ऐसे काम करती है।
उसने कहा, वह मैं नहीं पूछता, हाऊ इलेक्ट्रिसिटी वर्क्स? मैं पूछता हूं, ह्वाट इ.ज इलेक्ट्रिसिटी, बिजली है क्या? यह नहीं पूछता, कैसे काम करती है!
उस आदमी ने सोचा था कि गांव का बूढ़ा है, यह क्या फर्क कर सकेगा क्या और कैसे में! लेकिन उस बूढ़े ने कहा, मैं वह नहीं पूछता कैसे बिजली काम करती है, मैं पूछता हूं, क्या है!
वह विज्ञान का स्नातक घबरा गया, क्योंकि सिर्फ कैसे का उत्तर दे पाता है, क्या का कोई उत्तर नहीं दे पाता! विज्ञान बता सकता है--हाऊ, ह्वाई, क्यों, कैसे, लेकिन विज्ञान नहीं कह सकता--ह्वाट, क्या? क्या का कोई उत्तर नहीं है। इस बूढ़े ने तो एक ऐसा मामला खड़ा कर दिया जो कि मुश्किल से बड़े-बड़े विचारक खड़ा कर सकते हैं।
उसने कहा, ठहरिए। मैं अपने प्राध्यापक को बुला लाता हूं, वह विज्ञान
के डाक्टर हैं। वह डाक्टर भी आ गये। वह भी समझाने लगे कि ऐसे-ऐसे काम करती है बिजली।
उसने कहा कि इससे नहीं चलेगा। मैं पूछता हूं, क्या है बिजली? उस प्राध्यापक ने कहा क्षमा करिए, आपने बड़ी मुश्किल में डाल दिया है। वह तो बताना बड़ा मुश्किल है।
वह बूढ़ा हंसने लगा। उसने कहा कि छोड़ो, क्या के संबंध में बच्चे और बूढ़े सब बराबर हैं। तुम्हारे स्कूल के बच्चे भी उतना ही जानते हैं बिजली के बाबत, जितना तुम। क्या के मामले में वे भी नहीं जानते, तुम भी नहीं जानते और तुम चिंता मत करो, शायद तुम्हें पता नहीं, मैं कौन हूं! मैं हूं एडिसन। वह था अमरीका का सबसे बड़ा वैज्ञानिक जिसने एक हजार आविष्कार किये। जिसने बिजली का आविष्कार किया, जिसने रेडियो बनाया। एक आदमी ने एक हजार खोजें की। ऐसा कोई दूसरा आदमी दुनिया में कभी हुआ नहीं। वह था एडिसन। वह कहने लगा, मैं हूं एडिसन। क्षमा करना, मैं भी नहीं जानता। ह्वाट इ.ज इलेक्ट्रिसिटी, मुझे भी पता नहीं है कि यह बिजली क्या है? और वह कहने लगा, तुम घबराओ मत, चिंतित मत हो जाओ। आदमी कभी भी नहीं जान सकेगा कि बिजली क्या है। वह जो क्या, वह जो ह्वाट, वहां तो सब ज्ञान मिट जाता है।
और परमात्मा का मतलब क्या है? परमात्मा का मतलब है--ह्वाट, क्या! वह है अल्टीमेट ह्वाट, वह है अंतिम क्वेश्चन मार्क, वह है आखिरी प्रश्न! वहां आपका ज्ञान लेकर जाइएगा भीतर? वह अंतिम प्रश्न चिह्न है, वह है चरम प्रश्न, आखिरी प्रश्न जीवन के सत्यों का। वहां आप ज्ञान लेकर जाइयेगा? ये किताबें सिर पर रखकर लेकर जाइयेगा कि हमको गीता लिये भीतर घुस जाने दो, कि हम कुरान लिये हैं। यह बड़ी पवित्र किताब है। हम वेद का बोझ ढो रहे हैं, इतनी दूरी से लाये हैं इतनी मोटी किताब। हमको भीतर ले जाने दें।
उस द्वार पर लिखा है, नहीं, ज्ञान भीतर नहीं जा सकता। आप भीतर जा सकते हैं, ज्ञान बाहर छोड़ दें। ज्ञान के प्रति एक इन्डिफरेंस, एक उपेक्षा करनी पड़ती है, तब आदमी परम ज्ञान में प्रविष्ट होता है। यह बात बहुत उल्टी मालूम पड़ेगी। ज्ञान जो छोड़ देते हैं उसे ज्ञान उपलब्ध होता है। जो ज्ञान को पकड़े बैठा रह जाता है वह अज्ञानी ही रह जाता है, इसलिए उपलब्ध नहीं होता है।
एक बातः भीड़ क्या कहती है उसके प्रति उपेक्षा। परंपराएं क्या ज्ञान देती हैं उसके प्रति उपेक्षा। और तीसरी अंतिम उपेक्षा हैः वह उपेक्षा है फल की, भविष्य की उपेक्षा। क्या मिलेगा मुझे, कब मिलेगा मुझे, इसकी बिल्कुल उपेक्षा चाहिए।
एक आदमी ध्यान के लिए बैठता है, पंद्रह मिनट आंख बंद किये बैठा रहता है। फिर सोचता है अभी तक कुछ भी नहीं मिला है, बड़ी देर लगायी, अब तक तो आ जाना चाहिए था भगवान। हम पंद्रह मिनट से बैठे हुए हैं, "मैं कौन हूं, मैं कौन हूं" कर रहे हैं और आपको अभी तक कुछ पता नहीं! एक-दो बार करता है, फिर कहता है छोड़ो। इतनी जल्दी, इतना सस्ता! आपने बड़ी कृपा की कि पंद्रह मिनट बैठकर कहने लगे कि "मैं कौन हूं, मैं कौन हूं।" भगवान पर बड़ा ऋण किया। अपने

खाते-बही में लिख लेना कि हमने इतनी देर यह किया था। इतना सस्ता, इतना बिना कीमत, इतने जल्दी! क्या हम मजाक समझते हैं जिंदगी को? हम मजाक ही समझते हैं शायद।
नहीं, फल के प्रति बिल्कुल उपेक्षा चाहिए, प्रवेश हो सकता है। मिलेगा
या नहीं मिलेगा, नहीं चिंता जरा भी। हम तो प्रार्थना किये ही चले जायेंगे, हम तो प्यास का निवेदन करते ही रहेंगे, हम तो पुकार दिये ही चले जायेंगे, मिलो या न मिलो! नहीं फिक्र इसकी कि आ जाये, नहीं चिंता इसकी कि द्वार खुल जाये, हम तो द्वार पर धक्के दिये ही चले जायेंगे, हम ठोंकते ही रहेंगे द्वार को, हम थकेंगे नहीं। हमें तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा भी नहीं, हम कोई जल्दी में भी नहीं हैं, हम अनंतकाल तक प्रतीक्षा कर सकते हैं।
प्रेम हमेशा प्रतीक्षा करने को तैयार है। सिर्फ सौदेबाज प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं होता। वह कहता है जल्दी निपटाइये। प्रेम तो प्रतीक्षा करने को राजी है अनंतकाल तक।
सुनी है मजनू की कहानी। लैला को उसका पिता लेकर भाग गया है। प्रेमियों से ये पिता बहुत ही डरते हैं। वह एकदम भाग गया है लैला को लेकर। मजनू को खबर आयी कि वह भागा हुआ गया है। एक गांव में पड़ाव पड़ा है लैला के पिता का। राह के एक किनारे छिपकर वह प्रतीक्षा करता है। लैला वहां से गुजरी तो उसने पूछा, कब तक लौटोगी? कब तक आओगी? लैला तो बोल न सकी, पिता पास था और लोग पास थे। उसने हाथ से इशारा किया, मैं आऊंगी, जरूर आऊंगी। जिस वृक्ष के नीचे उसने वायदा किया था, मजनू उसी वृक्ष के नीचे टिककर खड़ा हो गया।
कहते हैं, बारह वर्ष बीत गये और मजनू वहां से नहीं हिला, वह खड़ा ही रहा उसी वृक्ष से टिका हुआ। कहते हैं, धीरे-धीरे उस वृक्ष की छाल और मजनू की खाल जुड़ गयी। कहते हैं उस वृक्ष का रस उस मजनू के प्राणों और शरीरों में बहने लगा। कहते हैं उसके हाथ-पैर से भी शाखाएं निकल आयीं और पत्ते छा गये। और बारह वर्ष बाद लैला उस रास्ते से वापस निकली। उसने वहां पूछा लोगों से कि मजनू नाम का एक युवक था वह दिखायी नहीं पड़ता, वह कहां है? लोगों ने कहा, कैसा मजनू? बारह साल पहले हुआ करता था। बारह साल से तो वह दिखायी नहीं पड़ा इस गांव में। लेकिन हां, कभी-कभी रात के सन्नाटे में उस जंगल से आवाज आती है--लैला, लैला! जंगल में आवाज? लेकिन दिन में हम जाते हैं, वहां कोई नहीं दिखायी पड़ता, उस जंगल में कभी कोई आदमी दिखायी नहीं पड़ता, लेकिन कभी-कभी उस जंगल से आवाज आती है। लोग तो डरने लगे उस रास्ते से निकलने में। एक वृक्ष के नीचे ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे कोई है, और कोई है भी नहीं। और कभी वहां से एकदम आवाज आने लगती है--लैला, लैला!
वह लैला भागी हुई वहां गयी। वहां तो कहीं मजनू दिखायी नहीं पड़ा, लेकिन
एक वृक्ष से आवाज आ रही थी। वह उस वृक्ष के पास गयी। मजनू अब वहां नहीं था। वह वृक्ष ही हो गया था, लेकिन उस वृक्ष से आवाज आती थी, लैला, लैला। वह सिर पीट-पीटकर उस वृक्ष पर रोने लगी और कहने लगी, पागल! तू उस वृक्ष से हट क्यों नहीं गया। वह वृक्ष कहने लगा, प्रतीक्षा कहीं हटती है?
और परमात्मा के खोजी पंद्रह मिनट में हट जाते हैं और फिर यह सोचते हुए लौटते हैं कि यह जरा मुश्किल है, शायद यह नहीं हो सकेगा।
अकबर एक रात एक जंगल में ठहरा हुआ था। शिकार को गया था और रास्ता भटक गया था। एक वृक्ष के नीचे बैठकर अपनी सांझ की नमाज पढ़ता था। झुका है नीचे, नमाज पढ़ता है। एक औरत उसके पास से भागी हुई निकल गयी है उसके नमाज के वस्त्र पर पैर रखती हुई, उसको धक्का भी लग गया है। अकबर ने चौंककर धीरे-से आंख खोलकर देखा, जैसे पूजा-प्रार्थना करने वाले बीच-बीच में आंख खोलकर देख लेते हैं कि कौन है, क्या बात है? उनकी आंखें तैयार ही रहती हैं कि जरा मौका है और थोड़ी-सी आंख खोल देते हैं, क्योंकि मामला क्या है!
फिर उसने जल्दी से आंखें बंद करके नमाज शुरू कर दी। कोई बदतमीज औरत, इसको यह भी पता नहीं कि यह आदमी नमाज पढ़ता है। लेकिन उसने जल्दी-जल्दी नमाज पूरी की, क्योंकि यह कोई साधारण बात न थी कि देश का बादशाह नमाज पढ़े और कोई साधारण-सी ग्रामीण औरत उसे धक्का देती हुई निकल जाये। यह बहुत अशिष्ट था। उसने जल्दी से नमाज पूरी की, घोड़े पर सवार हुआ, भागा, औरत लौटती

थी रास्ते पर। वापस उसने रोका और कहा, बदतमीज औरत! अशिष्ट! तुझे इतना भी पता नहीं है कि कोई प्रार्थना कर रहा है, नमाज पढ़ रहा है? तू धक्के देती हुई निकली। उसने कहा, कैसा धक्का? कहां थे आप? उसने कहा, मैं नमाज पढ़ता था रास्ते के किनारे।
वह स्त्री कहने लगी कि बड़ा आश्चर्य, मुझे तो पता ही नहीं! क्योंकि धक्का अगर मेरा आपको लगा होगा तो आपका भी मेरे को लगा होगा। यह कोई एक तरफा तो लग नहीं सकता। लेकिन मुझे पता नहीं कि आपका धक्का मुझे कब लगा। असल बात यह है कि मैं अपने प्रेमी से मिलने जा रही थी बहुत दिन बाद, वह लौटने को था तो मैं भागी हुई गयी थी कि बीच रास्ते में उसका स्वागत करूं। तो मुझे पता नहीं कि रास्ते में कौन नमाज पढ़ता था, कौन नहीं? मुझे ख्याल ही न था कुछ, मुझे तो उसकी प्रतीक्षा थी।
लेकिन क्या मैं पूछ सकती हूं सम्राट, फिर आप तो परमात्मा के दरवाजे पर सिर टेके लेटे हुए थे। आपको मेरा धक्का कैसे पता चल गया? मैं एक साधारण से प्रेमी के लिए भागकर जाती थी और मुझे आपका धक्का पता नहीं चला। और परम प्रेमी के लिए, प्रीतम के लिए, वह जो बिलॅविड है उसके लिए आप चेष्टा किये थे, सिर झुकाये बैठे थे; आपको मेरे धक्के का पता चल गया, कि नाचीज औरत का है! सम्राट अकबर ने अपनी जीवनी में लिखवाया है कि मुझे पहली दफा पता चला
कि कैसी है मेरी प्रार्थना, कैसी है मेरी प्रतीक्षा, क्या कर रहा हूं; शायद अपने को धोखा दे रहा हूं। एक साधारण प्रीतम, एक साधारण प्रेमी की भी प्यास इतनी गहरी पकड़ लेती है प्राणों को, तो परमात्मा को कितनी गहरी प्यास पकड़ेगी, जब वह उपलब्ध हो सकेगा, यह सोचना जरूरी है।
तो तीसरी बातः फल के प्रति उपेक्षा, जल्दी के प्रति, अधैर्य के प्रति, इम्पेशेंस के प्रति उपेक्षा। अभी हो जाये, अभी हो जाये। नहीं, नहीं, कोई चिंता नहीं कि जन्म-जन्मों में न हो, लेकिन हम पुकारते रहेंगे, हम पुकारते ही रहेंगे, हम प्रार्थना करते रहेंगे, हम प्यास जगाये रहेंगे, हम पूछते ही चले जायेंगे, हम पूछते ही चले जायेंगे। अगर जीवन और जगत में कहीं भी कोई प्राणों का स्रोत है तो क्या इतनी प्रार्थना, इतनी पुकार, इतनी प्यास का कोई उत्तर न होगा? अगर कहीं भी कोई जीवन का सत्य है तो क्या इतनी आतुरता में बुलायी गयी आवाज खाली ही लौट आयेगी?
नहीं, सारी अपेक्षाओं, एक्सपेक्टेशंस को--यह हो जाये, यह हो जाये, इन सबको एकदम छोड़ देना होगा। यह है चौथा द्वार। इस चौथे द्वार में जब प्रवेश हो जाता है, उसके लिए फिर कोई द्वार नहीं बचता, कोई मार्ग नहीं बचते, फिर परमात्मा उसे खींच लेता है।
एक आदमी छत पर खड़ा है। जब तक खड़ा है तब तक ठीक, छत से कूद पड़े फिर उसे गिरने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता है। जमीन का ग्रेविटेशन खींच लेता है, जमीन का गुरुत्वाकर्षण अपने आप खींच लेता है। छत से गिर जाने के बाद आदमी यह नहीं पूछता है कि अब मैं जमीन पर पहुंचने के लिए क्या करूं? नहीं, यह पूछने का वक्त ही नहीं मिलता है, जमीन खींच लेती है। चौथे दरवाजे पर आदमी को कुछ करना पड़ता है? चौथे दरवाजे के बाद परमात्मा का ग्रेविटेशन है, चौथे दरवाजे के बाद परमात्मा का गुरुत्वाकर्षण है। वह खींच लेता है। उस गुरुत्वाकर्षण का नाम ही ग्रेस, प्रसाद, कृपा, अनुकंपा है।
चार दरवाजे हमें पार करने पड़ते हैं। इसके बाद हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता है। हम खींच लिये जाते हैं, हम बुला लिये जाते हैं, हम पुकार लिये जाते हैं। छत हमें छोड़ देनी पड़ती है, फिर तो पृथ्वी खींच लेती है, फिर हम छत ही नहीं छोड़ें तो पृथ्वी भी कुछ नहीं कर सकती। इस चौथे दरवाजे के बाद क्या होगा, यह कहना कठिन है। बस यहां तक आदमी की यात्रा पूरी हो जाती है, उसके बाद परमात्मा की यात्रा शुरू होती है। फिर हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है, फिर कुछ भी नहीं है। फिर कुछ होता है, फिर कुछ अपने आप होता है।
और स्मरण रहे अंतिम बातः एक कदम भी जो परमात्मा की ओर जाता है, आश्वासन है सदा का कि परमात्मा उसकी ओर हजार कदम चलने को हमेशा तैयार है। एक कदम हम और शेष सब परमात्मा पूरा कर देता है; लेकिन हम ऐसे अभागे हैं
कि कदम भी हम चलने को तैयार नहीं हैं। इन तीन दिनों में ये थोड़ी-सी बातें मैंने कहीं। इसलिए नहीं कि मेरी बातें सुनकर आप विचार में लगेंगे, बल्कि

इसलिए कि इस बात से कोई धक्का आपको लगेगा और कोई यात्रा शुरू हो जायेगी।
अनंत है यात्रा। धन्य हैं वे लोग जो उसी यात्रा पर बुला लिये जाते हैं।
धन्य हैं वे लोग जिनकी आंखें प्रभु की ओर उठ जाती हैं।
अब हम रात्रि के ध्यान के लिए बैठेंगे और फिर बिदा हो जायेंगे।
चुपचाप शांति से बैठ जायें और शरीर को ढीला छोड़ दें, आराम से बैठ जायें।
आंख बंद करनी हो तो बंद कर लें, आधी खोलनी हो तो खोल लें। अब मैं सुझाव दूंगा। मेरे सुझाव के साथ अनुभव करें।
शरीर शिथिल हो रहा है। ऐसे ढीला छोड़ दें जैसे कोई प्राण ही नहीं। शरीर शिथिल हो रहा है, शिथिल हो रहा है, जैसे है भी नहीं! है ही कहां, शरीर जिस मिट्टी का हिस्सा है, उसी के साथ एक समझ लें, मिट्टी है, पृथ्वी है, पौधे हैं, वह भी है। उन्हीं में कल तक था, कल फिर उन्हीं में हो जायेगा! है भी कहां? छोड़ दें ढीला जैसे शरीर है ही नहीं।
श्वास भी शांत हो रही है, शांत हो रही है, शांत हो रही है। छोड़ दें श्वास को भी बिल्कुल ढीला।
मन भी शांत हो गया है, छोड़ दें मन को भी, डूब जायें इस रात में। मन शांत
हो रहा है, मन शांत, शांत हो गया। दस मिनट सुनिये बैठे हुए उस सागर के गर्जन को, सुनते रहें हवाओं के झोंकों को। प्रभु तो निकट है। क्योंकि सब कुछ वही है। उसकी पगडंडियां भी साफ हैं। लेकिन उन पर चलने वाले कहां हैं?